CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संक्षिप्त

विश्व-इतिहास की झलक

जवाहरलाल नेहरू

१९५७

सस्ता साहित्य-प्रकाशन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

संक्षिप्त

विश्व-इतिहास की झलक

जवाहरलाल नेहरू

संक्षेपकार

चंद्रगुप्त वार्ष्णेय

१९५७

सत्साहित्य-प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली
CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पहली बार : १९५७
मूल्य
छः रुपये

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकाशकीय

नेहरूजी की वैसे तो सभी पुस्तकें लोकप्रिय हुई हैं, लेकिन संसार के साहित्य में 'विश्व-इतिहास की झलक' को विशेष ख्याति प्राप्त हुई है। इस पुस्तक में लेखक ने बड़े ही रोचक और सजीव साथ ही नये दृष्टिकोण से दुनिया के इतिहास की झांकी पाठकों के लिए उपस्थित की है और साम्राज्यों के उत्थान-पतन की कहानी पर बड़े सुन्दर ढंग से प्रकाश डाला है। इस पुस्तक को पढ़कर पता चलता है कि नेहरूजी एक महान् राष्ट्र-नेता के साथ-साथ उच्चकोटि के साहित्य-मर्मज्ञ तथा अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के उद्भट विद्वान भी हैं। प्रस्तुत पुस्तक वास्तव में उनके अंतर्राष्ट्रीय राजनीति तथा इतिहास के गहरे ज्ञान का सागर है।

बहुत दिनों से हमारी इच्छा थी कि इस वृहद् पुस्तक का एक संक्षिप्त संस्करण प्रकाशित करें, जिससे सामान्य पाठक भी इससे लाभ उठा सकें। पाठकों की भी मांग थी। हमें हर्ष है कि इस संस्करण द्वारा हमारी इच्छा और पाठकों की मांग की पूर्त्ति हो रही है। पुस्तक को संक्षिप्त करने में इस बात का पूरा ध्यान रक्खा गया है कि कोई भी प्रमुख बात छूटने न पाए और आकार कम हो जाय।

इस पुस्तक में सन् १९३९ तक की घटनाएँ हैं। उसके बाद दुनिया में बहुत-सी उथल-पुथल हुई है, छोटे-बड़े अनेक परिवर्त्तन हुए हैं। भारत भी इस अर्से में स्वतंत्र हो गया है। हम चाहते थे कि इस काल की खास-खास घटनाओं का समावेश इस पुस्तक में हो जाता। स्वयं लेखक भी चाहते थे; लेकिन पाठक जानते हैं कि राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों एवं परिस्थितियों का कितना दबाव नेहरूजी पर रहा है और है। अतः उनके लिए असंभव था कि वे इस कार्य को पूर्ण कर देते। किसी दूसरे से कराना उचित नहीं था, क्योंकि घटनाओं को देखने की नेहरूजी की अपनी दृष्टि है और वर्णन का ढंग भी उनका अपना निराला है।

जो हो, वर्त्तमान रूप में भी पुस्तक बड़ी ही उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण है। हमें विश्वास है कि पाठक इससे अधिकाधिक लाभ उठाने की कृपा करेंगे।

इसका संक्षेपीकरण तथा संपादन परिश्रमपूर्वक श्री चंद्रगुप्त वार्ष्णेय ने किया है। इसके लिए हम उनके आभारी हैं।

—मंत्री

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भूमिका

दुनिया के इतिहास पर किसीका भी कुछ लिखना हिम्मत का काम है। मेरे लिए यह जुर्रत करना तो एक अजीब बात थी, क्योंकि मैं न लेखक हूँ और न इतिहास के जाननेवालों में गिना जाता हूँ। कोई बड़ी पुस्तक लिखने का तो मेरा ख़याल भी नहीं था। लेकिन जेल के लम्बे और अकेले दिनों में मैं कुछ करना चाहता था और मेरा ध्यान आजकल की दुनिया और उसके कठिन सवालों से भटककर पुराने ज़माने में दौड़ता और फिरता था। क्या-क्या सबक़ यह पुराना इतिहास हमें सिखाता है? क्या रोशनी आजकल के अंधेरे में डालता है? क्या यह सब कोई सिलसिला है, कोई माने रखता है, या एक यह बेमानी खेल है, जिसमें कोई कायदा-क़ानून नहीं, कोई मतलब नहीं, और सब बातें योंही इत्तफ़ाक़ से होती हैं? ये ख़याल मेरे दिमाग़ को परेशान करते थे और इस परेशानी को दूर करने के लिए इतिहास को मैंने पढ़ा और आजकल की हालत को समझने की कोशिश की। दिमाग़ में बहते हुए विचारों को पकड़कर कागज़ पर लिखने से सोचने में भी आसानी होती है और उनके नये-नये पहलू निकलते हैं। इसलिए मैंने लिखना शुरू किया। फिर इन्दिरा की याद ने मुझे उसकी तरफ़ खींचा और इस लिखने में उसके नाम पत्रों का रूप धारण किया।

महीने गुजरे—कुछ दिनों के लिए जेल से निकला, फिर वापस गया। सर्दी का मौसम खत्म हुआ, बसन्त आया, फिर गर्मी और बरसात। एक साल पूरा हुआ, दूसरा शुरू हुआ और फिर वही सर्दी, बसन्त, गर्मी और चौमासा। लिखने का सिलसिला जारी रहा और हलके-हलके मेरे लिखे हुए पत्रों का एक पहाड़-सा हो गया। उसको देखकर मैं भी हैरान हो गया। इस तरह से, करीब-करीब इत्तफ़ाक़ से, यह मोटी पोथी बनी। इसमें हज़ार ऐब हैं, हज़ार कमियां, लेकिन फिर भी मैं समझता हूँ कि इससे कुछ फायदा भी हो सकता है। जो अंग्रेजों ने या यूरोप के लोगों ने ऐसी पुस्तकें लिखी हैं, उनमें यूरोपीय दुनिया का अधिकतर हाल है, एशिया और पुराने इतिहास की चर्चा कम है। मैंने कोशिश की है कि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एशिया का हाल ज्यादा दूं। दोनों को सामने रखकर ही पूरी तस्वीर सामने आती है। यह तस्वीर चाहे कितनी ही नामुकम्मिल हो और उसमें ऐब और खराबियां हों, फिर भी वह पूरी तस्वीर है। मुझे इस बात का विश्वास है कि हम किसी एक देश का हाल नहीं समझ सकते जबतक कि और देशों का हाल नहीं जानते। कोई एक देश औरों से अलग होकर न रहा है और न रह सकता है। आजकल की दुनिया में तो यह बात बिल्कुल जाहिर है और हम सब एक-दूसरे के सहारे खड़े रहते हैं या गिरते हैं।

यूरोप की भाषाओं में बहुत सारी पुस्तकें दुनिया के इतिहास पर हैं, लेकिन हमारे देश की भाषाओं में इनकी बहुत कमी है। इसलिए मैं खासतौर से यह चाहता था कि मेरी यह पुस्तक हिन्दी और उर्दू में निकले।

इसको लिखे कोई चार बरस हुए। दुनिया के इतिहास के लिए चार बरस क्या चीज है? लेकिन हम एक ऐसे अजीब जमाने में पैदा हुए, जबकि दुनिया की रफ्तार तेज़ है और हम सब उसकी धारा में बहते जाते हैं। कोई कह नहीं सकता कि यह कहां पहुंचायगी। इन बरसों में क्रान्ति और इन्क़लाब कितने देशों में हो गये?

रेल में
२१–११–३७

जवाहरलाल नेहरू

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विषय-सूची

१.	इतिहास से शिक्षा	१
२.	एशिया और योरप	३
३.	पुरानी सभ्यताएँ और हमारी विरासत	५
४.	यूनान के नगर-राज्य और पश्चिम एशिया के साम्राज्य	१०
५.	प्राचीन भारत के ग्राम-गणराज्य	१४
६.	चीन के हज़ार बरस	१८
७.	ईसा पूर्व छठी सदी मत-मतान्तर	२०
८.	ईरान और यूनान	२३
९.	यूनान का वैभव	२५
१०.	एक मशहूर विजेता	२८
११.	चन्द्रगुप्त मौर्य और कौटिल्य का अर्थशास्त्र	३१
१२.	'देवानाम् प्रिय' अशोक	३४
१३.	चिंन और हान	३८
१४.	रोम बनाम कार्थेज	४१
१५.	रोमन गणराज्य साम्राज्य बन गया	४४
१६.	दक्षिण भारत का उत्तर भारत पर छा जाना	४८
१७.	कुशानों का सरहदी साम्राज्य	५०
१८.	ईसा और ईसाई धर्म	५३
१९.	रोमन-साम्राज्य	५६
२०.	रोमन-साम्राज्य का छाया-मात्र रह जाना	५८
२१.	पार्थव और सासानी	६१
२२.	दक्षिण भारत के उपनिवेश	६२
२३.	गुप्त-सम्राटों का हिन्दू साम्राज्यवाद	६४
२४.	हूणों का भारत आना	६७

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

२५. तांग-वंश के शासन में चीन की उन्नति ६९

२६. चोज़ेन और दाई निप्पन ७२

२७. हर्षवर्धन और ह्यूएनत्सांग ७६

२८. दक्षिण भारत के राजा और महापुरुष ७९

२९. मध्य-युग का भारत ८३

३०. अंगकोर और श्रीविजय ८४

३१. रोम अन्धकार में फिर गिरता है ८८

३२. इस्लाम का उदय ९१

३३. अरबों की विजय-यात्रा ९४

३४. बग़दाद और हारूं-अल-रशीद ९८

३५. उत्तरी भारत—हर्ष से महमूद तक १००

३६. योरप के देशों का निर्माण १०३

३७. चीन और खानावदोश क़ौमें १०७

३८. जापान में शोगनशाही ११०

३९. अमरीका की 'मय' सभ्यता ११२

४०. मोहन-जो-दड़ो की तरफ़ वापस छलांग ११७

४१. कारडोबा और ग्रेनेडा ११८

४२. 'क्रूसेड' १२२

४३. अफ़गानों का हमला और दिल्ली की सल्तनत १२६

४४. चंगेज़ खां १३२

४५. मंगोलों का दबदबा १३५

४६. रोमन चर्च की सरज़ोरी १३८

४७. मध्य-युग का अन्त १४०

४८. समुद्री रास्तों की खोज १४३

४९. मंगोल-साम्राज्यों का विध्वंस १४६

५०. चौदहवीं-पन्द्रहवीं सदी का भारत १४९

५१. दक्षिण भारत के राज्य १५२

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

५२.	विजय नगर	१५५
५३.	मज्जपहित और मलक्का	१५८
५४.	योरप पूर्वी एशिया को हड़पना शुरू करता है	१६१
५५.	चीन में शान्ति और समृद्धि का युग	१६३
५६.	जापान अपने को बन्द कर लेता है	१६५
५७.	'रिनेज़ाँ' या पुनर्जागरण	१६८
५८.	प्रोटेस्टेण्ट-विद्रोह और किसान-युद्ध	१७१
५९.	सोलहवीं-सत्रहवीं सदी के योरप में तानाशाही	१७३
६०.	निदरलैण्ड्स की आज़ादी की लड़ाई	१७६
६१.	इंग्लैण्ड में पार्लमिण्ट की जीत	१८०
६२.	बाबर	१८४
६३.	अकबर	१८६
६४.	मुग़ल-साम्राज्य का पतन और अन्त	१९१
६५.	सिक्ख और मराठे	१९५
६६.	भारत में अंग्रेजों की विजय	१९८
६७.	चीन का एक महान् मंचू शासक	२०२
६८.	चीनी सम्राट का अंग्रेज बादशाह को पत्र	२०५
६९.	महान् परिवर्तनों के पहले का योरप	२०९
७०.	औद्योगिक क्रान्ति और बड़ी मशीन	२१२
७१.	अमरीका का इंग्लैण्ड से विच्छेद	२१७
७२.	बैस्तील का पतन और फ्रांसकी राज्यक्रांति	२२१
७३.	क्रान्ति और प्रति-क्रान्ति	२२९
७४.	नैपोलियन	२३५
७५.	नैपोलियन का कुछ और हाल	२३८
७६.	भारत में युद्ध और विद्रोह	२४३
७७.	भारतीय कारीगर की रोजी छिन जाती है	२४८
७८.	ब्रिटेन ने भारत पर शासन कैसे किया ?	२५१

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

७९. भारत का पुनर्जागरण २५३
८०. ब्रिटेन का चीन पर ज़बरदस्ती अफ़ीम लादना २६०
८१. जापान तेज़ी से आगे दौड़ता है। २६३
८२. चीन में गणराज्य की स्थापना २६८
८३. ईरान की पुरानी परम्परा २७१
८४. ईरान में साम्राज्यवाद और राष्ट्रीयता २७५
८५. स्वतंत्र और बलवान् इटली २७७
८६. जर्मनी का उत्थान २८१
८७. लोकतंत्र की प्रगति : समाजवाद का आगमन २८६
८८. कार्ल मार्क्स और मज़दूर-संगठनों की वृद्धि २९१
८९. मार्क्सवाद २९६
९०. इंग्लैण्ड दुनिया का साहूकार बन जाता है २९८
९१. अमरीका में गृह-युद्ध ३०१
९२. अमरीका का अदृश्य साम्राज्य ३०६
९३. आयरलैण्ड का स्वाधीनता-संग्राम ३०९
९४. इंग्लैण्ड का मिस्र पर क़ब्ज़ा ३१७
९५. "योरप का मरीज़" तुर्की ३२२
९६. ज़ारों का रूस : १९०५ की क्रान्ति ३२६
९७. महायुद्ध का प्रारम्भ ३३३
९८. युद्ध की घड़ी से पहले भारत ३३८
९९. सन् १९१४-१८ का महायुद्ध ३४३
१००. ज़ारशाही का खातमा : अक्तूबर-क्रान्ति ३५४
१०१. सोवियतों का विजय-संघर्ष ३६३
१०२. जापान चीन को डराता-धमकाता है ३७०
१०३. युद्ध-काल में भारत ३७३
१०४. योरप का नया नक़्शा ३७७
१०५. आज़ादी के लिए आयरलैण्ड की लड़ाई ३८०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१०६. नवीन तुर्की का उदय ३८४
१०७. मुस्तफ़ा कमाल अतीत से नाता तोड़ता है ३८९
१०८. भारत गांधीजी के पीछे चलता है ३९३
१०९. भारत——१९२०-३० में ४००
११०. भारत में शान्तिपूर्ण बग़ावत ४०३
१११. मिस्र का स्वाधीनता-संघर्ष ४११
११२. अंग्रेज़ों की छत्रछाया में स्वाधीनता का अर्थ ४१४
११३. अफ़गानिस्तान और एशिया के कुछ अन्य देश ४२०
११४. पुराने क़र्ज़ चुकाने का नया तरीका ४२३
११५. मुसोलिनी तथा इटली में फ़ासीवाद ४२६
११६. चीन में क्रान्ति और प्रति-क्रान्ति ४३२
११७. जापान सारी दुनिया का तिरस्कार करता है ४३८
११८. सोवियत समाजवादी गणराज्यों का संघ ४४१
११९. रूस की पंच-वर्षीय योजना: सफलताएँ-असफलताएँ ४४८
१२०. विज्ञान की प्रगति : सदुपयोग और दुरुपयोग ४५६
१२१. स्पेन में क्रान्ति ४६२
१२२. जर्मनी में नात्सियों की पूरी सफलता ४६५
१२३. निःशस्त्रीकरण ४७२
१२४. संसार पर आख़िरी दृष्टि ४७४
१२५. युद्ध की छाया ४७७
१२६. अन्तिम पत्र ४८३
१२७. उपसंहार ४८६

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संक्षिप्त

विश्व-इतिहास की झलक

: १ :

इतिहास से शिक्षा

प्यारी बेटी, मैं तुम्हें क्या लिखूँ और किस जगह से शुरू करूँ ? जब मैं पुराने ज़माने का ख़याल करता हूँ, तो मेरी आँखों के सामने बहुत-सी तस्वीरें तेज़ी के साथ घूम जाती हैं। कुछ तस्वीरें ज्यादा देर तक ठहरती हैं, तो कुछ थोड़ी ही देर तक। वे मेरी पसन्द की चीज़ें हैं, और उनके बारे में विचार करते-करते मैं उन्हीं में डूब जाता हूँ। बिल्कुल अनजान में ही मैं पिछली घटनाओं से आजकल की घटनाओं का मुक़ाबला करने लगता हूँ, और उनसे आगे के लिए नसीहत लेने की कोशिश करता हूँ। लेकिन आदमी का मन भी क्या अजीब खिचड़ी है, जिसमें ऐसे विचार भरे रहते हैं जिनका एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं होता, और ऐसी तस्वीरें मौजूद रहती हैं जिनमें कोई तरतीब नहीं पाई जाती—जैसे कोई ऐसी चित्रशाला हो जहाँ तस्वीरों की सजावट में कोई व्यवस्था न रखी गई हो। लेकिन शायद इसमें हमीं लोगों का सारा दोष नहीं है। हममें बहुत-से आदमी अपने दिमाग़ में घटनाओं के क्रम को ज़रूर बेहतर तरीक़े से जमा सकते हैं। लेकिन कभी-कभी ख़ुद घटनाएँ इतनी अजीब होती हैं कि उन्हें किसी भी योजना के ढाँचे में ठीक तरह बिठा सकना मुश्किल हो जाता है।

इतिहास पढ़कर हमें यह सीखना चाहिए कि दुनिया ने कैसे आहिस्ता-आहिस्ता, लेकिन निश्चित रूप से तरक्क़ी की है। दुनिया के आरम्भ के सरल जीवों की जगह पर अधिक उन्नत और पेचीदा जीव कैसे आ गये, और कैसे सबसे आख़िर जीवों का सिरताज आदमी पैदा हुआ और अपनी बुद्धि के ज़ोर पर उसने कैसे दूसरों पर विजय पाई। बर्बरता से निकलकर सभ्यता की ओर मनुष्य की प्रगति का हाल इतिहास का विषय माना गया है। लेकिन कभी-कभी जब हम इतिहास के लम्बे ज़मानों पर नज़र डालते हैं, तो यह विश्वास करना मुश्किल होता है कि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हम लोग बहुत सभ्य या उन्नत हो गये हैं। सहयोग का अभाव आज भी बहुत काफ़ी पाया जाता है। एक मुल्क या एक क़ौम दूसरे मुल्क और दूसरी क़ौम पर ख़ुदग़रज़ी से आक्रमण कर रहे हैं या सता रहे हैं; एक आदमी दूसरे आदमी से बेजा फ़ायदा उठा रहा है। अगर करोड़ों बरस की तरक्क़ी के बाद भी हम इतने पिछड़े और अपूर्ण हैं, तो न ज़ाने समझदार और वाजिब बात करनेवाले आदमियों की तरह व्यवहार करना सीखने में हमें और कितने दिन लग जायंगे! कभी-कभी हम इतिहास के उन बीते हुए ज़मानों के बारे में पढ़ते हैं, जो हमारे ज़माने से बेहतर मालूम होते हैं और अधिक संस्कृत और सभ्य भी जान पड़ते हैं। इससे हमें यह शक होने लगता है कि हमारी दुनिया आगे बढ़ रही है या पीछे हट रही है। गुज़रे हुए ज़माने में ख़ुद हमारे देश में भी ऐसे ही उज्ज्वल युग ज़रूर बीते हैं जो हर हालत में वर्तमान से बहुत अच्छे थे।

यह सच है कि भारत, मिस्र, चीन, यूनान, वग़ैरा बहुत-से देशों के पुराने इतिहास में उज्ज्वल युग हुए हैं। इन मुल्कों में बहुत से बाद में पिछड़ गये और गिर गये हैं। लेकिन फिर भी हमें हिम्मत न हारनी चाहिए। दुनिया एक बहुत बड़ी जगह है, और थोड़े वक्त के लिए किसी मुल्क के चढ़ाव और उतार का सारी दुनिया पर कोई ज्यादा असर नहीं पड़ता।

आजकल बहुत-से लोग हमारी महान् सभ्यता की और विज्ञान के चमत्कारों की डींग मारते रहते हैं। इसमें शक नहीं कि विज्ञान ने बहुत चमत्कार कर दिया है, और बड़े-बड़े वैज्ञानिक हर तरह इज्ज़त के योग्य हैं। लेकिन जो डींग मारते हैं, वे अक्सर बड़े नहीं हुआ करते। दूसरे, यह बात भी याद रखनी चाहिए कि बहुत-सी बातों में आदमी ने दूसरे जीवों की बनिस्बत कुछ बहुत ज्यादा उन्नति नहीं की है। यह भी कहा जा सकता है कि कुछ बातों में कुछ जीव आदमी से अब भी श्रेष्ठ हैं। यह बात बेवक़ूफ़ी की-सी मालूम पड़ सकती है और जो लोग ज्यादा नहीं जानते, वे इसकी हँसी भी उड़ा सकते हैं। लेकिन अगर आपस के सहयोग को और समाज की भलाई के लिए त्याग को सभ्यता की कसौटी मानें, तो हम कह सकते हैं कि इस लिहाज़ से दीमक और चीटियाँ मनुष्य जाति से अच्छी हैं।

संस्कृत की हमारी एक पुरानी पुस्तक में एक श्लोक है[1], जिसका अर्थ है, "कुल के लिए व्यक्ति को, समाज के लिए कुल को, देश के लिए समाज को और आत्मा के लिए सारी दुनिया को छोड़ देना चाहिए"। आत्मा क्या चीज़ है, इसे हममें से न कोई समझता है और न बता सकता है और हरएक आदमी आत्मा का अर्थ अपने-अपने ख़याल के मुताबिक़ अलग-अलग किया करता है। लेकिन

---

[1]त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥—पंचतंत्र

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संस्कृत का यह श्लोक हमें उसी सहयोग की और सार्वजनिक हित के लिए त्याग करने की शिक्षा देता है। हम भारत के लोग असली महानता के इस राजमार्ग को बहुत दिनों तक भूले रहे, इसीलिए हमारा पतन हुआ। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि अब फिर हमें उसकी झलक दिखाई देने लगी है और सारे मुल्क में जागृति की लहर दौड़ रही है।

: २ :

एशिया और योरप

तुम्हें यह जानना दिलचस्प लगेगा कि भारत में इन पिछले वर्षों में एक बहुत प्राचीन सभ्यता के चिह्न खोज निकाले गये हैं। ये चिह्न उत्तर-पश्चिम भारत में मोहन-जो-दड़ो नाम की जगह के आस-पास पाये गये हैं। क़रीब पाँच हज़ार बरस पुराने इन खण्डहरों को लोगों ने खोदा। वहाँ प्राचीन मिस्र की-सी मोमियाई[1] भी मिली हैं। ज़रा खयाल तो करो, ये सब बातें हज़ारों वर्ष पुरानी, आर्यों के आने से भी बहुत पहले की हैं। योरप उस समय वीरान रहा होगा।

आज योरप मज़बूत और ताक़तवर है और वहाँ के रहनेवाले अपने को दुनिया भर में सबसे ज्यादा सभ्य और सुसंस्कृत समझते हैं। वे एशिया और उसके निवासियों को नफ़रत की नज़र से देखते हैं, और एशिया के मुल्कों में आकर जो-कुछ यहाँ मिलता है, उसे झपट ले जाते हैं। देखो, नक़्शे में छोटा सा योरप एशिया के विशाल महाद्वीप में किस तरह चिपका पड़ा है! यह एशिया की-ही एक छोटी-सी टाँग-सा मालूम देता है। लम्बे युगों और वर्षों तक उस पर एशिया का प्रभुत्व रह चुका है। एशिया के लोग बार-बार बाढ़ की तरह योरप में गये और विजयी हुए। इन लोगों ने योरप को उजाड़ा भी और सभ्य भी बनाया। आर्य, शक, हूण, अरब, मंगोल और तुर्क, ये सब एशिया के किसी-न-किसी हिस्से से आये, और एशिया और योरप के सब हिस्सों में फैल गये। मालूम होता था कि एशिया इन्हें टिड्डी-दल की तरह बेशुमार तादाद में पैदा कर रहा है। सच तो यह है कि योरप बहुत दिनों तक एशिया का उपनिवेश रहा, और आज के योरप की बहुत-सी जातियाँ एशिया से गये हुए इन हमला करनेवालों की ही वंशज हैं।

एशिया एक बड़े और भारी-भरकम देव की तरह नक़्शे में एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैला पड़ा है। योरप छोटा-सा है। योरप सब महाद्वीपों से छोटा होने

---

[1] मोमियाई या ममी—मसाला लगाकर रखा गया मुर्दा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर भी आज महान् बना हुआ है। हम यह भी जानते हैं कि योरप के अनेक देशों के इतिहास में शानदार युग हुए हैं। इन देशों ने विज्ञान के बड़े-बड़े पंडित पैदा किये, जिन्होंने अपनी खोजों और आविष्कारों से मानवी सभ्यता को बहुत आगे बढ़ाया और करोड़ों आदमियों और औरतों के लिए ज़िन्दगी आसान बना दी। इन देशों में बड़े-बड़े लेखक, विचारक, कलाकार, संगीतज्ञ और कर्मवीर पैदा हुए हैं। योरप की महानता को स्वीकार न करना बेवकूफ़ी होगी।

लेकिन एशिया की महानता को भुला देना भी उसी तरह की बेवकूफ़ी होगी। कभी-कभी हम योरप की तड़क-भड़क से प्रभावित होने लगते हैं और पुरानी बातों को भूल जाते हैं। हमें याद रखना चाहिए कि एशिया ने ही बड़े-बड़े मौलिक विचारक पैदा किये हैं, जिन्होंने दुनिया पर इतना प्रभाव डाला कि शायद ही किसी दूसरी जगह के किसी आदमी या किसी चीज़ ने डाला हो। ये हैं संसार के मुख्य धर्मों के महान् प्रवर्त्तक। हिन्दू धर्म, जो आजकल के बड़े धर्मों में सबसे पुराना है, भारत की ही देन है। ऐसा-ही उसका महान् भाई बौद्ध-धर्म भी है, जो आज तमाम चीन, जापान, बरमा, तिब्बत और लंका में फैला हुआ है। यहूदियों और ईसाइयों के मज़हब भी एशियाई ही हैं,क्योंकि इनका जन्म एशिया के पश्चिमी किनारे पर फ़िलस्तीन में हुआ था। ज़ोरास्ट्रियन धर्म, जो पारसियों का मज़हब है, ईरान में शुरू हुआ। और यह तो तुम जानती ही हो कि इस्लाम के पैग़म्बर मुहम्मद अरब के मक्का में पैदा हुए थे। कृष्ण, बुद्ध, जरथुस्त[1], ईसा, मुहम्मद और चीन के महान् दार्शनिक कनफ़ूशस[2] और लाओ-त्ज़े[3] वग़ैरा एशिया के बड़े-बड़े विचारकों के

---

[1]जरथुस्त--यह पुराने ईरानी मजहब के प्रवर्त्तक या पैगम्बर थे। यह किस ज़माने में हुए, इसका कुछ ठीक-ठीक पता नहीं लगता। लेकिन कुछ लोगों के ख़याल से इनका समय ईसा से १००० वर्ष पहले का है। ईरानी शहंशाह सिरियस के ज़माने में इनका धर्म ईरान का राज-धर्म हो गया था। यह भी एक आर्य-धर्म ही था। भारत के पारसी अब भी इसी मज़हब को मानते हैं। इनके सिवा इस मज़हब को माननेवाला दुनिया में अब कोई नहीं है। इनकी मुख्य धर्म-पुस्तक 'ज़ेन्दा-वेस्ता' है।

[2]कनफूशस—यह मशहूर चीनी दार्शनिक और धर्म-प्रवर्त्तक थे। ईसा से ५५१ वर्ष पहले इनका जन्म हुआ था और इन्होंने अपनी सारी ज़िंदगी अपने मुल्क की पुरानी किताबों के इकट्ठा करने, सम्पादन करने और तैयार करने में बिताई। ईसा से ४५८ वर्ष पहले इनकी मृत्यु हुई। चीन में अब भी इनका मज़हब माननेवाले बहुत पाये जाते हैं। इनका चीनी नाम कुंग-फू-त्ज़े है।

[3]लाओ-त्ज़े—मशहूर चीनी वेदांती और पैगम्बर थे। यह कनफूशस के ज़माने में ही हुए, और उनके विरोधी थे। इनके माननेवाले भी चीन में बहुत हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नामों से सफ़े-के-सफ़े भरे जा सकते हैं। इसी तरह एशिया के कर्मवीरों के नामों से भी पन्ने-के-पन्ने रंगे जा सकते हैं। हमारा यह पुरातन महाद्वीप प्राचीन काल में कितना महान् और सजीव रहा है!

: ३ :

पुरानी सभ्यताएँ और हमारी विरासत

प्राचीन सभ्यता ने मिस्र में और क्रीट[१] के प्राचीन नगर नोसास में और उस मुल्क़ में, जो आज ईराक़ या मैसोपोटामिया कहलाता है, तथा चीन, भारत और यूनान में पहले-पहल जन्म लिया। यूनान शायद औरों से कुछ देर में सामने आया। इसलिए प्राचीनता के लिहाज़ से भारत की सभ्यता मिस्र, चीन और ईराक़ की सभ्यताओं की बराबरी की है। प्राचीन यूनान की सभ्यता भी इनके मुक़ाबले में कम उम्र की है। इन पुरानी सभ्यताओं का क्या हुआ? नोसास खतम हो गया। सच तो यह है कि क़रीब तीन हज़ार बरस से उसका कोई नाम-निशान भी नहीं है। उत्तरकालीन यूनानी सभ्यता के लोग वहाँ पहुँचे और उन्होंने उसे नष्ट कर दिया। मिस्र की पुरानी तहज़ीब कई हज़ार बरस के शानदार इतिहास के बाद समाप्त हो गई, और अल-अहराम,[२]

---

[१]क्रीट भूमध्यसागर के सबसे बड़े टापुओं में से एक है। प्राचीन सभ्यता में इसका स्थान बहुत ऊँचा है। यहाँ का राजा माइनास बड़ा मशहूर शासक था और इतिहास का सबसे पहला राजा था जिसके पास अपनी जल-सेना थी। नोसास इसकी राजधानी थी। यह बड़ा सम्पन्न और खुशहाल शहर था। यहाँ मिट्टी का काम खास तौर पर सुन्दर होता था, सोने-चांदी का काम भी बहुत अच्छा होता था। यहाँ के हथियार भी बहुत मशहूर थे।

[२]अल-अहराम या पिरेमिड—मिस्र के पत्थर के विशाल स्तूप या मीनार, जिनके नीचे मिस्र के प्राचीन सम्राटों की कब्रें हैं। सबसे बड़ा पिरेमिड गिज़ेह नामक स्थान पर है। इसमें पत्थर की तेईस लाख चट्टानें लगी हैं, और एक-एक चट्टान का वजन ढाई-ढाई टन है। जिस ज़माने में मशीनों का नाम तक न था, उस ज़माने में लोगों ने कैसे ढाई-ढाई टन के तेईस लाख पत्थर एक-दूसरे पर चुनकर रखे होंगे, सोचकर बुद्धि चकरा जाती है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

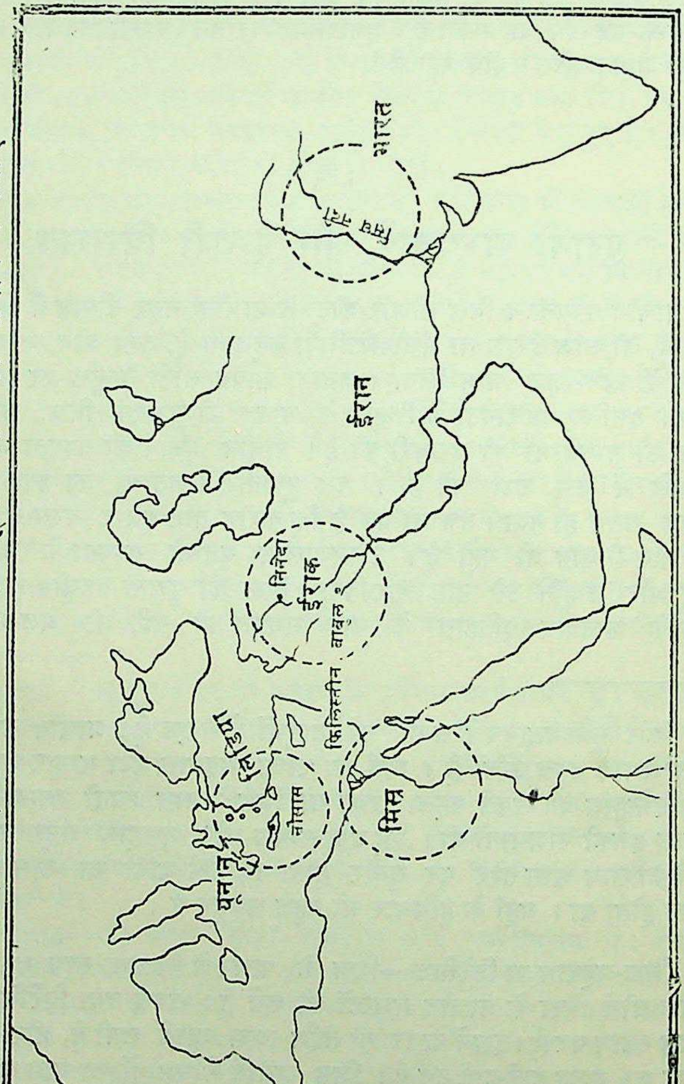

पश्चिमी एशिया तथा दक्षिण-पूर्वी योरप की प्राचीन सभ्यताएँ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्फिन्क्स[1], बड़े-बड़े मन्दिरों के खंडहरों, मोमियाइयों और इसी तरह की दूसरी चीज़ों के अलावा वह अपना कोई निशान नहीं छोड़ गई। मिस्र का देश तो अब भी है और नील नदी पहले की तरह अब भी उसमें होकर बहती है और दूसरे देशों की तरह वहाँ भी स्त्री और पुरुष रहते हैं; लेकिन इन नये आदमियों को इनके देश की पुरानी सभ्यता से जोड़नेवाली कोई कड़ी नज़र नहीं आती।

ईराक़ और ईरान---इन देशों में कितने ही साम्राज्य फूले-फले और एक-दूसरे के बाद विस्मृति के गर्भ में समाते गये। इनमें सबसे पुराने साम्राज्यों के ही कुछ नाम लिये जायँ तो वे हैं--बाबुल[2], अशर[3] और ख़ाल्दिया[4]। बाबुल और

---

[1]स्फिन्क्स--यूनान की कहानियों के अनुसार यह एक दानवी है, जिसका सिर स्त्री का-सा और धड़ शेर का-सा है। गिज़ेह के पिरेमिडों के पास इसकी एक बड़ी भारी मूर्ति है, जिसकी लम्बाई १८७ फीट और ऊँचाई ६६ फीट है। उसका केवल सिर ही ३० फीट लम्बा है, और मुँह की चौड़ाई १४ फीट है।

[2]बाबुल (बेबीलोन)---ईराक के एक प्राचीन साम्राज्य का नाम है। प्रथम राजवंश की स्थापना ईसा से क़रीब २३०० साल पहले हुई थी। कई बार इसका उत्थान और पतन हुआ। ईसा से करीब ६२५ साल पहले, जब नाबोपोलासार ख़ाल्दिया का सम्राट हुआ, तो यह फिर आगे बढ़ने लगा। नेबूखुदनेज़र द्वितीय ने ६०४ और ५६५ ई० पू० के बीच इस साम्राज्य को गौरव की सबसे ऊँची चोटी तक पहुँचा दिया था। लेकिन फिर इसका ऐसा पतन हुआ कि आगे कभी न उठा। इसकी राजधानी बाबुल (बेबीलोन) एशिया का बहुत पुराना शहर था। यह आजकल के बगदाद से करीब ६० मील दक्षिण की तरफ, फ़रात नदी के दोनों किनारों पर आबाद था। अशर और ईरानी साम्राज्य की राजधानियाँ भी यहीं थीं। यहाँ का 'लटकता उद्यान' संसार का एक आश्चर्य माना जाता था।

[3]अशर (असीरिया)---एशिया का एक प्राचीन साम्राज्य। अपने गौरव-काल में यह मिस्र से ईरान तक फैला हुआ था।

[4]ख़ाल्दिया---एक अर्थ में यह बाबुल-साम्राज्य का एक प्रान्त था जो ईरान की खाड़ी के ऊपर की तरफ अरब के रेगिस्तान से मिलता हुआ फ़रात नदी के निचले हिस्से के किनारों पर आबाद था। यहाँ का निवासी नाबोपोलासार मीड जाति की मदद से बाबुल का सम्राट हुआ। उसके उत्तराधिकारियों के जमाने में यह साम्राज्य अपने गौरव की सबसे ऊँची चोटी पर पहुँचा। इसलिए वह जमाना ख़ाल्दियन-बैबीलोनियन जमाना कहलाता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निनीवे[१] इनके विशाल नगर थे। इंजील का पुराना हिस्सा तौरात[२] यहाँ के लोगों के ज़िक्र से भरा पड़ा है। इसके बाद भी इस भूमि में दूसरे साम्राज्य फूले-फले और मुरझा गये। अलिफ़लैला की मायानगरी बग़दाद यहीं है। लेकिन साम्राज्य बनते और बिगड़ते रहते हैं, और बड़े-से-बड़े और अभिमानी-से-अभिमानी राजा और सम्राट दुनिया के रंग-मंच पर सिर्फ़ थोड़े ही अरसे के लिए अकड़ के साथ चल पाते हैं; पर सभ्यताएं क़ायम रह जाती हैं। लेकिन ईराक़ और ईरान की पुरानी सभ्यताएं मिस्र की पुरानी सभ्यता की तरह बिल्कुल ही ख़तम हो गईं।

अपने पुराने दिनों में यूनान सचमुच महान् था और आज भी लोग उसकी शान-शौकत का हाल अचरज के साथ पढ़ते हैं। आज भी हम उसकी संगमरमर की ख़ूबसूरत मूर्त्तिकला देखकर स्तम्भित और चकित हो जाते हैं, और उसके पुराने साहित्य के उस अंश को, जो बच गया है, श्रद्धा और आश्चर्य के साथ पढ़ते हैं। कहा जाता है, और ठीक ही कहा जाता है, कि मौजूदा योरप कई बातों में यूनान का बच्चा है, क्योंकि योरप पर यूनानी विचार और यूनानी तरीक़ों का गहरा असर पड़ा है। लेकिन वह यूनान आज योरप के दक्षिण-पूरब में एक छोटा-सा मुल्क भर रह गया है।

मिस्र, नोसास, ईराक़ और यूनान—ये सब ख़तम हो गये। इनकी सभ्यता की हस्ती भी बाबुल और निनीवे की तरह मिट गई। तो फिर इन पुरानी सभ्यताओं के बाक़ी दो साथी, चीन और भारत, का क्या हुआ? दूसरे देशों या मुल्कों की तरह इन दोनों देशों में भी साम्राज्य-के-बाद-साम्राज्य क़ायम होते रहे। यहाँ भी भारी तादाद में हमले हुए, बरबादी और लूटमार हुई। बादशाहों के ख़ानदान सैकड़ों बरसों तक राज करते रहे और फिर इनकी जगह पर दूसरे आ गये। भारत और चीन में ये सब बातें वैसे-ही हुईं जैसे दूसरे देशों में। लेकिन सिवाय चीन और भारत के, किसी भी देश में सभ्यता का असली सिलसिला क़ायम नहीं रहा। सारे परिवर्तनों, लड़ाइयों और हमलों के बावजूद इन देशों में पुरानी सभ्यता की धारा अटूट बहती आई है। यह सच है कि ये दोनों अपने पुराने रुतबे से बहुत नीचे गिर गये हैं और इनकी प्राचीन संस्कृतियों के ऊपर ढेर-की-ढेर गर्द और कहीं-कहीं गन्दगी

---

[१]निनीवे—इसका दूसरा नाम नाइनस भी है। यह पुराने जमाने का एक मशहूर शहर है। यह अशूर साम्राज्य की राजधानी थी। सम्राट् सेनकेरिब के जमाने में इस शहर ने बड़ी तरक़्क़ी की थी और करीब दो सौ साल तक बहुत बड़ा व्यापारिक केन्द्र बना रहा। यहाँ का पुस्तकालय अपने जमाने में दुनिया-भर में मशहूर था। ६१२ ई० पू० में मीडों और बाबुल ने मिलकर हमला किया और इस फूलते-फलते शहर को तहस-नहस कर डाला।

[२]बाईबिल का पुराना अहदनामा—ओल्ड टेस्टामेण्ट

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लम्बे अर्से से जमा होती गई है। लेकिन ये संस्कृतियाँ अभीतक क़ायम हैं और आज भी वही भारतीय सभ्यता भारतीय ज़िन्दगी का आधार है। अब दुनिया में नई हालतें पैदा हो गई हैं; भाप से चलनेवाले जहाज़ों, रेलों और बड़े-बड़े कारख़ानों ने दुनिया की सूरत ही बदल दी है। हो सकता है, बल्कि वास्तव में सम्भव है, कि वे भारत की भी काया-पलट करदें, जैसाकि वे कर भी रहे हैं। लेकिन भारतीय संस्कृति और सभ्यता, जो इतिहास के उदयकाल से लेकर लम्बे-लम्बे युगों को पार करती हुई वर्त्तमान काल तक चली आई है, के इस लम्बे विस्तार और सिलसिले का ख़याल दिलचस्प और बहुत-कुछ आश्चर्यजनक है। एक मायने में भारत के हम लोग इन हज़ारों वर्षों के उत्तराधिकारी हैं। यह हो सकता है कि हम लोग उन पुराने लोगों के ठेठ वंशज हों जो उत्तर-पश्चिम के पहाड़ी दर्रों से होकर उस लहलहाते हुए मैदान में आये, जो 'ब्रह्मावर्त्त', 'आर्यावर्त', 'भारतवर्ष' और बाद में 'हिन्दुस्तान' कहलाया। बहादुरी और साहस की भावना से भरे हुए ये लोग परिणामों की परवाह न करते हुए हिम्मत के साथ आगे बढ़ते चले गये। अगर मौत आई तो उन्होंने उसकी परवाह नहीं की। हँसते-हँसते उसे गले लगाया। लेकिन उन्हें जीवन से प्रेम था, और वे जानते थे कि ज़िन्दगी का सुख भोगने का एकमात्र तरीक़ा यह है कि आदमी निडर हो जाय और हार और आफ़तों से परेशान न हो, क्योंकि हार और आफ़त में एक बात यह होती है कि वे निडर लोगों के पास नहीं फटकतीं। अपने उन प्राचीन पूर्वजों का ख़याल तो करो, जो आगे बढ़ते-बढ़ते एकदम समुद्र की ओर शान के साथ बहती हुई पवित्र गंगा के किनारे आ पहुँचे थें। यह दृश्य देखकर उनका हृदय कितना आनन्दित हुआ होगा! और इसमें आश्चर्य की कौनसी बात है कि इन लोगों ने गंगा के सामने आदर से अपना सिर झुका दिया और अपनी समृद्ध और मधुर भाषा में उसकी स्तुति की ?

यह सोचकर सचमुच ताज्जुब होता है कि हम इन सब युगों के उत्तराधिकारी हैं। लेकिन अगर हम युग-युगान्तरों के उत्तराधिकारी हैं, तो हम उनकी अच्छाई और बुराई दोनों के हैं. और भारत में हमें मौजूदा विरासत में जो-कुछ मिला है, उसमें बहुत-सी बुराइयाँ हैं; बहुत-कुछ ऐसा है जिसने हमें दुनिया में नीचा गिराये रखा और हमारे महान् देश को सख़्त ग़रीबी में डाल दिया और उसे दूसरों के हाथ का खिलौना बना दिया। लेकिन क्या हमने यह फैसला नहीं कर लिया है कि यह हालत अब न रहने देंगे ?

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: ४ :

यूनान के नगर-राज्य और पश्चिम एशिया के साम्राज्य

हमने यह देखा कि योरप और एशिया, इन दोनों में कितनी बातें एक-दूसरे से भिन्न हैं और कितनी एक-दूसरे से मिलती-जुलती हैं। आओ, अब हम जरा प्राचीन योरप पर नज़र डालें। बहुत दिनों तक भूमध्यसागर के चारों तरफ़ के देश ही योरप समझे जाते थे। लोगों का ख़याल है कि शुरू ज़माने में सभ्यता भूमध्यसागर के पूर्वी हिस्से तक ही सीमित थी। मिस्र (जो अफ्रीका में है, योरप में नहीं) और नोसास ही पहले देश थे, जो आगे बढ़े। धीरे-धीरे आर्य लोग एशिया से पश्चिम की ओर बढ़ने लगे और यूनान तथा आसपास के मुल्कों में फैल गये। ये वही आर्य-यूनानी हैं जिन्हें हम प्राचीन यूनानी कहते हैं और जिनकी तारीफ़ करते हैं। शुरू में, मेरा ख़याल है, ये लोग उन आर्यों से बहुत भिन्न नहीं थे जो शायद इसके पहले भारत में उतर चुके थे। लेकिन बाद में धीरे-धीरे तब्दीलियाँ हुई होंगी और धीरे-धीरे आर्य-जाति की इन दोनों शाखाओं में फ़र्क दिन-ब-दिन ज्यादा होता गया। भारतीय आर्यों के ऊपर उससे भी पुरानी भारत की सभ्यता, यानी द्रविड़-सभ्यता, का और शायद उस सभ्यता के अवशेषों का बहुत असर पड़ा जिसके खंडहर आज हमें मोहन-जो-दड़ो में मिलते हैं। आर्यों और द्रविड़ों ने एक-दूसरे से बहुत-कुछ लिया और एक-दूसरे को बहुत-कुछ दिया, और इस तरह उन्होंने मिल जुलकर भारत की एक मिली-जुली संस्कृति बनाई।

इसी प्रकार यूनानी आर्यों पर भी नोसास की उस पुरानी सभ्यता का बहुत ज्यादा असर पड़ा होगा जो यूनान की भूमि पर इनके आने के समय ख़ूब ज़ोरों से लहरा रही थी। इनके ऊपर इसका असर ज़रूर पड़ा, लेकिन उन्होंने नोसास और उसकी सभ्यता के बाहरी रूप को नष्ट कर दिया और उसकी राख पर अपनी सभ्यता रची।

इस तरह नोसास ईसा के पैदा होने के कोई एक हज़ार साल पहले नष्ट हो चुका था, और नये यूनानियों ने यूनान और आसपास के टापुओं पर अपना अधिकार जमा लिया। ये लोग समुद्र के रास्ते एशिया कोचक[1] के पश्चिमी किनारे तथा दक्षिण-इटली और सिसली तक और दक्षिण-फ़्रांस तक भी जा पहुँचे। फ़्रांस में

---

[1]एशिया कोचक या एशिया-माइनर—एशिया महाद्वीप के पश्चिम में एक प्रायद्वीप। यहाँ तुर्की का राज्य है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मारसाई नाम के शहर को इन्होंने ही बसाया था। लेकिन शायद इनके वहाँ जाने के पहले से ही वहाँ फिनिश लोगों की आबादी थी। फिनिश जाति एशिया कोचक की मशहूर समुद्र-यात्री क़ौम थी, जो व्यापार की तलाश में दूर-दूर तक धावा मारा करती थी। उस पुराने ज़माने में ये लोग इंगलैण्ड तक पहुँच गये थे, जिन दिनों वह बिल्कुल वहशी था, और जब जिब्राल्टर के जलडमरूमध्य से होकर यह लम्बा जहाज़ी सफ़र ज़रूर खतरनाक रहा होगा।

यूनान की मुख्य भूमि में एथेन्स, स्पार्टा, थीब्स और कोरिन्थ जैसे मशहूर शहर आबाद हो गये। यूनानियों के, जो उस वक्त 'हेलेन्स' कहलाते थे, पुराने ज़माने का हाल 'इलियड' और 'ओडेसी' नाम के दो महाकाव्यों में बयान किया गया है। ये दोनों महाकाव्य हमारे देश की रामायण और महाभारत की तरह के ग्रन्थ हैं। कहते हैं कि होमर ने, जो अन्धा था, ये काव्य लिखे हैं। 'इलियड' में यह क़िस्सा बयान किया गया है कि किस तरह सुन्दरी हेलन को पेरिस अपने शहर ट्राय में भगा ले गया, और किस तरह यूनान के राजाओं और सरदारों ने उसे छुड़ाने के लिए ट्राय के चारों तरफ घेरा डाला। 'ओडेसी' ट्राय के घेरे से लौटते वक्त ओडेसियस या यूलीसस के भ्रमण की कहानी है। एशिया-कोचक में, समुद्र-तट से बहुत नज़दीक, ट्राय का यह छोटा शहर बसा हुआ था। आज इसका कोई निशान नहीं है और उसकी हस्ती मिटे बहुत ज़माना हो गया; लेकिन कवि की प्रतिभा ने इसे अमर बना दिया है।

जिस समय नोसास नष्ट किया जा रहा था, फिलस्तीन के इसरायल प्रदेश पर सालूस[१] नाम के बादशाह का राज था। इसके बाद दाऊद[२] और फिर सुलेमान[३] हुआ, जो अपनी अक्लमंदी के लिए बहुत मशहूर है। मैं इन तीन नामों का इसलिए जिक्र कर रहा हूँ कि तुमने इनके बारे में जरूर पढ़ा या सुना होगा।

यूनान के बारे में एक बात बड़ी दिलचस्प है। ऐसा लगता है कि यूनानी

---

[१]सालूस (सौल)—यहूदियों के देश इसरायल का पहला बादशाह था। इसका समय ईसा से करीब १०१० साल पहले है। इसने फिलस्तीन जाति को हराया और आमलेकाइट जाति का दमन किया। लेकिन अन्त में यह फिलस्तीनों से हार गया और इसने आत्म-हत्या कर ली।

[२]दाऊद—इसे डेविड भी कहते हैं। यह इसरायल का दूसरा बादशाह था। इसका समय ईसा से १०३०से ९९० साल पहले तक है। सालूस की खुदकशी और फिलस्तीनों द्वारा राजकुमार की हत्या के बाद यह राजा बनाया गया।

[३]सुलेमान—इसे सालोमन भी कहते हैं। इसरायल का यह तीसरा बादशाह था। इसका राज्य शान-शौकत के लिए मशहूर है। कहा जाता है कि यह बड़ा बुद्धिमान और इन्साफ पसन्द बादशाह था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लोग बड़े-बड़े राज्य या साम्राज्य पसन्द नहीं करते थे। उन्हें छोटे-छोटे नगर-राज्य पसन्द थे, यानी उनका हरेक शहर एक स्वतंत्र राज्य हुआ करता था। ये राज्य छोटे-छोटे गणराज्य होते थे। बीच में शहर होता था और चारों तरफ कुछ खेत होते थे, जिनसे लोगों के लिए खाने की सामग्री मिला करती थी। गण-राज्य में कोई राजा नहीं होता। यूनान के ये नगर-राज्य बिना राजा के थे, और धनी नागरिक इन पर राज्य करते थे। साधारण आदमी को राज्य के मामलों में बोलने का हक नहीं था। बहुत-से गुलाम थे, जिन्हें राजकाज में कोई अधिकार नहीं था, और औरतों को भी इस प्रकार का कोई हक नहीं था। इस तरह आबादी के सिर्फ एक हिस्से को इन शहरी राज्यों में नागरिकता का हक मिला हुआ था, और यही हिस्सा सार्वजनिक मामलों पर राय दे सकता था। इन नाग-रिकों के लिए वोट देना कोई मुश्किल काम नहीं था, क्योंकि सबके--सब एक ही जगह पर इकट्ठे किये जा सकते थे।

शुरू के ज़माने में भारत में भी यूनान के नगर-राज्यों की तरह के ही छोटे-छोटे गणराज्य और छोटे-छोटे राज्य हुआ करते थे। लेकिन जाहिर है कि वे बहुत दिनों तक क़ायम नहीं रहे और बड़े राज्यों में समा गये। इस पर भी, बहुत समय तक, हमारी गाँवों की पंचायतों के हाथों में बहुत बड़ी ताक़त बनी रही। शायद पुराने आर्यों की पहली प्रेरणा यही होती थी, कि जहाँ-जहाँ जायँ, वहीं छोटे-छोटे नगर-राज्य बनायें। लेकिन भौगोलिक परिस्थितियों और अपने से पुरानी सभ्यता के सम्पर्क ने इन्हें अपने इन विचारों को, उन देशों में, जहाँ जाकर ये बसे, धीरे-धीरे छोड़ने पर मजबूर कर दिया। ईरान में खासतौर से हम देखते हैं कि बड़ी-बड़ी सल्तनतें और साम्राज्य क़ायम हुए। भारत में भी बड़े-बड़े राज्य स्थापित करने की ओर झुकाव रहा है। लेकिन यूनान में नगर-राज्य बहुतप्र दिनों तक क़ायम रहे, और उस वक्त तक बने रहे कि जब एक इतिहास सिद्ध यूनानी ने दुनिया को जीतने की सबसे पहली बार कोशिश की। इसका नाम था सिकन्दर महान्।

इस तरह यूनानी लोगों ने अपने छोटे-छोटे नगर-राज्यों को मिलाकर कोई बड़ा राज्य, बादशाहत या गणराज्य बनाना पसन्द नहीं किया। इनमें आपस में बड़ी प्रतिस्पर्धा रहा करती थी, जिसका नतीजा अक्सर लड़ाई होता था। फिर भी इन नगर-राज्यों को आपस में बाँध रखनेवाली बहुत-सी समान कड़ियाँ थीं। इनकी भाषा एक थी, संस्कृति एक थी और मज़हब एक था। इनके धर्म में अनेक देवी और देवता माने जाते थे और इनकी पौराणिक कथाएँ हिन्दुओं की पुरानी पौराणिक कथाओं की तरह बड़ी सुन्दर और प्रचुर थीं। ये लोग सौंदर्य के पुजारी थे। आज भी इनकी बनाई हुई संगमरमर और पत्थर की कुछ पुरानी मूर्त्तियाँ पाई जाती हैं, जो बहुत-ही सुन्दर हैं। शरीर को स्वस्थ और सुन्दर बनाये रखने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में इनकी बहुत रुचि थी और इसके लिए ये लोग खेल-कूद और दौड़ों की व्यवस्था करते रहते थे। यूनान के ओलम्पिया नामक स्थान पर समय-समय पर इस तरह के खेल बड़े-पैमाने पर हुआ करते थे और यूनान भर के लोग वहाँ जमा होते थे। ओलम्पिक खेल आज भी होते हैं। यह नाम ओलम्पिया पर होनेवाले उन पुराने यूनानी खेलों से ही लिया हुआ है।

अब हमें यह देखना है कि एशिया में क्या हो रहा था। उस प्राचीन काल में भी ईराक़, ईरान और एशिया कोचक में कितने ही साम्राज्य एक-के-बाद एक बनते और बिगड़ते रहे। यहाँ अशर, मीडियन[1], बाबुल और बाद को, ईरानी साम्राज्य बने। हमें इस तफ़सील में जाने की जरूरत नहीं कि ये साम्राज्य आपस में कैसे लड़ते थे या कुछ दिन शान्तिपूर्वक साथ-साथ कैसे रहते थे, या इन्होंने एक-दूसरे को कैसे नष्ट किया। इन देशों में बहुत शुरू के ज़माने से ही बड़े राज्य या साम्राज्य के लिए ज़बरदस्त ख्वाहिश पाई जाती थी। शायद इसका कारण इनकी पुरानी सभ्यता थी, या शायद कोई दूसरी वजह भी हो सकती है।

एक नाम तुम्हें जरूर दिलचस्प लगेगा। यह नाम क़ारूँ (क्रोशस) का है। "क़ारूँ का ख़ज़ाना" एक मशहूर कहावत है। तुमने इस क़ारूँ के किस्से भी पढ़े होंगे कि यह कितना दौलतमन्द और घमंडी था और आखिरकार किस तरह जलील हुआ। क़ारूँ लिडिया का राजा था। यह देश एशिया के पश्चिमी तट पर था, जहाँ आज एशिया कोचक है। समुद्र के किनारे होने की वजह से यहाँ का व्यापार शायद खूब बढ़ा हुआ था। उस ज़माने में क़ुरुश[2] की मातहती में ईरानी-साम्राज्य तरक्की कर रहा था और ताकतवर होता जाता था। क़ुरुश और क़ारूँ में मुठ-भेड़ हो गई और क़ुरुश ने क़ारूँ को हरा दिया।

क़ुरुश के पास बहुत बड़ा साम्राज्य था जो शायद पूर्व में भारत तक फैला हुआ था। लेकिन उसके एक उत्तराधिकारी दारा (डेरियस) के पास इससे भी बड़ा साम्राज्य था, जिसमें मिस्र, मध्य-एशिया का कुछ भाग और सिन्ध नदी के पास भारत का भी छोटा-सा हिस्सा शामिल था। कहा जाता है कि उसके इस

---

[1]मीडियन—ईसा के ७०० बरस पहले एशिया का एक पुराना साम्राज्य, जो कैस्पियन सागर के दक्षिण और ईरान के उत्तर में था। ई० पू० ३३१ में सिकन्दर ने इसे अपने साम्राज्य में मिला लिया। यूनानियों के पतन के बाद यह ईरानी साम्राज्य में मिला लिया गया

[2] कुरुश या साइरस—यह ईरानी-साम्राज्य का संस्थापक था। इसका समय ईसा से ६०० से लगाकर करीब ५२९ साल पहले तक है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारतीय प्रान्त से सैकड़ों मन सुनहली रेत[1] उसे ख़िराज के तौर पर भेजी जाती थी।

मध्य-एशिया वह प्रदेश है जहाँ से बेशुमार क़बीले—स्त्री और पुरुषों के दल-के-दल—बाहर निकले और फैलते-फैलते दूर-दूर तक के महाद्वीपों में फैल गये। यहाँ पुराने ज़माने में बड़े-बड़े और शक्तिशाली शहर थे—ख़ूब घने बसे हुए और मालामाल—जिनकी तुलना आजकल की यूरोपीय राजधानियों से की जा सकती है और जो आजकल के कलकत्ते और बम्बई से कहीं बड़े थे। हर जगह बग़ीचे और हरियाली थी—और आबो-हवा सुखद और सम, अर्थात् न बहुत गर्म और न बहुत सर्द। लेकिन अब हजारों वर्षों से यह बंजर और क़रीब-क़रीब रेगिस्तान-सा है जहाँ रहना भी तकलीफ़देह है। उस ज़माने के विशाल नगरों में से कुछ नगर—जैसे समरक़न्द और बुख़ारा—जिनके नाम से ही अनेक स्मृतियाँ जग उठती हैं, अब भी अपने दिन गिन रहे हैं। लेकिन अब तो ये अपने पुराने रूप की छाया-मात्र रह गये हैं।

: ५ :

प्राचीन भारत के ग्राम-गणराज्य

यूनान, भूमध्यसागर, मिस्र, एशिया कोचक और ईरान की एक झलक हम देख चुके हैं। अब हम अपने देश की तरफ आते हैं। भारत के प्रारम्भिक इतिहास का अध्ययन करने में हमारे सामने बड़ी कठिनाई आ जाती है। आदि-आर्य लोगों ने, जिन्हें अंग्रेजी में 'इण्डो-एरियन' कहते हैं, इतिहास लिखने की तरफ़ ध्यान ही नहीं दिया। हम अपने पिछले पत्रों में देख चुके हैं कि ये लोग बहुत सी बातों में कितने बढ़े-चढ़े थे। इन लोगों के रचे हुए ग्रन्थ—वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत वग़ैरा—ऐसे हैं जिन्हें महान् लोग ही लिख सकते थे। इन ग्रंथों से, और दूसरी सामग्री की मदद से, हमें पुराने इतिहास का अध्ययन करने में मदद मिलती है। इनसे हमें अपने पूर्वजों के रस्म-रिवाज और रहन-सहन और विचार करने के ढंग का पता लगता है। लेकिन दरअसल ये इतिहास नहीं हैं। संस्कृत में वास्तविक इतिहास की अकेली किताब कश्मीर के इतिहास पर है, लेकिन वह

---

[1]सुनहली रेत—कई नदियों के किनारे पाई जानेवाली रेत जिसमें से सोना निकाला जाता है। उस जमाने में यह रेत सिन्ध के किनारे पाई जाती होगी, पर अब नहीं पाई जाती।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बहुत बाद के ज़माने की है। उसका नाम है 'राजतरंगिणी'। उसमें कश्मीर के राजाओं का सिलसिलेवार हाल है और यह कल्हण की लिखी हुई है।

जब आर्यों ने भारत में क़दम रखा, यह देश पहले ही सभ्य हो चुका था। दरअसल उत्तर-पश्चिम में मोहन-जो-दड़ो के खंडहरों से अब तो यह निश्चित मालूम पड़ता है कि आर्यों के आने के बहुत दिन पहले से इस देश में एक महान् सभ्यता मौजूद थी। लेकिन इसके बारे में अभीतक हम कुछ ज्यादा नहीं जानते। मुमकिन है कि कुछ वर्षों के अन्दर ही, जब हमारे पुरातत्ववेत्ता वहाँ जो कुछ मिल सकता है उसे खोद निकालेंगे, तब हम उसके बारे में कुछ ज्यादा जान सकेंगे।

बहरहाल, इसके अलावा भी यह ज़ाहिर है कि उस समय दक्षिण-भारत में, और शायद उत्तर-भारत में भी, द्रविड़ों की एक समृद्ध सभ्यता थी। इनकी भाषाएँ, जो आर्यों की संस्कृत से निकली हुई नहीं हैं, बहुत पुरानी हैं और इनमें बड़ा सुन्दर साहित्य पाया जाता है। इन भाषाओं के नाम हैं तमिल, तेलगू, कन्नड़ और मलयालम। ये भाषाएँ दक्षिण-भारत में आज भी फूल-फल रही हैं।

योरप और दूसरे मुल्कों के कुछ लोग समझते हैं कि भारत में सैकड़ों भाषाएँ बोली जाती हैं। यह बिल्कुल बेहूदा बात है और ऐसा कहनेवाला खुद अपना ही अज्ञान ज़ाहिर करता है। यह सच है कि भारत-जैसे बड़े मुल्क में बहुत-सी बोलियाँ हैं, जो स्थान-भेद के मुताबिक किसी एक भाषा के अलग-अलग रूप हैं। यहाँ के पहाड़ी और दूसरे हिस्सों में भी कितनी-ही छोटी-मोटी जातियाँ हैं जिनकी अपनी-अपनी खास जबानें हैं। लेकिन अगर सारे भारत को एक साथ लिया जाय, तो इन सबका कोई महत्त्व नहीं रह जाता। उनका महत्त्व सिर्फ मर्दुमशुमारी के ख़याल से ही है। जैसाकि मेरा ख़याल है, भारत की असली भाषाएँ दो परिवारों में बाँटी जा सकती हैं—पहला परिवार द्रविड़ भाषा का है जिसका ऊपर जिक्र आ चुका है, और दूसरा भारतीय आर्य-जाति की भाषा का है। भारतीय आर्यों की मुख्य भाषा संस्कृत थी और भारत की सारी आर्य-भाषाएँ —हिन्दी, बंगला, गुजराती और मराठी—संस्कृत से निकली हैं। इनके अलावा कुछ और भेद भी हैं। आसाम में असामी है तो उड़ीसा या उत्कल में उड़िया बोली जाती है। उर्दू भी हिन्दी की ही एक किस्म है। हिन्दुस्तानी का मतलब हिन्दी और उर्दू दोनों से है। इस तरह भारत की मुख्य भाषाएँ दस हैं—हिन्दुस्तानी, बंगला, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलगू, कन्नड़, मलयालम, उड़िया, और असमी। इनमें से हिन्दुस्तानी, जो अपनी मातृभाषा है, सारे उत्तर-भारत में—पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान, दिल्ली और मध्यभारत में—बोली जाती है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जो देश आज अफ़गानिस्तान कहलाता है, वह उस समय और बाद में भी बहुत वर्षों तक, भारत का एक हिस्सा था। भारत का उत्तर-पश्चिमी हिस्सा गान्धार कहलाता था। सारे उत्तर में, सिन्ध और गंगा के मैदान में, आर्यों की बड़ी-बड़ी बस्तियाँ थीं। बाहर से आनेवाले ये आर्य शायद इमारत बनाने की कला अच्छी तरह जानते थे, क्योंकि इनमें से बहुत से ईरान और ईराक़ की आर्यों की बस्तियों से आये हुए होंगे, जहाँ उस समय भी बड़े-बड़े शहर बस गये थे। इन आर्य-बस्तियों के दर्मियान बहुत से जंगल थे। खासकर उत्तरी और दक्षिणी भारत के बीच में तो एक बहुत बड़ा घना जंगल था। यह सम्भव नहीं मालूम होता कि आर्य लोगों की कोई बड़ी तादाद इन जंगलों को पार करके दक्षिण में बसने गई हो। हाँ, बहुत-से व्यक्ति खोज और व्यापार करने तथा आर्य-सभ्यता और संस्कृति को फैलाने के लिए दक्षिण जरूर गये होंगे। पौराणिक कथा यह है कि अगस्त्य ऋषि पहले आर्य थे जो दक्षिण गये और आर्य-धर्म तथा आर्य-संस्कृति का सन्देश दक्षिण तक ले गये।

उस समय भारत और विदेशों के बीच काफ़ी व्यापार चलता था। विदेशी व्यापारी दक्षिण की काली मिर्च, मोती और सोने के लालच से समुद्र पार करके यहाँ आते थे। यहाँ से शायद चावल भी बाहर जाता था। बाबुल के पुराने राज-महलों में मलाबार का सागवान मिला है।

आर्यों ने भारत में धीरे-धीरे अपनी ग्रामीण-प्रणाली का विकास किया। इस प्रणाली में कुछ पुरानी द्रविड़-ग्राम-प्रथा का, और कुछ आर्य विचारों का, मेल-जोल था। ये गाँव क़रीब-क़रीब स्वतन्त्र होते थे और चुनी हुई पंचायतें इन पर शासन करती थीं। कई गाँवों या छोटे क़सबों को मिलाकर उनपर राजा या सरदार राज करता था, जो कभी तो चुना हुआ होता था और कभी पुश्तैनी। अक्सर गाँवों के अनेक गिरोह एक-दूसरे से सहयोग करके सड़कें, धर्मशालाएँ, सिंचाई के लिए नहरें, या इस प्रकार की पंचायती चीजें, जो सब लोगों के फायदे की होती थीं, बनाया करते थे। यह भी मालूम होता है कि राजा यद्यपि राज्य का प्रमुख होता था. लेकिन वह मनमानी नहीं कर सकता था। उसे आर्यों के कानूनों और प्रथाओं के मुताबिक चलना पड़ता था। उसकी प्रजा उस पर जुर्माना कर सकती थी और उसे गद्दी तक से उतार सकती थी। 'राजा ही राष्ट्र है' यह सिद्धान्त यहाँ नहीं माना जाता था। इस तरह आर्य बस्तियों में एक क़िस्म का लोकतंत्र पाया जाता था, यानी आर्य-प्रजा शासन पर कुछ हद तक नियन्त्रण रख सकती थी।

उस समय भारतीय आर्यों में समाज के चार भेद या वर्ण माने जाते थे--ब्राह्मण, जो विद्वान्, पुरोहित और ऋषि-मुनि होते थे; क्षत्रिय, जो राज्य करते थे; वैश्य, जो व्यापार करते थे; और शूद्र, जो मेहनत-मज़दूरी करते थे और दस्तकार थे। इस तरह यह जाति-भेद पेशे के आधार पर था। सम्भव है, जाति-पाँति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की प्रणाली एक हद तक इसलिए रखी गई हो कि आर्य लोग विजित क़ौम से अपने को अलग रखना चाहते थे। आर्य लोग बहुत अभिमानी और घमण्डी थे और दूसरी जातियों को नीची निगाह से देखते थे। वे नहीं चाहते थे कि उनकी जाति के आदमी दूसरी जाति के लोगों से घुलें-मिलें। जाति के लिए संस्कृत में 'वर्ण' शब्द आता है, जिसका अर्थ रंग है। इससे यह भी ज़ाहिर होता है कि बाहर से आनेवाले आर्य भारत के मूल निवासियों से गोरे थे।

इस तरह एक तरफ़ तो आर्य लोगों ने श्रमिक वर्ग को दबा रखा था और उसे अपने लोकतंत्र में कोई हिस्सा नहीं देते थे; दूसरी तरफ़ उन्होंने अपने लिए बहुत ज्यादा आज़ादी रखी थी। ये लोग इस बात को बिल्कुल गवारा नहीं करते थे कि उनके राजा या शासक बेजा हरकतें करें। अगर कोई शासक बेजा हरकत करता था तो हटा दिया जाता था। आम तौर पर राजा क्षत्रिय होते थे, लेकिन कभी-कभी लड़ाइयों या अन्य संकटों के समय शूद्र या नीच-से-नीच जाति का आदमी भी, अगर इतना योग्य होता, तो राजगद्दी पा सकता था। बाद में आर्यों में गिरावट आ गई और उनकी जाति-प्रणाली मजबूत हो गई। आपस में बहुत-से विभाग हो जाने की वजह से मुल्क कमज़ोर पड़ गया और नीचे गिर गया। ये लोग आज़ादी की अपनी पुरानी भावना को भी भूल गये, क्योंकि पुराने ज़माने में कहा जाता था कि आर्य कभी भी दास नहीं बनाया जा सकता। आर्य नाम को कलंकित करने के बजाय मर जाना कहीं ज्यादा अच्छा समझा जाता था।

आर्यों की बस्तियाँ, उनके क़सबे और गाँव बेतुके ढंग से नहीं बसाये गये थे। वे नक़्शों के मुताबिक़ बसाये जाते थे। इन नक़्शों के तैयार करने में रेखागणित से बहुत मदद ली जाती थी। सच तो यह है कि वैदिक पूजाओं में रेखागणित की शकलें भी काम में आती थीं। आज भी अनेक हिन्दू घरों में बहुत-सी पूजाओं में ये शकलें काम आती हैं। मकानों और शहरों के बनाने की कला से रेखागणित का बहुत ज्यादा सम्बन्ध है।

सम्भव है शुरू में पुराने आर्यों के गाँव क़िलेबन्द छावनी की तरह हुआ करते थे, क्योंकि उस जमाने में हमलों का हमेशा डर रहा करता था। जब दुश्मनों के हमलों का डर नहीं रहा तब भी वही नक़्शा जारी रहा। यह नक़्शा चतुर्भुज के आकार का होता था जिसमें चारों तरफ़ परकोटा होता था, और इसमें चार बड़े और चार छोटे फाटक रखे जाते थे। परकोटे के अन्दर एक ख़ास तरतीब में सड़कें और मकान बनाये जाते थे। गाँव के बीच में पंचायत-घर होता था जहाँ गाँव के बड़े-बूढ़े इकट्ठे होते थे। छोटे गाँवों में पंचायत-घर के बजाय कोई एक बड़ा पेड़ ही हुआ करता था। हर साल गाँव के सब नागरिक इकट्ठे होकर अपनी पंचायत चुनते थे।

कई विद्वान् सादा जीवन बिताने और शान्ति के साथ अध्ययन या

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सेवाकार्य करने के लिए क़सबों या गाँवों के आस-पास के जंगलों में चले जाते थे। इनके पास विद्यार्थी इकट्ठे हो जाते थे। धीरे-धीरे इन गुरुओं और विद्यार्थियों की नई बस्तियाँ बन गईं। हम इन बस्तियों को आजकल के विश्वविद्यालय कह सकते हैं। इन जगहों पर कोई सुन्दर इमारतें नहीं हुआ करती थीं, लेकिन जिनको ज्ञान की तलाश होती थी, वे बड़ी-बड़ी दूर से विद्याध्ययन के इन केन्द्रों में आया करते थे।

यह प्रारम्भ काल का युग भारत में आर्यों का एक महान् युग था। बदक़िस्मती से इस युग का हमें कोई इतिहास नहीं मिलता और उस समय की जो बातें हमें मालूम हैं, उनके लिए हमें ग़ैर-तवारीख़ी किताबों पर ही भरोसा करना पड़ता है। उस ज़माने के राज्यों और गणराज्यों में ये थे—दक्षिण-बिहार में मगध; उत्तर-बिहार में विदेह; काशी; कोशल, जिसकी राजधानी अयोध्या थी; और पांचाल, जो गंगा और यमुना के बीच में था। पांचालों के देश में मथुरा और कान्यकुब्ज दो मुख्य शहर थे। ये शहर बाद के इतिहास में भी मशहूर रहे हैं और आज भी मौजूद हैं। कान्यकुब्ज अब कन्नौज कहलाता है और कानपुर के नजदीक है। उज्जैन भी पुराना शहर है, लेकिन अब यह ग्वालियर रियासत (अब मध्य भारत) का एक छोटा क़सबा है। पाटलिपुत्र या पटना के नज़दीक वैशाली नाम का शहर था। यह लिच्छवी वंश के लोगों की राजधानी थी, जो भारत के शुरू-शुरु के इतिहास में एक मशहूर वंश है। यह राज्य गणराज्य था, और प्रमुख आदमियों की एक सभा इस पर शासन करती थी। इनका एक चुना हुआ सभापति हुआ करता था, जिसे 'नायक' कहते थे।

ज्यों-ज्यों ज़माना गुज़रा, बड़े-बड़े क़सबे और शहर बनते गये। व्यापार बढ़ा और कारीगरों की कला और दस्तकारी ने भी उन्नति की। शहर बड़े-बड़े केन्द्र हो गये। जंगल के आश्रम, जहाँ विद्वान् ब्राह्मण अपने शिष्यों के साथ रहा करते थे, बढ़कर बड़े-बड़े विश्वविद्यालय बन गये। विद्या के इन केंद्रों में वे सब विषय पढ़ाये जाते थे जिनका उस समय तक मनुष्य को ज्ञान था। ब्राह्मण युद्धकला भी सिखलाते थे। महाभारत में पाण्डवों के गुरु द्रोणाचार्य ब्राह्मण थे, जो उन्हें अन्य विषयों के अलावा युद्धकला की भी शिक्षा देते थे।

: ६ :

चीन के हज़ार बरस

आओ अब हम प्राचीन इतिहास में भारत के भाई चीन की चर्चा करें। पाँच हज़ार या कुछ ज्यादा बरस गुज़रे होंगे जब पश्चिम से चीन पर एक हमला

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुआ था। हमला करवाली ये जातियाँ भी मध्य-एशिया से आई थीं और अपनी सभ्यता में ये अच्छी-खासी आगे बढ़ी हुई थीं। ये लोग खेती करना जानते थे और भेड़-बकरियाँ और मवेशी पाला करते थे। ये लोग अच्छे-अच्छे मकान बनाना जानते थे और इनका समाज खूब उन्नत था। ये लोग ह्वांग-हो नदी के पास, जिसे पीली नदी भी कहते हैं, बस गये और यहाँ इन्होंने अपने राज्य का संगठन किया। सैकड़ों वर्ष तक ये चीन भर में फैलते रहे और अपने कला-कौशल और कारीगरी की उन्नति करते रहे। चीनी लोग ज्यादातर किसान थे और उनके सरदार असल में उसी तरह के कुलपति थे, जिनका मैं जिक्र कर चुका हूँ। छः या सात सौ वर्ष बाद, यानी अब से चार हज़ार से भी अधिक वर्ष पहले, याओ नाम का एक आदमी हुआ, जिसने अपने को सम्राट कहना शुरू किया। लेकिन इस उपाधि के होने पर भी उसकी स्थिति अधिकतर कुलपति की-सी ही थी, मिस्र या ईराक़ के सम्राटों की-सी नहीं। चीनी लोग किसानों की तरह ही रहते रहे, और वहाँ कोई खास केंद्रीय शासन नहीं बन पाया।

लेकिन जल्दी ही यह पद मौरूसी हो गया, और कहा जाता है कि चार सौ वर्ष से ज्यादा तक हिस्या नाम के राजवंश ने चीन पर हुकूमत की। हिस्या वंश का आखिरी राजा बहुत ज़ालिम था। नतीजा यह हुआ कि एक क्रान्ति हुई, जिसने उसे उखाड़ फेंका। इसके बाद शांग या यिन नाम का दूसरा राजवंश शासन करने लगा और इसका राज्य क़रीब ६५० वर्षों तक चला।

धीरे-धीरे कुलपति की प्रथा टूटती गई और उसकी जगह केंद्रीय शासन क़ायम होता गया तथा एक सुसंगठित राज्य सामने आ गया। उस पुराने ज़माने में भी चीन के लोग लिखने की कला जानते थे। लेकिन, चीनी लिपि हमारी या अंग्रेजी या फ़्रांसीसी लिपि से बिलकुल भिन्न है। इस लिपि में अक्षर नहीं हैं। यह संकेत या चित्रों द्वारा लिखी जाती है।

शांग के राजवंश को ६४० वर्ष राज्य करने के बाद एक क्रांति ने उखाड़ फेंका और चाऊ नामक एक नये राजवंश का अधिकार हुआ। इसने शांगों से ज्यादा दिन तक अधिकार भोगा। इसकी हुकूमत ८३७ साल तक क़ायम रही। चाऊ वंश के ज़माने में ही चीन का राज्य अच्छी तरह से संगठित हुआ, और इसी ज़माने में चीन में दो बड़े दार्शनिक कनफ़ूशस और लाओ-त्ज़े पैदा हुए। इनकी कुछ चर्चा हम आगे चलकर करेंगे।

जब शांग राजवंश निकाल फेंका गया, तब कि-त्ज़े नामक इसके एक उच्च अधिकारी ने चाऊ लोगों की नौकरी करने की बनिस्बत देश छोड़कर चले जाना अच्छा समझा। इसलिए वह अपने पाँच हजार अनुयायियों को साथ लेकर चीन से बाहर कोरिया को कूच कर गया। उसने इस मुल्क का नाम 'चोज़न' यानी 'प्रातःकालीन शान्ति का देश' रखा। कोरिया या चोज़न चीन के पूर्व में है। ईसा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से ग्यारह सौ वर्ष पहले इसी कि-त्ज़े के साथ कोरिया का इतिहास शुरू होता है। कि-त्ज़े के साथ ही इस नये मुल्क में चीनी कला-कौशल, मकान बनाने की कला, कृषि और रेशम की कारीगरी आई। कि-त्ज़े के पीछे-पीछे और भी बहुत-से चीनी यहाँ आ गये और उसके वंशजों ने चोज़न पर नौ सौ से ज्यादा वर्ष तक राज्य किया।

चोज़न के पूर्व में, जैसाकि हम जानते हैं, जापान है। जापान का इतिहास इतना पुराना नहीं है जितना चीन या कोरिया यानी चोज़न का। जापानी लोगों का कहना है कि उनके पहले सम्राट का नाम जिम्मूटिन्नू था और उसने ईसा से छः-सात सौ वर्ष पहले राज किया। इन लोगों का यह विश्वास है कि वह सूर्यदेवी से उत्पन्न हुआ था। सूर्य का जापान में देवी माना जाता है। जापान के मौजूदा सम्राट जिम्मूटिन्नू के असली वंशज माने जाते हैं। इसीलिए बहुत-से जापानी इन्हें सूर्यवंशी मानते हैं।

: ७ :

ईसा पूर्व छठी सदी और मत-मतान्तर

भारत में, ईसा से पहले की छठी सदी में, बुद्ध और महावीर पैदा हुए; चीन में कनफ़ूशस और लाओ-त्ज़े; ईरान में ज़रथुस्त या ज़ोरास्टर; और समोस के यूनानी टापू में पाइथागोरस। तुमने पहले भी ये नाम सुने होंगे, लेकिन शायद किसी दूसरे सिलसिले में। स्कूल के साधारण लड़के-लड़की पाइथागोरस को एक झंझट पैदा करनेवाला आदमी समझते हैं, जिसने रेखागणित का एक प्रमेय सिद्ध किया, जो अब इन बेचारों को सीखना पड़ता है! इस प्रमेय का सम्बन्ध एक समकोण त्रिभुज की भुजाओं पर के वर्ग-चतुर्भुजों से है। रेखागणित की किसी भी किताब में यह प्रमेय मिल सकता है। लेकिन रेखागणित सम्बन्धी खोज करने के अलावा पाइथागोरस एक महान् विचारक भी माना जाता है। हमें उसके बारे में बहुत कम मालूम है। कुछ लोगों को तो इसमें भी शक है कि इस नाम का कोई आदमी हुआ भी था या नहीं!

ईरान का ज़रथुस्त ज़ोरास्टर (पारसी) धर्म का संस्थापक कहा जाता है। लेकिन मुझे यह निश्चय नहीं है कि उसे इस धर्म का संस्थापक कहना कहाँ तक ठीक है। शायद यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि उसने ईरान के पुराने विचारों और मज़हब को एक नई दिशा और एक नया रूप दिया। बहुत अरसे से यह धर्म ईरान से बिल्कुल उठ-सा गया है। जो पारसी बहुत अरसे पहले ईरान से भारत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चले आये थे, वे अपने साथ इस धर्म को भी लेते आये और तबसे बरावर उसीको मानते चले आते हैं।

चीन में इसी जमाने में दो महापुरुष हुए——कनफ़ूशस और लाओ-त्ज़े। साधारण अर्थों में इन दोनों में से किसीको भी धर्म-संस्थापक नहीं कह सकते। इन्होंने नीति और सामाजिक-व्यवहार के नियम बनाये और यह बताया कि आदमी को क्या करना चाहिए और क्या नहीं। लेकिन इनकी मृत्यु के बाद चीन में इनकी यादगार में बहुत-से मन्दिर बनाये गये और इनके ग्रंथों का चीनी लोग वैसा ही आदर करते हैं जैसा हिन्दू वेदों का और ईसाई इंजील का। कनफ़ूशस की शिक्षा का एक परिणाम यह हुआ कि उसने चीनियों को संसार में सबसे ज्यादा विनयशील, शिष्ट और सभ्य बना दिया।

भारत में महावीर और बुद्ध हुए। महावीर ने आजकल का प्रचलित जैन-धर्म चलाया। इनका असली नाम वर्द्धमान था। महावीर तो उन्हें दी गई महानता की एक पदवी है। जैन लोग ज्यादातर पश्चिमी भारत और काठियावाड़ में रहते हैं और आजकल इनकी गणना हिंदुओं में की जाती है। काठियावाड़ में और राजस्थान में आबू पहाड़ पर, इनके बड़े सुन्दर मन्दिर पाये जाते हैं। अहिंसा में इनकी बड़ी श्रद्धा है, और ये ऐसे कामों के बिल्कुल खिलाफ हैं जिनसे किसी भी जीव को तकलीफ़ पहुँचे।

गौतम बुद्ध क्षत्रिय थे और एक राजवंश के राजकुमार थे। सिद्धार्थ उनका नाम था। उनकी माता का नाम महारानी माया था। प्राचीन जातक कथा में लिखा है कि महारानी माया "पूर्ण चन्द्र की तरह उल्लास के साथ पूजने योग्य, पृथ्वी के समान दृढ़ और स्थिर-निश्चयवाली और कमल के समान पवित्र हृदयवाली थी।"

माता-पिता ने गौतम को हर तरह के ऐश आराम में रखा, और यह कोशिश की कि दु:ख-दर्द और रोग-शोक के दृश्यों से वह बिल्कुल दूर रहें। लेकिन यह सम्भव नहीं हो सका——और कहा जाता है कि उन्होंने एक कंगाल, एक रोगी और एक मुर्दा देखा जिनका उनके हृदय पर बहुत असर हुआ। इसके बाद राजमहल में उन्हें ज़रा भी शान्ति नहीं रही और ऐश-आराम के सारे साधन, जिनसे वह चारों ओर घिरे रहते थे, यहाँतक कि उनकी सुन्दर युवा पत्नी, जिसे वह प्यार करते थे, दु:ख-तप्त मानवता की ओर से उनका चित्त न हटा सके। उनके हृदय की यह चिन्ता और इन दु:खों को दूर करने के उपाय खोजने की इच्छा दिन-पर-दिन बढ़ती ही गई। यहाँतक कि वह इस हालत को बर्दाश्त न कर सके, और अन्त में एक रात वह चुपचाप अपने राजमहल और प्रियजनों को छोड़कर, जिन प्रश्नों ने उन्हें परेशान कर रखा था, उनके समाधान की खोज में इस लम्बी-चौड़ी दुनिया में अकेले निकल पड़े। इस समाधान की खोज में उन्हें बहुत वक्त लगा और बहुत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तक़लीफें उठानी पड़ीं। आख़िर बहुत वर्षों बाद, गया में एक वट-वृक्ष के नीचे बैठे हुए उन्हें 'बुधत्त्व' प्राप्त हुआ और वह बुद्ध हो गये। जिस पेड़ के नीचे वह बैठे थे, वह 'बोधि-वृक्ष' के नाम से मशहूर हो गया। प्राचीन काशी की छाया में बसे हुए सारनाथ के, जो उस ज़माने में इसिपत्तन या ऋषिपतन कहलाता था, 'हरिण-क्षेत्र' में बुद्ध ने अपने सिद्धांतों का प्रचार शुरू किया। उन्होंने 'सद्जीवन' का रास्ता बताया। देवताओं के नाम पर की जानेवाली पशु-बलि वग़ैरा की उन्होंने निन्दा की और इस बात पर जोर दिया कि इन बलिदानों के बजाय मनुष्य को अपने क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या और बुरे विचारों का बलिदान करना चाहिए।

बुद्ध के जन्म के समय भारत में पुराना वैदिक धर्म प्रचलित था। लेकिन वह बहुत बदल गया था और अपने ऊँचे आदर्शों से नीचे गिर चुका था। ब्राह्मण पुरोहितों ने तरह-तरह के कर्म-काण्ड, पूजा-पाठ और अन्ध-विश्वास जारी कर दिये थे, क्योंकि पूजाएं जितनी ज्यादा बढ़ें, पुरोहितों को उतना ही अधिक फायदा पहुँचता है। जाति का बन्धन बहुत कड़ा होता जा रहा था और आम लोग शकुन, मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोने और स्यानों से डरते थे। इन तरीकों से पुरोहितों ने जनता को अपनी मुट्ठी में कर रखा था और क्षत्रिय राजाओं की सत्ता को चुनौती देने लगे थे। इस तरह क्षत्रियों और ब्राह्मणों में संघर्ष चल रहा था। उसी समय बुद्ध एक बहुत बड़े लोकप्रिय सुधारक के रूप में प्रकट हुए और उन्होंने पुरोहितों के इन अत्याचारों पर, और पुराने वैदिक धर्म में जो ख़राबियाँ आ गई थीं, उन पर, हमला बोल दिया। उन्होंने शुद्ध जीवन बिताने और भले काम करने पर ज़ोर दिया और पूजा-पाठ वग़ैरा का निषेध किया। उन्होंने बौद्ध-धर्म को माननेवाले भिक्षुओं और भिक्षुणियों की संस्था 'बौद्ध-संघ' का भी संगठन किया।

कुछ दिनों तक धर्म के रूप में बौद्ध-धर्म का प्रचार भारत में बहुत नहीं हुआ। आगे चलकर हम यह देखेंगे कि यह कैसे फैला और फिर भारत में एक अलग धर्म के रूप में यह करीब-करीब मिट-सा गया। जहाँ लंका से लेकर चीन तक दूर-दूर के मुल्कों में यह धर्म सर्वोपरि हो गया, वहाँ अपनी जन्मभूमि भारत में यह फिर ब्राह्मण-धर्म य हिन्दू धर्म में समा गया। लेकिन ब्राह्मण-धर्म पर इसका बहुत बड़ा असर पड़ा और इसने हिंदू-धर्म में से बहुत-से अन्ध-विश्वास और पाखण्ड हटा दिये।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: ८ :

ईरान और यूनान

आओ, अब हम प्राचीन ईरान और यूनान की ओर लौट चलें और थोड़ी देर के लिए उनकी आपस की लड़ाइयों पर विचार करें। हम यूनान के नगर-राज्यों और ईरान के उस बड़े साम्राज्य का ज़िक्र कर चुके हैं जिसके सम्राट दारा को यूनानी लोग डेरियस कहते हैं। दारा का यह साम्राज्य बहुत बड़ा था—खाली विस्तार में ही नहीं बल्कि संगठन में भी। ठेठ एशिया-कोचक से लगाकर सिन्ध नदी तक यह फैला हुआ था। मिस्र और एशिया-कोचक के कुछ यूनानी शहर भी इसमें शामिल थे। इस विस्तृत साम्राज्य में एक छोर से दूसरे छोर तक अच्छी-अच्छी सड़कें बनी हुई थीं, जिन पर शाही डाक बराबर चलती रहती थी। दारा ने किसी-न-किसी वजह से यूनान के नगर-राज्यों को जीतने का निश्चय किया। इस महायुद्ध की कई लड़ाइयाँ इतिहास में बहुत प्रसिद्ध हैं। इन लड़ाइयों का जो कुछ वर्णन हमें मिलता है, वह यूनान के इतिहास-लेखक हिरोदोस का लिखा हुआ है। वह इन घटनाओं के थोड़े ही दिन बाद पैदा हुआ था। उसने यूनानियों के साथ पक्षपात जरूर किया है, लेकिन उसका विवरण बहुत दिलचस्प है।

यूनान पर ईरानियों का पहला हमला नाकामयाब रहा, क्योंकि ईरानियों की फ़ौज को, कूच के रास्ते में बीमारी और रसद की कमी की वजह से बहुत मुसीबतें उठानी पड़ीं। वह यूनान तक पहुँच भी न सकी और उसे वापस लौट आना पड़ा। इसके बाद ईसा से ४९० बरस पहले ईरानियों का दूसरा हमला हुआ। इस बार ईरानी सेना खुश्की का रास्ता छोड़कर समुद्री रास्ते से आई, और एथेन्स के नजदीक मैरेथन पर उसने अपना लंगर डाला। एथेन्स के निवासी इससे बहुत घबड़ा गये, क्योंकि ईरानी साम्राज्य की ताक़त उन दिनों बहुत ज्यादा मशहूर थी। उन्होंने डरकर अपने पुराने दुश्मन स्पार्टावालों से सुलह करनी चाही और दोनों ही के सामान्य दुश्मन के खिलाफ उनसे मदद माँगी। लेकिन स्पार्टावालों के पहुँचने के पहले ही एथेन्सवालों ने ईरानी सेना को मार भगाया। यही मैरेथन की वह प्रसिद्ध लड़ाई है जो ईसा से ४९० बरस पहले हुई थी।

यह एक अजीब-सी बात मालूम होती है कि एक छोटा-सा यूनानी नगर-राज्य एक बड़े साम्राज्य की सेना को हरा दे। लेकिन यह जितनी आश्चर्यजनक मालूम पड़ती है, उतनी है नहीं। यूनानी लोग जहाँ अपने घर के नजदीक अपने देश के लिए लड़ रहे थे, वहाँ ईरानी सेना अपने देश से बहुत दूर थी, और फिर वह साम्राज्य भर के दूर-दूर के हिस्सों के सैनिकों से बनी हुई थी। वे लोग लड़ते जरूर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थे, लेकिन इसलिए कि उन्हें तनख्वाहें मिलती थीं। यूनान को जीतने में उनको कोई खास दिलचस्पी नहीं थी। दूसरी तरफ़ एन्थेन्सवाले अपनी आजादी के लिए लड़ रहे थे। उन्हें अपनी आजादी खो देने से मर जाना कहीं ज्यादा पसन्द था, और जो लोग किसी उद्देश्य के लिए मरने को तैयार रहते हैं, वे शायद ही कभी हराये जा सकते हैं।

इस तरह दारा मैरेथन में हार गया। इसके बाद ईरान पहुँचने पर वह मर गया, और उसकी जगह क्षयार्श तख्त पर बैठा। उसे भी यूनान फतह करने की धुन सवार थी और उसने वहाँ भेजने के लिए एक सेना तैयार की।

शहंशाह क्षयार्श अपनी बड़ी सेना लेकर एशिया-कोचक पार कर गया और दर्रे दानियाल से, जो उस वक्त हैलेस्पौण्ट कहलाता था, उतरकर योरप पहुँचा। कहते हैं, रास्ते में क्षयार्श ट्राय नगर के खँडहरों को देखने गया था, जहाँ यूनान के शूर-वीरों ने पुराने जमाने में हेलन के लिए लड़ाई लड़ी थी। फ़ौज को उस पार भेजने के लिए दर्रे दानियाल के ऊपर एक बड़ा पुल बनाया गया।

इस तरह यह बड़ी सेना खुश्की के रास्ते आगे बढ़ी और जहाजी बेड़ा समुद्र के रास्ते इसके साथ-साथ चला। लेकिन समुद्र ने यूनानियों का साथ दिया। एक बड़ा तूफान आया जिससे ईरानियों के बहुत से जहाज़ नष्ट हो गये। यूनानी लोग ईरान की बड़ी फौज देखकर डर गये थे; इसलिए उन्होंने फौरन अपने आपसी झगड़ों को भुला दिया, और हमला करनेवालों के खिलाफ एक हो गये। यूनानी लोग पीछे हटते गये और थर्मापली नामक जगह पर उन्होंने ईरानियों को रोकने की कोशिश की। थर्मापली एक बहुत तंग रास्ता था, उसके एक तरफ़ पहाड़ था और दूसरी तरफ़ समुद्र, जिससे यहाँ थोड़े-से आदमी भी दुश्मन की बड़ी फौज से मोरचा ले सकते थे। लियोनीडस को तीन सौ स्पार्टा-निवासियों के साथ मरते दम तक इस दर्रे की हिफ़ाजत के लिए मुकर्रर किया गया। मैरेथन की लड़ाई से ठीक दस वर्ष बाद, भाग्य-निर्णय के इस दिन, इन वीरों ने अपने मुल्क की बड़ी ख़ूबी से सेवा की। इन्होंने ईरानियों की फौज को रोक दिया और यूनान की बाकी सेना पीछे हटती गई। इस तंग घाटी में एक-के-बाद-दूसरा योद्धा काम आता जाता था, लेकिन जैसे-ही एक मरता कि दूसरा उसकी जगह ले लेता था। इस तरह ईरानी सेना आगे नहीं बढ़ सकी। लियोनीडस और उसके तीन सौ साथी जब एक-एक करके थर्मापली में काम आ चुके, तब कहीं ईरानी सेना आगे बढ़ पाई। यह बात ईसा के ४८० बरस पहले की है, यानी आज से २४१० बरस पहले। मगर आज भी इन लोगों के अदम्य साहस की याद करके हृदय में बिजली की-सी लहर दौड़ जाती है।

थर्मापली ने ईरानी सेना को थोड़ी देर के लिए रोक ज़रूर लिया, लेकिन यह रोक बहुत देर काम नहीं आई। यूनानी लोग ईरानी सेना के मुक़ाबले में पीछे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हटते गये और कुछ यूनानी शहरों ने हथियार भी डाल दिये। लेकिन गर्वीले एथेन्सवासियों ने आत्म-समर्पण के बजाय यह ठीक समझा कि अपने प्यारे शहर को बरबाद होने के लिए छोड़कर वहाँ से चले जायें। इसलिए सारी जनता शहर को ख़ाली करके चली गई। ज्यादातर लोग जहाज़ों में बैठकर गये। ईरानियों ने इस उजड़े हुए नगर में घुसकर उसे आग लगा दी। मगर यूनानी जलसेना अभीतक हारी नहीं थी, और, सैलेमिस टापू के पास बहुत बड़ी लड़ाई हुई। ईरानी जहाजी बेड़ा नष्ट कर दिया गया और इस आफ़त से बिल्कुल निराश होकर क्षयार्श ईरान वापस लौट गया।

ईरान इसके बाद भी कुछ समय तक एक बड़ा साम्राज्य बना रहा। लेकिन मैरेथन और सैलेमिस की लड़ाई के बाद उसके पतन की शुरूआत हो गई थी। यह कैसे नष्ट हुआ, इस पर हम फिर विचार करेंगे।

: ६ :

यूनान का वैभव

ईरानियों पर यूनानियों की विजय के दो परिणाम हुए। ईरानी-साम्राज्य धीरे-धीरे गिरने लगा और कमज़ोर होता गया। दूसरी तरफ़ यूनानी लोगों ने अपने इतिहास के शानदार युग में क़दम रखा। इस राष्ट्र के जीवन में यह शान बहुत थोड़े दिन तक ही रही। कुल मिलाकर २०० बरस से ज्यादा नहीं ठहरी। उसका यह वैभव ईरान या उसके पहले के दूसरे विशाल साम्राज्यों जैसा नहीं था। इस समय हम ईरान की लड़ाइयों और सिकन्दर के आगमन के बीच के ज़माने का जिक्र कर रहे हैं—उस ज़माने का, जो थर्मापली और सैलेमिस के बाद १५० बरस तक रहा।

उस ज़माने से सम्बन्ध रखनेवाली सिर्फ़ थोड़ी-सी किताबें, कुछ मूर्त्तियाँ और कुछ खण्डहर ही अब हमें मिलते हैं। लेकिन ये थोड़ी-सी चीज़ें भी ऐसी हैं कि उन्हें देखकर हमारा दिल प्रशंसा से भर जाता है और यूनानी लोगों की अनेकांगी महानता पर हम ताज्जुब करने लगते हैं। इन सुन्दर मूर्त्तियों और इमारतों को बनानेवाले इनके दिमाग कितने उन्नत और हाथ कितने कुशल रहे होंगे! फ़िडियास उस ज़माने का मशहूर मूर्त्ति,बनानेवाला था, लेकिन उसके अलावा और भी अनेक मशहूर लोग थे। इनके दुःखान्त और सुखान्त, दोनों ही तरह के, नाटक अभी भी अपने ज़माने के सबसे उत्तम नाटक माने जाते हैं। इस वक्त तो तुम्हारे जानने के लिए

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थे, लेकिन इसलिए कि उन्हें तनख्वाहें मिलती थीं। यूनान को जीतने में उनको कोई खास दिलचस्पी नहीं थी। दूसरी तरफ़ एन्थेन्सवाले अपनी आजादी के लिए लड़ रहे थे। उन्हें अपनी आजादी खो देने से मर जाना कहीं ज्यादा पसन्द था, और जो लोग किसी उद्देश्य के लिए मरने को तैयार रहते हैं, वे शायद ही कभी हराये जा सकते हैं।

इस तरह दारा मैरेथन में हार गया। इसके बाद ईरान पहुँचने पर वह मर गया, और उसकी जगह क्षयार्श तख्त पर बैठा। उसे भी यूनान फतह करने की धुन सवार थी और उसने वहाँ भेजने के लिए एक सेना तैयार की।

शहंशाह क्षयार्श अपनी बड़ी सेना लेकर एशिया-कोचक पार कर गया और दर्रे दानियाल से, जो उस वक्त हैलेस्पौण्ट कहलाता था, उतरकर योरप पहुँचा। कहते हैं, रास्ते में क्षयार्श ट्राय नगर के खँडहरों को देखने गया था, जहाँ यूनान के शूर-वीरों ने पुराने जमाने में हेलन के लिए लड़ाई लड़ी थी। फ़ौज को उस पार भेजने के लिए दर्रे दानियाल के ऊपर एक बड़ा पुल बनाया गया।

इस तरह यह बड़ी सेना खुश्की के रास्ते आगे बढ़ी और जहाजी बेड़ा समुद्र के रास्ते इसके साथ-साथ चला। लेकिन समुद्र ने यूनानियों का साथ दिया। एक बड़ा तूफान आया जिससे ईरानियों के बहुत से जहाज़ नष्ट हो गये। यूनानी लोग ईरान की बड़ी फौज देखकर डर गये थे; इसलिए उन्होंने फौरन अपने आपसी झगड़ों को भुला दिया, और हमला करनेवालों के खिलाफ एक हो गये। यूनानी लोग पीछे हटते गये और थर्मापली नामक जगह पर उन्होंने ईरानियों को रोकने की कोशिश की। थर्मापली एक बहुत तंग रास्ता था, उसके एक तरफ़ पहाड़ था और दूसरी तरफ़ समुद्र, जिससे यहाँ थोड़े-से आदमी भी दुश्मन की बड़ी फौज से मोरचा ले सकते थे। लियोनीडस को तीन सौ स्पार्टा-निवासियों के साथ मरते दम तक इस दर्रे की हिफ़ाजत के लिए मुकर्रर किया गया। मैरेथन की लड़ाई से ठीक दस वर्ष बाद, भाग्य-निर्णय के इस दिन, इन वीरों ने अपने मुल्क की बड़ी खूबी से सेवा की। इन्होंने ईरानियों की फौज को रोक दिया और यूनान की बाकी सेना पीछे हटती गई। इस तंग घाटी में एक-के-बाद-दूसरा योद्धा काम आता जाता था, लेकिन जैसे-ही एक मरता कि दूसरा उसकी जगह ले लेता था। इस तरह ईरानी सेना आगे नहीं बढ़ सकी। लियोनीडस और उसके तीन सौ साथी जब एक-एक करके थर्मापली में काम आ चुके, तब कहीं ईरानी सेना आगे बढ़ पाई। यह बात ईसा के ४८० बरस पहले की है, यानी आज से २४१० बरस पहले। मगर आज भी इन लोगों के अदम्य साहस की याद करके हृदय में बिजली की-सी लहर दौड़ जाती है।

थर्मापली ने ईरानी सेना को थोड़ी देर के लिए रोक ज़रूर लिया, लेकिन यह रोक बहुत देर काम नहीं आई। यूनानी लोग ईरानी सेना के मुक़ाबले में पीछे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हटते गये और कुछ यूनानी शहरों ने हथियार भी डाल दिये। लेकिन गर्वीले एथेन्सवासियों ने आत्म-समर्पण के बजाय यह ठीक समझा कि अपने प्यारे शहर को बरबाद होने के लिए छोड़कर वहाँ से चले जायें। इसलिए सारी जनता शहर को खाली करके चली गई। ज्यादातर लोग जहाज़ों में बैठकर गये। ईरानियों ने इस उजड़े हुए नगर में घुसकर उसे आग लगा दी। मगर यूनानी जलसेना अभीतक हारी नहीं थी, और, सैलेमिस टापू के पास बहुत बड़ी लड़ाई हुई। ईरानी जहाजी बेड़ा नष्ट कर दिया गया और इस आफ़त से बिल्कुल निराश होकर क्षयार्श ईरान वापस लौट गया।

ईरान इसके बाद भी कुछ समय तक एक बड़ा साम्राज्य बना रहा। लेकिन मैरेथन और सैलेमिस की लड़ाई के बाद उसके पतन की शुरूआत हो गई थी। यह कैसे नष्ट हुआ, इस पर हम फिर विचार करेंगे।

: ६ :

यूनान का वैभव

ईरानियों पर यूनानियों का विजय के दो परिणाम हुए। ईरानी-साम्राज्य धीरे-धीरे गिरने लगा और कमज़ोर होता गया। दूसरी तरफ़ यूनानी लोगों ने अपने इतिहास के शानदार युग में क़दम रखा। इस राष्ट्र के जीवन में यह शान बहुत थोड़े दिन तक ही रही। कुल मिलाकर २०० बरस से ज्यादा नहीं ठहरी। उसका यह वैभव ईरान या उसके पहले के दूसरे विशाल साम्राज्यों जैसा नहीं था। इस समय हम ईरान की लड़ाइयों और सिकन्दर के आगमन के बीच के ज़माने का जिक्र कर रहे हैं—उस ज़माने का, जो थर्मापली और सैलेमिस के बाद १५० बरस तक रहा।

उस ज़माने से सम्बन्ध रखनेवाली सिर्फ़ थोड़ी-सी किताबें, कुछ मूर्त्तियाँ और कुछ खण्डहर ही अब हमें मिलते हैं। लेकिन ये थोड़ी-सी चीज़ें भी ऐसी हैं कि उन्हें देखकर हमारा दिल प्रशंसा से भर जाता है और यूनानी लोगों की अनेकांगी महानता पर हम ताज्जुब करने लगते हैं। इन सुन्दर मूर्त्तियों और इमारतों को बनानेवाले इनके दिमाग कितने उन्नत और हाथ कितने कुशल रहे होंगे! फ़िडियास उस ज़माने का मशहूर मूर्त्ति,बनानेवाला था, लेकिन उसके अलावा और भी अनेक मशहूर लोग थे। इनके दु:खान्त और सुखान्त, दोनों ही तरह के, नाटक अभी भी अपने ज़माने के सबसे उत्तम नाटक माने जाते हैं। इस वक्त तो तुम्हारे जानने के लिए

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थे, लेकिन इसलिए कि उन्हें तनख्वाहें मिलती थीं। यूनान को जीतने में उनको कोई खास दिलचस्पी नहीं थी। दूसरी तरफ़ एन्थेन्सवाले अपनी आजादी के लिए लड़ रहे थे। उन्हें अपनी आजादी खो देने से मर जाना कहीं ज्यादा पसन्द था, और जो लोग किसी उद्देश्य के लिए मरने को तैयार रहते हैं, वे शायद ही कभी हराये जा सकते हैं।

इस तरह दारा मैरेथन में हार गया। इसके बाद ईरान पहुँचने पर वह मर गया, और उसकी जगह क्षयार्श तख्त पर बैठा। उसे भी यूनान फतह करने की धुन सवार थी और उसने वहाँ भेजने के लिए एक सेना तैयार की।

शहंशाह क्षयार्श अपनी बड़ी सेना लेकर एशिया-कोचक पार कर गया और दर्रे दानियाल से, जो उस वक्त हैलेस्पौण्ट कहलाता था, उतरकर योरप पहुँचा। कहते हैं, रास्ते में क्षयार्श ट्राय नगर के खँडहरों को देखने गया था, जहाँ यूनान के शूर-वीरों ने पुराने जमाने में हेलन के लिए लड़ाई लड़ी थी। फ़ौज को उस पार भेजने के लिए दर्रे दानियाल के ऊपर एक बड़ा पुल बनाया गया।

इस तरह यह बड़ी सेना खुश्की के रास्ते आगे बढ़ी और जहाजी बेड़ा समुद्र के रास्ते इसके साथ-साथ चला। लेकिन समुद्र ने यूनानियों का साथ दिया। एक बड़ा तूफान आया जिससे ईरानियों के बहुत से जहाज़ नष्ट हो गये। यूनानी लोग ईरान की बड़ी फौज देखकर डर गये थे; इसलिए उन्होंने फौरन अपने आपसी झगड़ों को भुला दिया, और हमला करनेवालों के खिलाफ एक हो गये। यूनानी लोग पीछे हटते गये और थर्मापली नामक जगह पर उन्होंने ईरानियों को रोकने की कोशिश की। थर्मापली एक बहुत तंग रास्ता था, उसके एक तरफ़ पहाड़ था और दूसरी तरफ़ समुद्र, जिससे यहाँ थोड़े-से आदमी भी दुश्मन की बड़ी फौज से मोरचा ले सकते थे। लियोनीडस को तीन सौ स्पार्टा-निवासियों के साथ मरते दम तक इस दर्रे की हिफ़ाजत के लिए मुकर्रर किया गया। मैरेथन की लड़ाई से ठीक दस वर्ष बाद, भाग्य-निर्णय के इस दिन, इन वीरों ने अपने मुल्क की बड़ी खूबी से सेवा की। इन्होंने ईरानियों की फौज को रोक दिया और यूनान की बाकी सेना पीछे हटती गई। इस तंग घाटी में एक-के-बाद-दूसरा योद्धा काम आता जाता था, लेकिन जैसे-ही एक मरता कि दूसरा उसकी जगह ले लेता था। इस तरह ईरानी सेना आगे नहीं बढ़ सकी। लियोनीडस और उसके तीन सौ साथी जब एक-एक करके थर्मापली में काम आ चुके, तब कहीं ईरानी सेना आगे बढ़ पाई। यह बात ईसा के ४८० बरस पहले की है, यानी आज से २४१० बरस पहले। मगर आज भी इन लोगों के अदम्य साहस की याद करके हृदय में बिजली की-सी लहर दौड़ जाती है।

थर्मापली ने ईरानी सेना को थोड़ी देर के लिए रोक ज़रूर लिया, लेकिन यह रोक बहुत देर काम नहीं आई। यूनानी लोग ईरानी सेना के मुक़ाबले में पीछे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हटते गये और कुछ यूनानी शहरों ने हथियार भी डाल दिये। लेकिन गर्वीले एथेन्सवासियों ने आत्म-समर्पण के बजाय यह ठीक समझा कि अपने प्यारे शहर को बरबाद होने के लिए छोड़कर वहाँ से चले जायें। इसलिए सारी जनता शहर को ख़ाली करके चली गई। ज्यादातर लोग जहाज़ों में बैठकर गये। ईरानियों ने इस उजड़े हुए नगर में घुसकर उसे आग लगा दी। मगर यूनानी जलसेना अभीतक हारी नहीं थी, और, सैलेमिस टापू के पास बहुत बड़ी लड़ाई हुई। ईरानी जहाजी बेड़ा नष्ट कर दिया गया और इस आफ़त से बिल्कुल निराश होकर क्षयार्श ईरान वापस लौट गया।

ईरान इसके बाद भी कुछ समय तक एक बड़ा साम्राज्य बना रहा। लेकिन मैरेथन और सैलेमिस की लड़ाई के बाद उसके पतन की शुरूआत हो गई थी। यह कैसे नष्ट हुआ, इस पर हम फिर विचार करेंगे।

: ६ :

यूनान का वैभव

ईरानियों पर यूनानियों की विजय के दो परिणाम हुए। ईरानी-साम्राज्य धीरे-धीरे गिरने लगा और कमज़ोर होता गया। दूसरी तरफ़ यूनानी लोगों ने अपने इतिहास के शानदार युग में क़दम रखा। इस राष्ट्र के जीवन में यह शान बहुत थोड़े दिन तक ही रही। कुल मिलाकर २०० बरस से ज्यादा नहीं ठहरी। उसका यह वैभव ईरान या उसके पहले के दूसरे विशाल साम्राज्यों जैसा नहीं था। इस समय हम ईरान की लड़ाइयों और सिकन्दर के आगमन के बीच के ज़माने का जिक्र कर रहे हैं—उस ज़माने का, जो थर्मापली और सैलेमिस के बाद १५० बरस तक रहा।

उस ज़माने से सम्बन्ध रखनेवाली सिर्फ़ थोड़ी-सी किताबें, कुछ मूर्त्तियाँ और कुछ खण्डहर ही अब हमें मिलते हैं। लेकिन ये थोड़ी-सी चीज़ें भी ऐसी हैं कि उन्हें देखकर हमारा दिल प्रशंसा से भर जाता है और यूनानी लोगों की अनेकांगी महानता पर हम ताज्जुब करने लगते हैं। इन सुन्दर मूर्त्तियों और इमारतों को बनानेवाले इनके दिमाग कितने उन्नत और हाथ कितने कुशल रहे होंगे! फ़िडियास उस ज़माने का मशहूर मूर्त्ति,बनानेवाला था, लेकिन उसके अलावा और भी अनेक मशहूर लोग थे। इनके दुःखान्त और सुखान्त, दोनों ही तरह के, नाटक अभी भी अपने ज़माने के सबसे उत्तम नाटक माने जाते हैं। इस वक्त तो तुम्हारे जानने के लिए

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सोफ़ोक्लीज़[1], ऐस्किलस[2], यूरिपिडीज़[3], एरिस्टोफ़िनीज़[4], मिनेण्डर[5], पिण्डर[6], सैफ़ो[7] और कुछ दूसरों के सिर्फ नाम ही लिये जा सकते हैं। लेकिन बड़ी होकर तुम उनकी रचनाएँ पढ़ोगी और मुझे आशा है कि तब तुम यूनान के उस वैभव का कुछ अंदाज लगा सकोगी।

एथेन्स उस ज़माने में खास तौर से मशहूर हो गया था। उसका नेता एक बड़ा राजनीतिज्ञ था। इसका नाम पैरिक्लीज़ था और यह ३० बरस तक एथेन्स में हुकूमत करता रहा। उस ज़माने में एथेन्स बहुत ऊँचे दरजे का शहर बन गया था। आज भी वह 'पैरिक्लीज़ का एथेन्स' कहा जाता है और हम पैरिक्लीज़ के युग की चर्चा किया करते हैं।

---

[1]साफ़ोक्लीज़—यूनान का प्रसिद्ध दुखान्त नाटककार और कवि। इसका समय ४९५ से ४०५ ई० पू० है। ४६८ ई० पू० में इसने अपने प्रतिद्वन्द्वी एस्किलस को हराकर इनाम पाया।

[2]एस्किलस—एक प्रसिद्ध ग्रीक नाटककार। इसका जन्म ईसा से ५२५ साल पहले हुआ था। मैरेथन, सेलेमिस और लिटिपो की लड़ाइयों में इसने हिस्सा लिया था और दो बार इसे अपने दो नाटकों पर पुरस्कार मिला। कहा जाता है कि इसने कुल ७० दुःखान्त नाटक लिखे, जिनमें ७ अब भी मौजूद हैं। करीब ७० बरस की उम्र में उसकी मृत्यु हुई।

[3]यूरिपिडीज़—यूनान का प्रसिद्ध दुखान्त नाटककार और कवि। इसका जन्म ईसा से ४८० वर्ष पूर्व हुआ था। यह नाटकों में आदर्श के बजाय वास्तविकता के वर्णन पर जोर देता था। इसे अपने नाटकों पर इनाम भी मिला था। इसकी कविता बड़ी अच्छी है। यह उस समय के धर्म का मज़ाक़ उड़ाया करता था।

[4]एरिस्टोफ़िनीज़—यह एथेन्स का प्रसिद्ध हास्य-कवि और नाटककार था। इसका समय ईसा से पहले करीब ४४५ से ३८० साल तक का है। इसके सुखान्त नाटकों से उस जमाने की बहुत-सी बातों का पता चलता है और इसके शाब्दिक व्यंग-चित्रों से उस समय के प्रधान व्यक्तियों का व्यक्तित्व आँखों के सामने खिंच जाता है।

[5]मिनेण्डर—एथेन्स का सुखान्त नाटकों का प्रसिद्ध नाटककार और कवि। ई० पू० ३४२ में इसका जन्म हुआ और २९१ ई० पू० में पाइरियस के बन्दरगाह के पास के समुद्र में तैरता हुआ डूब गया।

[6]पिण्डर—यूनान के गीत-काव्य का सर्वोत्तम कवि। क़रीब ५५२ ई० पू० में इसका जन्म हुआ था। इसकी 'इपिस्सिया' नामक कविता ही अब बाकी बची है जो चार जिल्दों में है।

[7]सैफ़ो—यूनान की प्रसिद्ध कवियित्री। यह ५८० ई० पू० में हुई। कविता, फैशन और प्रेम की यह अपने समय की रानी थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मैंने उस ज़माने के कुछ महान् आदमियों के नाम गिनाये हैं। लेकिन मैंने अभी-तक वह नाम नहीं बताया, जो उस युग के ही नहीं, बल्कि किसी भी युग के सबसे महान् व्यक्तियों की गिनती में आता है। उसका नाम है सुक़रात[1]। वह एक तत्त्व-ज्ञानी था और हमेशा सत्य की खोज में रहता था। उसके लिए सच्चा ज्ञान ही एक ऐसी चीज़ थी जिसे वह प्राप्त करने योग्य समझता था। वह अपने मित्रों और जान-पहचान के लोगों से अक्सर कठिन समस्याओं पर चर्चा करता रहता था ताकि बहस-मुबाहिसे में शायद कोई सचाई निकल आये। उसके कई शिष्य थे जिनमें सबसे महान् अफ़लातून[2] था। अफ़लातून ने कई किताबें लिखी हैं, जो आज भी मिलती हैं। इन्हीं किताबों से हमें उसके गुरु सुक़रात का बहुत-कुछ हाल मालूम होता है। यह तो साफ़ है कि सरकारें ऐसे आदमियों को पसन्द नहीं किया करतीं जो हमेशा नई-नई खोज में लगे रहते हैं--वे सचाई की तलाश पसन्द नहीं करतीं। एथेन्स की सरकार को--यह पेरिल्कीज़ के ज़माने के थोड़े दिन बाद की बात है--सुक़रात का रंग-ढंग पसन्द नहीं आया। उस पर मुक़दमा चलाया गया और उसे मौत की सज़ा दी गई। सरकार ने उससे कहा कि अगर वह लोगों से बहस-मुबाहिसा करना छोड़ दे और अपनी चाल-ढाल बदल दे,तो उसे छोड़ दिया जा सकता है। लेकिन सुक़रात ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया और जिस बात को अपना फ़र्ज समझता था, उसे छोड़ने के बजाय उस ज़हर के प्याले को अच्छा समझा जिसे पीकर वह मर गया।

अपनी ज़िन्दगी में सुक़रात ने सत्य और ज्ञान के प्रचार का काम किया। लेकिन इससे भी ज्यादा काम उसने अपनी मौत के द्वारा कर दिया।

जब अफ़लातून बूढ़ा होने लगा, तो एक दूसरा यूनानी, जो बाद में बहुत

---

[1]सुक़रात--इसे सॉक्रेटीज भी कहते हैं। यह एथेन्स का मशहूर वेदान्ती था। इसका जन्म ४७९ ई० पू० में हुआ था। ३९९ ई० पू० में उस पर नौजवानों को बिगाड़ने और दूसरे देवताओं में विश्वास करने का जुर्म लगाया गया। लेकिन यह तो बहाना था। असली कारण तो राजनैतिक था। उसे मौत की सजा दी गई और जहर का प्याला उसके पास भेजा गया, जिसे वह खुशी से पी गया। आखिरी दम तक वह अफ़लातून और अपने दूसरे शिष्यों से आत्मा की अमरता की चर्चा करता रहा। वह बड़ा विद्वान था।

[2]अफलातून या प्लेटो (४२७--३४७ ई० पू०)—सुकरात का भक्त और शिष्य था। उसने एथेन्स में एक विद्यालय स्थापित किया था जहाँ दर्शन और अध्यात्म की शिक्षा दी जाती थी। उसने राजनीति पर कई पुस्तकें लिखी हैं जिनमें 'रिपब्लिक' (गणराज्य) अधिक प्रसिद्ध है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मशहूर हो गया, आगे आया। उसका नाम था अरस्तू[1]। वह सिकन्दर महान् का निजी शिक्षक रह चुका था और सिकन्दर ने उसके काम में बहुत मदद की थी। सुक़रात और अफ़लातून की तरह अरस्तू तत्त्वज्ञान की समस्याओं में नहीं उलझता था। वह ज्यादातर क़ुदरत की चीजों के निरीक्षण और उसके तौर-तरीक़ों के समझने में लगा रहता था। इस निरीक्षण को प्रकृति-दर्शन या आजकल अक्सर विज्ञान कहते हैं। इस तरह अरस्तू को पहले जमाने का एक वैज्ञानिक मान सकते हैं।

: १० :

एक मशहूर विजेता

मैंने तुम्हें सिकन्दर महान् के बारे में पहले कुछ लिखा था। मेरा खयाल है कि मैंने उसे यूनानी बताया है। लेकिन ऐसा कहना एकदम सही न होगा। असल में वह मक़दूनिया का रहनेवाला था, जो यूनान के ठीक उत्तर में है। मक़दूनियावाले कई बातों में यूनानियों की तरह थे। उन्हें तुम यूनानियों के भाई-बन्द कह सकती हो। सिकन्दर का पिता फिलिप मक़दूनिया का बादशाह था। वह बहुत क़ाबिल था। उसने अपने छोटे-से राज्य को बहुत मज़बूत बना लिया था और एक बहुत होशियार सेना संगठित कर ली थी। सिकन्दर 'महान्' कहलाता है और इतिहास में बहुत मशहूर है। लेकिन उसने जो कर दिखाया, इसकी बहुत-कुछ वजह यह थी कि उसके पिता ने पहले ही-से उसके लिए ज़मीन तैयार कर रखी थी। सिकन्दर वास्तव में बड़ा आदमी था या नहीं, यह कहना मुश्किल है। लेकिन थोड़ी-ही ज़िन्दगी में उसने दो महाद्वीपों पर अपने नाम की छाप डाल दी और इतिहास में वह पहला विश्व-विजेता माना जाता है। बीसियों शहर उसके नाम पर बसाये गये, जिनमें से बहुत-से आजतक भी मौजूद हैं। इनमें सबसे बड़ा शहर मिस्र का सिकन्दरिया (एलक्ज़ेंड्रिया) है।

जब सिकन्दर बादशाह हुआ, तब उसकी उम्र सिर्फ़ बीस साल की थी। महानता प्राप्त करने की लालसा से उसका दिल इतना भरा हुआ था कि वह अपने पिता द्वारा संगठित सेना लेकर अपने पुराने दुश्मन ईरान पर धावा करने के लिए बेताब

---

[1]अरस्तू या एरिस्टोटल (३८४ ई० पू०)—यह एक प्रसिद्ध यूनानी तत्त्व-वेत्ता था और दार्शनिक अफलातून का शिष्य था। पश्चिमी राजनीति, दर्शन और तर्क के विद्यार्थियों को इसके ग्रन्थ अब भी लाजमी तौर पर पढ़ने पड़ते हैं। इसका 'पॉलिटिक्स' (राजनीति) नामक ग्रन्थ बड़ा प्रसिद्ध है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हो रहा था। यूनानी न तो फिलिप को चाहते थे, न सिकन्दर को; लेकिन उनकी ताक़त को देखकर वे लोग कुछ दब-से गये। इसलिए सब यूनानियों ने ईरान पर धावा करनेवाली सेना का सेनापति पहले फिलिप को, और बाद में सिकन्दर को, मान लिया। थीब्स नाम के एक यूनानी शहर ने सिकन्दर का आधिपत्य नहीं माना और बग़ावत कर दी। इस पर सिकन्दर ने, उस पर बड़ी क्रूरता और निर्दयता के साथ आक्रमण करके, उस मशहूर शहर को नष्ट कर दिया, उसकी इमारतें ढहा दीं, बहुत-से नगर-निवासियों को क़त्ल कर डाला और हज़ारों को गुलाम बनाकर बेच दिया। इस क्रूर बर्ताव से उसने यूनान को और भी आतंकित कर दिया। सिकन्दर के जीवन में बर्बरता की यह और इसी तरह की दूसरी घटनाएं ऐसी हैं, जिनकी वजह से सिकन्दर हमारी नजरों में तारीफ़ के काबिल नहीं रह जाता।

सिकन्दर ने मिस्र को, जो उस वक्त ईरानी बादशाह के अधीन था, आसानी से जीत लिया। इसके पहले-ही वह ईरान के बादशाह तीसरे दारा को, जो क्षयार्श का उत्तराधिकारी था, हरा चुका था। बाद में उसने ईरान पर फिर हमला किया और दारा को दूसरी बार हराया। शहंशाह दारा के विशाल महल को उसने यह कहकर तहस-नहस कर दिया कि क्षयार्श ने एथेन्स को जो जलाया था, यह उसीका बदला है।

सिकन्दर ईरान से आगे बढ़ता गया। उस इलाक़े को, जहाँ आज हिरात, काबुल और समरकन्द हैं, पार करता हुआ वह सिन्ध नदी की उत्तरी घाटी तक पहुँच गया। यहीं पर उसकी उस भारतीय राजा से मुठभेड़ हुई, जिसने सबसे पहले उसका मुक़ाबला किया। यूनान के इतिहास-लेखक उसका नाम अपनी भाषा में पोरस बताते हैं। उसका असली नाम भी कुछ इसी तरह का रहा होगा, लेकिन हम नहीं जानते कि वह क्या था। कहते हैं कि पोरस ने बड़ी बहादुरी से मुकाबला किया और उसे जीतना सिकन्दर के लिए कोई आसान काम साबित नहीं हुआ। कहा जाता है कि वह बहुत लम्बे डील-डौल का और बड़ा बहादुर आदमी था। सिकन्दर पर उसकी हिम्मत और बहादुरी का इतना असर पड़ा कि उसे हराने के बाद भी उसने पोरस को उसकी गद्दी पर क़ायम रखा। लेकिन अब वह राजा के बजाय यूनानियों के मातहत एक क्षत्रप यानी गवर्नर रह गया।

सिकन्दर उत्तर-पश्चिम के ख़ैबर के दर्रे को पारकर रावलपिंडी से कुछ दूर उत्तर में तक्षशिला के रास्ते भारत में आया। आज भी तुम्हें इस पुराने शहर के खंडहर देखने को मिल सकते हैं। पोरस को हराने के बाद सिकन्दर ने दक्षिण की ओर गंगा की तरफ बढ़ने का इरादा किया; लेकिन बाद में उसने ऐसा नहीं किया, और सिन्ध नदी की घाटी से होकर वह वापस चला गया। यह एक दिलचस्प ख़याल है कि अगर सिकन्दर भारत के अन्दर के हिस्से की तरफ़ बढ़ा होता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तो क्या हुआ होता। क्या उसकी विजय जारी रहती? या भारतीय सेनाओं ने उसे शिकस्त दे दी होती? पोरस के-से एक सरहदी राजा ने जब उसे इतना परेशान किया, तो यह बहुत मुमकिन था कि मध्य भारत के बड़े-बड़े राज्य सिकन्दर को रोकने के लिए काफ़ी मज़बूत साबित होते। लेकिन सिकन्दर की इच्छा कुछ भी क्यों न रही हो, उसकी सेना ने उसे एक निश्चय पर पहुँचने को मजबूर कर दिया। बरसों से घूमते-घमते उसके सिपाही बहुत थक और ऊब गये थे। शायद भारतीय सिपाहियों के रण-कौशल का भी उन पर असर पड़ा, और वे हार की जोखिम नहीं उठाना चाहते थे। वजह चाहे जो रही हो, सेना ने वापस लौटने की ज़िद की और सिकन्दर को राजी होना पड़ा। लेकिन वापसी का सफ़र बहुत मुसीबत का साबित हुआ। रसद और पानी की कमी की वजह से फ़ौज को बहुत नुक़सान पहुँचा। इसके बाद ही, ईसा से ३२२ साल पहले, सिकन्दर बाबुल पहुँचकर मर गया। ईरान पर हमला करने के लिए रवाना होने के बाद वह अपनी मातृभूमि मक़दूनिया को फिर नहीं देख पाया।

इस तरह सिकन्दर तेंतीस बरस की उम्र में मर गया। इस 'महान्' आदमी ने अपनी छोटी-सी ज़िन्दगी में क्या किया? इसने कुछ शानदार लड़ाइयाँ जीतीं। बिला शक वह एक बहुत बड़ा सेनापति था। लेकिन साथ ही वह अभिमानी और घमण्डी भी था, और कभी-कभी बहुत निर्दयी और उग्र हो जाता था। अपने को वह देवता के बराबर समझता था। क्रोध के आवेश में या क्षणिक उन्माद में उसने अपने कई सच्चे दोस्तों को क़त्ल कर दिया और बड़े-बड़े शहरों को, उनके रहनेवालों समेत, नष्ट कर डाला। अपने बनाये साम्राज्य में, अपने पीछे वह कोई भी ठोस चीज़—यहाँतक कि अच्छी सड़कें भी—नहीं छोड़ गया। आकाश के टूटनेवाले तारे की तरह वह एकदम चमका और ग़ायब हो गया, और अपने पीछे अपनी स्मृति के अलावा और कुछ भी नहीं छोड़ गया। उसकी मौत के बाद, उसके कुटुम्ब के लोगों ने एक-दूसरे को कत्ल कर दिया और उसका महान् साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया। सिकन्दर को विश्व-विजेता कहा जाता है, और कहते हैं कि एक बार वह बैठा-बैठा इसलिए रो उठा कि उसके जीतने के लिए दुनिया में कुछ बाकी नहीं बचा था। लेकिन सच तो यह है कि उत्तर-पश्चिम के कुछ हिस्से को छोड़कर वह भारत को ही नहीं जीत सका था। चीन उस वक्त भी बहुत बड़ा साम्राज्य था और सिकन्दर उसके नज़दीक तक भी नहीं पहुँच पाया था।

उसकी मृत्यु के बाद उसके सेनापतियों ने उसकी सल्तनत को आपस में बाँट लिया। मिस्र टालमी के हिस्से में पड़ा। उसने वहाँ एक मज़बूत राज्य की नींव डाली और एक राजवंश चलाया। इसकी हुकूमत में मिस्र, जिसकी राजधानी सिकन्दरिया थी, बहुत शक्तिशाली राज्य बन गया। सिकन्दरिया एक बहुत बड़ा शहर था और अपने विज्ञान, दर्शन और विद्या के लिए मशहूर था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ईरान, ईराक़ और एशिया-कोचक का हिस्सा एक दूसरे सेनापति, सेल्यूकस, के हिस्से में आया। भारत का उत्तर-पश्चिमी हिस्सा भी, जिसे सिकन्दर ने जीता था, इसीको मिला। लेकिन वह भारत के हिस्से पर अपना अधिकार क़ायम नहीं रख सका और सिकन्दर की मौत के बाद यूनानी सेना यहाँ से भगा दी गई।

सिकन्दर भारत में ईसा से पहले ३२६ वें साल में आया था। उसका आना क्या था, एक तरह का धावा था जिसका भारत पर कोई असर नहीं पड़ा। कुछ लोगों का खयाल है कि इस धावे ने भारतीयों और यूनानियों में रब्त-ज़ब्त शुरू करने में मदद दी। लेकिन सच तो यह है कि सिकन्दर से पहले भी पूर्व और पश्चिम के देशों में आपस में आमदरफ्त थी और भारत का ईरान और यूनान से बराबर सम्पर्क जारी था। 'इण्डिया' शब्द ही यूनानी 'इण्डास' से बना है, और 'इण्डास' की उत्पत्ति 'इण्डस' अर्थात् 'सिन्ध नदी' से हुई।

: ११ :

चन्द्रगुप्त मौर्य और कौटिल्य का अर्थशास्त्र

मगध का जिक्र मैं पहले कर चुका हूँ। यह एक बहुत पुराना राज्य था और उस जगह बसा हुआ था, जहाँ आजकल बिहार का प्रान्त है। इस राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी, जो आजकल पटना कहलाती है। जिस समय का हम ज़िक्र कर रहे हैं, उस वक्त मगध-देश पर नन्द वंश का राज था। जब सिकन्दर ने उत्तर-पश्चिम में भारत पर धावा किया था, उस समय पाटलिपुत्र की राजगद्दी पर नंद-वंश का एक राजा राज करता था। उस समय वहाँ चन्द्रगुप्त नाम का एक नवयुवक भी था, जो शायद इस राजा का कोई रिश्तेदार था। ऐसा लगता है वह बड़ा चतुर, उत्साही और महत्त्वाकांक्षी था। नन्द राजा ने उसे ज़रूरत से ज्यादा चालाक समझकर या उसके किसी काम से नाराज़ होकर उसे अपने राज्य से निर्वासित कर दिया। शायद सिकन्दर और यूनानियों की कहानियों से आकर्षित होकर चन्द्रगुप्त उत्तर की ओर तक्षशिला चला गया। उसके साथ विष्णुगुप्त नाम का एक विद्वान् और अनुभवी ब्राह्मण था, जिसे चाणक्य भी कहते हैं। चन्द्रगुप्त और चाणक्य दोनों ही कोई नरम और दब्बू स्वभाव के लोग न थे, जो भाग्य और होनहार के सामने सिर झुका देते। उनके दिमाग़ में बड़ी-बड़ी और हौसले से भरी योजनाएं थीं और वे आगे बढ़ना और सफलता प्राप्त करना चाहते थे। चन्द्रगुप्त शायद सिकन्दर के वैभव से चकित और आकर्षित हो गया था और उसके उदाहरण का अनुकरण करना चाहता था। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए चाणक्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के रूप में उसे एक आदर्श मित्र और सलाहकार मिल गया । ये दोनों ही सजग रहते थे और ग़ौर से देखते रहते थे कि तक्षशिला में क्या हो रहा है। वे अपने मौक़े की तलाश में थे।

जल्दी-ही उनको मौका मिल गया । ज्योंही सिकन्दर के मरने की खबर तक्षशिला पहुँची, चन्द्रगुप्त ने समझ लिया कि काम करने का समय आ गया है । उसने आसपास के लोगों को उभारा और उनकी मदद से यूनानियों की फ़ौज पर, जिसे सिकन्दर छोड़ गया था, आक्रमण कर दिया और उसे भगा दिया। तक्षशिला पर कब्जा करने के बाद चन्द्रगुप्त और उसके सहायकों ने पाटलिपुत्र पर धावा किया और नन्द राजा को हरा दिया। यह ३२१ ई० पू०, अर्थात् सिकन्दर की मत्यु के सिर्फ पाँच बरस बाद, की बात है। इसी समय से मौर्य-वंश का राज शुरू होता है। यह साफ़-साफ़ पता नहीं चलता कि चन्द्रगुप्त 'मौर्य' क्यों कहलाया। कुछ लोगों का कहना है कि उसकी माँ का नाम मुरा था, इसलिए वह मौर्य कहलाया और कुछका यह कहना है कि उसका नाना राजा के मोरों का रखवाला था और मोर को संस्कृत में मयूर कहते हैं। इस शब्द का मूल चाहे जो हो, यह चन्द्रगुप्त मौर्य के नाम से ही मशहूर है, ताकि उसका एक दूसरे मशहूर चन्द्रगुप्त से, जो कई सौ वर्ष बाद भारत का एक बहुत बड़ा राजा हुआ था, भेद जाना जा सके।

चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में, सिकन्दर के सेनापति सेल्यूकस ने, जिसे विरासत में एशिया-कोचक से लेकर भारत तक के देशों का राज्य मिला था, अपनी सेना के साथ सिन्ध नदी पारकर भारत पर हमला किया। पर अपनी इस जल्दबाज़ी के लिए उसे बहुत जल्द पछताना पड़ा। चन्द्रगुप्त ने उसे बुरी तरह हरा दिया और जिस रास्ते से वह आया था, उसी रास्ते उसे अपना-सा मुँह लेकर लौट जाना पड़ा। यहाँ से कुछ प्राप्त करने के बजाय उल्टा उसे काबुल और हिरात तक गांधार या अफ़ग़ानिस्तान का एक बहुत बड़ा हिस्सा चन्द्रगुप्त को देना पड़ा। चन्द्रगुप्त ने सेल्यूकस की लड़की से शादी भी कर ली। उसका साम्राज्य अब सारे उत्तरी भारत में, अफ़ग़ानिस्तान के एक हिस्से में काबुल से बंगाल तक और अरब सागर से बंगाल की खाड़ी तक फैल गया। सिर्फ़ दक्षिण भारत उसके मातहत नहीं था। इस बड़े साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी।

सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त के दरबार में मेगस्थनीज़ को अपना राजदूत बनाकर भेजा था। मेगस्थनीज़ ने उस ज़माने का एक बड़ा दिलचस्प वर्णन लिखा है, जो अभीतक मिलता है । लेकिन इससे ज्यादा दिलचस्प एक दूसरा वर्णन भी हमें मिलता है, जिसमें चन्द्रगुप्त के शासन का पूरा तफ़सीलवार हाल मिलता है। इस किताब का नाम है 'कौटिल्य का अर्थशास्त्र' । यह कौटिल्य और कोई नहीं, हमारा वही पुराना दोस्त चाणक्य या विष्णुगुप्त है और अर्थशास्त्र का अर्थ है "सम्पत्ति का शास्त्र"।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस अर्थशास्त्र में इतने विषय हैं, और इतनी विभिन्न बातों पर इसमें चर्चा की गई है कि उसके बारे में विस्तार से बता सकना मेरे लिए मुमकिन नहीं है। उसमें राजाओं के धर्म का, उसके मन्त्रियों और सलाहकारों के कर्त्तव्य का, राज-परिषद् का, शासन-विभागों का, वाणिज्य और व्यापार का, गाँव और क़सबों के शासन का, क़ानून और अदालत का, सामाजिक रीति-रिवाजों का, स्त्रियों के अधिकार का, बूढ़े और असहाय लोगों के पालन का, शादी और तलाक़ का, टैक्स का, थल-सेना और जल-सेना का, लड़ाई और सुलह का, कूटनीति का, खेती-बाड़ी का, कातने और बुनने का, कारीगरों का, पासपोर्टों का, और जेलों तक का ज़िक्र है ! मैं इस फ़ेहरिस्त को और भी बढ़ा सकता हूँ, लेकिन मैं इस पत्र को कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अध्यायों के शीर्षकों से नहीं भरना चाहता।

मौर्य-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी। यह बड़ा शानदार शहर था और गंगा के किनारे-किनारे नौ मील तक फैला हुआ था। इसकी चहारदीवारी में चौंसठ मुख्य फाटक थे और सैकड़ों छोटे-छोटे दरवाज़े थे। मकान ज्यादातर लकड़ी के बने हुए थे, और चूँकि आग लगने का डर रहता था इसलिए आग बुझाने का बहुत अच्छा इन्तज़ाम था। ख़ास-ख़ास सड़कों पर पानी से भरे हज़ारों घड़े हमेशा रखे रहते थे। हरेक गृहस्थ को भी अपने-अपने घर में पानी से भरे घड़े, सीढ़ी, काँटा और दूसरी ज़रूरी चीज़ें रखनी पड़ती थीं, जिससे कि आग लगने पर बुझाने के लिए उनका उपयोग हो सके।

कौटिल्य ने शहरों के बारे में एक ऐसे नियम का ज़िक्र किया है जो बहुत दिलचस्प मालूम होगा। अगर कोई आदमी सड़क पर कूड़ा फेंकता था, तो उस पर जुर्माना होता था। इसी तरह अगर कोई सड़क पर कीचड़ या पानी इकट्ठा होने देता था, तो उस पर भी जुर्माना किया जाता था। अगर इन क़ायदों पर अमल होता रहा होगा, तो पाटलिपुत्र या अन्य दूसरे शहर बहुत सुन्दर, सुथरे और साफ़ रहे होंगे। मैं चाहता हूँ कि हमारी म्यूनिसिपैलिटियों में भी इसी तरह के कुछ नियम बना दिये जायें।

पाटलिपुत्र में इन्तज़ाम करने के लिए एक म्यूनिसिपल कौंसिल थी। जनता इसका चुनाव करती थी। इसमें तीस मेम्बर होते थे और पाँच-पाँच मेम्बरों की छः कमेटियाँ बनाई जाती थीं। शहरी उद्योगों और दस्तकारियों का, यात्रियों और तीर्थ-यात्रियों का, टैक्स के लिए मौतों और पैदायशों का, सामान तैयार करने का और दूसरी बातों का इन्तज़ाम इन्हीं कमेटियों के हाथ में रहता था। पूरी कौंसिल सफ़ाई, आमद-ख़र्च, पानी की व्यवस्था, बाग़-बग़ीचे और सार्वजनिक इमारतों का इन्तज़ाम देखती थी।

न्याय करने के लिए पंचायतें और अपील सुनने के लिए अदालतें थीं। अकाल-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पीड़ितों की मदद का ख़ास प्रबन्ध होता था। राज्य के सारे भण्डारों का आधा ग़ल्ला अकाल के वक्त के लिए हमेशा जमा करके रखा जाता था।

ऐसा था वह मौर्य-साम्राज्य, जिसे बाईस सौ बरस पहले चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने संगठित किया था। पाटलिपुत्र की राजधानी से लेकर साम्राज्य के बहुत-से बड़े-बड़े शहरों और हज़ारों क़सबों और गाँवों तक सारे देश में जीवन की चहल-पहल थी। साम्राज्य के एक हिस्से से दूसरे हिस्से तक बड़ी-बड़ी सड़कें थीं। मुख्य राजपथ पाटलिपुत्र से उत्तर-पश्चिमी सीमा तक चला गया था। बहुत-सी नहरें थीं और उनकी देख-भाल के लिए एक खास महकमा भी था। इसके अलावा एक नौका-विभाग भी था, जो बन्दरगाहों, घाटों, पुलों और एक जगह से दूसरी जगह तक आने-जानेवाले बहुत-से जहाज़ों और नौकाओं की देख-रेख किया करता था। जहाज़ समुद्र पार चीन और बर्मा तक जाते थे।

इस साम्राज्य पर चन्द्रगुप्त ने २४ बरस राज किया। ईसा से पहले २९६वें वर्ष में उसकी मृत्यु हो गई।

: १२ :

'देवानाम् प्रिय' अशोक

चन्द्रगुप्त की मृत्यु ईसाई सन् के शुरू होने के क़रीब ३०० बरस पहले हुई। उसके बाद उसका लड़का बिन्दुसार गद्दी पर बैठा जिसने पच्चीस वर्ष तक शान्तिमय शासन किया। यूनानी जगत् से उसने अपना सम्पर्क बनाये रखा। उसके दरबार में पश्चिम एशिया के सेल्यूकस के लड़के एण्टीओक और मिस्र के टालमी की ओर से राजदूत आते थे। बाहरी दुनिया से व्यापार बराबर जारी था और कहा जाता है कि मिस्रवाले अपने कपड़े भारत के नील से रंगा करते थे। कहते हैं कि ये लोग अपनी मोमियाईयाँ भारत की मलमल में लपेटते थे। बिहार में कुछ पुराने ज़माने के चिह्न मिले हैं, जिनसे मालूम होता है कि मौर्य-युग के पहले भी वहाँ एक तरह का काँच बनाया जाता था।

बिन्दुसार की मृत्यु होने पर ईसा से २६८ वर्ष पहले अशोक उस विशाल साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ, जो सारे उत्तर और मध्य भारत से लेकर मध्य एशिया तक फैला हुआ था। शायद भारत के बाक़ी दक्षिण-पूर्वी और दक्षिणी हिस्से को अपने साम्राज्य में मिलाने की इच्छा से उसने अपने राज्य के नवें बरस में कलिंग पर चढ़ाई की। कलिंग भारत के दक्षिणी समुद्रतट पर महानदी, गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच का देश था। कलिंगवाले बड़ी बहादुरी से लड़े, लेकिन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अशोक का साम्राज्य

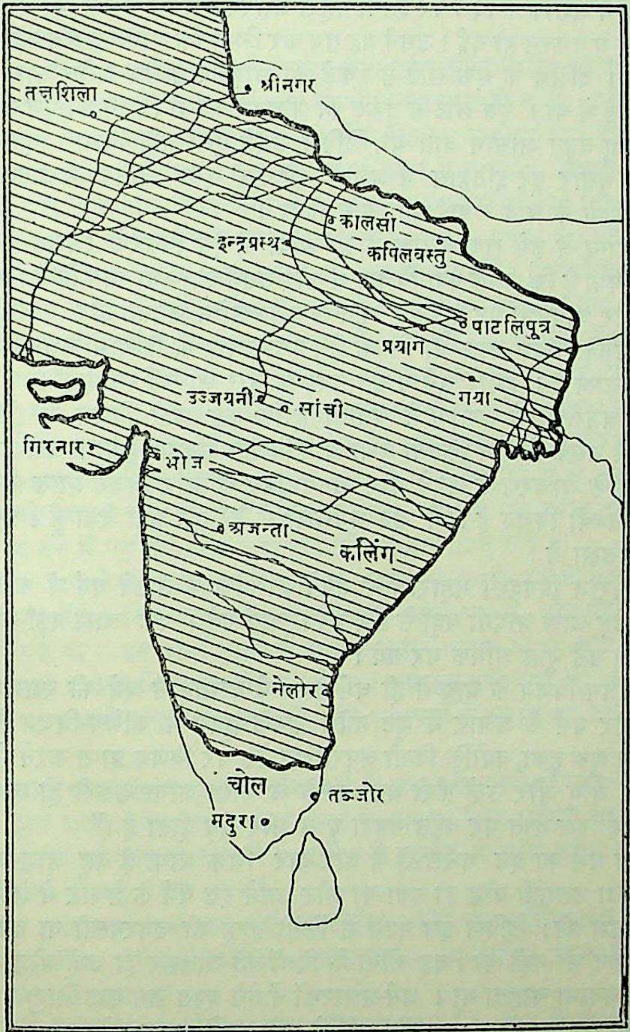

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आख़िर बहुत भयंकर मार-काट के बाद वे कुचल दिये गये। इस लड़ाई और मार-काट ने अशोक के दिल पर इतना गहरा असर किया कि उसे लड़ाई और उसके सब कामों से नफ़रत हो गई। उसने यह तय कर लिया कि आगे वह अब कोई लड़ाई न लड़ेगा। दक्षिण के एक छोटे-से टुकड़े को छोड़कर क़रीब-क़रीब सारा भारत उसके क़ब्ज़े में था। इस छोटे-से टुकड़े को जीतकर अपनी विजय को पूर्ण कर लेना उसके लिए बहुत आसान बात थी, लेकिन उसने ऐसा नहीं किया। एच० जी० वेल्स के नुसार पूरे इतिहास में अशोक ही एक ऐसा सैनिक सम्राट हुआ है जिसने विजय के बाद लड़ाई को त्याग दिया।

सौभाग्य से हमें ख़ुद अशोक के ही शब्दों में ऐसे विवरण मिलते हैं जिनमें बतलाया गया है कि उसके क्या विचार थे और उसने क्या-क्या काम किये। स्तम्भों, पत्थरों और धातुपत्रों पर खुदे हुए बहुत-से धर्मलेखों में जनता और भावी सन्तति के नाम उसके सन्देश आज भी मिलते हैं। इलाहाबाद के क़िले में अशोक का एक ऐसा-ही स्तम्भ है। हमारे सूबे में इस तरह के और भी कई स्तम्भ हैं।

इन धर्मलेखों में अशोक ने बताया है कि युद्ध और विजय में होनेवाली हत्याओं से उसके दिल में कितनी घृणा और कितना अनुताप हुआ। उसका कहना है कि धर्म के आचरण से अपने और मानव-हृदय के ऊपर विजय प्राप्त करना ही एकमात्र सच्ची विजय है। मैं इन धर्मलेखों में से एक यहाँ देता हूँ। इस धर्म-लेख में लिखा है :

"धर्मराज प्रियदर्शी महाराज ने अपने अभिषेक के आठवें वर्ष में कलिंग को जीता। डेढ़ लाख आदमी वहाँ से क़ैद करके लाये गये। एक लाख वहाँ क़त्ल हुए और इससे कई गुना अधिक मर गये।

"कलिंग-विजय के बाद से ही धर्मराज बड़े उत्साह से धर्म की रक्षा, धर्म के पालन और धर्म के प्रचार में जुट गये। उनके हृदय में कलिंग-विजय के लिए पश्चात्ताप शुरू हुआ, क्योंकि किसी अपराजित देश पर विजय प्राप्त करने में लोगों की हत्या, मृत्यु और उन्हें क़ैदी बना करके ले जाया जाना ज़रूरी हो जाता है। धर्मराज को इस बात पर बहुत गहरा दुःख और खेद होता है।"

जिस धर्म का इन धर्मलेखों में बार-बार ज़िक्र आया है वह बौद्ध-धर्म है। अशोक बड़ा उत्साही बौद्ध हो गया था और उसने इस धर्म के प्रचार में शक्ति भर ख़ूब कोशिश की; लेकिन इस काम में किसी तरह की ज़बरदस्ती या दबाव का नाम-निशान भी नहीं था। वह लोगों के दिलों को जीतकर ही उन्हें बौद्ध-धर्म का अनुयायी बनाना चाहता था। धर्म-प्रचारकों में ऐसे बहुत कम क्या बिल्कुल ही कम हुए हैं, जो अशोक की तरह दूसरे धर्मों के प्रति इतने उदार रहे हों।

इस प्रकार देवताओं के प्रिय, या धर्मलेखों के शब्दों में 'देवानाम् प्रिय' अशोक ने पश्चिम में एशिया, अफ़रीका और योरप के राज्यों में अपने सन्देशवाहक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और राजदूत भेजे। उसने अपने सगे भाई महेन्द्र और बहन संघमित्रा को लंका भेजा था, और कहा जाता है कि ये अपने साथ गया से पवित्र बोधि-वृक्ष की एक टहनी भी ले गये थे।

भारत में बौद्ध-धर्म बहुत तेज़ी से फैल गया, और चूँकि अशोक की दृष्टि में धर्म केवल मन्त्रों के जप और पूजा-पाठ और संस्कारों का नाम ही न था, बल्कि उसका अर्थ था नेक काम करना और समाज को ऊँचा उठाना, इसलिए सारे देश में सार्वजनिक बाग़-बग़ीचे, अस्पताल, कुएँ और सड़कें नज़र आने लगे। स्त्रियों की शिक्षा के लिए ख़ास इन्तज़ाम किया गया था। इस समय चार बड़े-बड़े विश्वविद्यालय थे, एक ठेठ उत्तर में पेशावर के पास तक्षशिला में; दूसरा मथुरा में; तीसरा मध्य-भारत में उज्जैन में; और चौथा पटना के पास नालन्दा में। इन विश्वविद्यालयों में सिर्फ़ भारत के ही नहीं, बल्कि चीन से लेकर पश्चिमी एशिया तक के दूर-दूर देशों से विद्यार्थी पढ़ने के लिए आते थे और वापस अपने देश को बुद्ध के उपदेशों का सन्देश अपने साथ ले जाते थे। सारे देश में बड़े-बड़े मठ बन गये थे, जो 'विहार' कहलाते थे। मालूम होता है पाटलिपुत्र या पटना के आस-पास इतने ज्यादा विहार थे कि सारा प्रान्त ही विहार, या जैसाकि आजकल पुकारा जाता है, 'बिहार' कहलाने लगा। लेकिन जैसाकि अक्सर होता है, इन विहारों में से अध्ययन और विचार की साधना थोड़े-ही दिनों में जाती रही, और ये ऐसे स्थान बन गये जहाँ लोग एक ढर्रे में पड़ गये और पूजा-पाठ की लकीर पीटने लगे।

जीव-रक्षा के लिए अशोक के प्रेम का दायरा जानवरों तक के लिए बढ़ गया था। जानवरों के लिए ख़ास तौर से अस्पताल खोले गये थे, और पशु-बलि बन्द कर दी गई थी। इन दोनों बातों में अशोक हमारे ज़माने से भी कुछ आगे था। अफ़सोस की बात है कि जानवरों का बलिदान कुछ हद तक अभी भी जारी है और धर्म का एक ज़रूरी अंग माना जाता है, और जानवरों के इलाज का कोई इन्तज़ाम नहीं है।

अशोक के उदाहरण से और बौद्ध-धर्म के प्रचार से लोगों में मांस न खाने का प्रचार होने लगा। उस समय तक भारत के ब्राह्मण और क्षत्रिय आम तौर पर मांस खाते थे और शराब पीते थे। अशोक के ज़माने में मांस खाना और शराब पीना, दोनों ही बहुत कम हो गये।

इस तरह अशोक ने ३८ वर्ष राज्य किया और वह शान्तिपूर्वक जनता की भलाई करने की पूरी-पूरी कोशिश करता रहा। सार्वजनिक काम के लिए वह हमेशा तैयार रहता था।

ईसा से २२६ वर्ष पहले अशोक की मृत्यु हो गई। मृत्यु के कुछ दिन पहले वह राज-पाट छोड़कर बौद्ध-भिक्षु हो गया था।

मौर्य-युग के बहुत कम चिह्न हमें मिलते हैं। लेकिन जो मिलते हैं, वे ही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभीतक की खोज के मुताबिक़, भारत में आर्य-सभ्यता के लगभग सबसे पुराने चिह्न हैं।

अशोक की राजधानी, पाटलिपुत्र के विशाल नगर का अब कोई निशान बाक़ी नहीं है। पन्द्रह सौ बरस पहले, यानी अशोक के छः सौ बरस बाद, फ़ाह्यान नाम का एक चीनी मुसाफ़िर पाटलिपुत्र आया था। उस समय यह नगर बड़ा उन्नत, मालदार और ख़ुशहाल था, लेकिन तबतक अशोक का पत्थर का राजमहल खंडहर हो चुका था। इन खंडहरों ने ही फ़ाहियान को बहुत प्रभावित किया और उसने अपनी यात्रा के विवरण में लिखा है कि यह राजमहल मनुष्यों का बनाया नहीं मालूम होता है।

अशोक की कीर्ति एशिया के महाद्वीप भर में आज भी ज़िन्दा है और उसके धर्मलेखों में ऐसी बातें लिखी हुई हैं जिनका भाव हम समझ सकते हैं और जिनकी क़ीमत हम पहचान सकते हैं। आज भी हम उनसे बहुत-कुछ सीख सकते हैं। अशोक के एक धर्मलेख में लिखा है :

"सारे मत किसी-न-किसी अच्छाई के कारण आदरणीय हैं। दूसरे मतों का आदर करके आदमी अपने मत को ऊँचा उठाता है और साथ ही दूसरे लोगों के मतों की भी सेवा करता है।"

: १३ :

चिन और हान

चीन के प्रारम्भ काल का, ह्वांग-हो नदी के किनारेवाली बस्तियों का, और हिस्या, शांग या यिन और चाऊ नामक शुरू के राजवंशों का कुछ हाल लिखा था। उसके बाद एक ऐसा लम्बा ज़माना आया जब वहाँ नाममात्र के लिए अधिकार तो चाऊ राजवंश का ही रहा, पर शासन के केन्द्रीकरण की गति रुक गई और गड़बड़ शुरू हो गई। देश के अलग-अलग क्षेत्रों के मामूली हाकिम एक तरह से स्वतंत्र बन बैठे और आपस में एक-दूसरे से लड़ने लगे। यह बदक़िस्मती की हालत कई सौ बरस तक जारी रही। मालूम होता है कि चीन की हरेक बात सैकड़ों या हज़ारों बरसों से ही ताल्लुक रखती है। अन्त में एक स्थानीय हाकिम, चिन के सरदार, ने पुराने और निर्बल चाऊ राजवंश को निकाल बाहर किया। उसके वंशज चिन-वंश के कहलाते हैं और यह एक दिलचस्प बात है कि चीन का नाम इस चिन शब्द से ही निकला है।

इस प्रकार चीन में चिन लोगों का इतिहास ईसा से २५५ वर्ष पहले शुरू हुआ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इससे १३ वर्ष पहले भारत में अशोक का राज्य शुरू हो चुका था। चिन राजवंश के पहले तीन सम्राटों ने बहुत थोड़े-थोड़े दिन राज किया। इसके बाद ईसा से २४६ वर्ष पूर्व चौथा सम्राट हुआ, जो अपने ढंग का एक बहुत उल्लेखनीय आदमी था। उसका नाम वांग-चैंग था, लेकिन बाद में इसने आपना नाम शीह-ह्वांग-ती रख लिया, और आम तौर पर वह इसी दूसरे नाम से मशहूर है। इसका अर्थ है 'पहला सम्राट'। ज़ाहिर है कि उसे अपने ऊपर, और अपने ज़माने पर बड़ा घमंड था और उसके दिल में पुराने ज़माने की ज़रा भी क़दर न थी। इसलिए यह हुक्म निकाला गया कि तमाम ऐसी किताबें, जिनमें पुराने ज़माने का हाल हो, ख़ासकर इतिहास की पुस्तकें और कनफ़ूशस की महान् रचनाएँ, जलाकर बिल्कुल नष्ट कर दी जायँ। सिर्फ़ वैद्यक की और विज्ञान की कुछ किताबों पर यह हुक्म लागू नहीं था।

इसमें कोई शक़ नहीं कि शीह-ह्वांग ती ने पुरानी पुस्तकों को जलवाकर और उनके पढ़नेवालों को ज़िन्दा दफ़न कराके एक वहशियाना काम किया। इसका नतीजा यह हुआ कि उसकी यह सारी कार्रवाई उसीके साथ ख़तम हो गई। शीह-ह्वांग-ती शक्तिशाली सम्राटों की श्रेणी में सबसे पहला सम्राट होना चाहता था। लेकिन ईसा से २०९ वर्ष पहले, उसकी मृत्यु के तीन बरस बाद ही, उसके वंश का ख़ातमा हो गया और तुरन्त ही कनफ़ूशस के ग्रन्थ जहाँ-जहाँ छिपाकर रखे गये थे, वहाँ से खोदकर निकाल लिये गये और उनका फिर पहले की तरह आदर होने लगा।

शासक की हैसियत से शीह-ह्वांग-ती चीन के सबसे शक्तिशाली शासकों में था। उसने तमाम स्थानीय राजाओं की हेकड़ी को ख़तम कर दिया, सामन्तशाही का अन्त कर डाला, और एक मज़बूत केन्द्रीय शासन का संगठन किया। इसने सारे चीन और अनाम को जीत लिया। इसीने चीन की मशहूर दीवार का बनाना शुरू किया। यह एक बड़ा ख़र्चीला काम था। लेकिन मालूम होता है कि चीनियों ने अपनी हिफ़ाज़त के लिए एक बड़ी सेना बराबर क़ायम रखने के बजाय इस बड़ी दीवार पर, जो बाहर के दुश्मनों से उनकी हिफ़ाज़त करने के लिए बनाई जा रही थी, रुपया लगाना ज्यादा पसन्द किया। यह दीवार किसी बड़े हमले को मुश्किल से रोक सकती थी। इसने सिर्फ़ इतना ही काम किया कि छोटे-छोटे छापों को रोक दिया। लेकिन इससे यह ज़ाहिर होता है कि चीनी लोग शान्ति पसन्द करते थे और शक्तिशाली होते हुए भी सैनिक-कीर्ति के लोलुप नहीं थे।

पहला सम्राट शीह-ह्वांग-ती मर गया और उस राजवंश में कोई दूसरा ऐसा नहीं निकला जो उसकी जगह लेता। लेकिन उसके ज़माने से सारा चीन एक सूत्र की परम्परा में बंध गया।

इसके बाद एक दूसरा राजवंश--हान-वंश- सामने आया। यह वंश चार सौ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वर्ष से ज्यादा रहा और इस वंश के प्रथम शासकों में एक सम्राज्ञी भी हुई। इस वंश का छठा सम्राट वू-ती था, जो चीन के बड़े शक्तिशाली और मशहूर शासकों में गिना जाता है। इसने पचास बरस से ज्यादा राज किया। इसने तातारियों को हराया जो उत्तर में बराबर छापे मारा करते थे। पूर्व में कोरिया से पश्चिम में कैस्पियन सागर तक चीनी सम्राट का बोल-बाला था और मध्य एशिया की सब जातियाँ उसे अपना प्रमुख शासक मानती थीं।

शायद वू-ती के ज़माने में ही चीन और रोम में आपसी सम्पर्क हुआ। पार्थव (पार्थियावासी) लोगों के ज़रिये इन दोनों देशों में व्यापार हुआ करता था। ये लोग जिस प्रदेश में रहा करते थे वह आज ईरान और ईराक़ कहलाता है। लेकिन जब रोम और पार्थव (पार्थिया) में लड़ाई छिड़ी, तो यह व्यापार रुक गया। रोम ने तब समुद्र के रास्ते चीन से सीधे तिजारत करने की कोशिश की, और एक रोमन जहाज़ चीन पहुँच भी गया। लेकिन यह ईसा के बाद दूसरी सदी की बात है, और अभी तो हम ईसा से पहले के ही ज़माने की बात कर रहे हैं।

हान वंश के राज्यकाल में ही चीन में बौद्ध-धर्म आया। ईसाई सन् शुरू होने से पहले भी चीन में उसकी कुछ चर्चा होने लगी थी, लेकिन यह फैला कुछ समय बाद, जब उस वक्त के चीनी सम्राट ने,कहते हैं, एक आश्चर्यजनक स्वप्न में एक सोलह फुट लम्बा आदमी देखा, जिसके सर के चारों ओर चमकदार प्रभा-मंडल था। चूँकि उसे यह क्षणिक दृश्य पश्चिम की ओर दिखाई पड़ा था, इसलिए उसने उसी ओर दूत भेजे। ये दूत बुद्ध की मूर्त्ति और बौद्ध-ग्रन्थ लेकर वापस आये। बौद्ध-धर्म के साथ-साथ भारतीय कला का प्रभाव भी चीन में पहुँचा; वहाँ से वह कोरिया में और कोरिया से जापान में फैल गया।

हान युग में दो महत्त्वपूर्ण बातें ऐसी हुईं जिनका ज़िक्र ज़रूरी है। इसी समय लकड़ी के ठप्पों से छपाई की कला का आविष्कार हुआ। लेकिन क़रीब एक हज़ार वर्ष तक उसका ज्यादा उपयोग नहीं हुआ। फिर भी इस बात में चीन योरप से पाँच सौ बरस आगे था।

दूसरी महत्त्व की बात यह हुई कि इसी ज़माने में चीन में सरकारी नौकरियों के लिए परीक्षा की प्रथा शुरू हुई। लड़के और लड़कियाँ इम्तिहानों से घबराते हैं और मैं इस बात में उनके साथ हमदर्दी भी रखता हूँ। लेकिन उस ज़माने में सरकारी अफ़सरों की नियुक्ति का यह तरीक़ा एक मार्के की बात थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: १४ :

रोम बनाम कार्थेज

कहा जाता है कि रोम की बुनियाद ईसा के पहले आठवीं सदी में पड़ी थी। शुरू ज़माने के रोमन लोग, जो शायद आर्यों के वंशज थे, तबरेज़ (टाइबर) नदी के पास की सात पहाड़ियों पर कुछ बस्तियाँ बसाये हुए थे। ये बस्तियाँ धीरे-धीरे बढ़कर शहर बन गईं, और यह नगर-राज्य बढ़ते-बढ़ते इटली भर में फैल गया—यहाँतक कि यह सिसली के सामनेवाले दक्षिणी सिरे पर मेसीना तक पहुँच गया।

जहाँ-जहाँ यूनानी गये, वहाँ-वहाँ वे नगर-राज्य का अपना विचार भी साथ लेते गये और उन्होंने भूमध्यसागर के किनारे को यूनानी उपनिवेशों और नगर-राज्यों से भर दिया। लेकिन इस वक्त हम रोम की इससे बिल्कुल जुदी चीज़ का ज़िक्र कर रहे हैं। शुरू में शायद रोम भी यूनान के नगर-राज्य की तरह का ही रहा हो; लेकिन बहुत जल्द वह अपनी पड़ोसी जातियों को हराकर फैल गया। इस तरह रोमन राज्य का क्षेत्र बढ़ने लगा और इटली का ज्यादातर हिस्सा उसमें आ गया। इतना बड़ा क्षेत्र एक नगर-राज्य की तरह नहीं रह सकता था। इसके शासन का संचालन रोम से होता था और ख़ुद रोम में एक अजीब क़िस्म की सरकार थी। वहाँ न तो कोई बड़ा सम्राट या राजा था, और न आजकल की तरह का गणराज्य था। फिर भी वहाँ का शासन एक तरह से गणराज्य जैसा ही था, जिस पर ज़मींदार-वर्ग के कुछ अमीर कुटुम्बों का प्रभुत्व था। शासन का अधिकार 'सीनेट' का माना जाता था—और इस सीनेट को दो चुने हुए आदमी नामज़द करते थे, जो 'कौन्सल' कहलाते थे। बहुत दिनों तक तो सिर्फ़ अमीर लोग ही सीनेटर हो सकते थे। रोम की जनता दो वर्गों में बँटी हुई थी; एक तो अभिजात—कुलीन (पेट्रीशियन)—यानी मालदार अमीर, जो आम तौर पर ज़मींदार हुआ करते थे, दूसरे अपजात—अकुलीन (प्लेबियन)—जो मामूली नागरिक थे। कुलीन वर्ग के हाथ में सारी हुकूमत थी, और जहाँ हुकूमत रहती है वहीं रुपया भी जाता है। अकुलीन वर्ग नीचे दबा हुआ वर्ग था, जिसके पास न ताक़त थी न पैसा। अकुलीन वर्ग के लोग हुकूमत हासिल करने के लिए लड़ते और संघर्ष करते रहे, और धीरे-धीरे कुछ टुकड़े उन्हें मिले भी। एक दिलचस्प बात यह है कि इस लम्बे संघर्ष में अकुलीन वर्ग के लोगों ने एक क़िस्म के असहयोग का कामयाबी के साथ प्रयोग किया था। वे लोग दल बनाकर रोम शहर को छोड़कर निकल गये और एक नया शहर बसाकर वहाँ रहने लगे। इससे कुलीन लोग डर गये, क्योंकि अकुलीन वर्ग के बिना उनका काम चल ही नहीं सकता था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसलिए उन्होंने उनके साथ समझौता कर लिया और उन्हें कुछ छोटी-मोटी रियायतें दे दीं। धीरे-धीरे वे लोग ऊंचे ओहदों के भी हक़दार समझे जाने लगे और सीनेट तक के सदस्य होने लगे।

लेकिन इन दोनों वर्गों के अलावा वहाँ गुलामों की भी एक बहुत बड़ी तादाद थी, जिनको किसी तरह के अधिकार नहीं थे। ये लोग नागरिक नहीं माने जाते थे और इन्हें वोट देने का हक़ नहीं था। ये लोग तो गायों और कुत्तों की तरह अपने मालिकों की व्यक्तिगत और निजी सम्पत्ति समझे जाते थे। मालिक अपनी मरज़ी से इनको बेच सकता था और सज़ा दे सकता था। कुछ हालतों में इन्हें मुक्त भी किया जा सकता था। मुक्त हुए गुलामों ने अपना एक अलग वर्ग बना लिया, जो 'मुक्त लोगों का वर्ग' कहलाता था। प्राचीन काल में, पश्चिम में, गुलामों की हमेशा बड़ी भारी माँग रहती थी और इस माँग को पूरा करने के लिए गुलामों की बड़ी-बड़ी मंडियाँ बन गई थीं। मर्दों, औरतों और बच्चों तक को पकड़ने और उन्हें गुलाम बनाकर बेचने के लिए लोग दूर-दूर के देशों में धावे मारा करते थे। प्राचीन मिस्र की तरह पुराने यूनान और रोम के वैभव और बादशाही-शान की बुनियाद चारों ओर फैली हुई गुलामी की प्रथा पर क़ायम थी।

रोम की बढ़ती के समय उसके शासन का ढंग कैसा था? मैं बता चुका हूँ कि हुकूमत सीनेट के हाथ में थी, और दो चुने हुए कौन्सल सीनेट को नामज़द किया करते थे। कौन्सलों को कौन चुनता था? नागरिक, जो मतदाता या वोटर थे। शुरू में जब रोम एक छोटा-सा नगर-राज्य था, सब नागरिक रोम में या रोम के आस-पास रहते थे। तब लोगों का एक जगह इकट्ठा होना और वोट देना कोई मुश्किल बात नहीं थी। लेकिन रोम के बढ़ने पर बहुत-से नागरिक ऐसे भी थे जो रोम से दूर रहने लगे, और उनके लिए वोट देने आना आसान काम नहीं था। उस वक्त आजकल के-से 'प्रतिनिधि शासन' का विकास या उस पर अमल नहीं हुआ था। आजकल हरेक हल्का या निर्वाचन-क्षेत्र राष्ट्रीय विधान-सभा या संसद् या कांग्रेस के लिए अपना प्रतिनिधि चुनता है, और इस तरह से एक छोटी-सी जमात के ज़रिये सारे राष्ट्र की नुमायन्दगी हो जाती है। जाहिर है, यह बात पुराने रोमन लोगों को नहीं सूझी थी। इसलिए वे लोग रोम में ही मतदान करवाते रहे, हालांकि दूर के मतदाताओं के लिए वहाँ आकर मत देना क़रीब-क़रीब असम्भव था। सच तो यह है कि दूर के वोटरों को पता ही नहीं रहता था कि वहाँ क्या हो रहा है। उस ज़माने में न अखबार थे, और न छपी हुई किताबें थीं, और बहुत कम लोग पढ़-लिख सकते थे। इसलिए जो लोग रोम से दूर रहते थे, उनके लिए वोट देने का अधिकार अमली तौर पर किसी काम का न था। चुनाव का और ख़ास-ख़ास बातों का फैसला करने का असली अधिकार रोम के ही वोटरों के हिस्से में था। वे लोग बिना छवे बाड़ों में जाकर वोट देते थे। इन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वोटरों में बहुत-से ग़रीब अकुलीन वर्ग के लोग होते थे। धनिक कुलीन, जो ऊँचा ओहदा और हुकूमत चाहता था, इन ग़रीब लोगों को रिश्वत देकर उनके वोट ख़रीद लेता था। इस तरह रोमन चुनावों में उतनी-ही रिश्वत और धोखेबाज़ी चला करती थी, जितनी कि कभी-कभी आजकल के चुनावों में चलती है।

जब इधर रोम इटली में बढ़ रहा था, तब उधर उत्तरी अफरीका में कार्थेज की ताक़त बढ़ रही थी। कार्थेज-निवासी फ़िनीशियन लोगों के वंशज थे, और उनमें जहाज़ चलाने और व्यापार करने की पुश्तैनी योग्यता थी। उनके यहाँ भी गणराज्य था, लेकिन वह रोम से भी ज्यादा हद तक अमीरों का गणराज्य था। यह एक नगर-गणराज्य था, जिसमें गुलामों की तादाद बहुत अधिक थी।

शुरू दिनों में, रोम और कार्थेज के दरमियान, दक्षिण-इटली और मेसिना में यूनानी उपनिवेश थे। लेकिन रोम और कार्थेज यूनानियों को निकालने के लिए एक हो गये। इस काम में कामयाब होने पर कार्थेज ने सिसली ले लिया और रोम इटली की दक्षिणी नोक तक पहुँच गया। रोम और कार्थेज की मित्रता और युद्ध में एकता बहुत दिनों तक क़ायम न रह सकी। जल्दी-ही इन दोनों में झगड़े होने लगे और भयंकर प्रतिद्वन्द्विता बढ़ने लगी। संकरे समुद्र के दोनों ओर आमने-सामने डटी हुई दो मज़बूत ताक़तों के लिए भूमध्यसागर काफ़ी बड़ा न था। दोनों ही के हौसले बढ़े हुए थे। इधर रोम बढ़ रहा था और उसमें नौजवानी का जोश और आत्म-विश्वास था; उधर कार्थेज शुरू में शायद 'कल के छोकरे' रोम को कुछ हिक़ारत की नज़र से देखता था और अपनी समुद्री ताक़त में पूरा भरोसा रखता था। सौ बरस से ज्यादा तक ये दोनों एक-दूसरे से लड़ते रहे, हालांकि बीच-बीच में कभी शान्ति भी हो जाती थी। लेकिन दोनों ही जंगली जानवरों की तरह लड़े, जिससे जनता तबाह हो गई। इनमें तीन लड़ाइयाँ हुईं जिन्हें 'प्युनिक युद्ध' कहते हैं। पहला प्युनिक युद्ध तेईस बरस तक, यानी २६४ ई० पू० से २४१ ई० पू० तक चला। इस युद्ध में रोम की जीत हुई। बाईस बरस बाद दूसरा प्युनिक युद्ध हुआ। इसमें कार्थेज ने हैनिबाल नामक एक सेनापति भेजा, जो इतिहास में मशहूर है। पन्द्रह बरस तक हैनिबाल ने रोम को सताया और रोमन लोगों को आतंकित किया। उसने बड़ी मारकाट के साथ रोमन सेनाओं को हराया—ख़ासकर कैनी की लड़ाई में, जो २१६ ई० पू० में हुई थी। यह सब उसने कार्थेज की मदद के बिना ही कर दिखाया, क्योंकि समुद्र पर रोमनों का कब्ज़ा होने की वजह से कार्थेज से उसका सम्बन्ध टूट-सा गया था। लेकिन हार और आफ़त को सहते हुए, और हैनिबाल का खतरा सिर पर बराबर होने पर भी, रोमन लोगों ने हिम्मत नहीं छोड़ी और अपने घृणित दुश्मन का बराबर मुक़ाबला करते रहे। हैनिबाल से खुले मैदान में लड़ने की हिम्मत तो उनमें थी नहीं, इसलिए वे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

खुली लड़ाइयों से बचते थे, और सिर्फ़ उसे तंग करने और कार्थेज से आने-जाने का मार्ग काटने की कोशिश में रहते थे।

हैनिबाल ने इटली के बहुत बड़े हिस्से को वीरान कर दिया, लेकिन रोम की लगातार कोशिश और दृढ़ता ने अन्त में विजय पाई। २०२ ई० पू० में ज़ामा की लड़ाई में हैनिबाल हार गया। वह जगह-जगह भागता फिरा, लेकिन जहाँ वह गया, वहीं रोमनों की अतृप्त घृणा उसके पीछे लगी रही। अंत में वह ज़हर खाकर मर गया।

रोम और कार्थेज में पचास बरस तक सुलह रही। कार्थेज काफ़ी पस्त कर दिया गया था और रोम को ललकारने की उसमें बिल्कुल हिम्मत नहीं रही थी। फिर भी रोम को सन्तोष नहीं हुआ और उसने कार्थेज को तीसरा प्युनिक युद्ध करने के लिए मजबूर कर दिया। इस लड़ाई में बहुत भारी तादाद में लोग मारे गये और कार्थेज बिल्कुल नष्ट हो गया। सचमुच, जिस ज़मीन पर किसी समय कार्थेज की अभिमानिनी नगरी——भूमध्यसागर की रानी——का आसन था, उस पर हल चलवा दिये गये।

: १५ :

रोमन गणराज्य साम्राज्य बन गया

कार्थेज की आखिरी हार और तबाही के बाद रोम पश्चिमी दुनिया में सबसे ज्यादा ताक़तवर हो गया और उसका कोई प्रतिद्वन्दी नहीं रहा। यूनानी राज्यों को वह इससे पहले ही फ़तह कर चुका था, अब उसने कार्थेज के प्रदेशों पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। इस तरह दूसरे प्युनिक युद्ध के बाद स्पेन रोम की मातहती में आ गया। फिर भी रोमन साम्राज्य में अभीतक सिर्फ़ भूमध्यसागर के ही देश शामिल थे। सारा उत्तरी और मध्य-योरप रोम के अधिकार के बाहर था।

दूसरे मुल्कों पर जीत का और लड़ाइयों में विजय का नतीजा यह हुआ कि रोम में धन और विलासिता बढ़ गई। जीते हुए मुल्कों से सोने और ग़ुलामों के ढेर-के-ढेर आने लगे। रोम का शासन सीनेट के हाथ में था और उसमें उच्च वर्ग के अमीर कुटुम्ब हुआ करते थे। धनवान लोगों के इस गिरोह के हाथ में रोमन-गणराज्य और उसके जीवन की बागडोर थी। रोम की शक्ति और विस्तार की बढ़ती के साथ-साथ इन लोगों की दौलत भी बढ़ती गई। इसलिए जो धनवान थे, वे और भी ज्यादा धनवान होते गये और ग़रीब लोग ग़रीब ही बने रहे, बल्कि और भी ज्यादा ग़रीब हो गये। ग़ुलामों की संख्या बढ़ गई और एक तरफ़ विलासिता और दूसरी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तरफ़ मुसीबत साथ-साथ बढ़ने लगीं। जब ऐसा होता है, तो आमतौर पर गड़बड़ हो जाया करती है।

धनवान लोगों ने ग़रीबों को खेल-तमाशों और सरकसों के दंगलों से बहलाने की कोशिश की। इनमें ग्लेडियेटर[1] लोग, केवल दर्शकों के मनोरंजन के लिए एक-दूसरे के साथ लड़ने और मार डालने के लिए मजबूर किये जाते थे। गुलामों और लड़ाई के क़ैदियों की बहुत बड़ी तादाद इस तरह मौत के घाट उतारी जाती थी।

लेकिन रोम के राज्य में उपद्रव बढ़ने लगे। बलवे होते थे, हत्याएँ होती थीं और चुनावों में रिश्वत और बेईमानी होती थी। ग़रीब और पद दलित ग़ुलामों तक ने स्पार्टाकस नाम के एक ग्लेडियेटर के नेतृत्व में बलवा कर दिया। लेकिन ये लोग बेरहमी के साथ कुचल दिये गये और कहा जाता है कि रोम में ऐपियन सड़क पर छः हज़ार ग़ुलाम सूली पर चढ़ा दिये गये।

धीरे-धीरे दुस्साहसी लोग और सेनापति लोग अधिक प्रभावशाली होते गये और सीनेट पर हावी होने लगे। घरेलू लड़ाई छिड़ गई और चारों तरफ़ तबाही होने लगी। प्रतिद्वन्दी सेनापति एक-दूसरे से लड़ने लगे। पूर्व में, पार्थिया (ईराक़) में ५३ ई० पू० में कैरे की लड़ाई में, रोमन फ़ौज़ की बहुत बुरी हार हुई। पार्थियावालों से लड़ने के लिए जो रोमन फ़ौज भेजी गई थी, उसे उन्होंने नष्ट कर दिया।

रोमन सेनापतियों की इस भीड़ में दो नाम, पाम्पी और जुलियस सीज़र, बहुत मशहूर हैं। सीज़र ने फ़्रान्स, जो उस समय 'गॉल' कहलाता था, और ब्रिटेन को जीत लिया था। पाम्पी पूर्व की तरफ़ गया और वहाँ उसे थोड़ी-बहुत कामयाबी भी मिली। लेकिन इन दोनों की आपस में बड़ी गहरी प्रतिद्वन्द्विता थी। दोनों ही महत्त्वाकांक्षी थे, और किसी प्रतिद्वन्द्वी को बरदाश्त नहीं कर सकते थे। बेचारी सीनेट की कोई पूछ नहीं रही, हालांकि दोनों ज़बानी तौर पर उसकी हुकूमत मानते थे। सीज़र ने पाम्पी को हरा दिया और इस तरह वह रोमन संसार का प्रमुख नेता बन गया। लेकिन रोम में गणराज्य था, इसलिए सरकारी तौर पर सीज़र हर मामले में अपनी मनमानी नहीं कर सकता था। इसलिए यह कोशिश की गई कि उसको ताज पहनाकर बादशाह या सम्राट बना दिया जाय। सीज़र इसके लिए तैयार सा ही था। लेकिन रोम की पुरानी गणतांत्रिक परम्परा के

---

[1] ग्लैडियेटर—प्राचीन रोम के गुलाम पहलवान, जो दूसरे योद्धाओं या जंगली जानवरों से अखाड़ों में लड़ते थे और सारा रोम तमाशा देखता था। दूसरों का खून बहते हुए देखने के इच्छुक रोम निवासियों को ये खेल बड़े प्रिय थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

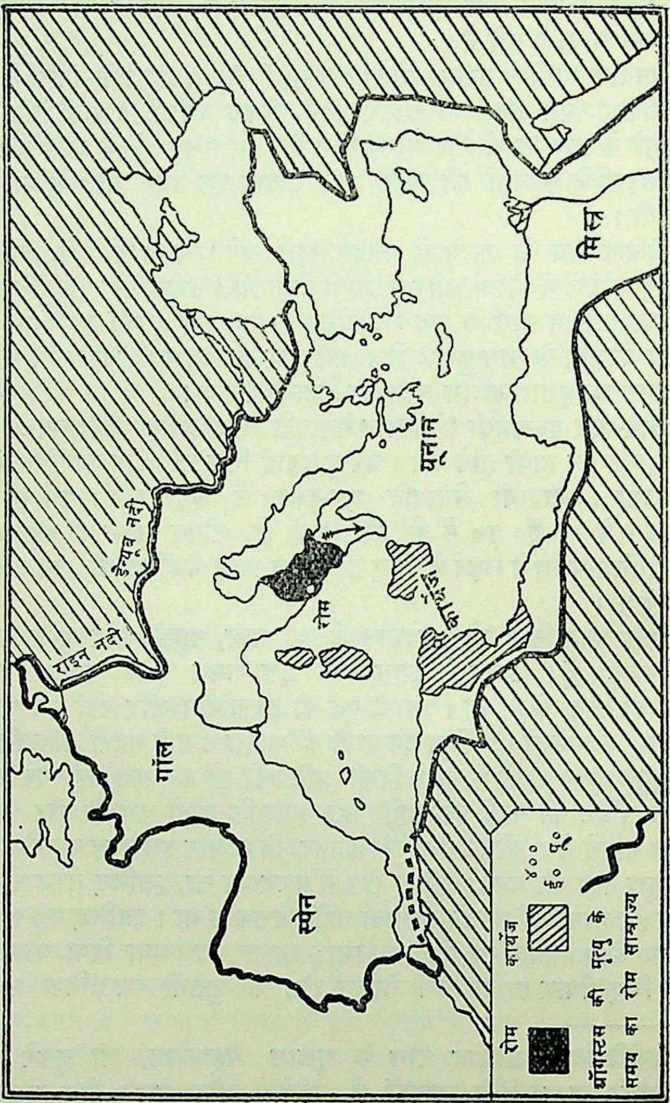

रोम एक साम्राज्य बन जाता है

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कारण उसे कुछ झिझक हुई। सचमुच, यह परम्परा उसके लिए इतनी मज़बूत साबित हुई कि ब्रूटस और दूसरे लोगों ने उसे फ़ोरम[1] की सीढ़ियों पर ही छुरे भोंककर मार डाला।

जुलियस सीज़र ४४ ई० पू० में मारा गया, लेकिन उसकी मौत रोम के गणराज्य को न बचा सकी। सीज़र के दत्तक-पुत्र आक्टेवियन ने, जो उसके भाई का पोता था, और मित्र मार्क एण्टनी ने, सीज़र की हत्या का बदला लिया। इसके बाद बादशाहत वापस आई और आक्टेवियन 'प्रिन्सेप्स' यानी राज्य का प्रमुख बना और गणराज्य ख़तम हो गया। सीनेट क़ायम रहा, लेकिन उसके हाथ में कोई वास्तविक सत्ता नहीं रह गई।

आक्टेवियन जब प्रिन्सेप्स या प्रमुख बना, तो उसने अपना नाम और पद आगस्टस सीज़र रखा। उसके बाद उसके सब उत्तराधिकारी सीज़र कहलाते रहे। वास्तव में 'सीज़र' शब्द का अर्थ ही 'सम्राट' हो गया।

रोमन राज्य के इस परिवर्त्तन काल में, जब गणराज्य बदलकर साम्राज्य बन रहा था, मिस्र में एक ऐसी स्त्री हुई, जो अपने सौंदर्य के लिए इतिहास में मशहूर होनेवाली थी। उसका नाम क्लियोपेट्रा था। उसका चरित्र बेदाग़ नहीं है, लेकिन वह उन इनी-गिनी स्त्रियों में से है, जिनके बारे में कहा जाता है कि उन्होंने अपनी ख़ूबसूरती से इतिहास का रुख़ ही बदल दिया। जब जूलियस सीज़र मिस्र गया था, तब यह निरी लड़की ही थी। बाद में मार्क एण्टनी से इसकी गहरी दोस्ती हो गई जिसका नतीजा अच्छा नहीं निकला। वास्तव में क्लियोपेट्रा ने उसके साथ दग़ा किया और एक समुद्री महायुद्ध के दौरान में वह उसे छोड़कर अपने जहाज़ों के साथ भाग गई।

अब हम रोम के इतिहास में एक बड़े मोड़ पर, गणराज्य के अन्त तक, पहुँच गये हैं। सन् २७ ई० में आक्टेवियन आगस्टस सीज़र की पदवी धारणकर प्रिन्सेप्स बना। रोम और उसके सम्राटों की इस कहानी की चर्चा हम आगे फिर करेंगे। तबतक हम गणराज्य के आख़िरी दिनों में रोम के मातहत राज्यों पर एक नज़र दौड़ालें।

रोम इटली पर तो राज करता ही था; पश्चिम में स्पेन और गॉल (फ़्रान्स) पर भी उसका क़ब्ज़ा था। पूर्व में यूनान और एशिया-कोचक, जहाँ परगामम नाम का यूनानी राज्य था, उसके क़ब्ज़े में थे। उत्तरी अफरीका में मिस्र रोम का मित्र और रक्षित राज्य समझा जाता था। कार्थेज और भूमध्यसागर के देशों के कुछ दूसरे हिस्से भी रोम के मातहत थे। इस तरह उत्तर में राइन नदी रोमन-साम्राज्य की सरहद थी। जर्मनी और रूस और उत्तरी और मध्य

---

[1] फ़ोरम—वह इमारत जिसमें सीनेट की बैठकें हुआ करती थीं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

योरप की सारी क़ौमें रोमन-साम्राज्य से बाहर थीं। ईराक़ के पूर्व का भी कोई देश उसके अधिकार में नहीं था।

: १६ :

दक्षिण भारत का उत्तर भारत पर छा जाना

अशोक की मृत्यु के बाद मौर्य साम्राज्य बहुत दिनों तक नहीं टिका। थोड़े ही वर्षों में वह ख़तम हो गया। उत्तर के सूबे उससे अलग हो गये और दक्षिण में आन्ध्र-वालों की एक नई हुकूमत पैदा हुई। अशोक के वंशज क़रीब पचास बरस तक अपने अस्त होते हुए साम्राज्य पर राज करते रहे। अन्त में पुष्यमित्र नाम के उनके एक ब्राह्मण सेनापति ने उनकी गद्दी छीन ली और खुद सम्राट् बन बैठा। कहते हैं, उसके ज़माने में ब्राह्मण-धर्म (हिन्दू-धर्म) का फिर से उत्थान हुआ। किसी हद तक बौद्ध भिक्षुओं पर अत्याचार भी हुए। लेकिन ब्राह्मण-धर्म ने बौद्ध-धर्म पर जिस तरीके से हमला किया वह कहीं अधिक युक्तिपूर्ण था। उसने उन्हें सताने जैसी कोई भोंडी गलती नहीं की। बौद्धों पर कुछ अत्याचार ज़रूर हुए; लेकिन इसका कारण बहुत करके राजनैतिक था, धार्मिक नहीं। बड़े-बड़े बौद्ध-संघ शक्तिशाली संगठन थे और बहुत-से शासक उनकी राजनैतिक शक्ति से डरते थे। इसलिए उन्होंने उनको कमज़ोर करने की कोशिश की। बौद्ध-धर्म को उसकी जन्मभूमि से निकाल बाहर करने में ब्राह्मण-धर्म आखिर कामयाब रहा। इसके लिए उसने कई बातें बौद्ध-धर्म से ले लीं और हज़म करलीं, और उसे अपने घर में स्थान देने की कोशिश भी की।

इस तरह नये ब्राह्मण-धर्म ने, न तो सिर्फ़ पुरानी बातों को ही फिर से लाने की कोशिश की, और न जो कुछ बौद्ध-धर्म ने किया था, उसको बिल्कुल मटियामेट ही किया। ब्राह्मण-धर्म के पुराने नेता बहुत चतुर थे। बहुत पुराने ज़माने से उनका यह तरीक़ा चला आया था कि वे दूसरे धर्म के आचार-विचारों को अपने में मिला लेते और उन्हें हज़म कर लेते थे। आर्य जब पहले-पहल भारत में आये, तब उन्होंने द्रविड़ों की संस्कृति और रस्म-रिवाजों को बहुत अंशों में अपना लिया और अपने सारे इतिहास में वे जान-बूझकर या बेजाने लगातार इसी नीति का पालन करते आये हैं। बौद्ध-धर्म के साथ भी उन्होंने यही किया और बुद्ध को एक अवतार बना दिया — बहुत से हिन्दू अवतारों में उन्हें भी एक स्थान दे दिया। इस तरह बुद्ध तो क़ायम रहे, लोग उनकी पूजा और भक्ति करते रहे; लेकिन उनके विशेष सन्देश को जनता के सामने से चुपचाप हटा दिया गया और ब्राह्मण-धर्म या हिन्दू-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धर्म कुछ छोटी-मोटी तब्दीलियों के बाद अपने मामूली ढर्रे पर फिर चलने लगा। बौद्ध-धर्म को हिन्दू-धर्म का जामा पहनाने की क्रिया बहुत दिनों तक चलती रही।

इस बीच में उत्तर और दक्षिण, दोनों हिस्सों में, महत्त्वपूर्ण घटनाएं घट रही थीं। उत्तर में मध्य एशिया की कई जातियाँ, जैसे बाख्त्री (बैक्ट्रियन), शक, सीदियन, तुर्क और कुशान बराबर हमले कर रही थीं। पुष्यमित्र के ज़माने में उत्तर-पश्चिम भारत पर बैक्ट्रिया के मिनांडर ने एक हमला किया था। मिनांडर बड़ा धर्मात्मा बौद्ध था। भारत की सरहद के उस पार बाख्त्री प्रदेश था। यह प्रान्त सेल्यूकस के साम्राज्य का एक हिस्सा था, लेकिन बाद में स्वतंत्र हो गया था। मिनांडर का हमला नाकामयाब कर दिया गया,लेकिन काबुल और सिन्ध पर उसने कब्ज़ा कर लिया।

इसके बाद शक लोगों का हमला हुआ, जो इस देश में बहुत बड़ी तादाद में आये और उत्तर और पश्चिम भारत में फैल गये। यह तुर्की खानाबदोशों का एक बड़ा कबीला था। कुशान नाम के एक दूसरे बड़े कबीले ने उन्हें अपनी उपजाऊ भमि से मार भगाया था। वहाँ से वे लोग बाख्त्री और पार्थव को रौंदते हुए धीरे-धीरे उत्तरी भारत में, खासकर पंजाब, राजपूताना और काठियावाड़ में, जम गये। भारत ने उन्हें सभ्य बनाया, और उन लोगों ने अपनी घुमक्कड़पन की आदतें छोड़ दीं।

यह एक दिलचस्प बात है कि इन बाख्त्री और तुर्की शासकों का भारतीय आर्य-वर्ग के सामाजिक जीवन पर कुछ ख़ास असर नहीं पड़ा। ख़ुद बौद्ध होने के कारण इन शासकों ने बौद्ध-धर्म-संगठन का अनुकरण किया, जो ख़ुद आर्यों के पुराने ग्राम-संघों की तरह लोकतंत्री था। इस तरह इन शासकों की हुकूमत में भी भारत केन्द्रीय-शासन के मातहत ग्रामीण-गणराज्यों का एक समूह-सा बना रहा। इस ज़माने में भी तक्षशिला और मथुरा बौद्ध शिक्षा के केन्द्र रहे, जहाँ चीन और पश्चिम एशिया से विद्यार्थी आते रहते थे।

लेकिन उत्तर-पश्चिम से लगातार हमलों का, और मौर्य-राज्य का संगठन धीरे-धीरे टूट जाने का, एक असर ज़रूर हुआ। दक्षिण-भारतीय राज्य पुरानी भारतीय-आर्य प्रणाली के ज्यादा सच्चे प्रतिनिधि बन गये। इस तरह भारतीय-आर्य शक्ति का केन्द्र हटकर दक्षिण पहुँच गया। इन हमलों के कारण शायद बहुत-से विद्वान दक्षिण जा बसे। एक हज़ार साल बाद जब मुसलमानों ने भारत पर हमला किया, उस समय फिर यही बात हुई। आज भी दक्षिण-भारत पर विदेशी हमलों और सम्पर्क का उत्तर-भारत के मुक़ाबले बहुत कम असर पड़ा है। उत्तर-भारत के ज्यादातर निवासी एक ऐसी मिली-जुली संस्कृति में पले हैं जो हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों का मेल है और जिसमें पश्चिम की भी कुछ पुट लग गई है। हमारी भाषा भी, जिसे तुम हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी चाहे जो कहो, एक मिली-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जुली भाषा है। लेकिन दक्षिण के ज्यादातर निवासी आज भी कट्टर हिन्दू हैं।

जब मगध का पतन हुआ तो सिर्फ़ विद्वान ही नहीं, बल्कि कलाकार, शिल्पकार, कारीगर, और दस्तकार लोग भी दक्षिण चले गये। योरप और दक्षिण भारत के बीच काफ़ी व्यापार चलता था। मोती, हाथीदांत, सोना, चावल, काली मिर्च, मोर और बन्दर तक बाबुल, मिस्र और यूनान, और बाद को रोम, भेजे जाया करते थे। इसके भी बहुत पहले सागवन की लकड़ी मलाबार के किनारे से ख़ाल्दिया और बाबुल जाती थी। और यह सब व्यापार, या उसका ज्यादातर हिस्सा, भारतीय जहाज़ों के ज़रिये, जिन्हें द्रविड़ लोग खेते थे, हुआ करता था। इससे तुम्हें पता चल सकता है कि पुरानी दुनिया में दक्षिण भारत कितनी ऊँची स्थिति पर पहुँचा हुआ था। दक्षिण में रोमन सिक्के काफ़ी तादाद में मिले हैं, और जैसाकि मैं तुम्हें पहले बता चुका हूँ, मलाबार के समुद्री किनारे पर सिकन्दरिया-निवासियों की बस्तियाँ थीं, और सिकन्दरिया में भारतीयों की।

अशोक के मरने के बाद-ही दक्षिण का आन्ध्र देश स्वतंत्र हो गया। जैसाकि शायद तुम जानती हो, आन्ध्र भारत के पूर्वी समुद्र तट पर मद्रास के उत्तर में है। तेलगू आन्ध्र-देश की भाषा है। आन्ध्र की हुकूमत अशोक के बाद तेज़ी से बढ़ती गई और दक्षिण में समुद्र के एक तट से दूसरे तट तक फैल गई।

मैं ऊपर शक और सीदियन और दूसरी जातियों का ज़िक्र कर आया हूँ जिन्होंने भारत पर हमले किये और जो उत्तर में बस गईं। ये लोग भारत के अंग बन गये, और उत्तरी भारत में रहनेवाले हम लोग उनके भी उतने-ही वंशज हैं जितने कि आर्यों के। ख़ासकर बहादुर और सुडौल राजपूत और कठियावाड़ के मज़बूत लोग तो उन्हींके वंशज हैं।

: १७ :

कुशानों का सरहदी साम्राज्य

शकों को कुशानों ने आगे ढकेल दिया था और कुछ दिन बाद कुशान ख़ुद ही मैदान में आगये। ईसा के एक सदी पहले इन लोगों ने भारत की सरहद पर एक राज्य क़ायम किया और यही राज्य बढ़ते-बढ़ते एक बड़ा साम्राज्य हो गया। यह कुशान साम्राज्य दक्षिण में बनारस और विन्ध्याचल तक, उत्तर में काशग़र, यारक़ंद और ख़ुतन तक, और पश्चिम में पार्थव और ईरान की सरहद तक फैला हुआ था। इस तरह उत्तर प्रदेश, पंजाब और काश्मीर समेत सारे उत्तर भारत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर और मध्य-एशिया के एक काफ़ी बड़े हिस्से पर कुशानों का शासन था। क़रीब तीन सौ वर्ष तक, ठीक उन्हीं दिनों जबकि आन्ध्र-राज्य दक्षिण भारत में फूल-फल रहा था, यह साम्राज्य क़ायम रहा। मालूम होता है कि पहले तो कुशानों की राजधानी काबुल थी, लेकिन बाद में बदलकर पेशावर हो गई थी, जो उस वक्त पुरुषपुर कहलाता था, और आखिर तक वहीं क़ायम रही।

इस कुशान-साम्राज्य की कई बातें बड़ी दिलचस्प हैं। यह बौद्धों का साम्राज्य था और उसके मशहूर शासकों में से एक——सम्राट कनिष्क——बौद्ध-धर्म का बड़ा भक्त था। राजधानी पेशावर के पास तक्षशिला थी, जो बहुत पहले से बौद्ध-संस्कृति का केन्द्र थी। मैं शायद बता चुका हूँ कि कुशान लोग मंगोलिया या उससे सम्बन्धित जाति के थे। कुशान राजधानी से मंगोलिया के वतन को लोगों का आना-जाना बराबर होता रहा होगा, और यहीं से बौद्ध-शिक्षा और बौद्ध-संस्कृति चीन और मंगोलिया गई होगी। इसी तरह पश्चिमी एशिया का भी बौद्ध विचारों से गहरा सम्पर्क हुआ होगा। सिकन्दर के जमाने से ही पश्चिमी एशिया यूनानियों की हुकूमत में था और बहुत-से यूनानी अपने साथ अपनी संस्कृति यहाँ लाये थे। यूनानियों की यह एशियाई संस्कृति अब भारत की बौद्ध-संस्कृति से मिल-जुल गई।

इस तरह चीन और पश्चिमी एशिया पर भारत का असर पड़ा। लेकिन इसी तरह भारत पर भी इन देशों का असर पड़ा। पश्चिम में यूनानी-रोमन दुनिया पूर्व में चीनी दुनिया, दक्षिण में भारतीय दुनिया से घिरा हुआ कुशान साम्राज्य एशिया की पीठ पर एक देव की तरह सवारी गांठे बैठा था। भारत और रोम, तथा भारत और चीन, दोनों के बीच यह आधे रास्ते की मंज़िल बना हुआ था।

अपनी इस बीच की स्थिति के कारण इस साम्राज्य ने भारत और रोम के बीच गहरा आपसी सम्बन्ध पैदा करने में बहुत मदद पहुँचाई। कहा जाता है कि कुशान सम्राट ने आगस्टस सीज़र के यहाँ बड़ा भारी एलची-मंडल भेजा था। इन दोनों देशों में ख़ुश्की और समुद्री रास्ते ख़ूब व्यापार हुआ करता था। भारत से रोम को इत्र, मसाले, रेशम, गुलबदन, मलमल, ज़री के पकड़े और जवाहरात भेजे जाते थे।

इस ज़माने में बौद्ध-विहारों में और बौद्ध-संघों की सभाओं में बड़े-बड़े वाद-विवाद और शास्त्रार्थ हुआ करते थे। दक्षिण और पश्चिम से नये विचार या नई पोशाक में पुराने विचार आते रहते थे और बौद्ध उपदेशों की सादगी के ऊपर इनका धीरे-धीरे असर पड़ रहा था। परिवर्त्तन का यह सिलसिला यहाँतक पहुँच गया कि इसके फलस्वरूप बौद्ध-धर्म दो सम्प्रदायों—'महायान' और 'हीनयान'——में बँट गया।

बौद्ध-धर्म जात-पात, पुरोहिताई और कर्मकाण्ड के ख़िलाफ़ एक विद्रोह था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गौतम बुद्ध मूर्तिपूजा को नहीं मानते थे; उनका यह दावा नहीं था कि वह ईश्वर हैं और उनकी पूजा की जाय। वह तो केवल बुद्ध[1] थे। इस विचारधारा के मुताबिक उस ज़माने में बुद्ध की मूर्तियाँ नहीं होती थीं, और उस वक्त की इमारतों में किसी तरह की मूर्तियाँ नहीं बनाई जाती थीं। लेकिन ब्राह्मण लोग हिन्दू-धर्म और बौद्ध-धर्म के बीच का अन्तर मिटाना चाहते थे, और बौद्ध उपदेशों में हिन्दू विचार और प्रतीक दाख़िल करने की बराबर कोशिश करते रहते थे। उधर यूनान और रोम के कारीगर भी देवताओं की मूर्तियाँ बनाने के आदी थे। इसलिए धीरे-धीरे बौद्ध-मन्दिरों में मूर्तियों का दाख़ला हो गया। शुरू में जो मूर्तियाँ बनीं, वे बुद्ध की नहीं बल्कि बोधिसत्वों की थीं, जो बौद्ध जातक-कथाओं के अनुसार बुद्ध के पूर्व-अवतार माने जाते हैं। यह सिलसिला जारी रहा, यहाँ तक कि आख़िर बुद्ध की मूर्ति भी बनाली गई और उसकी पूजा होने लगी।

किसी जाति की कला वह शीशा है, जिसमें उसके भावों की सच्ची छाया दिखाई देती है। इसलिए जब शुरू के बौद्ध-विचारों की सरलता की जगह जटिल प्रतीकों ने ले ली, तब भारतीय कला भी ज्यादा जटिल और अलंकारपूर्ण होती गई। खास-तौर से उत्तर-पश्चिम में गांधार की महायान मूर्तिकला में मूर्तियों और अलंकारों की भरमार हो गई। हीनयान शिल्प भी इस नई हवा से अछूता न बचा। वह धीरे-धीरे अपनी प्रारम्भिक ढंग की सादगी और संयम खो बैठा, और उसमें अलंकारपूर्ण खुदाई और प्रतीकों ने घर कर लिया।

उस ज़माने की कुछ यादगारें आज भी मिलती हैं। अजन्ता की गुफाओं की दीवारों पर बनी हुई सुन्दर तस्वीरें उनमें सबसे ज्यादा दिलचस्प हैं।

अब हम कुशानों से विदा लेते हैं। लेकिन एक बात याद रखना। शक और दूसरी तुर्की जातियों की तरह कुशानों का भारत में आना या उस पर राज्य करना ऐसा नहीं था जैसे कोई विदेशी एक हारे हुए मुल्क पर हुकूमत कर रहे हों। ये लोग भारत से, और भारत की जनता से, धर्म के बन्धन में बंधे हुए थे। इसके अलावा उन्होंने भारत के आर्यों की शासन-प्रणाली को भी अपना लिया था। और चूँकि उन लोगों ने अपने को बहुत हद तक आर्य-प्रणाली के अनुकूल बना लिया था, इसलिए वे तीन सौ वर्षों तक उत्तर-भारत पर हुकूमत करने में सफल हुए।

---

[1]बुद्ध का अर्थ है जागा हुआ, यानी जिसे ज्ञान प्राप्त हो गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: १८ :

ईसा और ईसाई धर्म

ईसा, या यीशु की कथा इंजील के नये अहदनामे (टेस्टामेंट) में दी हुई है और तुम्हें उसके बारे में कुछ मालूम भी है। ईसा की इन जीवन-कथाओं में दिये हुए विवरणों में उनकी जवानी के दिनों का कोई हाल नहीं दिया गया है। वह नाज़रत में पैदा हुए, गैलिली में उन्होंने प्रचार किया और तीस वर्ष से ज्यादा की उम्र में वह यरूशलम आये। इसके थोड़े-ही दिन बाद रोमन गवर्नर पॉण्टियस पाइलेट के सामने उन पर मुक़दमा चला और उसने इनको सज़ा दी। यह साफ़ नहीं मालूम होता कि अपना प्रचार शुरू करने के पहले ईसा क्या करते थे या कहाँ गये थे। मध्य-एशिया भर में, काश्मीर में, लद्दाख में और तिब्बत में और इससे और भी उत्तर के देशों में अभीतक लोगों का यह पक्का विश्वास है कि ईसा इन देशों में घूमे थे। कुछ लोगों का यह विश्वास है कि वह भारत भी आये थे। निश्चित तौर पर कुछ कहा नहीं जा सकता, लेकिन जिन विद्वानों ने ईसा की जीवनी का अध्ययन किया है, वे यह नहीं मानते कि ईसा भारत या मध्य-एशिया में आये थे। लेकिन अगर आये हों तो यह कोई नामुमकिन बात भी नहीं कही जा सकती। उस ज़माने में भारत के बड़े-बड़े विश्वविद्यालय, खासकर उत्तर-पश्चिम में तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालय, ऐसे थे कि दूर-दूर देशों के उत्साही विद्यार्थी खिंचकर यहाँ आते थे, और मुमकिन है कि ईसा भी ज्ञान की तलाश में यहाँ आये हों। बहुत-सी बातों में ईसा के सिद्धान्त गौतम के सिद्धान्तों से इतने ज्यादा मिलते-जुलते हैं कि यह बहुत मुमकिन मालूम होता है कि ईसा को गौतम के विचारों से पूरी-पूरी जानकारी थी। लेकिन बौद्ध-धर्म दूसरे मुल्कों में काफ़ी प्रचलित था, और इसलिए ईसा भारत आये बिना भी उसके बारे में अच्छी तरह से जान सकते थे।

ईसा यहूदी थे। यहूदी क़ौम एक अजीब और आश्चर्यजनक रूप से उद्यमी क़ौम थी और अब भी है। दाऊद और सुलेमान के ज़माने में कुछ समय के वैभव के बाद उनके बुरे दिन आये। यह वैभव भी था तो बहुत छोटी मात्रा में, लेकिन अपनी कल्पना में उन्होंने उसे यहाँतक बढ़ा-चढ़ा दिया कि उनके लिए वह अतीत का एक सुवर्णयुग बन गया, और वे विश्वास करने लगे कि वह युग एक निश्चित समय पर फिर लौटेगा, और उस समय यहूदी क़ौम फिर महान् और ताक़तवर हो जायगी। वे लोग रोमन-साम्राज्य भर में और दूसरे मुल्कों में फैल गये, लेकिन अपने इस पक्के विश्वास के कारण कि उनके वैभव के दिन आनेवाले हैं, और एक मसीहा उन्हें वह दिन दिखायेगा, वे आपस में मज़बूती से बंधे रहे। बेघरबार और आश्रय-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हीन, बेहद अत्याचार पीड़ित और सन्तप्त, और अक्सर मौत का शिकार बनाये जानेवाले यहूदियों ने दो हजार वर्ष से ज्यादा तक अपना अस्तित्व किस तरह बचाये रखा, और सबने मिलकर किस तरह मुसीबतों का सामना किया, यह इतिहास की एक आश्चर्यजनक घटना है।

यहूदी एक मसीहा का इन्तज़ार कर रहे थे, और शायद ईसा से उन्हें इसी तरह की उम्मीदें थीं। लेकिन बहुत जल्द उनकी उम्मीदों पर पानी फिर गया, क्योंकि ईसा चालू तरीक़ों और सामाजिक व्यवस्था के ख़िलाफ़ बग़ावत की बिल्कुल नई बातें करते थे। ख़ास तौर से वह अमीरों और उन पाखंडियों के ख़िलाफ़ थे, जिन्होंने ख़ास तरह की पूजा-पाठ और व्रतों को ही धर्म बना रखा था। धन-दौलत और कीर्त्ति की आशा दिलाने के बजाय, वह एक अस्पष्ट और काल्पनिक स्वर्गीय-राज्य की खातिर लोगों से अपने घर की पूँजी तक भी त्याग देने को कहते थे। उनकी बातें रूपकों और कहानियों के तौर पर होती थीं, लेकिन यह बिल्कुल स्पष्ट है कि वह जन्म से ही विद्रोही थे, और ज़माने की हालत को सह नहीं सकते थे और उसे बदलने पर तुले हुए थे। यह वह बात न थी जो यहूदी चाहते थे। इसलिए उनमें से बहुत-से लोग उनके ख़िलाफ़ हो गये और उनको पकड़कर रोमन अधिकारियों के सुपुर्द कर दिया।

मज़हबी मामलों में रोमन लोग असहनशील नहीं थे, क्योंकि साम्राज्य में सब मज़हबों को बर्दाश्त किया जाता था; यहाँतक कि अगर कोई किसी देवी-देवता को बुरा कहता या गाली देता, तो उसे सज़ा दी जाती थी। इसलिए जब रोमन गवर्नर पॉण्टियस पाइलेट के सामने ईसा पेश किये गये, तो इस मामले के मज़हबी पहलू की उसे ज़रा भी चिन्ता न हुई होगी। ईसा को लोग एक राजनैतिक विद्रोही, और यहूदी लोग सामाजिक विद्रोही समझते थे, और यही जुर्म लगाकर उन पर मुक़दमा चलाया गया, और सज़ा दी गई, और गोलगोथा नामक जगह पर उन्हें सूली पर लटका दिया गया। यातना की इस घड़ी में उनके चुने हुए शिष्यों तक ने उन्हें छोड़ दिया और इस बात से भी इन्कार कर दिया कि वह उनके गु थे। इस विश्वासघात से उन्होंने ईसा की पीड़ा को इतनी असह्य बना दिया कि मरने से पहले उनके मुँह से दिल को अजीब तौर पर हिला देनेवाले ये शब्द निकल पड़े :

"मेरे ईश्वर! मेरे ईश्वर! तू ने मुझे क्यों त्याग दिया है?"

मृत्यु के समय ईसा जवान ही थे; उनकी उमर तीस वर्ष से कुछ-ही ज्यादा थी। जब हम इंजील की सुन्दर भाषा में उनकी मौत की करुण-कहानी पढ़ते हैं तो हमारा दिल पसीज जाता है। बाद के युगों में ईसाई-धर्म की जो तरक्क़ी हुई उसने करोड़ों के मन में ईसा के नाम के प्रति श्रद्धा पैदा कर दी; हालाँकि उन लोगों ने उनके उपदेशों पर बहुत कम अमल किया है। लेकिन यह याद रखना चाहिए

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कि जब वह सूली पर चढ़ाये गये थे, तब उनका नाम फ़िलस्तीन से बाहर के लोग ज्यादा नहीं जानते थे।

ईसा के नज़दीकी अनुयायियों और शिष्यों ने डर के मारे उन्हें अपना कहने से भी इन्कार कर दिया था, लेकिन ईसा की मृत्यु के कुछ-ही दिन बाद पॉल नाम के एक नये अनुयायी ने, जिसने ईसा को ख़ुद नहीं देखा था, अपनी समझ के मुताबिक़ ईसाई-सिद्धान्तों का प्रचार करना शुरू कर दिया। बहुत-से लोगों का ख़याल है कि जिस ईसाई-धर्म का पॉल ने प्रचार किया, वह ईसा के उपदेशों से बहुत भिन्न है। पॉल एक योग्य और विद्वान आदमी था, लेकिन वह ईसा की तरह सामाजिक विद्रोही नहीं था। बहरहाल पॉल कामयाब हुआ, और ईसाई-मत धीरे-धीरे फैलने लगा। रोमन लोगों ने शुरू में इसे कोई महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने समझा कि ईसाई भी यहूदियों की ही एक कोई शाखा होंगे। लेकिन ईसाइयों की जुर्रत बढ़ने लगी, वे दूसरे तमाम धर्मों के कट्टर विरोधी बन गये, और उन्होंने सम्राट की मूर्ति की पूजा करने से बिल्कुल इन्कार कर दिया। रोमन लोग उनकी इस मनोवृत्ति को और उनकी निगाह में ईसाइयों की तंग-ख़याली को, समझ नहीं सके। इसलिए वे ईसाइयों को सनकी, लड़ाकू, असभ्य और इन्सानी तरक्क़ी का विरोधी समझने लगे। ईसाइयत को वे लोग शायद एक धर्म की हैसियत से बरदाश्त करने को तैयार हो जाते, लेकिन सम्राट की मूर्ति के सामने सर झुकाने से उनका इन्कार करना राजद्रोह समझा गया, और उसकी सज़ा मौत क़रार दी गई। ईसाई लोग आदमी और जानवर की कुश्तियों की भी कड़ी आलोचना करते थे। इसका नतीजा यह हुआ कि ईसाई सताये जाने लगे। उनकी जायदादें ज़ब्त की जाने लगीं, और उन्हें शेरों का भोजन बनाया जाने लगा। लेकिन जब कोई आदमी किसी उसूल के लिए मरने को तैयार हो जाता है, और ऐसी मौत में दर-असल गौरव महसूस करने लगता है, तो उसे या उसके उसूल को दबाना नामुमकिन होता है। चुनाँचे, रोमन-साम्राज्य ईसाई धर्म को दबाने में बिल्कुल नाकामयाब रहा। उल्टे इस लड़ाई में ईसाई-धर्म की जीत हुई और ईसा की चौथी सदी के शुरू में एक रोमन सम्राट ख़ुद ईसाई हो गया और ईसाई धर्म रोमन-साम्राज्य का राज-धर्म बन गया। इस सम्राट का नाम कान्स्टेण्टाइन था जिसने कुस्तुन्तुनिया नगर बसाया। इसका ज़िक्र हम बाद में करेंगे।

ज्यों-ज्यों ईसाई-धर्म फैला, त्यों-त्यों ईसा के देवत्व के बारे में ज़बर्दस्त लड़ाई-झगड़े पैदा हो गये। गौतम बुद्ध ने कभी देवत्व का दावा नहीं किया था, लेकिन फिर भी वह एक देवता और अवतार की तरह पूजे जाने लगे। इसी तरह ईसा ने भी ख़ुदाई का कोई दावा नहीं किया था। ईसा ने जो बार-बार कहा है कि वह ईश्वर के पुत्र और मनुष्य के पुत्र हैं, उसका लाज़िमी अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने ख़ुदाई का, या मनुष्यों से ऊपर होने का दावा किया था। लेकिन अपने महान् पुरुषों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को देवता का रूप दे देना और देवता के आसन पर बिठाने के बाद उनके उपदेशों को छोड़ देना, मनुष्य जाति को ज्यादा पसन्द है। छः सौ साल बाद पैग़म्बर मुहम्मद ने एक और बड़ा मज़हब चलाया, लेकिन शायद इन उदाहरणों से फ़ायदा उठाकर उन्होंने साफ़-साफ़ और बार-बार यह कहा कि वह आदमी हैं, ख़ुदा नहीं।

इस तरह ईसा के उपदेशों को समझने और उनपर अमल करने के बजाय, ईसाई लोग ईसा के देवत्व और ईसाई त्रिपुटी[1] के रूप के बारे में तर्क-वितर्क और झगड़े करने लगे। वे एक-दूसरे को काफ़िर कहने लगे, एक-दूसरे पर अत्याचार करने लगे और एक-दूसरे का गला काटने लगे।

ज्यों-ज्यों ईसाई-संघ की ताक़त बढ़ती गई, त्यों-त्यों ये घरेलू झगड़े बढ़ते गये। ईसाई धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों में इसी तरह के कुछ झगड़े पश्चिमी देशों में कुछ अरसे पहले तक होते रहे हैं।

इंग्लैण्ड में, या पश्चिमी योरप में पहुँचने के बहुत पहले, और उस वक्त जबकि रोम तक में वह तुच्छ और वर्जित सम्प्रदाय समझा जाता था, ईसाई धर्म भारत में आ पहुँचा था। ईसा के मरने के कोई सौ साल के भीतर ही ईसाई धर्म-प्रचारक समुद्र के रास्ते दक्षिण भारत आये थे। उनके साथ शिष्टाचार का बर्त्ताव किया और उन्हें अपने नये मज़हब के प्रचार करने की छूट दे दी गई। उन्होंने बहुत-से लोगों को अपने मत का अनुयायी बनाया और ये लोग तब से आजतक दक्षिण भारत में सब तरह के दिन गुज़ारते हुए रहते आये हैं। उनमें से बहुत लोग ईसाई-धर्म के पुराने सम्प्रदायों के अनुयायी हैं, जिनकी अब योरप में हस्ती तक नहीं है। आजकल इनमें से कुछ के सदर-मुकाम एशिया-कोचक में हैं।

: १६ :

रोमन-साम्राज्य

अब हमें फिर रोम लौट चलना चाहिए, जिसे पुरानी संस्कृत पुस्तकों में 'रोमक' कहा गया है। जुलियस सीज़र का गोद लिया हुआ लड़का आक्टेवियन आगस्टस सीज़र के नाम से पहला बादशाह बन चुका था। वह अपने को बादशाह नहीं कहता था। इसकी वजह कुछ तो यह थी कि वह बादशाह की उपाधि को अपने रुतबे की शान के क़ाबिल नहीं समझता था, और दूसरे वह गणराज्य के ऊपरी

---

[1]ईसाई त्रिपुटी (Christian Trinity)—पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा (The Father, the Son and the Holy Ghost)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ढंगों को जारी रखना चाहता था। इसलिए उसने अपना खिताब 'इम्परेटर' यानी हुक्म देनेवाला, रखा था। इस तरह 'इम्परेटर' का खिताब सबसे ऊँचा समझा जाने लगा। अंग्रेज़ी का 'इम्परर' शब्द इसीसे निकला है। इस तरह रोम के पुराने साम्राज्य ने दो शब्द ऐसे दिये, जिनकी लालसा और जिनका उपयोग क़रीब-क़रीब सारी दुनिया के बादशाह बहुत दिनों तक करते रहे। ये दो शब्द हैं—'इम्परर' और 'सीज़र' या 'क़ैसर' या 'ज़ार'। रोम को 'संसार की स्वामिनी' कहा जाता था, और पश्चिम के लोग समझते थे कि सारी दुनिया रोम की छाया में बसती है। उस समय उसका बड़ा भारी दबदबा था।

साम्राज्य ईसाई सन् की शुरूआत में आगस्टस सीज़र के साथ शुरू होता है। कुछ दिनों तक सम्राट लोग सीनेट की इज्ज़त करते रहे; लेकिन बहुत जल्द गण-राज्य के लगभग आख़िरी निशान भी मिट गये। सम्राट ने सारी शक्ति अपने हाथ में ले ली, और वह पूरी तरह एक निरंकुश शासन बन गया जिसे लोग देवता की तरह मानने लगे। ज़िन्दगी में तो वह आधे-देवता की तरह पूजा जाता था, और मरने के बाद वह पूरा देवता बना दिया जाता था।

सम्राट-के-बाद-सम्राट गद्दी पर बैठता गया। इनमें कोई बुरा था तो कोई बहुत-ही बुरा था। धीरे-धीरे सारी ताक़त फ़ौज़ के हाथ में आगई और वह अपनी मरज़ी के मुताबिक़ सम्राटों को बनाने-बिगाड़ने लगी। हालत यहाँतक बिगड़ी कि फ़ौज की कृपा प्राप्त करने के लिए होड़ होने लगी और उसे रिश्वत देने के लिए जनता या हराये हुए देशों से ज़बरदस्ती रुपया वसूल किया जाने लगा। आमदनी का एक बहुत बड़ा वसीला ग़ुलामों का व्यापार था, और रोम की फ़ौजें पूर्व में बाक़ा-यदा ग़ुलामों को पकड़ने जाया करती थीं। फ़ौज के साथ ग़ुलामों के व्यापारी भी जाते थे, ताकि मौक़े पर ग़ुलामों को खरीद सकें। डेलोस का टापू, जिसे प्राचीन यूनानी लोग पवित्र मानते थे, ग़ुलामों का एक बड़ा बाजार बन गया और कभी-कभी तो यहाँ दस हज़ार ग़ुलाम दिन भर में बिक जाते थे! रोम के विशाल कोलोज़ियम[1] में एक लोकप्रिय सम्राट बारह-बारह सौ ग्लेडियेटरों का एक साथ प्रदर्शन किया करता था। इन अभागे ग़ुलामों का काम था सम्राट और उसकी प्रजा के मनोरंजन के लिए मरना।

धीरे-धीरे रोमन लोग इतने आलसी या दूसरी बातों में इतने अयोग्य हो गये कि ख़ुद अपनी फ़ौजों में भरती होकर लड़ने की ताक़त भी उनमें न रही। गाँव के किसान अपने ऊपर लदे हुए बोझों की वजह से ज्यादा ग़रीब होते गये और यही हाल शहर के लोगों का भी हुआ। लेकिन सम्राट शहर के लोगों को ख़ुश रखना

---

[1]कोलोज़ियम—रोम का बहुत बड़ा अखाड़ा जो उस समय दुनिया में सबसे बड़ा माना जाता था। इसके खंडहर अबतक मौजूद हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

चाहते थे ताकि वे कोई झगड़ा-बखेड़ा न खड़ा करें। इसके लिए रोम के लोगों को मुफ्त रोटियाँ दी जाती थीं, और उनके मनोरंजन के लिए सरकसों में खेल-तमाशे भी मुफ्त में दिखाये जाते थे। इस तरह उनका मिज़ाज खुश रखा जाता था। लेकिन ये मुफ्त की रोटियाँ सिर्फ चन्द जगहों में ही बाँटी जा सकती थीं, और इसके लिए भी मिस्र वग़ैरा दूसरे मुल्कों में ग़ुलामों को बेहद तबाही और मुसीबत उठानी पड़ती थी, क्योंकि उनसे मुफ्त का आटा वसूल किया जाता था।

चूँकि रोमन लोग आसानी से फ़ौज में भरती नहीं होते थे, इसलिए साम्राज्य के बाहर के लोग, जिन्हें 'बर्बर' कहा जाता था, सेना में भरती किये जाते थे। इस तरह रोम की सेनाओं में ज्यादातर वे लोग भर गये जो रोम के 'बर्बर' दुश्मनों के साथी या रिश्तेदार थे। सरहदों पर ये 'बर्बर' जातियाँ बराबर रोमनों को दबाती और घेरती जाती थीं। ज्यों-ज्यों रोम कमज़ोर होता गया, 'बर्बर' लोग ज्यादा ताक़तवर और उद्दण्ड होते नज़र आने लगे। पूर्व की तरफ़ से ख़ास खतरा था। और चूँकि यह सरहद रोम से दूर थी, इसलिए इसकी रक्षा करना आसान नहीं था। आगस्टस सीज़र के तीन सौ वर्ष बाद, कान्स्टेण्टाइन नाम के एक सम्राट ने एक ऐसा महत्त्वपूर्ण क़दम उठाया, जिसका आगे चलकर बहुत-ही व्यापक नतीजा निकला। वह साम्राज्य की राजधानी रोम से हटाकर पूर्व ले गया। काला-सागर और भूमध्य-सागर के बीच, दर्रे दानियाल के किनारे पर बसे हुए बाईज़ैण्टियम नाम के पुराने शहर के पास उसने एक नया शहर बसाया, जिसका नाम उसने अपने नाम पर कान्स्टेण्टिनोपुल (क़ुस्तुन्तुनिया) रखा। क़ुस्तुन्तुनिया, जिसे नया रोम भी कहते थे, रोमन-साम्राज्य की राजधानी बन गया। आज भी एशिया के कई हिस्सों में क़ुस्तुन्तुनिया को रूम कहते हैं।

: २० :

रोमन-साम्राज्य का छाया-मात्र रह जाना

ईसवी सन् की चौथी सदी के शुरू में, यानी सन् ३२६ ई० में, कान्स्टेण्टाइन ने पुराने बाईज़ैण्टियम के नज़दीक क़ुस्तुन्तुनिया शहर बसाया और वह अपने साम्राज्य की राजधानी पुराने रोम से बहुत दूर दर्रे दानियाल के किनारे पर बसे हुए इस नये रोम को ले आया। नक़्शे पर क़ुस्तुन्तुनिया का यह नया शहर योरप के किनारे खड़ा महान् शक्तिशाली एशिया की ओर झांक रहा है। यह दो महाद्वीपों को जोड़नेवाली एक कड़ी के समान है। ख़ुश्की के और समुद्र के बहुत-से बड़े-बड़े तिजारती रास्ते इसीसे होकर गुज़रते थे। राजधानी या नगर के लिए यह बहुत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अच्छे मौक़े की जगह है। कान्स्टेन्टाइन ने चुनाव तो अच्छा किया, लेकिन इस राजधानी के परिवर्तन की उसे तथा उसके वारिसों को काफ़ी क़ीमत चुकानी पड़ी। जिस तरह पुराना रोम एशिया-कोचक तथा पूर्वी हिस्सों से काफ़ी दूर पड़ता था, उसी तरह यह नई पूर्वी राजधानी भी ब्रिटेन और गॉल जैसे पश्चिमी देशों से बहुत दूर पड़ती थी।

इस कठिनाई को दूर करने के लिए कुछ समय तक दो संयुक्त सम्राट हुआ करते थे; एक रोम में रहता था और दूसरा क़ुस्तुन्तुनिया में। इसका नतीजा यह हुआ कि साम्राज्य के दो हिस्से हो गये ––एक पश्चिमी और दूसरा पूर्वी। लेकिन पश्चिमी साम्राज्य, जिसकी राजधानी रोम थी, बहुत दिनों तक इस धक्के को बरदाश्त न कर सका। जिन लोगों को वह 'बर्बर' कहता था, उनसे वह अपनी रक्षा न कर सका। गोथ नाम का एक जर्मन क़बीला आया और उसने रोम को लूट लिया। इसके बाद वाण्डाल और हूण आये और पश्चिमी साम्राज्य ढह गया।

इस तरह रोम का पश्चिमी साम्राज्य नष्ट हो गया। कुछ सदियों के बाद यह फिर दूसरी शक्ल में उठा। पूर्वी साम्राज्य किसी तरह क़ायम रहा; हालांकि हूण और दूसरी क़ौमों के हमलों का मुक़ाबला करने में इसे बहुत मुश्किलें उठानी पड़ीं। इन हमलों से अपनी रक्षा करने के अलावा अरबों, और बाद को तुर्कों, से बराबर लड़ाइयाँ लड़ते हुए भी यह साम्राज्य सदियों तक चलता रहा। ग्यारह सौ वर्षों के आश्चर्यजनक अरसे तक यह बचा रहा। आखिरकार सन् १४५३ ई० में इसका पतन हो गया और क़ुस्तुन्तुनिया पर उस्मानिया-तुर्कों ने क़ब्ज़ा कर लिया। उस वक्त से आज तक, क़रीब पाँच सौ वर्षों से, क़ुस्तुन्तुनिया या इस्तम्बूल तुर्कों के क़ब्ज़े में है। यहाँ से तुर्कों ने योरप पर बार-बार धावे किये और वे ठेठ वियेना की दीवारों तक जा पहुँचे।

कान्स्टेण्टाइन ने एक नई बात और भी की। वह ईसाई हो गया, और चूंकि वह सम्राट था, इसलिए इसका मतलब यह हुआ कि ईसाई-धर्म साम्राज्य का राजधर्म बन गया। लेकिन इस परिवर्त्तन से ईसाई-धर्म को उस समय ज्यादा फ़ायदा नहीं हुआ। ईसाइयों के मुख़्तलिफ़ फ़िरक़ों में आपसी झगड़े शुरू हो गये। आखिर लातीनी और यूनानी, दो फ़िरक़े, टूट कर अलग हो गये। लातीनी फ़िरक़े का केन्द्र रोम था और रोम का बिशप इसका अध्यक्ष समझा जाता था। बाद में यही रोम का पोप हो गया। यूनानी फ़िरक़े का केंद्र क़ुस्तुन्तुनिया था। लातीनी-चर्च उत्तर और पश्चिम योरप में फैल गया और रोमन कैथलिक चर्च के नाम से मशहूर हुआ। यूनानी चर्च का नाम कट्टर चर्च[1] पड़ गया। पूर्वी रोमन-साम्राज्य के नष्ट होने के बाद रूस ही ऐसा मुल्क था जिसमें कट्टर चर्च खासतौर पर

---

[1] **ऑर्थोडॉक्स चर्च**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फूला-फला। अब रूस में बोलशेविज़्म के कारण इस चर्च की, या किसी भी चर्च की, कोई सरकारी हैसियत नहीं है।

पूर्वी रोमन साम्राज्य का रोम से कोई सम्बन्ध नहीं था। इस साम्राज्य की भाषा भी लातीनी नहीं बल्कि यूनानी थी। इस साम्राज्य का पश्चिमी योरप से भी कोई सम्पर्क नहीं था; फिर भी पूर्वी साम्राज्य ने रोमन शब्द को नहीं छोड़ा, और यहाँ के लोग रोमन कहलाते रहे, गोया इस शब्द में कोई जादू रहा हो।

साम्राज्य खोकर रोम ने एक नया साम्राज्य बनाना शुरू किया; लेकिन यह बिल्कुल दूसरी किस्म का था। कहा जाता है कि ईसा के शिष्य पीटर रोम आये थे और वह वहाँ के पहले बिशप हुए। इससे बहुत-से ईसाइयों की नज़रों में यह शहर पवित्र बन गया और रोम का बिशप-पद ख़ास महत्त्व का हो गया। शुरू में रोम का बिशप दूसरे बिशपों की तरह होता था, लेकिन सम्राट के क़ुस्तुन्तुनिया चले जाने के बाद इस पद का महत्त्व बढ़ता गया। अब रोम में बिशप के ऊपर कोई न रहा, और पीटर की गद्दी पर बैठनेवाले की हैसियत से रोम के बिशप का स्थान सबसे ऊँचा माना जाने लगा। बाद को ये 'पोप' कहलाने लगे। पोप आज भी बने हुए हैं और रोमन कैथलिक चर्च के प्रमुख होते हैं।

रोमन चर्च और यूनानी कट्टर चर्च के अलग होने की एक वजह मूर्ति-पूजा का स्थान था। रोमन चर्च ईसाई संतों की, और खासकर ईसा की माता मरियम की, मूर्तियों की पूजा को प्रोत्साहन देता था, लेकिन कट्टर चर्च इसका घोर विरोधी था।

रोम पर उत्तरी क़ौमों के सरदारों का कई पुश्तों तक क़ब्ज़ा और शासन रहा, लेकिन वे भी अक्सर कुस्तुन्तुनिया के सम्राट को अपना महाराजा मानते रहे। इस दरमियान रोम के बिशप की ताक़त धर्माध्यक्ष के रूप में बढ़ती गई। यहाँतक कि वह अपने को इतना ताक़तवर महसूस करने लगा कि क़ुस्तुन्तनिया के सम्राट को भी कुछ न समझे। जब मूर्ति-पूजा के सवाल पर झगड़ा हुआ, तब पोप ने रोम को पूर्व से बिल्कुल अलग कर लिया। इस अरसे में अरब में एक नया मजहब--इस्लाम—पैदा हो गया था, और अरब लोग सारे उत्तर अफरीका और स्पेन को रौंदकर योरप के मर्मस्थल पर हमला कर रहे थे। उत्तर-पश्चिमी योरप में नये राज्य कायम हो रहे थे और पूर्वी रोमन साम्राज्य पर अरबों के भयंकर हमले हो रहे थे।

पोप ने फ़्रैन्क लोगों के एक बड़े नेता से मदद मांगी। ये फ़्रैन्क उत्तर की एक जर्मन जाति के लोग थे। बाद को फ़्रैन्कों के सरदार कार्ल या चार्ल्स को रोम में सम्राट की गद्दी पर बिठाया गया। यह एक बिल्कुल ही नया साम्राज्य या राज्य था, लेकिन उन लोगों ने इसे 'रोमन-साम्राज्य' और बाद में 'पवित्र रोमन-साम्राज्य' के ही नाम से पुकारा। वे रोमन के सिवा किसी साम्राज्य की कल्पना ही नहीं कर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सकते थे, और यद्यपि शार्लमेन या महान् चार्ल्स का रोम से कोई सम्बन्ध नहीं था, फिर भी वह इम्पेरटर, सीज़र और आगस्टस बन गया। इस नये साम्राज्य को पुराने साम्राज्य का ही सिलसिला समझा गया, लेकिन उसके नाम में एक शब्द और जुड़ गया। यह 'पवित्र' इसलिए माना गया कि यह खास तौर से एक ईसाई-साम्राज्य था और पोप इसका धर्म-पिता था।

'पवित्र' रोमन-साम्राज्य का यह ढकोसला क़रीब एक हज़ार साल तक नाम-मात्र को चलता रहा। आज से क़रीब सौ साल से कुछ ही ज्यादा हुए, नेपोलियन के ज़माने में इसका हमेशा के लिए खातमा हो गया।

: २१ :

पार्थव और सासानी

मैंने रोमन गणराज्य की सेनाओं की पार्थव में कैरे की लड़ाई में करारी हार का ज़िक्र किया था। उस वक़्त मैं यह बताने के लिए नहीं रुका था कि ये पार्थव कौन थे और उन्होंने उस मुल्क में कैसे एक स्थान कायम कर लिया था। तुम्हें याद होगा कि सिकन्दर के बाद उसके सेनापति सेल्यूकस और उसके वंशजों की एक साम्राज्य पर हुकूमत थी, जो पश्चिम में भारत से एशिया-कोचक तक फैला हुआ था। तीन सौ साल तक इनका बोलबाला रहा, जिसके बाद मध्य-एशिया के 'पार्थव' नाम के एक कबीले ने इन्हें मार भगाया। फ़ारस या पार्थव कहलानेवाले देश के इन्हीं पार्थव लोगों ने गणराज्य के आखिरी दिनों में रोमन सेना को हराया था और गण-राज्य के बाद क़ायम होनेवाला रोमन-साम्राज्य इन पार्थव लोगों को पूरी तरह कभी नहीं हरा सका। ये लोग ढाई सौ वर्षों तक पार्थव पर हुकूमत करते रहे, और अन्त में एक आन्तरिक क्रांति के कारण इन्हें वहाँ से भागना पड़ा। ईरानी लोग खुद इन विदेशी शासकों के खिलाफ़ बग़ावत कर बैठे और उनकी जगह पर उन्होंनेअपनी क़ौम और अपने मज़हब के एक बादशाह को बिठा दिया। इस बादशाह का नाम आर्दशिर प्रथम था और इसके वंश को 'सासानी-वंश' कहते हैं। आर्दशिर ज़रथुस्त धर्म का कट्टर अनुयायी था। तुम्हें याद होगा कि यह पारसियों का मज़हब है। आर्दशिर दूसरे मज़हबों के प्रति सहनशील नहीं था। रोमन-साम्राज्य और सासानियों में बराबर लड़ाइयाँ होती रहती थीं। सासानियों ने एक रोमन सम्राट को गिरफ्तार भी कर लिया था। कई बार ईरानी फ़ौजें क़रीब-क़रीब क़ुस्तुन्तुनिया पहुँच गईं और एक दफा तो उन्होंने मिस्र पर भी कब्ज़ा कर लिया था। सासानी साम्राज्य पारसी धर्म के प्रति धार्मिक जोश के लिए खास तौरपर मशहूर है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जब सातवीं सदी में इस्लाम आया, तब उसने सासानी-साम्राज्य और उसके राज-धर्म को ख़तम कर दिया। ज़रथुस्त-धर्म को माननेवाले बहुत-से लोग इस परिवर्त्तन की वजह से, और सताये जाने के डर से, अपना मुल्क छोड़कर भारत में आ गये। भारत ने इसका स्वागत किया, क्योंकि वह आश्रय लेने के लिए आनेवाले सब लोगों का इसी प्रकार स्वागत करता रहा है। भारत के पारसी इन्हीं ज़रथुस्तियों की सन्तान हैं।

ईरान में सासानी-हुकूमत के ज़माने में शाम (सीरिया) देश के पामीर नामक स्थान में एक छोटा-सा रेगिस्तान राज्य भी फूला-फला और कुछ दिन के लिए इसकी शान भी रही। शाम के रेगिस्तान के बीच में पामीर व्यापार की एक मंडी थी। इसके विशाल खंडहर, जो आज भी दिखाई देते हैं, इसकी आलीशान इमारतों की याद दिलाते हैं। एक बार ज़िनोबिया नाम की एक स्त्री भी इस राज्य की रानी हुई। लेकिन रोमन लोगों ने उसे हरा दिया और उसके साथ ऐसा सलूक किया जो वीरोचित नहीं था। वे उसे जंजीरों में बाँधकर रोम ले गये।

ईसाई सन् के शुरू में शाम एक सुन्दर देश था। इंजील से हमें इसके बारे में कुछ बातें मालूम होती है। ख़राब और ज़ुल्मी शासन के होते हुए भी यहाँ बड़े-बड़े शहर थे और बहुत घनी आबादी थी; बड़ी-बड़ी नहरें थीं और व्यापार भी ख़ूब फैला हुआ था। लेकिन लगातार लड़ाइयों ने, और बुरे शासन ने, छः सौ वर्षों के अन्दर ही इसे करीब-क़रीब वीरान कर दिया। बड़े शहर उजड़ गये और पुरानी इमारतें खंडहर हो गईं।

: २२ :

दक्षिण भारत के उपनिवेश

पुराने ज़माने में भारत के लोगों को सबसे ज्यादा चिन्ता उत्तरी सरहद की रही है, क्योंकि इधर होकर दुश्मन और हमला करनेवाले यहाँ आया करते थे। लेकिन भारत के पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में समुद्र के बहुत बड़े-बड़े किनारे हैं। दक्षिण की ओर भारत संकरा होता गया है, यहाँ तक कि कन्याकुमारी पर जाकर पूर्व और पश्चिम दोनों किनारे मिल जाते हैं। समुद्र के पास रहनेवाले लोग कुदरती तौर पर समुद्र से दिलचस्पी रखते थे और यह उम्मीद की जा सकती है कि उनमें से बहुत-से समुद्र यात्रा के अभ्यस्त रहे होंगे। बहुत-ही पुराने जमाने से दक्षिण भारत का पश्चिमी दुनिया से बड़ा भारी व्यापार चलता आया था। इसलिए यह जानकर कोई ताज्जुब नहीं होना चाहिए कि भारत में शुरू से ही जहाज़ तैयार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होते थे और यहाँ के रहनेवाले तिजारत के लिए, या शायद साहसपूर्ण खोजों के लिए, समुद्र-पार जाया करते थे।

उत्तर भारत की बनिस्बत दक्षिण भारत क़ुदरती तौर पर समुद्र की तरफ़ ज्यादा ध्यान देता था। विदेशी व्यापार ज्यादातर दक्षिण के साथ ही होता था और तमिल भाषा की कविताओं में 'यवन, सुरा, कलश और दीपकों' के प्रसंग भरे पड़े हैं। 'यवन' शब्द ख़ासतौर पर यूनान के रहनेवालों के लिए इस्तेमाल होता था, लेकिन मोटे तौर पर शायद यह सब विदेशियों के लिए लागू था। दूसरी और तीसरी सदियों के आन्ध्र देश के सिक्कों पर दो मस्तूलवाले बड़े जहाज़ की तस्वीर बनी है। इससे यह पता चलता है कि पुराने ज़माने के आन्ध्र-लोग जहाज़ बनाने और समुद्र के व्यापार में कितनी दिलचस्पी रखते थे।

इसलिए यह कहा जा सकता है कि दक्षिण भारत ही ने इन साहसपूर्ण कार्यों में सबसे आगे क़दम बढ़ाया, जिनके फलस्वरूप पूर्व के तमाम टापुओं में भारतीय उपनिवेश स्थापित हुए। इन औपनिवेशिक यात्राओं की शुरूआत ईसवी सन् की पहली सदी में हुई और कई सौ सालों तक उनका सिलसिला जारी रहा। मलाया, जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया और बोर्नियो वग़ैरा सब जगह दक्षिण के लोग ज.कर बस गये और अपने साथ भारतीय कला और संस्कृति ले गये। ब्रह्मदेश, स्याम और हिन्द-चीन में भी भारतीयों की बड़ी-बड़ी बस्तियाँ थीं। इन नई बस्तियों और नगरों के बहुत-से नाम भी भारत से लिये गये थे, जैसे अयोध्या, हस्तिनापुर, तक्षशिला और गान्धार।

इसमें शक नहीं कि नये उपनिवेश बसानेवाले ये भारतीय जहाँ-जहाँ गये, वहाँ के पुराने निवासियों के साथ इन्होंने बुरा बर्ताव किया, जैसाकि सभी नई बस्तियाँ बसानेवाले किया करते हैं। उन्होंने इन टापुओं के रहनेवालों को ज़रूर लूटा होगा और उन पर रौब जमाया होगा। लेकिन कुछ दिनों बाद ये लोग पुराने बाशिन्दों से मिल-जुल गये होंगे, क्योंकि भारत के साथ बराबर ताल्लुक़ क़ायम रखना मुश्किल था। पूर्व के इन टापुओं में हिन्दू राज्य और हिन्दू साम्राज्य कायम हुए। बाद में वहाँ बौद्ध शासक पहुँचे और हिन्दुओं और बौद्धों में प्रभुता के लिए रस्साकशी हुई। विशाल या बृहत्तर भारत के इतिहास की यह एक लम्बी और आकर्षक कहानी है। बड़े-बड़े खंडहर हमें अभी तक उन आलीशान इमारतों और मन्दिरों की याद दिलाते हैं, जो इन भारतीय उपनिवेशों के भूषण थे। काम्भोज, श्रीविजय, अंगकोर और मज्जापहित जैसे बड़े-बड़े नगर भारतीय निर्माताओं और कारीगरों ने वहाँ बनाये।

हिन्दू और बौद्ध राज्य इन टापुओं में करीब चौदह सौ वर्ष तक क़ायम रहे और प्रभुता के लिए आपस में लड़ते रहे। कभी एक का अधिकार हो जाता तो कभी दूसरे का, और कभी-कभी वे एक-दूसरे को नष्ट भी कर देते थे। पन्द्र-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हवीं सदी में मुसलमानों ने इन टापुओं पर क़ब्जा जमा लिया और उसके थोड़े दिन बाद ही पुर्तगालवाले, स्पेनवाले, हालैण्डवाले और अंग्रेज आये। सबके बाद में अमरीकावाले पहुँचे। चीनवाले तो इन टापुओं के हमेशा से ही नज़दीकी पड़ोसी थे। वे कभी-कभी इनमें दखल देकर जीत लेते, पर अक्सर इनके साथ दोस्तों की तरह रहते और दोनों में तोहफ़ों की अदला-बदली हुआ करती। साथ-ही-साथ उनकी महान् संस्कृति और सभ्यता का असर भी इन पर बराबर पड़ता रहता था।

चार या पाँच सौ साल तक ये बस्तियाँ हिन्दू-धर्म को अपनाये रहीं, पर बाद में धीरे-धीरे सब जगह बौद्ध-धर्म फैल गया। बहुत दिन बाद इस्लाम पहुँचा और मलाया के एक हिस्से में फैल गया; बाकी हिस्सा बौद्ध ही बना रहा।

मलाया देश में साम्राज्य और राज्य बनते-बिगड़ते रहे। लेकिन दक्षिण भारत की नये उपनिवेश बसाने की इन कोशिशों का असली नतीजा यह निकला कि दुनिया के इस हिस्से में भारतीय आर्य-सभ्यता की नींव पड़ गई। कुछ हद तक मलाया के लोग आज भी हम लोगों की तरह इसी सभ्यता में पले हैं। उन लोगों पर दूसरे असर भी पड़े हैं। चीन का असर खासतौर पर उल्लेखनीय है। मलेशिया[1] के जुदे-जुदे हिस्सों पर भारतीय और चीनी, दो शक्तिशाली सभ्यताओं, के असर की मिलावट पर ग़ौर करना बड़ा दिलचस्प है। कुछ पर तो भारतीय सभ्यता का असर ज्यादा है और कुछ में चीनी असर ज्यादा दिखाई देता है।

जावा के वोरोबुदर में आज भी भारतीय कारीगरों के वनाये हुए बड़े-बड़े बौद्ध-मन्दिरों के खंडहर पाये जाते हैं। इन मन्दिरों की दीवारों पर बुद्ध के जीवन की पूरी कहानी खुदी हुई है और ये सिर्फ़ बुद्ध की ही नहीं, बल्कि उस जमाने की भारतीय कला की भी अनोखी यादगारें हैं।

: २३ :

गुप्त-सम्राटों का हिन्दू साम्राज्यवाद

इधर जब दक्षिण भारत के लोग विशाल समुद्रों को पार करके दूर-दूर जगहों पर बस्तियाँ और शहर बसा रहे थे, तब उधर, उत्तर भारत में अजीब हलचल मची हुई थी। कुशान-साम्राज्य अपनी शक्ति और महानता खो चुका था और दिन-दिन छोटा होते-होते मिटता जा रहा था। सारे उत्तर में छोटे-छोटे राज्य बन गये थे,

---

[1]मलेशिया—एशिया के दक्षिण-पूर्वी भाग से आस्ट्रेलिया तक फैलता हुआ द्वीप समूह जिसे ईस्ट इंडीज या मलाया द्वीप समूह कहते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जिन पर बहुत करके शक या सीदियन या तुर्की-वंश के लोग राज्य करते थे। ये लोग भारत की उत्तर-पश्चिमी सरहद पार करके यहाँ आये थे। ये लोग बौद्ध थे और भारत में शत्रु के रूप में हमला करने नहीं बल्कि बसने के लिए आये थे। मध्य-एशिया के दूसरे क़बीले, जिन्हें चीनी राज्य आगे धकेल रहा था, पीछे से इनको जबरदस्ती खदेड़ रहे थे। भारत आकर इन लोगों ने भारतीय आर्यों के आचार-विचार और रंग-ढंग को बहुत-कुछ अपना लिया। ये लोग भारत को सभ्यता, संस्कृति और धर्म की जननी मानते थे। कुशान लोगों ने भी बहुत हद तक भारतीय-आर्य-परम्परा का अनुसरण किया था। यही वजह थी कि वे बहुत दिनों तक भारत में ठहर सके और उसके बड़े-बड़े हिस्सों पर शासन कर सके। वे भारतीय-आर्यों की तरह आचरण करने की कोशिश करते थे और चाहते थे कि इस देश के निवासी यह भूल जायें कि वे विदेशी हैं। कुछ हद तक उनको इसमें कामयाबी भी हुई, लेकिन पूरे तौर पर नहीं, क्योंकि क्षत्रियों के दिल में यह बात ख़ास तौर पर खटकती थी कि विदेशी लोग उनके ऊपर हुकूमत कर रहे हैं। वे इस विदेशी राज्य की मातहती में तिलमिलाते थे, जिससे असन्तोष बढ़ता गया और लोगों के दिलों में क्षोभ पैदा होने लगा। अन्त में इन असन्तुष्ट लोगों को एक सुयोग्य नेता मिल गया और उसके झंडे के नीचे इन्होंने आर्यावर्त्त को आज़ाद करने के लिए एक 'धर्म-युद्ध' आरम्भ कर दिया।

इस नेता का नाम चन्द्रगुप्त था। इस चन्द्रगुप्त को वह पहला चन्द्रगुप्त न समझना, जो अशोक का दादा था। इस आदमी का मौर्य-वंश से कोई ताल्लुक़ नहीं था। वह पाटलिपुत्र का एक छोटा राजा था। उस समय तक अशोक के वंश का नाम मिट चुका था। याद रखो कि इस समय हम ईसा के बाद चौथी सदी की शुरूआत में, यानी सन् ३०८ ई० में, पहुँच गये हैं। यह अशोक की मृत्यु के ५३४ वर्ष बाद की बात है।

चन्द्रगुप्त एक महत्त्वाकांक्षी और सुयोग्य व्यक्ति था। वह उत्तर के दूसरे आर्य राजाओं को अपनी तरफ़ मिलाने में और उन सबका एक संघ क़ायम करने में लग गया। उसने मशहूर और शक्तिशाली लिच्छवी-वंश की कुमारदेवी से विवाह किया, और इस प्रकार इस जाति की सहायता प्राप्त कर ली। इस तरह होशियारी के साथ ज़मीन तैयार कर लेने के बाद चन्द्रगुप्त ने भारत के सारे विदेशी शासकों के ख़िलाफ़ 'धर्म-युद्ध' की घोषणा कर दी। क्षत्रिय और आर्य जाति के ऊँचे वर्ग के लोग, जिनके अधिकार और पद विदेशियों ने छीन लिये थे, इस लड़ाई के समर्थक थे। बारह वर्ष की लड़ाई के बाद चन्द्रगुप्त उत्तर भारत के कुछ हिस्से पर क़ब्ज़ा करने में कामयाब हुआ, जिसमें वह हिस्सा भी शामिल था जो आजकल उत्तर-प्रदेश कहलाता है। इसके बाद वह 'राजराजेश्वर' की पदवी धारण करके सिंहासन पर बैठ गया। इस तरह गुप्त-राजवंश की शुरूआत हुई।

५

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चन्द्रगुप्त का बेटा समुद्रगुप्त अपने बाप से भी ज्यादा ज़बरदस्त लड़ाका था। वह बहुत बड़ा सेनापति था, और जब वह सम्राट हुआ तो उसने सारे देश में, यहाँ-तक कि दक्षिण में भी, सबको जीतकर अपनी-विजय-पताका फहराई। इसने गुप्त-साम्राज्य को इतना बढ़ाया कि वह भारत के बहुत बड़े हिस्से में फैल गया। लेकिन दक्षिण में इसकी हुकूमत नाम-मात्र की थी। उत्तर में उसने कुशान लोगों को हटाकर सिन्ध नदी के उस पार खदेड़ दिया था।

समुद्रगुप्त का बेटा चन्द्रगुप्त द्वितीय भी एक योद्धा राजा था। उसने काठियावाड़ और गुजरात को जीत लिया, जो बहुत दिनों से एक शक या तुर्की राज-वंश के शासन में चले आ रहे थे। इसने अपना नाम विक्रमादित्य रखा और इसी नाम से वह मशहूर है। लेकिन यह नाम भी, सीज़र की तरह, बहुत-से राजाओं की उपाधि बन गया, इसलिए बहुत भ्रम पैदा करता है।

दिल्ली में क़ुतुबमीनार के पास एक बहुत भारी लोहे की लाट है। कहते हैं कि विक्रमादित्य ने इस लाट को विजय-स्तम्भ के रूप में बनवाया था। यह लाट कारीगरी का एक बढ़िया नमूना है। इसकी चोटी पर कमल का फूल है, जो गुप्त-साम्राज्य का चिह्न था।

गुप्त-युग भारत में साम्राज्यवाद का युग था। इस युग में पुरानी आर्य-संस्कृति और संस्कृत विद्या का व्यापक रूप से पुनरुत्थान हुआ। यूनानी और मंगोलियन संस्कारों को, जो भारतीय जीवन और संस्कृति में यूनानियों, कुशानों वग़ैरा के जरिये आ गये थे, प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। बल्कि, असलियत तो यह है कि भारतीय-आर्य परम्पराओं पर ज़ोर देकर इन्हें हर तरह नीचे गिराया जाता था। संस्कृत राज-भाषा थी; लेकिन उन दिनों में वह जनता की आम भाषा नहीं थी। बोलने की भाषा प्राकृत का एक रूप थी, जो संस्कृत से बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी। मगर हालाँकि संस्कृत उस ज़माने की लोक-भाषा नहीं थी, फिर भी काफ़ी प्रचलित थी। इस युग में संस्कृत कविता, नाटक और भारतीय-आर्य कलाएँ ख़ूब खिलीं। जिस महान् युग में वेद और रामायण-महाभारत आदि महाकाव्य लिखे गये थे, उसके बाद संस्कृत साहित्य के इतिहास में शायद इसी ज़माने में सबसे अधिक और सबसे सुन्दर साहित्य लिखा गया। संस्कृत का महान् कवि कालिदास इसी ज़माने में हुआ। कहते हैं विक्रमादित्य का दरबार बड़ी चमक-दमक-वाला था, जिसमें उसने उस समय के सबसे उत्तम लेखकों और कलाकारों को जमा किया था। क्या तुमने उसके दरबार के नव-रत्नों के बारे में नहीं सुना है? कालिदास उन नव-रत्नों में से एक था।

समुद्रगुप्त अपने साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र से अयोध्या ले गया। शायद उसका यह ख़याल था कि उसके कट्टर भारतीय-आर्य दृष्टिकोण के लिए अयोध्या, जिसे महाकवि वाल्मीकि ने अपने महाकाव्य में रामचन्द्र

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की कथा के साथ अमर बना दिया है, ज्यादा उपयुक्त साधन प्रस्तुत कर सकती है।

इसी ज़माने में चीन का एक मशहूर यात्री भारत में आया। यह ह्यु एनसांग नहीं था जिसके बारे में मैं तुम्हें लिख चुका हूँ, बल्कि फ़ा-ह्यान था। बौद्ध होने के कारण यह बौद्ध-धर्म के पवित्र ग्रंथों की तलाश में यहाँ आया था। उसने लिखा है कि मगध के लोग खुशहाल और सुखी थे; न्याय का पालन उदारता से किया जाता था और मौत की सज़ा नहीं थी; गया वीरान और उजड़ा हुआ था; कपिलवस्तु जंगल हो चुका था; लेकिन पाटलिपुत्र के लोग "धनवान, खुशहाल और सदाचारी" थे। सम्पन्न और विशाल बौद्ध विहार बहुत थे। मुख्य सड़कों पर धर्मशालाएँ थीं, जहाँ मुसाफिर ठहर सकते थे और जहाँ सरकारी खर्च से खाना दिया जाता था। बड़े-बड़े नगरों में खैराती दवाखाने थे।

भारत में भ्रमण करने के बाद फ़ा-ह्यान लंका गया और वहाँ उसने दो वर्ष बिताये। लेकिन उसके एक साथी ताओ-चिंग को भारत इतना पसन्द आया और बौद्ध भिक्खुओं की धर्म-परायणता का उस पर इतना असर पड़ा कि उसने यहीं रहने का निश्चय कर लिया। फ़ा-ह्यान समुद्री रास्ते लंका से चीन चला गया और रास्ते में बहुत-सी आपदाएं झेलता हुआ वर्षों बाद अपने घर पहुँच गया।

चन्द्रगुप्त द्वितीय या विक्रमादित्य ने तेईस वर्ष राज्य किया। उसके बाद उसके पुत्र कुमारगुप्त ने चालीस वर्ष तक राज्य किया। फिर सन् ४५३ ई० में स्कन्दगुप्त गद्दी पर बैठा। इसे एक नये खतरे का सामना करना पड़ा, जिसने अन्त में महान् गुप्त-साम्राज्य की कमर ही तोड़ दी। लेकिन इसके बारे में मैं अपने अगले पत्र में लिखूँगा।

अजन्ता की गुफाओं की दीवारों पर बने हुए कई सर्वोत्तम चित्र और उनके बड़े-बड़े कमरे तथा उपासना-गृह गुप्त-काल की कला के नमूने हैं। बदक़िस्मती से वहाँ के चित्र धीरे-धीरे मिटते जा रहे हैं, क्योंकि मौसम की तब्दीलियों में वे बहुत वर्षों तक नहीं टिक सकते।

: २४ :

हूणों का भारत आना

उत्तर-पश्चिम के पहाड़ों के उस पार से भारत पर आनेवाला यह नया खतरा हूणों का था। योरप में उनका सबसे बड़ा नेता एटिला था, जो बहुत वर्षों तक रोम और क़ुस्तुन्तुनिया को आतंकित करता रहा। इन्हीं क़बीलों के सजातीय

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हूण, जो 'सफ़ेद हूण' के नाम से मशहूर थे, क़रीब-क़रीब उसी समय भारत में आये थे। ये लोग भी मध्य-एशिया के खानाबदोश थे। बहुत दिनों से वे भारत की सरहदों पर मँडरा रहे थे और लोगों को बुरी तरह परेशान कर रहे थे। ज्यों-ज्यों उनकी तादाद बढ़ती गई, और शायद इसलिए भी कि पीछे से दूसरे कबीले उन्हें खदेड़ रहे थे, उन्होंने संगठित रूप से हमला शुरू कर दिया।

स्कन्दगुप्त को, जो गुप्त-वंश का पाँचवाँ राजा था, हूणों के इस हमले का सामना करना पड़ा। उसने उन्हें हराकर पीछे धकेल दिया। लेकिन बारह वर्ष बाद वे फिर आ धमके। धीरे-धीरे वे गान्धार और उत्तर भारत में फैल गये। उन्होंने बौद्धों पर बड़े अत्याचार किये और हर तरह का आतंक फैलाया।

उनके ख़िलाफ़ लगातार लड़ाइयाँ होती रही होंगी, लेकिन गुप्त-राजा उन्हें देश से निकाल न सके। हूणों के दल-के-दल भारत में आते रहे और वे मध्य भारत तक में फैल गये। उनका मुखिया तोरमान राजा बन बैठा। वह तो काफ़ी बुरा था ही, लेकिन उसका उत्तराधिकारी, उसका पुत्र मिहिरगुल, तो बिल्कुल ही जंगली और शैतान की तरह बेरहम था। कल्हण ने अपने कश्मीर के इतिहास 'राजतरंगिणी' में लिखा है कि मिहिरगुल का एक दिल-बहलाव यह था कि वह ऊँचे कगारों से हाथियों को खड्ड में धकेलवाया करता था। अन्त में उसके अत्याचारों से आर्यावर्त्त उत्तेजित हो उठा। गुप्त-वंश के बालादित्य और मध्य भारत के राजा यशोधर्मन के नेतृत्व में आर्यों ने हूणों को हरा दिया और मिहिरगुल को गिरफ्तार कर लिया। लेकिन बालादित्य हूणों की तरह निर्दयी नहीं था बल्कि वीर था। उसने दया करके मिहिरगुल की जान बख़्श दी और उसे देश से निकल जाने का आदेश दिया। मिहिरगुल जाकर कश्मीर में छिपा रहा और कुछ दिन बाद उसने दग़ाबाजी करके बालादित्य पर, जिसने उसके साथ इतनी उदारता दिखाई थी, हमला कर दिया।

लेकिन भारत में हूणों की ताक़त बहुत जल्द कमज़ोर हो गई। फिर भी हूणों की बहुत-सी सन्तति भारत में रह गई और धीरे-धीरे आर्यों की आबादी में घुल-मिल गई। यह मुमकिन है कि मध्य भारत और राजस्थान की कुछ राजपूत जातियों में इन सफ़ेद हूणों के ख़ून का कुछ अंश हो।

हूणों ने उत्तर भारत में बहुत थोड़े समय, यानी पचास साल से भी कम, राज किया। इसके बाद वे शान्ति के साथ बस गये। लेकिन हूणों की लड़ाई और उनकी भयंकरता का भारत के आर्यों पर बहुत असर पड़ा। हूणों की जीवन चर्या और राज्य करने के तरीके आर्यों से बिल्कुल जुदे थे। आर्य जाति उस समय तक भी कुछ स्वतंत्रता-प्रेमी थी। उनके राजाओं तक को लोकमत के सामने झुकना पड़ता था और उनकी देहाती पंचायतों के हाथों में बड़ी ताकत थी। लेकिन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हूणों के आने से, और यहाँ वसकर भारतीयों के साथ घुल-मिल जाने से, आर्य-आदर्शों में कुछ फ़र्क़ आ गया और वे नीचे गिर गये।

महान् गुप्त-वंश के अंतिम सम्राट बालादित्य की सन् ५३० ई० में मृत्यु हुई। यह एक दिलचस्प बात है कि शुद्ध हिन्दू-वंश का यह सम्राट खुद बौद्ध-धर्म की ओर आकर्षित हुआ और उसने एक बौद्ध भिक्खु को अपना गुरु बनाया। गुप्त-काल कृष्ण-पूजा के फिर से प्रचलित होने के लिए खास तौर पर मशहूर है। लेकिन इतने पर भी बौद्ध-धर्म के साथ हिन्दुओं का कोई ज़ाहिरा झगड़ा नहीं था।

हम फिर देखते हैं कि गुप्त राज्य के २०० साल बाद उत्तर भारत में कई रियासतें बन गईं जो किसी एक केन्द्रीय सत्ता के मातहत न थी। हाँ, दक्षिण भारत में एक बहुत बड़े साम्राज्य का विकास होने लगा। पुलकेशिन नाम के एक राजा ने, जो रामचन्द्र का वंशज होने का दावा करता था, दक्षिण में एक साम्राज्य क़ायम किया, जो चालुक्य-साम्राज्य के नाम से मशहूर है। दक्षिण के इन लोगों का पूर्वी द्वीप समूहों की भारतीय बस्तियों के साथ ज़रूर ही घनिष्ट सम्बन्ध रहा होगा और भारत तथा इन टापुओं के बीच आवागमन होता रहा होगा। हमें यह भी पता चलता है कि भारतीय जहाज़ अक्सर माल भरकर ईरान ले जाया करते थे। चालुक्य राजा ईरान के सासानी राज्य को राजदूत भेजा करते थे और वहाँ के राजदूत यहाँ आते थे। राजदूतों का यहाँ इस तरह आना-जाना ईरान के मशहूर बादशाह ख़ुसरो द्वितीय के ज़माने में ख़ास तौर पर हुआ।

: २५ :

तांग-वंश के शासन में चीन की उन्नति

ईसा के बाद तीसरी सदी में हान् राजवंश ख़तम हो गया और साम्राज्य तीन राज्यों में बँट गया जिन्हें 'तीन महान् सल्तनत' कहा जाता है। उनमें बँटने का यह युग कई सौ वर्षों तक क़ायम रहा। अन्त में एक नये राजवंश ने, जिसे 'तांग-वंश' कहते हैं, चीन को फिर मिला दिया और उसे एक शक्तिशाली और संयुक्त राज्य बना दिया। यह सातवीं सदी के शुरु की बात है।

सम्राट काओ-सू ने सन् ६१८ ई० में तांग-राजवंश की नींव डाली। उसने न सिर्फ़ सारे चीन को ही एक किया, बल्कि अपना अधिकार दक्षिण में अनाम और कम्बोडिया तक के, और पश्चिम में ईरान तथा कैस्पियन सागर तक के, विस्तृत क्षेत्र में फैलाया। कोरिया का भी एक हिस्सा इस शक्तिशाली साम्राज्य में शामिल था। साम्राज्य की राजधानी सी-आन-फू नाम का शहर था, जो पूर्वी एशिया में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारत का उपनिवेशीकरण तथा चीन का तांग साम्राज्य

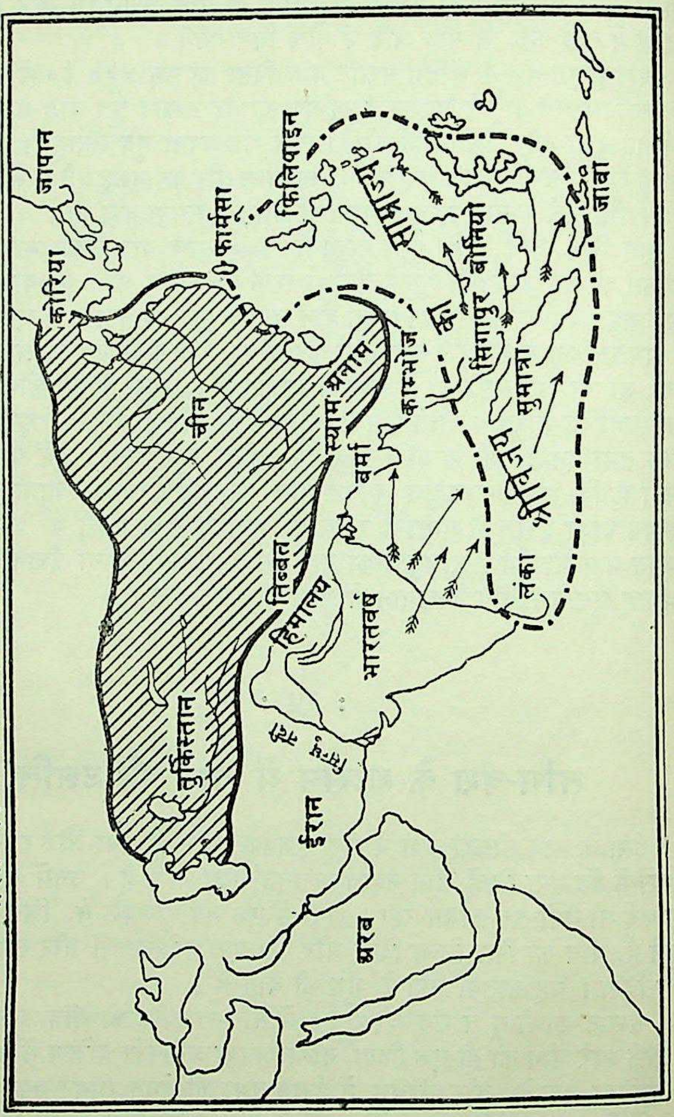

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपनी शान और संस्कृति के लिए मशहूर था। जापान से और दक्षिण कोरिया से, जो अभीतक आजाद था, राजदूत और प्रतिनिधि-मण्डल इसकी कला, तत्वज्ञान और सभ्यता का अध्ययन करने के लिए आया करते थे।

तांग-सम्राट विदेशी व्यापार और विदेशी यात्रियों को उत्साहित करते थे। चीन आनेवाले या वहाँ आकर बसनेवाले विदेशियों के लिए खास क़ानून बनाये जाते थे, ताकि वे, जहाँतक सम्भव हो, अपने ही मुल्कों के रस्म-रिवाज के अनुसार न्याय पा सकें। हमें पता चलता है कि सन् ३०० ई० के करीब दक्षिण चीन में कैण्टन के पास अरब लोग ख़ास तौर से आकर बसे थे। यह इस्लाम की शुरुआत से, यानी पैगम्बर हज़रत मुहम्मद के जन्म से, पहले की बात है। इन अरबों की मदद से समुद्र पार के देशों के साथ तिजारत में तरक्क़ी हुई। तिजारती माल लाने-ले-जाने का काम अरब और चीनी जहाज़ किया करते थे।

यह जानकर तुमको ताज्जुब होगा कि मर्दुमशुमारी, यानी आबादी जानने के लिए किसी मुल्क के आदमियों की गिनती की प्रथा, चीन में बहुत पुराने ज़माने से चली आई है। कहते हैं कि बहुत पहले, सन् १५६ ई० में, चीन में एक मर्दुमशुमारी हुई थी। यह हान-वंश के जमाने में हुई होगी। गिनती एक-एक आदमी की नहीं बल्कि कुटुम्बों की की जाती थी। यह माना जाता था कि हरेक कुटुम्ब में मोटे तौर से पाँच आदमी होते हैं। इस हिसाब के मुताबिक़ सन् १५६ ई० में चीन की आबादी क़रीब पाँच करोड़ थी।

तांग वंश के शुरू ज़माने में चीन में दो और धर्म आये——एक ईसाई धर्म और दूसरा इस्लाम। ईसाई धर्म को वह सम्प्रदाय इस देश में लाया जिसे काफ़िर क़रार देकर पश्चिम से निकाल दिया गया था। ये लोग 'नेस्टोरियन' कहलाते थे।

ईसाई धर्म को चीन पहुँचते-पहुँचते कुछ दिन लग गये। लेकिन इस्लाम ज्यादा तेज़ी से आया। वास्तव में इस्लाम नेस्टोरियन लोगों के आने के कुछ साल पहले और पैगम्बर की जिन्दगी में ही वहाँ पहुँच गया था। चीन के सम्राट ने मुसलमान और नेस्टोरियन दोनों के राजदूत-मंडलों का बड़ी विनय के साथ स्वागत किया था, और उनकी बातों को ध्यान से सुना था। उसने उनके विचारों की कद्र की और दोनों के साथ निष्पक्ष उदारता का व्यवहार किया। अरब लोगों को कैण्टन में मस्जिद बनाने की इजाज़त दी गई। यह मस्जिद अभीतक मौजूद है, हालांकि इसे बने तेरह सौ वर्ष हो गये। यह दुनिया की सबसे पुरानी मस्जिदों में एक है। इसी तरह तांग-सम्राट ने ईसाई गिरजाघर और मठ बनाने की भी इजाज़त दी।

कहते हैं कि अरबों ने काग़ज़ बनाने का हुनर चीनियों से सीखा और फिर योरप को सिखाया। सन् ७५१ ई० में मध्य एशिया के तुर्किस्तान में चीनियों और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मुसलमान अरबों के दर्मियान एक लड़ाई हुई। अरबों ने कुछ चीनियों को क़ैद कर लिया और इन क़ैदियों ने अरबों को काग़ज़ बनाना सिखाया।

तांग-वंश तीन सौ वर्ष, यानी सन् १०७ ई० तक, रहा। कुछ लोगों का ख़याल है कि यह तीन सौ वर्ष का युग चीन का सबसे महान् युग है, जब केवल संस्कृति ही ऊँचे दर्जे पर नहीं थी बल्कि जनता भी सब तरह से बहुत सुखी थी। बहुत-सी बातें जो पश्चिम को बहुत दिनों बाद मालूम हुई, चीनियों को उस ज़माने में मालूम थीं। काग़ज़ का जिक्र तो मैं कर ही चुका हूँ। दूसरी ऐसी ही चीज़ बारूद थी। चीनी बड़े अच्छे इंजीनियर भी थे। आमतौर से, और क़रीब-क़रीब हरएक बात में, ये लोग योरप से बहुत आगे बढ़े हुए थे।

: २६ :

चोज़ेन और दाई निप्पन

कोरिया का इतिहास चीन के इतिहास के बहुत पीछे शुरू होता है और जापान का इतिहास कोरिया के भी बहुत दिन बाद। की-त्ज़े नामक एक निर्वासित चीनी ने, जिसे चीन में राजवंश बदल जाने से असन्तोष था, अपने पाँच हज़ार साथियों के साथ पूर्व की तरफ़ कूच कर दिया था। वह कोरिया में जा बसा और इस देश का नाम उसने 'चोज़ेन' यानी 'प्रभात की शान्ति का देश' रख दिया। यह ईसा से ११२२ वर्ष पहले की बात है। की-त्ज़े अपने साथ चीनी कला और कारीगरी, खेती की कला और रेशम बनाने का हुनर वहाँ ले गया। नौ सौ वर्ष से भी अधिक समय तक की-त्ज़े के वंशज चोज़ेन में राज करते रहे। चीन से निकले हुए लोग समय-समय पर चोज़ेन में बसने के लिए आते रहे और चीन के साथ इसका अच्छा-खासा सम्पर्क बना रहा।

जब शी-ह्वांग-ती चीन का सम्राट था, तब चीनियों का एक बड़ा जत्था कोरिया आया था। शी-ह्वांग-ती के अत्याचारी तरीकों से तंग आकर बहुत से चीनियों ने कोरिया में आश्रय लिया और की-त्ज़े के कमज़ोर वंशजों को मार भगाया। इसके बाद चोज़ेन कई छोटे राज्यों में बँट गया, और आठ सौ वर्ष से ज्यादा तक यही हालत बनी रही। ये राज्य अक्सर आपस में लड़ा करते थे। एक दफ़ा इन राज्यों में से एक ने चीन की मदद मांगी। इस तरह की मदद माँगना ख़तरनाक ही हुआ करता है। मदद आई जरूर, लेकिन उसने वापस जाने से इन्कार कर दिया! ताक़तवर मुल्कों का यही ढंग होता है। चीन वहाँ डट गया और उसने चोज़ेन के कुछ हिस्से को अपने साम्राज्य में मिला लिया। चोज़ेन का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बाकी हिस्सा भी कई सौ वर्षों तक चीन के तांग-सम्राटों की मातहती क़बूल करता रहा।

सन् ९३५ ई० में चोज़ेन एक स्वतंत्र संयुक्त राज्य बन गया। इस संयुक्त राज्य की स्थापना में सफल होनेवाला व्यक्ति वांग कीयन था और इसके उत्तराधिकारियों ने ४५० वर्ष तक इस राज्य पर शासन चलाया।

कोरिया पर चीन का बहुत बड़ा ऋण है। लिखने की कला यहाँ चीन से आई। एक हज़ार वर्ष तक कोरियावालों ने चीनी लिपि का इस्तेमाल किया। चीन की लिपि में अक्षर नहीं, बल्कि विचारों, शब्दों और वाक्यों के चिह्न होते हैं। इसके बाद कोरियावालों ने इस लिपि से एक ख़ास लिपि निकाली जो उनकी भाषा के लिए ज़्यादा उपयुक्त थी।

बौद्ध-धर्म चीन होकर यहाँ आया और कनफ़ूशस की दार्शनिक विचार-धारा भी चीन से ही आई। भारत के कला सम्बन्धी संस्कार चीन होकर कोरिया और जापान पहुँचे। कोरिया ने कला के, ख़ासकर मूर्ति-कला के, बहुत सुन्दर नमूने रचे। इनकी मकान बनाने की कला चीनियों से मिलती-जुलती थी। जहाज़ बनाने के काम में भी बड़ी तरक्की हुई। यहाँतक कि एक बार कोरिया निवासियों के पास इतनी ताकतवर जलसेना हो गई थी कि उन्होंने उससे जापान पर हमला किया था।

कदाचित् मौजूदा जापानियों के पूर्वज कोरिया या चोज़ेन से ही आये थे। सम्भव है, इनमें से कुछ लोग दक्षिण से, यानी मलेशिया से, आये हों। जापानी लोग मंगोलियन जाति के हैं। जापान में अब भी कुछ लोग हैं, जिन्हें 'आइनस' कहते हैं और जो जापान के आदिम निवासी समझे जाते हैं। ये लोग गोरे हैं, और इनके बदन पर बाल भी ज्यादा होते हैं। साधारण जापानियों से ये बिल्कुल जुदे हैं। ये आइनस लोग टापू के उत्तरी हिस्से में धकेल दिये गये हैं।

सन् २०० ई० के क़रीब जिङ्गो नाम की एक सम्राज्ञी यामातो राज्य की शासिका थी। यामातो जापान का या उसके उस हिस्से का असली नाम है जहाँ ये प्रवासी आकर बसे थे।

यामातो ने कोरिया के साथ अपना घनिष्ट संबंध बनाये रखा और कोरिया की मार्फ़त ही यामातो में चीनी सभ्यता पहुँची। चीन की लिखित-भाषा भी सन् ४०० ई० के क़रीब कोरिया होकर वहाँ पहुँची थी, और इसी तरह बौद्ध-धर्म भी कोरिया से ही यहाँ आया था। सन् ५५२ ई० में पाकचे (कोरिया के तीन राज्यों में से एक राज्य) के शासक ने यामातो के शासक के पास बुद्ध की एक सोने की मूर्ति और कुछ बौद्ध धर्म-प्रचारक धर्म-ग्रंथों के साथ भेजे थे।

जापान का पुराना धर्म शिन्टो था। शिन्टो चीनी शब्द है। इसके मानी हैं, 'देवताओं का मार्ग'। यह धर्म प्रकृति और पूर्वजों की पूजा का मेल-जोल था। इस

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धर्म में परलोक या रहस्यों और गुत्थियों के झगड़े नहीं हैं। यह एक सैनिक-जाति का धर्म था।

नया बौद्ध-धर्म जब जापान में पहुँचा, तो पुराने शिन्टो धर्म से उसकी कुछ टक्कर हुई। लेकिन जल्दी ही दोनों साथ-साथ रहने लगे, और आजतक रह रहे हैं। शिन्टो-धर्म अब भी बौद्ध-धर्म से ज्यादा लोकप्रिय है, और शासक-वर्ग इसे प्रोत्साहन भी देता है, क्योंकि यह वफ़ादारी और फ़रमाबरदारी सिखाता है।

जापान का कला-इतिहास बौद्ध-धर्म के साथ शुरू होता है। तभी जापान या यामातो ने चीन के साथ सीधा सम्पर्क बढ़ाना शुरू किया। जापान से चीन को बराबर राजदूत-मंडल जाते रहते थे, खासकर तांग-युग में, जबकि चीन की राजधानी सी-आन-फू सारे पूर्वी एशिया में मशहूर थी। जापानियों यानी यामातोवालों ने खुद एक नई राजधानी नारा के नाम से क़ायम की और उसे सी-आन-फू की हू-ब-हू नक़ल बनाने का प्रयत्न किया।

सारे जापानी इतिहास में हम बड़े-बड़े खानदानों को एक-दूसरे का विरोध करते और अधिकार के लिए झगड़ते देखते हैं। दूसरी जगहों पर भी पुराने जमाने में तुम्हें ऐसी-ही बातें मिलेंगी। इन ख़ानदानों में पुरानी कुल-भावना जमी हुई थी, इसलिए जापान का इतिहास एक तरह से खानदानों की आपसी होड़ की कहानी है। इनका सम्राट––मिकाडो––सर्वाधिकारी, निरंकुश, अर्ध-दैवी और सूर्य का वंशज माना जाता है। शिन्टो-धर्म ने और पूर्वजों की पूजा की प्रथा ने जनता से सम्राट की निरंकुशता क़बूल कराने में बहुत मदद दी और उसे देश के शक्तिशाली लोगों का आज्ञाकारी बना दिया। लेकिन जापान में सम्राट ख़ुद बहुत करके कठपुतली की तरह रहा है और उसके हाथ में कोई असली ताकत नहीं रही है। सारा अधिकार और सारी ताक़त किन्हीं बड़े ख़ानदानों या कुलों के हाथ में रही है, जो राजाओं के विधाता थे और जो अपनी मरजी के मुताबिक राजा और सम्राट बनाया करते थे।

जापान के इतिहास में जिस बड़े ख़ानदान ने सबसे पहले राज्य का नियन्त्रण किया, वह सोगा-ख़ानदान था। जब इन लोगों ने बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया, तभी वह दरबारी और सरकारी धर्म बन गया। इस ख़ानदान का एक बड़ा नेता शोतुकू तैशी जापानी इतिहास का एक महान् पुरुष हुआ है। वह एक सच्चा बौद्ध और श्रेष्ठ कलाकार था। चीन के कनफ़ूशियन ग्रन्थों से इसने अपने विचार लिये थे, और एक ऐसी सरकार बनाने की कोशिश की जिसकी बुनियाद सिर्फ बल पर नहीं, बल्कि नैतिकता पर रखी गई हो। जापान उन दिनों ऐसे ख़ानदानों से भरा हुआ था, जिसके सरदार बिल्कुल स्वतन्त्र थे। ये लोग आपस में लड़ते थे और किसीकी हुकूमत नहीं मानते थे। सम्राट अपनी लम्बी-चौड़ी उपाधि के होते

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुए भी एक बड़ा ख़ानदानी सरदार ही होता था। शोतुकू तैशी ने इस हालत को बदलने और केंद्रीय सरकार को मजबूत बनाने की कोशिश शुरू कर दी। इसने बहुत-से ख़ानदानी सरदारों और अमीरों को 'ताबेदार' या सम्राट का मातहत बना दिया। यह सन् ६०० ई० के लगभग की बात है।

लेकिन शोतुकू तैशी की मृत्यु के बाद सोगा-ख़ानदान हटा दिया गया। थोड़े दिन बाद एक दूसरा आदमी, जो जापानी इतिहास में बहुत मशहूर है, सामने आता है। इसका नाम काकातोमीनो कामातोरी था। इसने सरकार के संगठन में हर तरह के परिवर्त्तन किये और बहुत-से चीनी तौर-तरीके वैसे-के-वैसे अपना लिये। सम्राट की हैसियत अब एक कुल के सरदार से बहुत ऊँची हो गई और केंद्रीय सरकार बहुत मज़बूत हो गई।

इसी जमाने में नारा राजधानी बना। लेकिन यह राजधानी थोड़े-ही दिन रही। सन् ७९४ ई० में क्योटो राजधानी बनाया गया और यहाँ क़रीब ग्यारह सौ वर्ष तक राजधानी रही। कुछ-ही वर्ष हुए टोकियो ने उसकी जगह ले ली है। टोकियो एक बहुत बड़ा आधुनिक शहर है, लेकिन वह क्योटो ही है जो हमें जापान की आत्मा का कुछ परिचय कराता है, क्योंकि उसके साथ एक हजार वर्ष की स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं।

काकातोमीनो कामातोरी फ़ूजीवारा-वंश का जन्मदाता हुआ। इस वंश ने जापानी इतिहास में बहुत बड़ा भाग लिया है। इसने दो सौ वर्ष हुकूमत की, और यह सम्राटों को अपने हाथ की कठपुतली बनाये रहा, और बहुत बार अपने कुल की लड़कियों से शादी करने के लिए उन्हें मजबूर करता रहा। इसे अन्य ख़ानदानों के योग्य आदमियों का डर रहता था, इसलिए उनसे पिंड छुड़ाने के लिए उन्हें जबर-दस्ती मठों में दाखिल करा दिया जाता था।

जब राजधानी नारा में थी, तब चीन के सम्राट ने जापानी शासक के पास एक राजदूत भेजा और उसे 'ताई-नी-पुंग-कोक का राजा' कहकर सम्बोधित किया। 'ताई-नी-पुंग-कोक' का मतलब होता है 'महान् सूर्योदय का राज्य'। जापानी लोगों को यह नाम बहुत पसन्द आया। यामातो के मुक़ाबले यह कहीं ज्यादा शानदार था, इसलिए इन लोगों ने अपने देश का नाम 'दाई निप्पन' रखा, यानी 'सूर्योदय का देश'। अभीतक जापानियों का अपने देश के लिए यही नाम है। 'जापान' शब्द 'निप्पन' शब्द से एक अजीब तरीके पर बिगड़कर बना है। छः सौ वर्ष बाद एक महान् इटालियन यात्री, मार्को पोलो, चीन गया। वह जापान तो नहीं गया, लेकिन इसने अपने यात्रा-विवरण में जापान का हाल लिखा है। इसने चीन में नी-पुंग-कोक का नाम सुना था। उसने अपनी किताब में इसे 'चिपनगो' लिखा। इसी शब्द से 'जापान' शब्द निकला।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: २७ :

हर्षवर्धन और ह्यूएनत्सांग

अब हम फिर भारत वापस चलेंगे। हूणों की हार हो चुकी थी और वे पीछे हटा दिये गये थे। लेकिन बहुत-से हूण इधर-उधर कोनों में बच रह गये थे। बालादित्य के बाद महान् गुप्त-राजवंश खतम हो गया था, और उत्तर भारत में बहुत से राज्य और रियासतें क़ायम हो गई थीं। दक्षिण में पुलकेशिन ने चालुक्य-साम्राज्य क़ायम कर लिया था।

कानपुर से थोड़ी दूर कन्नौज नाम का छोटा-सा नगर है। कन्नौज एक मामूली जगह है, गाँव से कुछ-ही बड़ा होगा। लेकिन जिस ज़माने का जिक्र मैं कर रहा हूँ, उस ज़माने में कन्नौज एक बड़ी राजधानी थी, और अपने कवियों, कलाकारों और दार्शनिकों के लिए मशहूर थी।

कन्नौज नया नाम है। इसका असली नाम 'कान्यकुब्ज' अर्थात् 'कुबड़ी लड़की' है। कथा है कि किसी प्राचीन ऋषि ने काल्पनिक अपमान से गुस्से में आकर एक राजा की सौ लड़कियों को शाप दे दिया था, जिससे वे कुबड़ी हो गई थीं। उस समय से यह शहर, जहाँ ये लड़कियाँ रहती थीं, 'कुबड़ी लड़कियों का शहर' यानी कान्यकुब्ज कहलाने लगा।

लेकिन संक्षेप के लिए हम इसको कन्नौज ही कहेंगे। हूणों ने कन्नौज के राजा को मार डाला और उसकी रानी राज्यश्री को क़ैद कर लिया। राज्यश्री का भाई राजवर्धन अपनी बहन को छुड़ाने के लिए हूणों से लड़ने आया। उसने हूणों को तो हरा दिया, लेकिन धोखे से खुद मारा गया। इसपर उसका छोटा भाई हर्षवर्धन अपनी बहन राज्यश्री की तलाश में निकला। वह बेचारी किसी तरह से निकलकर पहाड़ों में जा छिपी थी, और अपनी मुसीबतों से परेशान होकर उसने आत्महत्या का निश्चय कर लिया था। कहते हैं कि वह भस्म होने जा ही रही थी कि हर्ष ने उसे ढूंढ़ लिया और उसकी ज़िन्दगी बचा ली।

अपनी बहन को पाने और बचाने के बाद हर्ष ने पहला काम यह किया कि उस नीच राजा को, जिसने उसके भाई को धोखे से मार डाला था, सजा दी। और उसने सिर्फ इस नीच राजा को ही सज़ा नहीं दी, बल्कि सारे उत्तर भारत को बंगाल की खाड़ी से अरब के समुद्र तक, और दक्षिण में विंध्य पर्वत तक, जीत लिया। विन्ध्याचल के बाद चालुक्य-साम्राज्य था और हर्ष को यहाँ रुकना पड़ा।

हर्षवर्धन ने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया। वह खुद कवि और नाटककार था, इससे उसके पास कवि और कलाकार जमा हो गये, और कन्नौज एक मशहूर शहर हो गया। हर्ष पक्का बौद्ध था। इस समय बौद्ध-धर्म एक अलग

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

धर्म की हैसियत से भारत में बहुत कमजोर पड़ चुका था। ब्राह्मण इसको हज़म करते जा रहे थे। हर्ष भारत का आख़िरी महान् बौद्ध सम्राट हुआ है।

हर्ष के राज-काल में हमारा पुराना मित्र ह्यएनत्सांग[1] भारत आया था और उसके यात्रा-वर्णन में, जो उसने भारत से लौटकर लिखा था, भारत का और मध्य-एशिया के उन मुल्कों का, जिनसे होकर वह भारत आया था, बहुत-कुछ हाल मिलता है। ह्यएनत्सांग एक धर्मपरायण बौद्ध था और वह बौद्ध-धर्म के पवित्र स्थानों की यात्रा करने और इस धर्म की पुस्तकें अपने साथ ले जाने के लिए भारत आया था। यह गोबी के रेगिस्तान को पार करके आया था, और रास्ते में उसने ताशकन्द, समरकन्द, बलख, ख़ुतन, यारक़न्द आदि कई मशहूर जगहों की यात्रा की थी। वह सारे भारत में घूमा और शायद लंका भी गया था। उसकी किताब अनेक बातों का एक आश्चर्यजनक और चित्ताकर्षक कबाड़खाना है, जिसमें उन देशों का सच्चा दिग्दर्शन है, जहाँ-जहाँ ह्यूएनत्सांग गया था; भारत के भिन्न-भिन्न भागों के निवासियों के आश्चर्यजनक चरित्र-चित्रण हैं जो आज भी सही मालूम होते हैं; अद्भुत कहानियाँ हैं जो ह्यएनत्सांग ने यहाँ सुनी थीं; और बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों के चमत्कारों की अनेक कथाएँ हैं।

ह्यूएनत्सांग ने बहुत वर्ष भारत में बिताये; ख़ासकर नालन्दा के विश्व-विद्यालय में, जो पाटलिपुत्र के पास था। कहते हैं कि नालन्दा में, जो मठ और विश्व-विद्यालय दोनों था, दस हजार विद्यार्थी और भिक्षु रहा करते थे। यह बौद्ध-विद्या का बड़ा केंद्र था और बनारस का, जो ब्राह्मण-विद्या का केंद्र समझा जाता था, प्रतिद्वन्द्वी था।

ह्यएनत्सांग सन् ६२९ ई० में भारत आया। चीन से जब उसने अपनी यात्रा शुरू की थी तब उसकी उम्र २६ साल की थी। बौद्ध-भिक्षु का केसरिया बाना पहनकर वह अकेला अपनी कठिन यात्रा पर चल पड़ा, हालाँकि चीनी सम्राट ने उसे इजाज़त नहीं दी थी। उसने गोबी का रेगिस्तान पार किया और जब वह सब कठिनाइयाँ झेलकर तुरफ़ान के राज्य में, जो इस रेगिस्तान के किनारे पर ही था, पहुँचा, तो सिर्फ उसकी जान-ही बाकी थी। तुरफ़ान का रेगिस्तानी राज्य सभ्यता और संस्कृति का छोटा-सा एक अजीब नख़लिस्तान था। आज यह एक वीरान जगह है जहाँ पुरातत्त्ववेत्ता और इतिहासवेत्ता पुराने खण्डहरों की तलाश में ज़मीन खोदते फिरते हैं, लेकिन सातवीं सदी में, जब ह्यूएनत्सांग यहाँ से गुज़रा था, तुरफ़ान एक उच्च संस्कृति का और जीवन से भरा-पूरा देश था। इसकी संस्कृति में भारत, चीन, ईरान, और कुछ अंशों में योरप, की संस्कृतियों

---

[1] ह्यूएनत्सांग—लोग इसे युएन-चैंग, युआन-च्वांग या ह्वान-त्सांग के नाम से भी पुकारते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का अजीब मेल पाया जाता था। यहाँ बौद्ध-धर्म का प्रचार था और संस्कृत के कारण भारतीयता का प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई देता था। फिर भी इस देश का रहन-सहन ज्यादातर चीन और ईरान से लिया हुआ था।

तुरफ़ान से ह्यू एनत्सांग कूचा गया। यह उस ज़माने में मध्य-एशिया का एक दूसरा मशहूर केन्द्र था। इसकी सभ्यता शानदार तथा भव्य थी और यहाँ के गायक तथा यहाँ की स्त्रियों की सुन्दरता खासतौर पर मशहूर थी। इस देश का धर्म और कला भारत की थी।

इसके बाद वह तुर्कों के मुल्क से होकर गुज़रा, जहाँ का राजा 'महान्-खान', जो बौद्ध था, मध्य-एशिया के ज्यादातर हिस्से पर राज करता था। इसके बाद वह समरकन्द पहुँचा, जो उस समय भी एक पुराना शहर माना जाता था और जिसके साथ सिकन्दर की यादगार जुड़ी हुई थी, क्योंकि क़रीब एक हज़ार साल पहले सिकन्दर यहाँ से होकर गुज़रा था। फिर वह बलख गया और वहाँ से काबुल नदी की घाटी पारकर कश्मीर होता हुआ भारत में आया।

यह ज़माना चीन में तांग-राजवंश के शुरू का था, जब चीन की राजधानी सी-आन-फू कला और विद्या का केन्द्र थी और सभ्यता में चीन दुनिया के सब देशों से आगे था। इसलिए तुम्हें याद रखना चाहिए कि ह्यू एनत्सांग बहुत ऊँची सभ्यता के देश से आया था, और इस तुलना करने में उसका आदर्श काफ़ी ऊँचा रहा होगा। इसीलिए भारत की हालत के बारे में उसका वर्णन बहुत महत्त्वपूर्ण और क़ीमती है। उसने भारतवासियों की और उनके शासन की बहुत तारीफ़ की है। वह कहता है—"हालांकि भारत के साधारण लोग स्वभाव से बेपरवाह होते हैं, फिर भी वे ईमानदार और इज्ज़तवाले हैं। रुपये-पैसे के मामले में इनमें कोई मक्कारी नहीं पाई जाती और इन्साफ़ करने में ये दयाशील होते हैं। आचरण में न उनमें धोखेबाज़ी है, न विश्वासघात; और ये लोग अपनी बातों के और वादों के पक्के हैं। शासन के नियमों में इनका सिद्धान्तों पर आग्रह एक विशेषता रखता है और इनके व्यवहार में बहुत सज्जनता और मिठास है। अपराधियों और बाग़ियों की तादाद यहाँ बहुत-ही कम है और उनके कारण कभी-कभी ही परेशानी उठानी पड़ती है।"

ह्यू एनत्सांग ने देखा कि जनता के लिए शिक्षा की व्यवस्था अच्छी थी और बच्चों की शिक्षा जल्दी शुरू कर दी जाती थी। पहली किताब खतम करने के बाद लड़के या लड़की को सात वर्ष की उम्र से ही पांचों शास्त्रों का पढ़ाना शुरू कर दिया जाता था। यह मालूम होता है कि प्रारम्भिक शिक्षा काफ़ी फैली हुई थी, क्योंकि सारे पुरोहित और साधु शिक्षक हुआ करते थे और इनकी कोई कमी नहीं थी। ह्यू एनत्सांग पर भारतवासियों के विद्या-प्रेम का बहुत असर पड़ा था। अपनी सारी किताब में वह इस बात का ज़िक्र करता है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उसने प्रयाग के बड़े कुम्भ मेले का भी ज़िक्र किया है। ह्यूएनत्सांग लिखता है कि बौद्ध होते हुए भी हर्ष इस शुद्ध हिन्दू मेले में जाया करता था। उसकी तरफ़ से एक शाही आज्ञा-पत्र ज़ारी किया जाता था, जिसमें 'पंच हिन्द' के सब ग़रीबों और मुहताजों को मेले में आकर उसका मेहमान होने के लिए निमंत्रित किया जाता था। किसी सम्राट के लिए भी इस तरह का निमंत्रण देना बड़े हौसले का काम था। कहने की ज़रूरत नहीं कि बहुत-से आदमी आते थे और रोज़ क़रीब एक लाख आदमी हर्ष के यहाँ भोजन करते थे! इस मेले में हर पाँचवें वर्ष हर्ष अपने ख़ज़ाने की सारी बचत, सोना, ज़ेवर, रेशम, वग़ैरा जो कुछ उसके पास होता था, सब बांट देता था। एक बार उसने अपना राज-मुकुट और क़ीमती पोशाक भी दे डाली थी और अपनी बहन राज्यश्री से एक पुराना मामूली कपड़ा, जो पहले पहना जा चुका था, लेकर पहना था।

ह्यूएनत्सांग की किताब में एक बड़ी मज़ेदार बात है। वह लिखता है कि भारत में जब कोई आदमी बीमार पड़ता था, तो वह तुरन्त सात दिन का लंघन कर डालता था। बहुत लोग तो लंघन के दौरान में ही अच्छे हो जाते थे। लेकिन अगर बीमारी फिर भी क़ायम रहती तो दवा लेते थे।

भारत में बहुत वर्ष बिताने के बाद ह्यूएनत्सांग फिर उत्तरी पहाड़ों को पार करता हुआ अपने देश लौट गया। सिन्ध नदी में वह डूबते-डूबते बचा और उसके साथ की बहुत-सी क़ीमती किताबें बह गईं। फिर भी वह हाथ से लिखी बहुत-सी किताबें अपने साथ ले गया था और बहुत सालों तक वह इन किताबों का चीनी भाषा में अनुवाद करने में लगा रहा। तांग-सम्राट ने सी-आन-फू में उसका बड़े प्रेम से स्वागत किया और इसी सम्राट के कहने पर उसने अपनी यात्रा का हाल लिखा था।

: २८ :

दक्षिण भारत के राजा और महापुरुष

भारत के पश्चिम में और मध्य में चालुक्य-साम्राज्य था। इसमें ज्यादातर महाराष्ट्र प्रदेश थे और इसकी राजधानी बदामी थी। ह्यूएनत्सांग महाराष्ट्रियों की और उनकी दिलेरी की तारीफ़ करता है। वह लिखता है कि ये लोग "युद्ध-प्रिय और अभिमानी प्रकृतिवाले, उपकार के लिए कृतज्ञ और अपकार का बदला लेनेवाले होते हैं।" चालुक्यों को उत्तर में हर्ष की, दक्षिण में पल्लवों की, और पूर्व में कलिंग की रोक-थाम करनी पड़ती थी। पर उनकी शक्ति बढ़ती गई और वे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक किनारे से दूसरे किनारे तक फैल गये। लेकिन बाद में राष्ट्रकूटों ने उन्हें पीछे ढकेल दिया।

इसके बाद चोल-साम्राज्य शक्तिशाली हो गया और नवीं सदी के बीच के लगभग इसने दक्षिण भारत पर प्रभुत्व जमा लिया। यह एक समुद्री राष्ट्र था, और इसके पास बहुत बड़ी जलसेना थी, जिससे इसने बंगाल की खाड़ी और अरब-सागर पर प्रभुत्व क़ायम कर लिया था। इसका मुख्य बन्दरगाह कावेरी-पट्टिनम् कावेरी नदी के मुहाने पर बसा था। विजयालय चोल-साम्राज्य का पहला महान् राजा था। चोल उत्तर की ओर फैलते गये, पर अन्त में राष्ट्रकूटों ने उन्हें एकाएक हरा दिया। लेकिन राजराजा ने चोल-राजवंश को फिर से ताक़तवर बनाकर उसकी खोई हुई शान फिर क़ायम कर दी। यह दसवीं सदी के अन्त की बात है, जब उत्तर भारत में मुसलमानों के हमले हो रहे थे। सुदूर उत्तर में जो घटनाएं हो रही थीं, उनका प्रभाव राजराजा पर कुछ नहीं पड़ा और वह अपने साम्राज्य को बढ़ाने की कोशिश में बराबर लगा रहा। उसने लंका को जीता, और चोलों ने वहाँ सत्तर वर्ष तक राज्य किया। राजराजा का पुत्र राजेन्द्र भी उसीकी तरह ज़बरदस्त और लड़ाकू था। उसने दक्षिण ब्रह्मदेश को जीता। इसके लिए वह अपने साथ लड़ाई के हाथियों को जहाज़ों में लादकर ले गया था। उसने उत्तर भारत पर भी धावा मारा और बंगाल के राजा को हरा दिया। इस प्रकार चोल-साम्राज्य बहुत विस्तृत हो गया। गुप्त-साम्राज्य के बाद सबसे बड़ा साम्राज्य यही था। लेकिन यह बहुत दिन तक नहीं टिक सका। राजेन्द्र ने सन् १०१३ ई० से १०४४ ई० तक राज्य किया। उसकी मृत्यु के बाद बहुत-से मातहत राजाओं की बग़ावत के कारण चोल-साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया।

अपनी इन सैनिक सफलताओं के अलावा चोल लोग अपने समुद्री व्यापार के लिए भी दूर दूर तक मशहूर थे। उनके बनाये हुए सुन्दर सूती कपड़ों की बड़ी माँग थी। उनका बन्दरगाह कावेरीपट्टिनम् बड़ी चहल-पहल की जगह था। यहाँ दूर-दूर देशों से माल लेकर जहाज़ आते थे और यहाँ से माल ले जाते थे। यहाँ पर यवनों यानी यूनानियों की भी एक बस्ती थी। महाभारत में भी चोलों का ज़िक्र आता है।

लेकिन राजाओं और उनकी विजयों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण उस समय की सभ्यता और कला का लेखा है। कला की दृष्टि से उत्तर भारत की बनिस्बत दक्षिण में बहुत ज्यादा अवशेष पाये जाते हैं। उत्तर की बहुत-सी यादगारें, इमारतें और पत्थर की मूर्तियाँ लड़ाइयों और मुसलमानी हमलों में नष्ट हो गईं। दक्षिण भारत में ये चीज़ें मुसलमानों के पहुँचने के बाद भी बच गईं।

इसी ज़माने का बना हुआ एक सुन्दर मन्दिर तंजोर में है, जिसे चोल-सम्राट राजराजा ने बनवाया था। बदामी में भी बहुत सुन्दर मन्दिर हैं, और कांजीवरम्

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में भी। लेकिन उस ज़माने की सबसे अद्भुत इमारत एलोरा का कैलाश-मन्दिर है जो चट्टान में काटकर बनाने की कारीगरी का चमत्कार है। इस मन्दिर को बनाने का काम आठवीं सदी के आख़िरी हिस्से में शुरू हुआ था। ताँबे की मूर्तियों के भी बहुत-से सुन्दर नमूने मिलते हैं। इनमें नटराज, यानी शिव, के तांडव-नृत्य की मूर्ति बहुत मशहूर है।

चोल-सम्राट राजेन्द्र प्रथम ने चोलापुर में सिंचाई के लिए नहरें निकालने का एक ज़बरदस्त बाँध बनवाया। यह बाँध ठोस चूने का था और सोलह मील लम्बा था। इस बाँध के बनने के सौ वर्ष बाद एक अरब यात्री अलबेरूनी वहाँ गया और इसे देखकर चकित हो गया। वह लिखता है—"हमारे देशवासी इसे देखकर ताज्जुब करते हैं। ऐसी कोई चीज़ बनाना तो दर किनार, इसका वर्णन भी नहीं कर सकते।"

इसी समय दक्षिण भारत में एक बड़े अद्भुत आदमी ने जन्म लिया, जिसने भारत की ज़िन्दगी में सारे राजा-महाराजाओं से भी ज्यादा महत्त्व का हिस्सा लिया है। यह नवयुवक शंकराचार्य के नाम से प्रसिद्ध है। वह शायद आठवीं सदी के अन्त में पैदा हुआ था। मालूम होता है कि वह एक अपूर्व प्रतिभाशाली व्यक्ति था। वह हिन्दू-धर्म के, या हिन्दू-धर्म के एक विशेष बौद्धिक रूप के, जिसे शैव मत कहते हैं, पुनरुद्धार में लग गया। वह अपनी बुद्धि और तर्क के बल पर बौद्ध-धर्म के विरुद्ध लड़ा। बौद्ध-संघ की तरह उसने भी संन्यासियों का संघ बनाया, जिसमें सब जाति के लोग शामिल हो सकते थे। उसने संन्यासियों के संघ के चार केन्द्र भारत के उत्तर, पश्चिम, दक्षिण और पूर्व के चारों कोनों में स्थापित किये। उसने सारे भारत की यात्रा की, और जहाँ कहीं भी वह गया, सफल हुआ। वह एक विजेता के रूप में बनारस (अब वाराणसी) आया। पर वह बुद्धि को जीतनेवाला और तर्क में जीतनेवाला विजेता था। अन्त में वह हिमालय पर केदारनाथ गया, जहाँ सदा जमी रहनेवाली बर्फ़ की शुरुआत होती है, और वहीं उसका देहावसान हुआ। जब वह मरा, उसकी उम्र केवल बत्तीस बरस या शायद इससे कुछ ही ज्यादा थी।

शंकराचार्य के कामों का लेखा अद्भुत है। बौद्ध-धर्म, जो उत्तर भारत से दक्षिण भगा दिया गया था, अब भारत से क़रीब-क़रीब ग़ायब हो गया। हिन्दू-धर्म और शैव-मत के नाम से प्रसिद्ध उसका एक रूप सारे देश में फैल गया। शंकर के ग्रन्थों, भाष्यों और तर्कों से सारे देश में एक बौद्धिक हलचल मच गई। शंकर सिर्फ़ ब्राह्मणों ही का महान् नेता नहीं बन गया, बल्कि मालूम होता है, उसने जन-साधारण के चित्त को भी आकर्षित कर लिया था। यह एक असाधारण बात मालूम होती है कि कोई आदमी, सिर्फ़ अपनी बुद्धि के बल पर एक महान् नेता बन जाय, और फिर करोड़ों आदमियों पर और इतिहास पर अपनी छाप डाल दे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हिन्दू दार्शनिकों में एक आदमी चार्वाक नाम का भी हुआ है जिसने अनीश्वरवाद का प्रचार किया है। यानी वह कहा करता था कि ईश्वर नहीं है। आज बहुत-से ऐसे आदमी हैं, ख़ासकर रूस में, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते, लेकिन यहाँ हमें इस प्रश्न की गहराई में जाने की जरूरत नहीं है। मतलब की बात। यह है कि पुराने ज़माने में भारत में विचार और प्रचार की कितनी स्वतत्रता थी। वह अन्तःकरण की स्वतन्त्रता का युग था। यह बात योरप में अभीतक नहीं थी और आज भी इस सम्बन्ध में कुछ बन्दिशें हैं।

शंकर के छोटे-से किन्तु कठोर परिश्रम के जीवन से दूसरी बात यह साबित होती है कि सारे भारत में सांस्कृतिक एकता थी। यह एकता प्राचीन इतिहास में लगातार स्वीकार की गई है। भूगोल की दृष्टि से, भारत क़रीब-क़रीब एक इकाई है। राजनैतिक दृष्टि से भारत में अक्सर विभेद रहा है, हालांकि कभी-कभी सारा देश एक-ही केन्द्रीय शासन में भी रहा। लेकिन संस्कृति—तहज़ीब—के लिहाज़ से यह देश हमेशा से एक रहा, क्योंकि इसकी पृष्ठभूमि, इसकी परम्पराएं, इसका धर्म, इसके वीर और वीरांगनाएं, इसकी पौराणिक गाथाएं, इसकी विद्वत्ता से भरी भाषा (संस्कृत), देश भर में फैले हुए इसके तीर्थस्थान, इसकी ग्राम-पंचायतें, इसकी विचार-धारा, और इसका राजनैतिक संगठन, शुरू से एक-ही चले आ रहे हैं। साधारण भारतवासी की नज़र में सारा भारत 'पूण्यभूमि' था और बाक़ी दुनिया अधिकतर म्लेच्छों का और बर्बरों का निवास-स्थान थी! इस प्रकार भारत में भारतीयता की एक व्यापक भावना पैदा हुई, जिसने देश के राजनैतिक विभाजन की परवाह नहीं की; बल्कि उस पर विजय प्राप्त की। यह बात ख़ासतौर से इसलिए हो सकी कि गाँवों के पंचायती शासन की प्रथा क़ायम रही--ऊपर चाहे जो तब्दीलियाँ क्यों न होती रही हों।

शंकर का अपने संन्यासियों के मठों के लिए भारत के चारों कोनों को चुनना इस बात का सबूत है कि वह भारत को सांस्कृतिक इकाई समझता था। और उसके आन्दोलन की थोड़े-ही समय में महान सफलता यह भी ज़ाहिर करती है कि बौद्धिक और सांस्कृतिक धाराएं कितनी तेज़ी से देश के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँच गईं।

शंकर ने शैव-मत का प्रचार किया। यह मत दक्षिण में ख़ासतौर से फैला जहाँ ज्यादातर शिव के पुराने मन्दिर हैं। उत्तर में गुप्तों के ज़माने में वैष्णव-धर्म का और कृष्ण की पूजा का फिर से बहुत प्रचार हुआ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: २९ :

मध्य-युग का भारत

मैंने अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधान मंत्री चाणक्य या कौटिल्य के बनाये हुए 'अर्थशास्त्र' का ज़िक्र किया था। इस ग्रन्थ में उस ज़माने की शासन-प्रणाली और उस ज़माने के लोगों के बारे में हर तरह की बातें लिखी हैं; मानो एक खिड़की खुल गई हो जिसमें से हम ईसा के पूर्व की चौथी सदी के भारत की एक झाँकी देख सकते हैं। ऐसी किताबें, जिनमें शासन की अन्दरूनी बातों का ब्यौरेवार वर्णन हो, बादशाहों और उनकी विजयों के अत्युक्तिपूर्ण वर्णनों से कहीं ज्यादा उपयोगी होती हैं।

एक दूसरी भी किताब है जिससे मध्य-युग के भारत के बारे में हम कुछ अन्दाज़ लगा सकते हैं। यह शुक्राचार्य का 'नीतिसार' है। यह पुस्तक इतनी उत्तम और सहायक नहीं है, जितनी कि अर्थशास्त्र। लेकिन कुछ इसकी मदद से और कुछ दूसरे शिलालेखों और वर्णनों की मदद से, हम ईसा के बाद की नवीं और दसवीं सदी की एक झाँकी देखने की कोशिश करेंगे।

'नीतिसार' में लिखा है कि "न तो वर्ण से, और न कुलीनता से ब्राह्मण होने योग्य भावना पैदा होती है।" इसलिए इस ग्रन्थ के अनुसार जाति-भेद जन्म से नहीं, बल्कि योग्यता से होना चाहिए। एक दूसरी जगह इसमें लिखा है, "सरकारी नियुक्ति करते समय जाति या कुल का नहीं बल्कि कार्य-दक्षता, चरित्र और योग्यता का विचार करना चाहिए।" राजा का फ़र्ज़ था कि वह खुद अपनी राय के अनुसार नहीं बल्कि जनता के बहुमत के अनुसार काम करे। "लोकमत राजा से भी ज्यादा शक्तिशाली है, जैसे बहुत-से रेशों की बनी हुई रस्सी शेर को भी घसीटने की सामर्थ्य रखती है।"

इसी किताब में लिखा है कि उस समय सम्राट की एक राष्ट्र-परिषद् होती थी। सड़कों, इमारतों, वग़ैरा के लिए और पार्कों और जंगलों के लिए ऊँचे अफ़सर नियुक्त होते थे। क़सबों और गाँवों की व्यवस्था का संगठन था। पुलों, घाटों, धर्मशालाओं, सड़कों और सबसे महत्त्वपूर्ण चीज़—शहर और गाँव की नालियों का वर्णन भी इस पुस्तक में है।

गाँवों के मामलों में गाँव की पंचायतों को पूरा-पूरा इख़्तियार था और सरकारी अफ़सर पंचों की बड़ी इज्ज़त करते थे। पंचायत ही खेती के लिए ज़मीनें देती थी, लगान वसूल करती थी और गाँव की तरफ़ से सरकार को मालगुजारी अदा करती थी। इन सब के ऊपर शायद एक बड़ी पंचायत या महासभा होती थी जो इन छोटी पंचायतों की निगरानी करती थी और ज़रूरत पड़ने पर उनके मामलों में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दखल भी देती थी। इन पंचायतों को अदालती इख़्तियार भी हासिल थे। ये अदालतों की हैसियत से भी काम कर सकती थीं और लोगों के मुक़दमों का फ़ैसला कर सकती थीं।

ग्रामीण-स्वराज्य की यह प्रणाली आर्य शासन-व्यवस्था की बुनियाद थी। इसीकी वजह से उसमें इतनी ताक़त थी। गाँव की ये पंचायतें अपनी आज़ादी की रक्षा के लिए इतनी जागरूक थीं कि यह क़ायदा बना दिया गया था कि बिना राजाज्ञा के कोई भी सिपाही किसी गाँव में घुस नहीं सकता था। 'नीतिसार' में लिखा है कि अगर प्रजा राजा से किसी सरकारी अफ़सर की शिकायत करे, तो राजा को चाहिए कि "वह अपनी प्रजा का पक्ष करे, न कि अपने अफ़सर का।" और अगर बहुत-से लोग किसी अफ़सर की शिकायत करें, तो उस अफ़सर को बरखास्त कर देना चाहिए, क्योंकि 'नीतिसार' में लिखा है "अधिकार का मद पीकर किसको नशा नहीं होता?"

बड़े शहरों में, जहाँ बहुत-से दस्तकार और व्यापारी रहते थे, व्यापारियों और दस्तकारों के संघ होते थे, यानी दस्तकारों के संघ होते थे, साहूकारों के संगठन होते थे और व्यापारियों की समितियाँ होती थीं। धार्मिक संस्थाएं तो थीं ही। इन सब संस्थाओं का अपने अन्दरूनी मामलों पर बहुत काफ़ी नियंत्रण रहता था।

राजा के लिए यह हिदायत थी कि जनता पर हलके कर लगाये, जिससे नुक़सान न पहुँचे और उसपर भारी बोझ न पड़ जाय। राजा को टैक्स उस तरह वसूल करने चाहिए जैसे माला बनानेवाला जंगल के पेड़ों से फूल और पत्तियाँ चुनता है, उन्हें जलाकर कोयला बनानेवाले की तरह नहीं।

पुराने ज़माने में भारत ने गणित में बड़ी उन्नति की थी और उस समय के महान् गणितज्ञों में लीलावती का भी नाम लिया जाता है। कहते हैं कि लीलावती और उसके पिता भास्कराचार्य ने, और शायद एक दूसरे व्यक्ति ब्रह्मगुप्त ने, पहले-पहल दशमलव की प्रणाली निकाली थी। बीजगणित भी भारत में ही निकला बताया जाता है। भारत से यह अरब में गया, और अरब से योरप पहुँचा। बीज-गणित का अंग्रेज़ी नाम 'एलजब्रा' अरबी शब्द है।

: ३० :

अंगकोर और श्रीविजय

अब थोड़ी देर के लिए बृहत्तर भारत की सैर करें। बृहत्तर भारत उन उपनिवेशों और बस्तियों को कहते हैं जो दक्षिण भारत के लोगों ने मलेशिया और

हिन्द-चीन में जाकर स्थापित की थी। कई जगह एक साथ विचारपूर्वक उपनिवेशों का बसाया जाना ज़ाहिर करता है कि उस ज़माने में समुद्र-यात्राएं खूब होती होंगी और समुद्री रास्तों पर काफ़ी अधिकार रहा होगा। ये नई बस्तियाँ ईसवी सन् की पहली और दूसरी सदी में शुरू हुईं। ये सब हिन्दू बस्तियाँ थीं, और इनके नाम दक्षिण भारतीय ढंग पर रखे गये थे।

सबसे पुराने उपनिवेश का नाम चम्पा था, और यह अनाम प्रदेश में था। हमें पता चलता है कि ईसा की तीसरी सदी में अनाम में पाण्डुरंगम् नाम का शहर बढ़ रहा था, और यहीं दो सौ वर्ष बाद काम्बोज का भी एक बड़ा शहर बसाया गया। इसमें पत्थर की बड़ी इमारतें और मन्दिर थे। इन भारतीय नई बस्तियों में सब जगहों पर बड़ी-बड़ी इमारतें बन रही थीं। इमारतें बनानेवाले शिल्पकार और राजगीर भारत से समुद्र पार ले जाये गये होंगे, और इन लोगों ने वहाँ इमारतें बनाने में भारत की परम्पराओं को निभाया। विभिन्न राज्यों और टापुओं में इमारतें बनाने के मामले में खूब होड़ चली और इस होड़ के फलस्वरूप ऊँचे दर्जे की कला का विकास हुआ।

लगभग तीन सौ वर्ष तक, यानी आठवीं सदी तक, हिन्द-चीन में तीन अलग-अलग हिन्दू राज्य थे। नवीं सदी में एक बहुत बड़ा राजा हुआ, जिसका नाम जयवर्मन था। इसने इन राज्यों को एक कर दिया और एक बहुत बड़ा साम्राज्य क़ायम किया। यह शायद बौद्ध था। उसने अपनी राजधानी अंगकोर को बनाना शुरू किया, और उसके उत्तराधिकारी यशोवर्मन ने उसे पूरा किया। यह काम्बोजी साम्राज्य क़रीब ४०० बरस तक क़ायम रहा। जैसा सब साम्राज्यों के बारे में कहा जाता है, यह भी बड़ा ताक़तवर और शानदार साम्राज्य समझा जाता था। 'अंगकोर थाम' का राजनगर सारे पूर्व में 'शानदार अंगकोर' के नाम से मशहूर था। इसकी आबादी दस लाख से ऊपर थी। इसके पास ही 'अंगकोर-वाट' का अद्भुत मन्दिर था। तेरहवीं सदी में काम्बोज पर कई दिशाओं से हमला हुआ। अनामी लोगों ने पूर्व की ओर से आक्रमण किया, और पश्चिम की ओर से वहाँ की निवासी क़ौमों ने। उत्तर में शान लोगों को मंगोलों ने दक्षिण की ओर खदेड़ दिया था। उनके सामने भागने का कोई दूसरा रास्ता नहीं था, इसलिए इन्होंने काम्बोज पर हमला कर दिया। यह राज्य इस तरह, बराबर लड़ाई करते-करते और अपनी हिफ़ाज़त करते-करते बिल्कुल पस्त हो गया। फिर भी अंगकोर पूर्व का एक सबसे ज्यादा शानदार शहर बना रहा। सन् १२९७ ई० में, एक चीनी दूत ने, जो काम्बोज के राजा के दरबार में भेजा गया था, अंगकोर की अद्भुत इमारतों की बड़ी प्रशंसा की है।

लेकिन एकाएक अंगकोर पर एक भयंकर आफ़त आ गई। सन् १३०० ई० के क़रीब कीचड़ जमा हो जाने से मीकांग नदी का मुहाना बन्द हो गया। नदी के

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पानी को बहने का रास्ता न मिलने से वह पीछे लौटकर इस विशाल शहर के चारों तरफ़ की ज़मीन में भर गया जिससे सारे उपजाऊ खेत दलदल बनकर निकम्मे हो गये। शहर की बड़ी आबादी भूखों मरने लगी और शहर छोड़कर दूसरी जगहों पर जाने के लिए मजबूर हो गई। इस तरह शानदार अंगकोर उजाड़ हो गया और उसपर जंगल छा गया। उसकी अद्भुत इमारतों में कुछ दिनों तक तो जंगली जानवरों का वास रहा, लेकिन अंत में जंगलों ने महलों को खाक में मिला दिया और अपना निष्कण्टक राज्य क़ायम कर लिया।

काम्बोज राज्य इस आफ़त के बाद बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सका। वह धीरे-धीरे नष्ट होते-होते केवल एक छोटा-सा प्रान्त रह गया जिस पर कभी अनाम हुकूमत करता था और कभी स्याम। लेकिन आज भी अंगकोर वाट के विशाल मंदिर के खण्डहर हमें बताते हैं कि कभी इस मन्दिर के पास एक शानदार और बाँका शहर बसा हुआ था, जहाँ दूर देशों के सौदागर अपना माल लेकर आते थे और जहाँ के निवासियों और कारीगरों की बनाई हुई नफ़ीस चीज़ें दूसरे देशों को जाया करती थीं।

हिन्द-चीन से थोड़ी-ही दूर, समुद्र के उस पार, सुमात्रा का टापू था। यहाँ भी दक्षिण भारत के पल्लवों ने ईसा की पहली और दूसरी सदी में अपने नये उपनिवेश बसाये थे। ये बस्तियाँ धीरे धीरे तरक्क़ी कर गईं। मलाया का प्रायद्वीप बहुत पहले ही सुमात्रा राज्य का हिस्सा बन गया था और उसके बाद बहुत दिनों तक सुमात्रा और मलाया प्रायद्वीप का इतिहास मिला-जुला रहा। श्रीविजय नाम का बड़ा शहर, जो सुमात्रा के पहाड़ों में बसा हुआ है, इस राज्य की राजधानी थी। पालेम्बांग नदी के मुहाने पर इसका एक बन्दरगाह था। पाँचवीं या छठीं सदी में बौद्ध-धर्म सुमात्रा का प्रमुख धर्म बन गया। वास्तव में सुमात्रा ने बौद्ध धर्म के प्रचार में बड़े उत्साह से पहला क़दम बढ़ाया और आखिर में यह हिन्दू मलेशिया के अधिकांश भाग को बौद्ध बनाने में सफल भी हुआ। इसीलिए सुमात्रा के इस साम्राज्य को 'श्रीविजय का बौद्ध साम्राज्य' कहते हैं।

श्रीविजय दिन-ब-दिन बढ़ता ही गया, यहाँतक कि उसके दायरे में सुमात्रा और मलाया ही नहीं, बल्कि फ़िलीपाइन, बोर्नियो, सेलेबीज़, जावा का आधा भाग, फ़ारमोसा के टापू का आधा भाग (जो अब जापान के क़ब्ज़े में हैं)[1], लंका और कैण्टन के पास दक्षिण चीन का एक बन्दरगाह भी आ गया। शायद इस साम्राज्य

---

[1] द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद फारमोसा चीन को वापस कर दिया गया। चीन के गृहयुद्ध में हार जाने के बाद कुओमितांग गुट चीन की मुख्य भूमि से भाग कर यहीं आ गया और आजकल यह उसीके कब्जे में है। इसका चीनी नाम "तेवान" है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में भारत के दक्षिणी कोने पर लंका के सामने का एक बन्दरगाह भी शामिल था। श्रीविजय का साम्राज्य एक लंबा-चौड़ा साम्राज्य था जिसमें सारा मलेशिया शामिल था। इन भारतीय बस्तियों के रहनेवालों के मुख्य धन्धे थे माल की अदला-बदली, व्यापार और जहाज़ बनाना।

सिंगापुर, जो आज बहुत बड़ा शहर है, शुरू में सुमात्रा में जाकर बसनेवालों की एक बस्ती थी। 'सिंहपुर' : यह नाम बिल्कुल भारतीय है। सिंगापुर के सामने, जलडमरूमध्य के उस पार, सुमात्रा के लोगों की एक दूसरी बस्ती भी थी। कभी-कभी ये लोग इस जलडमरूमध्य के बीच लोहे की ज़ंजीर डाल देते थे और सब जहाज़ों का आना-जाना रोक देते थे, जबतक कि वे भारी चुंगी न अदा कर देते।

इस तरह श्रीविजय का साम्राज्य ब्रिटिश साम्राज्य की ही तरह का था, हालांकि यह इससे बहुत छोटा ज़रूर था। ग्यारहवीं सदी में यह साम्राज्य अपनी उन्नति की आख़िरी सीढ़ी पर था। यह क़रीब-क़रीब वही ज़माना था जब दक्षिण भारत में चोल-साम्राज्य का बोल बाला था। लेकिन श्रीविजय का साम्राज्य चोल-साम्राज्य के बहुत समय बाद भी बना रहा। इन दोनों में बहुत समय तक मित्रता का सम्बन्ध रहा, परन्तु दोनों ही लड़ाकू समुद्र-यात्री लोगों के राज्य थे जिनकी ताक़तवर जलसेनाएं थीं तथा दूर-दूर के देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध थे। इसलिए ग्यारहवीं सदी के शुरू में इन दोनों में संघर्ष पैदा हो गया और युद्ध ठन गया। चोल राजा राजेन्द्र प्रथम ने एक जहाज़ी बेड़ा भेजा जिसने श्रीविजय को परास्त कर दिया। लेकिन श्रीविजय ने जल्दी ही अपनी गिरी हुई हालत को सुधार लिया।

दूसरी सदी में अपने जन्म से लगाकर पाँचवीं या छठवीं सदी तक श्रीविजय फूला-फला। इसके बाद यह बौद्ध हो गया, और फिर ग्यारहवीं सदी तक उत्तरोत्तर और लगातार तरक्की करता गया। इसके बाद भी तीन सौ साल तक यह एक महान् साम्राज्य बना रहा और मलेशिया के व्यापार-धन्धों पर इसका अधिकार बना रहा। अन्त में सन् १३७७ ई० में एक पुराने पल्लव उपनिवेश ने इसे हरा दिया।

श्रीविजय साम्राज्य लंका से लगाकर चीन के कैण्टन नगर तक फैला हुआ था। इन दोनों के बीच के ज्यादातर टापू इस साम्राज्य में शामिल थे। लेकिन यह एक छोटे-से टुकड़े पर काबू न पा सका। यह जावा का पूर्वी हिस्सा था, जो एक स्वतन्त्र राज्य बना रहा। इसने हिन्दू-धर्म को भी नहीं छोड़ा और बौद्ध बनने से इन्कार कर दिया। पूर्वी जावा का यह हिन्दू राज्य भी एक व्यापारी राज्य था और अपनी ख़ुशहाली के लिए व्यापार पर आश्रित था। यह सिंगापुर को बड़ी लालच की नज़र से देखता रहा होगा, क्योंकि मौक़े की जगह पर बसा होने के कारण सिंगापुर एक बहुत बड़ा व्यापारी केन्द्र हो गया था। इस तरह श्रीविजय और पूर्वी जावा में लाग-डाँट पैदा हुई और यह लाग-डाँट बढ़कर कट्टर दुश्मनी के रूप में

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

बदल गई। बारहवीं सदी से आगे जावा राज्य धीरे-धीरे श्रीविजय को दबाकर बढ़ता रहा, यहाँतक कि चौदहवीं सदी में, यानी सन् १३७७ ई० में, इसने श्रीविजय को बिल्कुल हरा दिया। यह लड़ाई बड़ी बेरहमी से लड़ी गई थी और इसमें बड़ा विनाश हुआ। श्रीविजय और सिंगापुर, दोनों नगर तहस-नहस हो गये। इस प्रकार मलेशिया के दूसरे महान् साम्राज्य--श्रीविजय साम्राज्य--का अन्त हुआ, और इसके खंडहरों पर मज्जापहित का तीसरा साम्राज्य स्थापित हुआ।

: ३१ :

रोम अन्धकार में फिर गिरता है

अब हमें ज़रा पीछे चलकर योरप पर फिर एक नज़र डाल लेनी चाहिए। रोमन सम्राट कान्स्टेण्टाइन ने कुस्तुन्तुनिया का शहर बास्फ़ोरस के किनारे उस जगह बसाया था जहाँ बाईज़ैण्टियम था। साम्राज्य की राजधानी पुराने रोम से उठाकर वह इस शहर, यानी नये रोम, को ले आया था। इसके बाद ही रोमन-साम्राज्य दो हिस्सों में बँट गया। पश्चिमी साम्राज्य की राजधानी रोम और पूर्वी की कुस्तुन्तुनिया हुई। पूर्वी साम्राज्य को बड़ी परेशानियाँ उठानी पड़ीं, और बहुत से दुश्मनों का मुक़ाबला करना पड़ा। फिर भी ताज्जुब है कि यह सदियों तक यानी ११०० वर्षों तक, जबतक कि तुर्कों ने आकर इसका ख़ातमा नहीं कर दिया, क़ायम रह सका।

पश्चिमी साम्राज्य की ज़िन्दगी इस क़िस्म की नहीं रही। बहुत दिनों तक पश्चिमी दुनिया पर हावी रह चुकनेवाले रोम के राजनगर का और रोम के नाम का इतना ज्यादा रोब होते हुए भी यह साम्राज्य अजीब तेज़ी के साथ नीचे लोट गया। यह किसी भी उत्तरी क़ौम के हमलों का मुक़ाबला नहीं कर सका। एलरिक, जो गॉथ जाति का था, इटली में घुस गया, और उसने सन् ४१० ई० में रोम पर क़ब्जा कर लिया। इसके बाद वाण्डाल आये और उन्होंने भी रोम को लूटा। वाण्डाल जर्मन जाति के थे। उन्होंने फ़ान्स और स्पेन को पार करके अफ़रीका में प्रवेश किया और वहाँ कार्थेज के खण्डहरों पर, अपना राज्य स्थापित किया। कार्थेज से इन लोगों ने समुद्र पार करके रोम पर क़ब्जा कर लिया। रोम पर कार्थेज की यह विजय ऐसी मालूम होती है, मानो प्यूनिक लड़ाइयों में रोम की विजय का इतने दिन बाद बदला लिया गया हो।

इसी ज़माने के लगभग हूण लोग, जो असल में मध्य-एशिया या मंगोलिया से आये थे, बड़े ताक़तवर हो गये थे। ये लोग ख़ानाबदोश थे, और डेन्यूब नदी के पूर्व

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

की तरफ़ और पूर्वी रोमन-साम्राज्य के उत्तर-पश्चिम में बस गये थे। अपने सरदार एटिला की मातहती में इन्होंने बड़ा ज़ोर बाँधा और कुस्तुन्तुनिया के सम्राट और वहाँ की सरकार पर इनका आतंक हमेशा छाया रहता था। एटिला इनको धमकियाँ दिखाता रहता था और इनसे बड़ी-बड़ी रक़में ऐंठता रहता था। पूर्वी साम्राज्य को काफ़ी ज़लील करने के बाद एटिला ने पश्चिमी साम्राज्य पर आक्रमण करने का निश्चय किया। उसने गॉल प्रदेश पर हमला किया और दक्षिणी फ़्रांस के बहुत-से शहर बरबाद कर दिये। शाही फ़ौज तो उसके मुक़ाबले में ठहर ही नहीं सकती थी। लेकिन वे जर्मन क़ौमें, जिन्हें रोमन लोग बर्बर कहते थे, हूणों के इस हमले से डर गईं, इसलिए फ़्रैंक और गॉथ लोगों ने रोम की शाही फ़ौजों का साथ दिया। इन सबने मिलकर ट्राय की बड़ी लड़ाई में हूणों का, जिनका सेनापति एटिला था, मुक़ाबला किया। कहते हैं, इस लड़ाई में डेढ़ लाख आदमी काम आये। एटिला हार गया और मंगोलियन हूण पीछे हटा दिये गये। यह सन् ४५१ ई० की बात है। लेकिन हार जाने पर भी एटिला में युद्ध का जोश बाक़ी रह गया था। वह इटली पहुँचा और वहाँ उसने उत्तर के बहुत-से शहर लूटे और जला दिये। कुछ दिनों बाद ही वह मर गया, लेकिन हमेशा के लिए बेरहमी और क्रूरता की एक बदनामी छोड़ गया। उसकी मृत्यु के बाद हूण ठंडे पड़ गये। वे खेती-बाड़ी करने लगे, और दूसरी बहुत-सी जातियों में मिल-जुल गये। तुम्हें याद होगा कि यह क़रीब-क़रीब वह ज़माना है, जब सफ़ेद हूण भारत में आये थे।

इसके ४० वर्ष बाद थियोडोरिक, जो गॉथ जाति का था, रोम का बादशाह हुआ और यही रोम के पश्चिमी साम्राज्य का अन्त था। थोड़े दिनों बाद पूर्वी रोमन साम्राज्य के एक बादशाह ने, जिसका नाम जस्टीनियन था, इस बात की कोशिश की कि इटली को अपने साम्राज्य में मिला ले। इस कोशिश में वह सफल भी हुआ। उसने सिसली और इटली दोनों को जीत लिया। लेकिन कुछ ही समय बाद ये दोनों उसके हाथ से निकल गये, और पूर्वी साम्राज्य को अपनी ही ज़िन्दगी के लाले पड़ गये।

पश्चिम के रोमन साम्राज्य के खतम होते ही, पश्चिम की कई जातियाँ, गॉथ, फ़्रैंक, वग़ैरा, आगे आईं। ये लोग आजकल की पश्चिमी योरोपीय जातियों के यानी जर्मन, फ़्रान्सीसी, इत्यादि के, पूर्वज थे। हम इन देशों को योरप में धीरे-धीरे बनता हुआ देखते हैं। साथ ही हम उस समय वहाँ एक बहुत नीचे दर्जे की सभ्यता पाते हैं। शाही रोम के खातमे के साथ-साथ रोम की तड़क-भड़क और विलासिता का भी खातमा हो गया और रोम की छिछली सभ्यता, जो घिसटती आ रही थी, एक दिन में ग़ायब हो गई, क्योंकि इसकी जड़ें तो पहले ही सूख चुकी थीं। इस तरह हम सचमुच मनुष्य जाति के पीछे हटने का एक विचित्र उदाहरण देखते हैं।

यह तो पश्चिमी साम्राज्य की बात हुई। आओ, अब पूर्वी साम्राज्य की ओर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी नज़र दौड़ायें। कान्स्टेण्टाइन ने ईसाई-धर्म को राज-धर्म बना दिया था। उसके एक उत्तराधिकारी, सम्राट जूलियन, ने ईसाई धर्म को मानने से इन्कार कर दिया। वह पुराने देवी-देवताओं की पूजा के मार्ग पर वापस जाना चाहता था। लेकिन वह सफल न हो सका, क्योंकि पुराने देवी-देवताओं के दिन बीत चुके थे और ईसाई-धर्म उनके मुक़ाबले में ज्यादा ताक़तवर था। जूलियन को ईसाई लोग 'क़ाफ़िर जूलियन' कहने लगे और इसी नाम से इतिहास में वह मशहूर है।

जूलियन के बाद एक दूसरा सम्राट हुआ, जो उससे बिल्कुल दूसरी तरह का था। उसका नाम थियोडोसियस था और उसे 'महान्' कहा गया है। मेरे ख़याल से उसे महान् इसलिए कहा गया है कि वह देवी-देवताओं की पुरानी मूर्तियों और पुराने मन्दिरों को तोड़ने में 'महान्' था। वह सिर्फ़ ग़ैर-ईसाइयों के ही खिलाफ़ नहीं था, बल्कि उन ईसाइयों का भी दुश्मन था, जो इसके मतानुसार कट्टर नहीं थे। कोई भी विचार या धर्म, जो उसे पसन्द न होता था, उसे वह सहन करने को तैयार नहीं था। थियोडोसियस ने थोड़े दिनों के लिए पूर्वी और पश्चिमी साम्राज्य को जोड़ दिया और वह दोनों का सम्राट बन गया। यह सन् ३९२ ई० की बात है, तबतक रोम पर बर्बरों का हमला नहीं हुआ था।

सन् ५२७ से ५६५ ई० तक जस्टीनियन कुस्तुन्तुनिया का सम्राट रहा। उसने गॉथ लोगों को इटली से निकाल दिया था और कुछ दिनों के लिए इटली और सिसली पूर्वी साम्राज्य के हिस्से बन गये। पर बाद में गॉथ लोगों ने इटली पर क़ब्ज़ा कर लिया।

जस्टीनियन ने कुस्तुन्तुनिया में सैंक्टा सोफ़िया का ख़ूबसूरत गिरजा बनाया जो आजतक बाईज़ैण्टाइन गिरजों में एक बहुत ही ख़ूबसूरत गिरजा माना जाता है। इसने उस वक्त के तमाम क़ानूनों का एक जगह संग्रह कराया और योग्य वकीलों से उन्हें तरतीबवार जमवाया। पूर्वी रोमन साम्राज्य और उसके सम्राटों के बारे में कुछ भी जानने से बहुत पहले मुझे इस क़ानूनी किताब से जस्टीनियन का नाम मालूम हुआ था। इस किताब का नाम 'इन्स्टीटयूट्स ऑफ़ जस्टीनियन' है और मुझे यह पढ़नी पड़ी थी। हालांकि जस्टीनियन ने कुस्तुन्तुनिया में एक विश्वविद्यालय स्थापित किया था, लेकिन उसने एथेन्स के दर्शनशास्त्र के पुराने स्कूल बन्द करा दिये, जो अफ़लातून ने स्थापित किये थे, और जो क़रीब एक हज़ार बरस से चले आ रहे थे। किसी भी रूढ़िवादी धर्म के लिए दर्शनशास्त्र एक ख़तरनाक चीज़ है, क्योंकि इसकी वजह से आदमी सोचने-विचारने लगता है।

अब हम छठी सदी तक आ पहुँचे हैं। हम देखते हैं कि धीरे-धीरे रोम और कुस्तुन्तुनिया एक-दूसरे से दूर हो जाते हैं। रोम पर तो उत्तर की जर्मन कौमों का कब्ज़ा हो जाता है, और कुस्तुन्तुनिया रोमन-साम्राज्य कहलानेवाले यूनानी साम्राज्य का केंद्र हो जाता है। रोम छिन्न-भिन्न होकर अपने उन विजेताओं की

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सभ्यता के नीचे दर्जे को पहुँच जाता है, जिन्हें अपनी शान के ज़माने में वह 'बर्बर' कहा करता था। कुस्तुन्तुनिया ने एक तरह से अपनी पुरानी मर्यादा कायम रखी, लेकिन वह भी सभ्यता के दर्जे के नीचे गिर जाता है। ईसाई सम्प्रदाय प्रभुत्व के लिए आपस में लड़ते हैं। अन्धकार का युग शुरू होता है। अगर कोई शिक्षा थी तो प्राचीन भाषाओं की, लेकिन इनको प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। इस तरह विद्या की हानि हुई और कला के कई रूप नष्ट होगये।

: ३२ :

इस्लाम का उदय

हमने कई देशों के इतिहास पर और अनेक साम्राज्यों और सल्तनतों के उत्थान व पतन पर विचार किया। लेकिन अरब देश या शाम का किस्सा अभीतक हमने नहीं छेड़ा, सिवा इस ज़िक्र के कि इस देश के व्यापारी और नाविक दुनिया के दूर-दूर हिस्सों में जाया करते थे। नक़्शे को देखो। अरब के पश्चिम में मिस्र है, उत्तर में सीरिया (शाम) और ईराक़ हैं, पूर्व में कुछ दूरी पर ईरान है और उत्तर-पश्चिम में कुछ दूर हटकर एशिया-कोचक और कुस्तुन्तुनिया हैं। यूनान भी दूर नहीं है और भारत भी बस समुद्र के उस पार, दूसरी तरफ़ है। अरब ने न तो दूसरे देशों को जीतने की कोशिश की, और न उसको ही जीतना किसीके लिए आसान था।

अरब एक रेगिस्तानी मुल्क है, और रेगिस्तानों और पहाड़ों में पलनेवाले लोग सख्त हो जाते हैं जिन्हें अपनी आज़ादी प्यारी होती है और जिन्हें आसानी से दबाया नहीं जा सकता। फिर अरब उपजाऊ देश नहीं था, और इसमें कोई ऐसी चीज़ भी नहीं थी जो विदेशी विजेताओं या साम्राज्य-लिप्सावालों को आकर्षित करती। इसमें बस सिर्फ़ दो छोटे-छोटे नगर थे, मक्का और यथरीब जो समुद्र के किनारे बसे हुए थे। बाक़ी रेगिस्तान के अन्दर रहने के स्थान थे और इस देश के लोग ज्यादातर बद्दू यानी 'रेगिस्तान के रहनेवाले' थे। तेज़ ऊँट और खूबसूरत घोड़े इनके आठ पहर के साथी थे और अद्भुत सहनशक्ति के कारण गधा भी एक क़ीमती चीज़ और वफ़ादार दोस्त समझा जाता था।

रेगिस्तान के ये रहनेवाले, आत्माभिमानी, भावुक और झगड़ालू होते थे। ये क़बीले और ख़ानदान बनाकर रहते थे, और दूसरे क़बीलों तथा ख़ानदानों से झगड़े किया करते थे। साल में एक बार ये लोग आपस में सुलह कर लेते थे और तीर्थ-यात्रा के लिए मक्का जाया करते थे, जहाँ इनके देवताओं की बहुत-सी मूर्तियाँ

 CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

थीं। सबसे ज्यादा वे एक बड़े भारी काले पत्थर[1] की पूजा करते थे, जिसका नाम 'काबा' था।

इन लोगों की ज़िन्दगी ख़ानाबदोशों की ज़िन्दगी थी, और हर ख़ानदान का सबसे बूढ़ा आदमी कुलपति होता था। इनकी ज़िन्दगी उसी क़िस्म की थी, जैसी-कि नागरिक जीवन और सभ्यता प्राप्त करने के पहले मध्य एशिया या दूसरी जगहों की आदिम जातियाँ बसर किया करती थीं। अरब के चारों तरफ़ जितने बड़े-बड़े साम्राज्य बने, उन सबके शासन-क्षेत्र में अक्सर अरब देश भी शामिल होता था। लेकिन यह मातहती नाम-मात्र को थी क्योंकि ख़ानाबदोश रेगिस्तानी कौमों को दबाकर रखना या उनपर हुकूमत कोई आसान बात नहीं थी।

यह एक अजीब बात है, कि वह अरब क़ौम, जो युगों से सोते हुओं की तरह जिन्दगी बिता रही थी और ज़ाहिरा तौर पर दूसरी जगहों की घटनाओं से बिल्कुल अलग थी, एकदम से जाग पड़ी, और उसने इतनी ज्यादा तेजी दिखाई कि सारी दुनिया चकित हो गई और उसमें उथल-पुथल मच गई। अरब लोग एशिया, योरप और अफ़रीका में तेज़ी के साथ कैसे फैल गये, और उन्होंने एक ऊँचे दर्जे की संस्कृति और सभ्यता का किस प्रकार विकास किया, यह इतिहास में एक चमत्कार की बात है।

जिस नई शक्ति या भावना ने अरबों को जगाया, उनमें आत्म-विश्वास और जोश भर दिया, वह इस्लाम था। इस मज़हब को एक नये पैग़म्बर, मुहम्मद ने जो मक्का में ५७० ई० में पैदा हुए थे, चलाया था। उन्हें इस मज़हब के चलाने की कोई जल्दी नहीं थी। वह शान्ति की ज़िन्दगी गुज़ारते थे, और मक्का के लोग उनको चाहते थे और उनपर विश्वास करते थे। वास्तव में लोग उन्हें 'अल् अमीन' अर्थात् 'अमानतवाला' कहा करते थे। लेकिन जब उन्होंने अपने नये मज़हब का प्रचार शुरू किया, और खासकर जब वह मक्का की मूर्तियों की पूजा का विरोध करने लगे, तो बहुत-से लोगों ने उनके ख़िलाफ़ बड़ा हल्ला मचाया और आख़िर उनको अपनी जान बचाकर मक्का से भागना पड़ा। सबसे ज्यादा वह इस बात पर ज़ोर देते थे कि ईश्वर सिर्फ़ एक है, और ख़ुद मुहम्मद उसका रसूल है।

मक्का से अपने ही लोगों द्वारा भगा दिये जाने पर, उन्होंने यदरीब में अपने कुछ दोस्तों और सहायकों के यहाँ आश्रय लिया। मक्का से उनके इस कूच को अरबी में 'हिजरत' कहते हैं, और मुसलमानी सम्वत् उसी वक्त, यानी सन् ६२२ ई० से शुरू होता है। यह हिज़री सम्वत् चान्द्र-सम्वत् है, यानी इसमें चन्द्रमा के अनुसार तिथियों का हिसाब लगाया जाता है। इसलिए सौर वर्ष से, जिसका आजकल आमतौर पर प्रचार है, हिज़री साल ५-६ दिन कम का होता है। हिज़री

---

[1] संगे असवद

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्वत् के महीने हर साल एक ही मौसम में नहीं पड़ते। हिज़री सम्वत् का एक महीना अगर इस साल जाड़े में है तो कुछ वर्षों के बाद वही महीना बीच गर्मी में पड़ सकता है।

हम ऐसा कह सकते हैं कि इस्लाम तबसे शुरू हुआ, जब मुहम्मद मक्का से भागे, या उन्होंने 'हिजरत' की, यानी सन् ६२२ ई० से। हालांकि एक दृष्टि से इस्लाम इसके पहले शुरू हो चुका था। यदरीब शहर ने मुहम्मद का स्वागत किया, और इस उपलक्ष्य में इस शहर का नाम बदलकर 'मदीनत-उन-नबी' यानी 'नबी का शहर' कर दिया गया। आजकल संक्षेप में इसको सिर्फ़ मदीना कहते हैं। मदीना के जिन लोगों ने मुहम्मद की मदद की थी, वे 'अंसार' कहलाये। 'अंसार' का मतलब है 'मददगार'। इन मददगारों के वंशज अपनी इस उपाधि पर अभिमान करते थे और अभीतक इसका इस्तेमाल करते हैं।

हिजरत के बाद सात साल के अन्दर ही मुहम्मद मक्का के स्वामी के रूप में ही वहाँ लौटे। इसके पहले ही वह मदीना से दुनिया के बादशाहों और शासकों के पास यह संदेश भेज चुके थे कि वह एक ईश्वर और उसके रसूल को मंजूर करें। क़ुस्तुन्तुनिया के सम्राट् हिरेक्लियस के पास यह आदेश उस वक्त पहुँचा था, जब वह सीरिया में ईरानियों के विरुद्ध लड़ रहा था। ईरान के बादशाह के पास, और कहते हैं कि चीन के ताई-जुंग तक भी, यह संदेश पहुँचा था। इन बादशाहों और शासकों को बड़ा ताज्जुब हुआ होगा कि आख़िर यह अनजान आदमी कौन है, जो उनके पास हुक्म भेजने का साहस करता है। इन संदेशों के भेजने से ही हम कुछ अन्दाज़ लगा सकते हैं कि मुहम्मद को अपने में, और अपने मिशन में कितना ज़बरदस्त विश्वास था। इसी आत्म-विश्वास और ईमान को उन्होंने अपनी क़ौम में भर दिया, और इसीसे प्रेरणा और सान्त्वना प्राप्त करके रेगिस्तान के इन लोगों ने, जिनकी पहले कोई हैसियत नहीं थी, उस समय की आधी दुनिया को जीत लिया।

विश्वास और ईमान खुद तो बड़ी चीज़ थे ही। साथ ही इस्लाम ने भाईचारे का, यानी सब मुसलमान बराबर हैं, इसका भी संदेसा दिया। इस तरह किसी हदतक जम्हूरियत—लोकतंत्र—का सिद्धान्त लोगों के सामने आया। उस ज़माने के भ्रष्ट ईसाई-धर्म के मुकाबले में इस संदेश ने सिर्फ़ अरबों पर ही नहीं बल्कि जहाँ-जहाँ वे गये, उन अनेकों देशों के निवासियों पर भी, भारी असर डाला होगा।

मुहम्मद सन् ६३२ ई० में, हिजरत के दस वर्ष बाद, मर गये। उन्होंने अरब देश की आपस में लड़नेवाली अनेक जंगली क़ौमों को संगठित करके एक नया राष्ट्र बनाया और उनमें एक आदर्श के लिए जबरदस्त जोश भर दिया। उनके बाद उनके खानदान के एक व्यक्ति अबूबकर खलीफ़ा हुए। उत्तराधिकारी चुनने का यह काम आम सभा में सरसरी तौर के चुनाव से होता था। दो वर्ष बाद अबूबकर मर गये और उमर उनकी जगह पर खलीफ़ा बनाये गये। वह दस वर्ष तक खलीफ़ा रहे।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अबूबकर और उमर महान् व्यक्ति थे, जिन्होंने अरबी और इस्लामी महानता की बुनियाद डाली। खलीफ़ा की हैसियत से वे धर्माध्यक्ष और राजनैतिक सरदार, यानी बादशाह और पोप, दोनों थे। अपने ऊँचे ओहदे और राज्य की दिन-दिन बढ़नेवाली ताक़त के होते हुए भी, उन्होंने अपने जीवन की सादगी नहीं छोड़ी, और ऐश-आराम और ऊपरी शान-शौकत से बिल्कुल इन्कार कर दिया। इस्लाम का लोकतन्त्र उनके लिए एक ज़िन्दा चीज़ थी। लेकिन उनके मातहत हाकिम और अमीर बहुत लोग जल्द ऐश-आराम और शान-शौकत में फँस गये। अबूबकर और उमर ने किस तरह बार-बार इन अफ़सरों की लानत-मलामत की और उन्हें सज़ा दी, यहाँतक कि इनकी फ़िज़ूल-खर्ची पर आँसू भी बहाये, इसके बहुत-से क़िस्से बयान किये जाते हैं। उनकी धारणा थी कि सीधे-सादे और कठोर रहन-सहन में ही उनकी ताक़त है, और अगर उन्होंने क़ुस्तुन्तुनिया और ईरान के बादशाही दरबारों का-सा ऐश-आराम इख्तियार कर लिया, तो अरब लोग भ्रष्ट हो जायंगे और उनका पतन हो जायगा।

अबूबकर और उमर का शासन बारह वर्ष रहा। लेकिन इस थोड़े से समय में ही अरबों ने पूर्वी रोमन-साम्राज्य और ईरान के सासानी बादशाह, दोनों को हरा दिया था। यहूदियों और ईसाइयों के पवित्र शहर यरूशलम पर अरबों ने क़ब्ज़ा कर लिया था, और सारा सीरिया, ईराक़ और ईरान इस नये अरबी साम्राज्य के हिस्से बन चुके थे।

: ३३ :

अरबों की विजय-यात्रा

इस तरह अरब लोग जीत-पर-जीत हासिल करते हुए आगे बढ़ने लगे। अक्सर ये लोग बिना युद्ध किये ही जीत जाते थे। अपने रसूल की मृत्यु के पच्चीस साल के भीतर ही अरबों ने एक तरफ़ सारा ईरान, सीरिया, आरमीनिया और मध्य-एशिया का कुछ टुकड़ा और पश्चिम की तरफ़ मिस्र, और उत्तरी अफरीका का छोटा-सा टुकड़ा जीत लिया। मिस्र इन लोगों को सबसे ज्यादा आसानी से मिल गया, क्योंकि यह देश रोमन साम्राज्य के शोषण से, और ईसाई-सम्प्रदायों की आपसी लाग-डाँट से, सबसे ज्यादा तकलीफ़ें उठा चुका था। कहते हैं कि अरबों ने सिकन्दरिया का मशहूर पुस्तकालय जला दिया था, लेकिन अब यह बात ग़लत समझी जाती है। अरब पुस्तकों के इतने शौक़ीन थे कि वे ऐसा जंगलीपन नहीं कर सकते थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अरब लोग पूर्व और पश्चिम, दोनों तरफ़, बढ़ते ही चले गये। पूर्व में हीरात, काबुल और बलख़ इनके अधिकार में आ गये और वे सिन्धु नदी और सिन्ध तक जा पहुँचे। लेकिन इसके आगे वे भारत में दाख़िल नहीं हुए और कई सौ सालों तक भारत के राजाओं के साथ इनका बड़ा मित्रतापूर्ण सम्बन्ध रहा। पश्चिम में ये लोग आगे बढ़ते ही गये। कहते हैं कि इनका सेनापति उक़बा उत्तरी अफरीका को पार करता हुआ एटलांटिक समुद्र तक, यानी उस देश के पश्चिमी किनारे पर पहुँच गया था जिसे आज मोरक्को कहते हैं। यह रुकावट सामने आ जाने से उसको बड़ी निराशा हुई, और वह अपने घोड़े को समुद्र में जितनी दूर वह जा सकता था ले गया, और फिर उसने अल्लाह के सामने अफ़सोस ज़ाहिर किया कि अब उस दिशा में कोई देश नहीं रहा जिसे वह अल्लाह के नाम पर फ़तह करता !

मोरक्को और अफरीका से समुद्र के तंग मुहाने को पार करके अरब लोग स्पेन और योरप में दाखिल हुए। इस तंग जलडमरूमध्य को पुराने यूनानी लोग 'हरकुलीज़ का स्तम्भ' कहते थे। अरब-सेनापति ने समुद्र को पार करके जिब्राल्टर में लंगर डाला था और यह नाम ही उस सेनापति की याद दिलाता है। उसका नाम तरीक़ था और जिब्राल्टर का असली नाम 'जबल-उत-तरीक़' यानी 'तरीक़ की चट्टान' है।

स्पेन को अरबों ने बहुत जल्द जीत लिया, और इसके बाद वे दक्षिण फ़्रांस में घुस पड़े। इस तरह मुहम्मद के मरने के बाद सौ बरस के भीतर ही अरबों का साम्राज्य दक्षिण फ़्रांस और स्पेन से लेकर उत्तर अफरीका को पार करके स्वेज़ तक, और आगे अरब, ईरान और मध्य एशिया को पार करके मंगोलिया की सरहद तक, फैल गया था। सिन्ध को छोड़कर भारत इस साम्राज्य से बाहर था। योरप पर अरब दो तरफ़ से हमला कर रहे थे। एक तो क़ुस्तुन्तुनिया पर बिल्कुल सीधा हमला था, और दूसरा अफरीका होकर फ़्रांस पर। दक्षिण फ़्रांस में अरबों की तादाद कम थी और वे अपनी मातृभूमि से बहुत दूर थे। इसलिए उनको अरब से ज्यादा मदद नहीं मिल सकती थी, क्योंकि उनका देश मध्य-एशिया को विजय करने में उलझा हुआ था। फिर भी फ़्रांस पहुँचे हुए इन अरबों ने पश्चिमी योरप के लोगों को इतना भयभीत कर दिया कि इनका मुक़ाबला करने के लिए योरप में एक बहुत बड़ा गुट बनाया गया। इस गुट का नेता चार्ल्स मार्ते था और इसने फ़्रांस में तूर की लड़ाई में सन् ७३२ में अरबों को हरा दिया। इस हार ने योरप को अरबों के पंजे से बचा दिया।

स्पेन से मंगोलिया तक सारे देशों पर अरबों ने विजय प्राप्त की और रेगिस्तान के ये ख़ानाबदोश एक शक्तिशाली साम्राज्य के अभिमानी शासक बन गये। लोग इन्हें 'सरासीन' कहते थे। शायद यह शब्द 'सहरा नशीन' से बना हो, जिसका मतलब 'रेगिस्तान के रहनेवाले' होता है। लेकिन इन सहरानशीनों ने बहुत जल्द विलासिता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अरबों की विजय-यात्रा

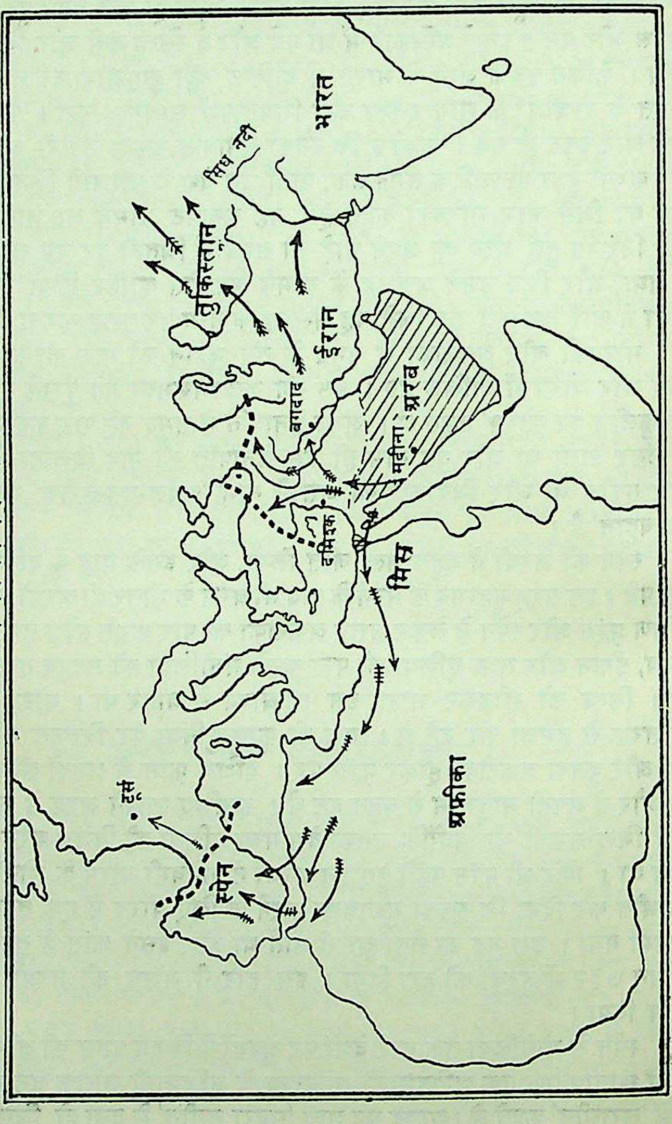

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और शहर की ज़िन्दगी अपना ली और इनके शहरों में बड़े-बड़े महल खड़े हो गये। दूर-दूर देशों में विजय प्राप्त कर लेने पर भी इनकी आपस में झगड़ने की पुरानी आदत नहीं गई। अब तो वास्तव में झगड़ने के लिए कुछ सामान भी हो गया था, क्योंकि अरब देश के प्रमुख होने का मतलब था एक बड़े साम्राज्य की बागडोर हाथ में आ जाना। इसलिए ख़लीफ़ा की जगह के लिए अक्सर झगड़े होते थे। इन छोटे-छोटे झगड़ों और पारिवारिक झगड़ों के कारण गृह-युद्ध हो गया। इन्हीं झगड़ों की वजह से इस्लाम दो हिस्सों में बँट गया और दो सम्प्रदाय बन गये जो 'सुन्नी' और 'शिया' के नाम से आजतक मौजूद हैं।

पहले दो महान् ख़लीफ़ाओं—अबूबकर और उमर—के शासन के कुछ दिनों बाद ही गड़बड़ पैदा हो गई। मुहम्मद की लड़की फ़ातिमा के पति अली कुछ दिनों के लिए ख़लीफ़ा हुए, लेकिन झगड़ा बराबर जारी रहा। अली क़त्ल कर दिये गये और कुछ दिनों बाद उनके लड़के हुसेन सारे कुटुम्ब के साथ कर्बला के मैदान में मार डाले गये। कर्बला की इसी दुखान्त घटना की याद में मुसलमान और ख़ासकर शिया लोग, हर साल मुहर्रम के महीने में मातम मनाया करते हैं।

ख़लीफ़ा लोग अब बिल्कुल निरंकुश बादशाह बन बैठे थे। ख़लीफ़ा के ओहदे का लोकतन्त्र या चुनाव से कोई सरोकार नहीं रहा था। उस ज़माने के और निरंकुश राजाओं की तरह ख़लीफ़ा भी था। कहने को ख़लीफ़ा इस्लाम का प्रमुख यानी 'अमीरुल-मोमीनीन'[1] भी माना जाता था। लेकिन कुछ ख़लीफ़ा ऐसे भी हुए जिन्होंने इस्लाम का, जिसके कि वे मुख्य रक्षक समझे जाते थे, वास्तव में अपमान किया।

लगभग सौ वर्ष तक ख़लीफ़ा लोग मुहम्मद के वंश की एक शाखा में से होते रहे जो 'उम्मैया' कहलाती थी। दमिश्क इनकी राजधानी था और महलों, मस्जिदों, फव्वारों और बैठकों की वजह से यह पुराना शहर बड़ा ख़ूबसूरत बन गया था। इस ज़माने में अरबों ने इमारतें बनाने की कला का एक ख़ास नमूना निकाला, जो 'सरासीनी' के नाम से मशहूर हुआ। इस शैली में ज्यादा सजावट नहीं होती। यह सरल, शानदार और सुन्दर होती है। सरासीनी इमारतों के कुछ सबसे सुन्दर नमूने स्पेन में अबतक पाये जाते हैं।

अरबों में, ख़ासकर अपनी जागृति की शुरुआत के दिनों में, अपने दीन के लिए बहुत जोश भरा हुआ था। फिर भी ये लोग असहिष्णु नहीं थे और उनकी इस धार्मिक उदारता की बहुत-सी मिसालें मिलती हैं। यरूशलम में ख़लीफ़ा उमर ने इस बात पर काफ़ी ज़ोर दिया था। सच तो यह है कि इतिहास के इस युग की सबसे ज्यादा उल्लेखनीय बात है अरब के मुसलमानों की उदारता और उसके विपरीत योरप के ईसाइयों की धार्मिक असहिष्णुता।

[1] ईमानवालों का सरदार।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: ३४ :

बग़दाद और हारूं-अल-रशीद

क़रीब १०० साल तक ख़लीफ़ा लोग हज़रत मुहम्मद के वंश की उम्मैया शाखा के हुआ करते थे। उनकी राजधानी दमिश्क थी, और उनकी हुकूमत में मुसलमान अरबों ने इस्लाम का झंडा दूर-दूर देशों तक पहुँचा दिया। एक तरफ़ तो अरब लोग दूर-दूर के मुल्कों को जीतते थे और दूसरी तरफ़ अपने घर में ही लड़ते-झगड़ते रहते थे और अक्सर आपस में गृह-युद्ध हुआ करते थे। आख़िर में मुहम्मद के वंश के एक दूसरे घराने ने, जो उनके चाचा अब्बास से पैदा हुआ था और 'अब्बासी' कहलाता था, उम्मैया ख़ानदान को गद्दी से उतार दिया। अब्बासी लोग उम्मैयों के ज़ुल्म का बदला लेने के लिए आये थे, लेकिन विजय प्राप्त होने के बाद उन्होंने ज़ुल्म और हत्या में उम्मैयाओं को भी मात कर दिया। उन्होंने उम्मैयाओं को जहाँ भी पाया, पकड़ लिया और उन्हें बेरहमी से मार डाला।

यहीं से, सन् ७५० ई० से, अब्बासी खल फ़ाओं के शासन का लम्बा समय शुरू होता है। यह शुरुआत कुछ शुभ या मंगलमय नहीं थी, फिर भी अरब इतिहास में अब्बासी-युग काफ़ी उज्ज्वल युग समझा जाता है। इस ज़माने में उम्मैयाओं के ज़माने के मुक़ाबले में बहुत बड़ी तब्दीलियाँ शुरू हो गई थीं। अरब के गृह-युद्ध ने सारे अरब-साम्राज्य को हिला दिया था। अब्बासी लोग अपने देश में तो जीत गये, लेकिन सुदूर स्पेन में अरब गवर्नर ने, जो उम्मैया था, अब्बासी ख़लीफ़ा को मानने से इन्कार कर दिया। उत्तर अफरीका या इफरीकिया की सूबेदारी बहुत जल्द स्वतन्त्र हो गई। मिस्र ने भी यही किया। उसने तो अपना एक दूसरा ख़लीफ़ा ही घोषित कर दिया। इस तरह अब्बासियों के ख़लीफ़ा होने पर अरब साम्राज्य के टुकड़े हो गये। अब ख़लीफ़ा सारी इस्लामी दुनिया का प्रमुख नहीं रहा, और न 'अमीरुल मोमीनीन' ही रह गया। मुसलमानों में एकता नहीं रही और स्पेन के अरब और अब्बासी एक-दूसरे से इतनी नफ़रत करते थे कि जब एक पर आफ़त आती तो दूसरा ख़ुशी मनाता था।

राजधानी दमिश्क से हटकर ईराक़ में बग़दाद चली गई। राजधानी की यह तब्दीली भी महत्त्वपूर्ण थी। चूँकि दमिश्क के मुक़ाबले में वह योरप से दूर था, इसलिए अब अब्बासियों की नज़र योरप के बनिस्बत एशिया की तरफ़ रहने लगी। क़ुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा करने की कोशिशें तो होती ही रहीं और योरोपियन राष्ट्रों से अनेक लड़ाइयाँ भी हुईं, लेकिन ज्यादातर लड़ाइयाँ आत्म-रक्षा के लिए होती थीं। देशों की विजय के दिन खतम हो चुके थे और अब्बासी खलीफ़ा अपने बचे हुए साम्राज्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को ही मज़बूत करने की कोशिश में लग गये थे। स्पेन और अफ़रीका के निकल जाने पर भी यह साम्राज्य काफ़ी बड़ा था।

बग़दाद ! क्या हारूं-अल-रशीद और शहरज़ादी और अलिफ़लैला की अद्‌भुत कहानियाँ तुम्हें याद हैं ? अब्बासी-ख़लीफ़ाओं के राज में जो शहर बना, वह अलिफ़लैला का ही शहर था। बग़दाद एक लम्बा-चौड़ा शहर था, जिसमें महल, सरकारी दफ्तर, स्कूल, कॉलेज, बड़ी-बड़ी दूकानें, पार्क और बग़ीचे थे। यहाँ के सौदागर पूर्व और पश्चिम के देशों से बड़ा भारी व्यापार करते थे। ढेरों सरकारी अफ़सर साम्राज्य के दूर-दूर के हिस्सों से बराबर सम्पर्क बनाये रखते थे। सरकार अधिकाधिक पेचीदा होती जाती थी और उसके बहुत-से महकमे बन गये थे। साम्राज्य के कोने-कोने से राजधानी तक चिट्ठी-पत्री लाने-ले जाने का बहुत अच्छा इन्तज़ाम था। अस्पताल काफ़ी तादाद में थे। सारी दुनिया से लोग बग़दाद देखने के लिए आया करते थे। विद्वान्, विद्यार्थी और कलाकार ख़ासतौर से आते थे, क्योंकि यह मशहूर था कि ख़लीफ़ा सब विद्वानों और कलाकारों का स्वागत करता है।

ख़लीफ़ा ख़ुद गहरी विलासिता की ज़िन्दगी गुजारता था और ग़ुलामों से घिरा रहता था। उसकी बेग़में हरम में रहती थीं। हारूं-अल-रशीद के ज़माने में, यानी सन् ७८६ से ८०९ ई० तक, अब्बासी साम्राज्य अपनी ज़ाहिरा शान-शौक़त की चोटी पर था। हारूं के दरबार में चीनी सम्राट के यहाँ से और पश्चिम में सम्राट शार्लमेन के यहाँ से राजदूत-मंडल आये थे। स्पेन के अरबों को छोड़कर बग़दाद और अब्बासी-साम्राज्य के देश शासन की सारी कलाओं में, व्यापार में और विद्या के विकास में योरप से बहुत आगे बढ़े हुए थे।

अब्बासी-युग हमारे लिए ख़ासतौर से दिलचस्पी रखता है, क्योंकि इसी ज़माने में विज्ञान में नई दिलचस्पी पैदा हुई थी। अरबों में खोज की वैज्ञानिक भावना पाई जाती थी, इसलिए अरबों को आजकल के विज्ञान का जन्मदाता कह सकते हैं। आयुर्वेद और गणित जैसे कुछ विषयों में इन्होंने भारत से बहुत-कुछ सीखा था। भारतीय विद्वान और गणितज्ञ बड़ी संख्या में बग़दाद जाते थे। बहुत-से अरब विद्यार्थी उत्तर भारत में तक्षशिला जाया करते थे, जो उस समय तक एक बहुत बड़ा विश्वविद्यालय था, और आयुर्वेद की शिक्षा के लिए ख़ासतौर पर मशहूर था। आयुर्वेद की, और दूसरे विषयों की संस्कृत किताबें अरबी में ख़ासतौर से अनुवाद की गई थीं। बहुत-सी चीज़ें अरबों ने चीन से सीखीं—जैसे काग़ज़ बनाना। लेकिन जो कुछ उन्होंने दूसरों से सीखा, उसकी बुनियाद पर अपनी खोजें करके उन्होंने और बहुत-सी महत्त्वपूर्ण ईजादें कीं। पहले-पहल उन्होंने ही दूरबीन और क़ुतुबनुमा बनाये। चिकित्सा में अरब के हकीम और जर्राह सारे योरप में मशहूर थे।

इन तमाम बौद्धिक हलचलों का मुख्य केन्द्र बग़दाद ही था। पश्चिमी स्पेन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की राजधानी कारडोबा भी इसी क़िस्म का केन्द्र था। अरबी दुनिया में इसी तरह के और भी कई केन्द्र थे। लेकिन बग़दाद इन सब मशहूर शहरों से बढ़ा-चढ़ा था। इसकी आबादी बीस लाख से ज्यादा थी और यह आजकल के कलकत्ता या बम्बई से काफ़ी बड़ा था।

मोज़ा और जुर्राब पहनने की आदत पहले-पहल बग़दाद के अमीरों से ही शुरू हुई बतलाई जाती है। इन्हें 'मं ज़ा' कहा जाता था और इनका भारतीय नाम इसी शब्द से निकला होगा। इसी तरह फ़्रांसीसी शब्द 'शेमीज़' यानी कुर्त्ता 'क़मीज़' से निकला है। 'क़मीज़' और 'मोज़ा' दोनों चीजें अरबों से क़ुस्तुन्तुनिया के बाईजेण्टाइनवालों ने लीं, और फिर वहाँ से वे योरप में पहुँचीं।

हारूं-अल-रशीद की मृत्यु के कुछ दिनों बाद अरब साम्राज्य पर आफ़त आई। दंगे-फ़साद होने लगे और साम्राज्य के कई हिस्से अलग हो गये। सूबों के हाकिम मौरूसी शासक बन बैठे। ख़लीफ़ा बराबर कमज़ोर होते गये। यहाँतक कि एक ऐसा भी वक्त आया जब ख़लीफ़ा का राज्य सिर्फ़ बग़दाद शहर और आस-पास के कुछ गाँवों पर ही रह गया। एक ख़लीफ़ा को तो उसीके सिपाहियों ने महल से बाहर घसीटकर कत्ल कर डाला था। फिर थोड़े दिन के लिए कुछ ऐसे ज़ोरदार आदमी पैदा हुए, जो बग़दाद से बैठे-बैठे हुकूमत करने लगे और जिन्होंने ख़लीफ़ाओं को अपना मातहत बना लिया।

: ३५ :

उत्तरी भारत—हर्ष से महमूद तक

कन्नौज का राजा हर्षवर्धन ६४८ ई० में मर गया और उसके मरने के साथ ही उत्तरी भारत का राजनैतिक पतन और भी साफ़-साफ़ दिखाई देने लगा। यह पतन कुछ समय पहले ही से चला आ रहा था और हिन्दू और बौद्ध-धर्म के संघर्ष ने इस गिरावट में और मदद पहुँचाई। हर्ष के समय में ऊपर का ढंग मज़बूत दिखाई देता था, लेकिन यह दिखावा भी थोड़े ही दिन रहा। हर्ष के मरने के बाद उत्तर भारत में कई छोटी-छोटी रियासतें पैदा हो गईं जो कभी-कभी थोड़े समय के लिए गौरव प्राप्त कर लेती थीं और कभी-कभी आपस में लड़ा करती थीं। यह एक अजीब बात है कि हर्ष के मरने के तीन सौ वर्ष से भी ज्यादा समय तक इस देश में साहित्य और कला फूलते-फलते रहे, और सार्वजनिक उपभोग की कई बढ़िया चीज़ें बनीं। इसी ज़माने में भवभूति और राजशेखर जैसे कई प्रसिद्ध संस्कृत लेखक हुए और इसी समय में कई ऐसे राजा हुए जो राजनैतिक दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नहीं थे, लेकिन इसलिए मशहूर हुए कि उनके राज्य में कला और विद्या ने तरक्क़ी की थी। इनमें से राजा भोज तो आदर्श राजा का एक काल्पनिक नमूना ही बन गया है और आज भी उसकी गिनती ऐसे राजाओं में की जाती है।

लेकिन इन चमकों के होते हुए भी उत्तर भारत का पतन होता जा रहा था। दक्षिण भारत फिर से आगे बढ़ रहा था और उत्तर भारत पर रौब डालता जा रहा था। उस समय के दक्षिण भारत के बारे में मैं लिख चुका हूँ। मैंने चालुक्यों, पल्लवों, राष्ट्रकूटों और चोल-साम्राज्य के बारे में लिखा था। मैं शंकराचार्य का भी चिक्र कर चुका हूँ। कितनी विचित्र बात है कि जिस समय शंकराचार्य अपना काम कर ही रहे थे, उसी समय एक नया मज़हब भारत का दरवाज़ा खट-खटा रहा था, जो बाद में धड़ल्ले के साथ विजय प्राप्त करता हुआ भारत में घुसा और उस समय की व्यवस्था को चुनौती देने लगा।

अरब लोग बहुत जल्द, हर्ष के जीवन-काल में ही, भारत की सीमा पर आ पहुँचे थे। वे वहाँ कुछ समय के लिए रुक गये और बाद में उन्होंने सिंध को अपने क़ब्ज़े में ले लिया। सन् ७१० ई० में सत्रह साल के एक जवान लड़के--मुहम्मद इब्न क़ासिम--ने एक अरबी सेना लेकर सिन्ध की घाटी को पश्चिम पंजाब में मुलतान तक जीत लिया। राजनैतिक दृष्टि से अरबों की सिन्ध पर यह विजय कोई खास महत्त्व की बात नहीं थी। मुसलमानों ने भारत को इसके कई सौ वर्ष बाद जीता, लेकिन सांस्कृतिक दृष्टि से अरबों और भारतवासियों के इस सम्पर्क का बहुत बड़ा असर हुआ।

अरबों ने पुरानी भारतीय आर्य संस्कृति से बहुत-सी बातें ली थीं। उन्होंने ईरान की आर्य संस्कृति और यूनानी संस्कृति से भी बहुत-कुछ सीखा था। अरब लोग क़रीब-क़रीब एक नई क़ौम की तरह थे, जो अपनी पूरी जवानी पर थी। उन्होंने अपने चारों ओर जितनी पुरानी सभ्यताएँ देखीं सबसे कुछ-न-कुछ सीखा और फ़ायदा उठाया। और इन सबके आधार पर उन्होंने एक अपनी ही चीज बनाई जिसे 'सरासीनी संस्कृति' कहते हैं। संस्कृतियों की दृष्टि से इस संस्कृति का जीवन थोड़े दिनों तक ही रहा, लेकिन यह एक प्रकाशमान जीवन था, जो योरप के मध्य-युग के अन्धकार के परदे पर चमकता हुआ दिखाई देता है।

अरबों के इस सम्पर्क से, जो कई सौ वर्षों तक रहा, भारत पर ज्यादा असर नहीं पड़ा और न उसमें कोई ख़ास तब्दीली ही पैदा हुई। अरब के मुसलमान आते-जाते रहे, कभी-कभी उन्होंने अपने धर्म का प्रचार किया और कभी-कभी लोगों को मुसलमान भी बनाया। मालूम होता है कि उस समय इन बातों पर कोई आपत्ति नहीं की जाती थी और न हिन्दू-धर्म और इस्लाम में कोई झगड़ा या संघर्ष ही हुआ। यह बात ध्यान देने लायक है, क्योंकि बाद में इन दोनों धर्मों में झगड़े और संघर्ष हुए ही। ग्यारहवीं सदी में, जब इस्लाम हाथ में तलवार लेकर, एक विजेता के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रूप में, भारत में दाखिल हुआ, तभी भीषण प्रतिक्रिया शुरू हुई और पुरानी सहनशीलता की जगह नफ़रत और संघर्ष ने ले ली।

यह तलवार चलानेवाला, जो आग और नर-संहार लेकर भारत में आया, ग़ज़नी का महमूद था। ग़ज़नी अब अफ़ग़ानिस्तान में एक छोटा-सा क़स्बा रह गया है। दसवीं सदी में ग़ज़नी के आसपास एक राज्य बन गया था। मध्य-एशिया के राज्य नाममात्र को बग़दाद के ख़लीफ़ा के अधीन थे, लेकिन हारूं-अल-रशीद के मरने के बाद ख़लीफ़ा कमज़ोर हो गये, और एक समय आया जब ख़लीफ़ाओं का यह साम्राज्य कई स्वतन्त्र राज्य में विभाजित हो गया। यह इसी समय की बात है जिसका हम ज़िक्र कर रहे हैं। सुबुक्तगीन नाम के एक तुर्की ग़ुलाम ने सन् ९७५ ई० के लगभग ग़ज़नी और क़ंधार में अपना एक राज्य क़ायम कर लिया। उसने भारत पर भी हमला किया। उन दिनों लाहौर का राजा जयपाल था। साहसी जयपाल सुबुक्तगीन के खिलाफ़ काबुल की घाटी पर जा चढ़ा, पर वहाँ उसकी हार हुई।

सुबुक्तगीन के बाद उसका बेटा महमूद गद्दी पर बैठा। यह एक तेजस्वी सेनापति और घुड़सवारों की सेना का कुशल नायक था। हर साल वह भारत पर धावा बोलता, लूटता, मार-काट करता और अपने साथ बहुत-सा धन और बहुत-से आदमी क़ैद करके ले जाता। कुल मिलाकर उसने भारत पर १७ हमले किये। इनमें से उसका केवल कश्मीर का एक धावा असफल रहा। बाक़ी सब धावे सफल हुए, और सारे उत्तरी भारत पर उसका आतंक छा गया। वह दक्षिण की तरफ़ पाटलिपुत्र, मथुरा और सोमनाथ तक जा पहुँचा। कहा जाता है कि थानेश्वर से वह दो लाख क़ैदी और बहुत-सा धन ले गया था। लेकिन उसे सबसे ज्यादा खज़ाना सोमनाथ में मिला, क्योंकि वहाँ पर एक बहुत बड़ा मन्दिर था और सदियों की भेंट-पूजा वहाँ जमा थी। कहते हैं कि जब महमूद सोमनाथ के पास पहुँचा, तो इस आशा में कि मूर्ति से कोई चमत्कार ज़रूर होगा, और उनका पूज्य देवता उनकी अवश्य मदद करेगा, हज़ारों आदमियों ने उस मन्दिर में शरण ली। महमूद ने मन्दिर को तोड़ डाला, और उसे लूट लिया। पचास हज़ार आदमी, उस चमत्कार की राह देखते-देखते नष्ट हो गये, जो प्रकट होनेवाला नहीं था।

महमूद सन् १०३० ई० में मर गया। उस समय सारा पंजाब और सिन्ध उसके अधीन था। वह इस्लाम का एक बड़ा नेता माना जाता है, जो भारत में इस्लाम फैलाने के लिए आया। बहुत-से मुसलमान उसकी इज्ज़त और बहुत-से हिन्दू उससे घृणा करते हैं, लेकिन असल में वह मज़हबी आदमी नहीं था। वह मुसलमान ज़रूर था, लेकिन यह एक गौण बात थी। असली बात यह थी कि वह एक प्रतिभाशाली सैनिक था। वह भारत को जीतने और लूटने आया था, जैसाकि बदक़िस्मती से अक्सर सैनिक लोग किया करते हैं, और वह चाहे किसी भी और धर्म

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का माननेवाला होता तो भी यही करता। यह ध्यान देने की बात है कि महमूद ने सिन्ध के मुसलमान शासकों को भी धमकी दी थी और जब उन्होंने उसकी अधीनता मंजूर कर ली और उसे ख़िराज दिया, तभी उसने उन्हें छोड़ा था। उसने बग़दाद के खलीफ़ा को भी मौत की धमकी दी थी और उससे समरक़न्द माँगा था। इसलिए हमें महमूद को एक सफल सैनिक के अलावा कुछ और समझने की आम ग़लती में न फँसना चाहिए।

महमूद बहुत-से भारतीय शिल्पकारों और मेमारों को अपने साथ ग़ज़नी ले गया था और वहाँ उसने एक सुन्दर मस्जिद बनवाई थी जिसका नाम उसने 'उरूसे जन्नत' यानी 'स्वर्ग-वधू रखा था। बग़ीचों का उसे बड़ा शौक़ था।

महमूद ने मथुरा की एक झलक हमें दिखाई है, जिससे पता लगता है कि उस समय मथुरा कितना बड़ा शहर था। महमूद ने ग़ज़नी के अपने सूबेदार को एक पत्र में लिखा था, "यहाँ एक हज़ार ऐसी इमारतें हैं जो मोमिनों के ईमान की तरह मज़बूत हैं। यह मुमकिन नहीं कि यह शहर अपनी इस मौजूदा हालत पर बिना करोड़ों दीनार[१] खर्च किये पहुँचा हो, और न इस तरह का दूसरा शहर दो सौ साल से कम में तैयार ही किया जा सकता है।"

: ३६ :

योरप के देशों का निर्माण

रोम के पतन ने पश्चिम को झंझोड़ दिया और उसके बाद वहाँ सब बातें नये तरीक़े से जमने लगीं। इसके जमने में बहुत दिन लग गये। फिर भी नया ढाँचा जैसे-जैसे बनता जाता है, वह हमें कुछ हद तक नज़र आने लगता है। कभी सन्तों और शान्तिप्रिय लोगों की मदद पाकर, और कभी अपने सैनिक राजाओं की तलवार के ज़ोर पर, ईसाई धर्म फैलने लगा। नये-नये राज्य पैदा हो गये। फ़्रांस बेल्जियम और जर्मनी के एक भाग पर फ़्रैंक लोगों ने, जिन्हें फ़्रैंच (फ़्रांस-निवासी) समझने की भूल न करना, क्लोविस नामक शासक के मातहत एक राज्य क़ायम किया। क्लोविस ने सन् ४८१ से ५११ ई० तक राज्य किया। यह राजवंश क्लोविस के बाबा के नाम से मेरोविंजियन-वंश कहलाता है। लेकिन इन राजाओं के ऊपर बहुत जल्द उन्हींके दरबार का एक अफ़सर हावी हो गया। यह राजमहल का 'मेयर' था। ये मेयर सर्व-सत्ताधारी हो गये और इनका यह पद

---

[१] **दीनार—सोने का एक सिक्का।**

 CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मौरूसी हो गया। असली शासक तो ये थे। राजा तो नाम के और कठपुतली मात्र थे।

चार्ल्स मार्टल भी इन्हीं राजमहल के मेयरों में से एक था, जिसने सन् ७३२ ई० में फ़्रांस में तूर की बड़ी लड़ाई में सरासीनों को हराया था। इस विजय से चार्ल्स मार्टल ने सरासीनों की उस लहर को रोक दिया जो मुल्कों को जीतती चली आ रही थी, और ईसाइयों की निगाह में उसने योरप को बचा लिया। इस जीत से उसकी इज्ज़त और कीर्ति बहुत बढ़ गई। इन दिनों रोम के पोपों और क़ुस्तुन्तुनिया के सम्राटों के आपसी सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। इसलिए पोप लोग सहायता के लिए चार्ल्स मार्टल का आसरा देखने लगे। चार्ल्स मार्टल के लड़के पेपिन ने उस समय के कठपुतली राजा को गद्दी से उतारकर अपने को राजा घोषित करने का निश्चय किया और पोप ने ख़ुशी के साथ यह बात मान ली।

शार्लमेन पेपिन का लड़का था। पोप के ऊपर फिर मुसीबत आई और उसने शार्लमेन को अपनी रक्षा के लिए बुलाया। शार्लमेन ने मदद की और पोप के दुश्मनों को भगा दिया और सन् ८०० ई० के बड़े दिन को गिरजे में एक बड़ा उत्सव मनाया गया जिसमें पोप ने शार्लमेन को रोमन सम्राट का ताज पहना दिया। उसी दिन से पवित्र रोमन साम्राज्य शुरू हुआ, जिसकी बाबत मैं पहले लिख चुका हूँ।

यह 'पवित्र रोमन साम्राज्य' पुराने पश्चिमी रोमन-साम्राज्य का सिलसिला नहीं था। यह एक अलग ही चीज़ थी। यह अपने ही साम्राज्य को एक-मात्र साम्राज्य समझता था। इसका सम्राट, शायद पोप को छोड़कर, अपने को दुनिया में हरएक का स्वामी मानता था। सम्राट और पोप के बीच कई सदियों तक इस बात की लाग-डाँट रही थी कि दोनों में कौन बड़ा है। यह साम्राज्य उस पुराने साम्राज्य का पुनर्जीवन माना जाता था, जो किसी समय सर्वोपरि था और जब रोम दुनिया का स्वामी माना जाता था। लेकिन इसके साथ ईसाइयत और ईसाई राज्य की एक नई भावना और जुड़ गई थी। इसलिए यह साम्राज्य 'पवित्र' बन गया था। सम्राट को पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि समझा जाता था, और यही बात पोप के लिए भी थी। एक राज-सम्बन्धी मामलों को निपटाता था, दूसरा आध्यात्मिक मामलों को। मैं समझता हूँ कि इसी विचारधारा के कारण योरप में राजाओं के दैवी अधिकार का विचार पैदा' हुआ।

क़ुस्तुन्तुनिया के सम्राटों ने पश्चिम के इस नये 'पवित्र' रोमन-साम्राज्य को बिल्कुल पसंद नहीं किया। जिस समय शार्लमेन गद्दी पर बैठा, क़ुस्तुन्तुनिया में आइरीन नामक एक औरत सम्राज्ञी बन बैठी। आइरीन ऐसी स्त्री थी जिसने सम्राज्ञी बनने के लिए ख़ुद अपने ही लड़के को मार डाला था। उसके समय में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राज्य की हालत ख़राब थी। यह भी एक वजह थी जिससे पोप को यह साहस हुआ कि वह शार्लमेन के सर पर ताज रखकर क़ुस्तुन्तुनिया से सम्बन्ध तोड़ ले।

शार्लमेन इस समय पश्चिमी ईसाई जगत् का अधिनायक था। वह पृथ्वी पर 'ईश्वर का प्रतिनिधि' था और एक 'पवित्र साम्राज्य' का सम्राट् था। सुनने में ये शब्द कितने शानदार मालूम पड़ते हैं! लेकिन इनसे जनता को धोखा देने और उसे मंत्रमुग्ध कर देने का काम सध ही जाता है। ईश्वर और धर्म को अपना मददगार बनाकर सत्ताधारियों ने बहुत बार दूसरों को बेवक़ूफ़ बनाने और अपनी ताक़त बढ़ाने की कोशिशें की हैं।

शार्लमेन के साम्राज्य में फ़्रांस, बेल्जियम, हालैण्ड, स्वीज़रलैण्ड, आधा जर्मनी और आधा इटली शामिल थे। इसके दक्षिण-पश्चिम में स्पेन था, जो अरबों के अधीन था। उत्तर-पूर्व में स्लाव और दूसरी क़ौमें थीं। उत्तर में डेन और नार्थ-मेन थे। दक्षिण-पूर्व में बल्गारियन और सरबियन लोग थे और उनके पार क़ुस्तुन्तु-निया के अधीन पूर्वी रोमन साम्राज्य था।

सन् ८१४ई०में, शार्लमेन की मृत्यु के थोड़े ही दिनों बाद, साम्राज्य की सम्पत्ति के बँटवारे के लिए झगड़े उठ खड़े हुए। शार्लमेन के साम्राज्य के विभाजन से अब हम जर्मनी और फ़्रांस को अपना अलग रूप धारण करता हुआ देखते हैं। सन् ८४३ ई० से जर्मनी का एक राष्ट्र के रूप में जन्म माना जाता है और कहा जाता है कि सन् ९६२ से ९७३ ई० तक राज्य करनेवाले सम्राट ओटो महान् ने जर्मनों को एक क़ौम की तरह संगठित किया। फ़्रांस पहले से ही ओटो के साम्राज्य का हिस्सा नहीं था। सन् ९८७ ई० में ह्यू कैपेट ने फ़्रांस पर क़ब्ज़ा कर लिया। लेकिन यह क़ब्ज़ा पूरी तरह का नहीं था, क्योंकि फ़्रांस बड़े-बड़े इलाकों में बँटा हुआ था जो स्वतंत्र सरदारों के अधीन थे और ये सरदार आपस में अक्सर लड़ा करते थे। लेकिन वे एक-दूसरे से उतना नहीं डरते थे जितना सम्राट और पोप से, और इन दोनों से मुक़ाबला करने के लिए सब मिल जाते थे। ह्यू कैपेट के समय से फ़्रांस की राष्ट्र के रूप में शुरुआत हुई और इस आरम्भिक काल में भी हमें फ़्रांस और जर्मनी की प्रतिद्वंद्विता दिखाई देती है, जो पिछले हज़ार वर्षों से ठेठ हमारे ज़माने तक चली आती है।

क़रीब-क़रीब इसी समय रूस भी इतिहास के रंग-मंच पर आता है। कहा जाता है कि उत्तर के रूरिक नामक एक व्यक्ति ने सन् ८५० ई० के लगभग रूसी राज्य की नींव डाली थी। इसी समय योरप के दक्षिण-पूर्व में बल्गारियन लोग जमने लगे और धीरे-धीरे सरकश भी होने लगे। इसी प्रकार सरबियनों ने भी वहाँ जमना शुरू किया। मगयार या हंगेरियन और पोल लोग भी 'पवित्र रोमन-साम्राज्य' के और नये रूस के बीच में अपनी रियासतें बनाने लगे।

इसी बीच उत्तर-योरप से कुछ लोग पानी के रास्ते पश्चिमी और दक्षिणी

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

एशिया तथा योरप — १००० ई०

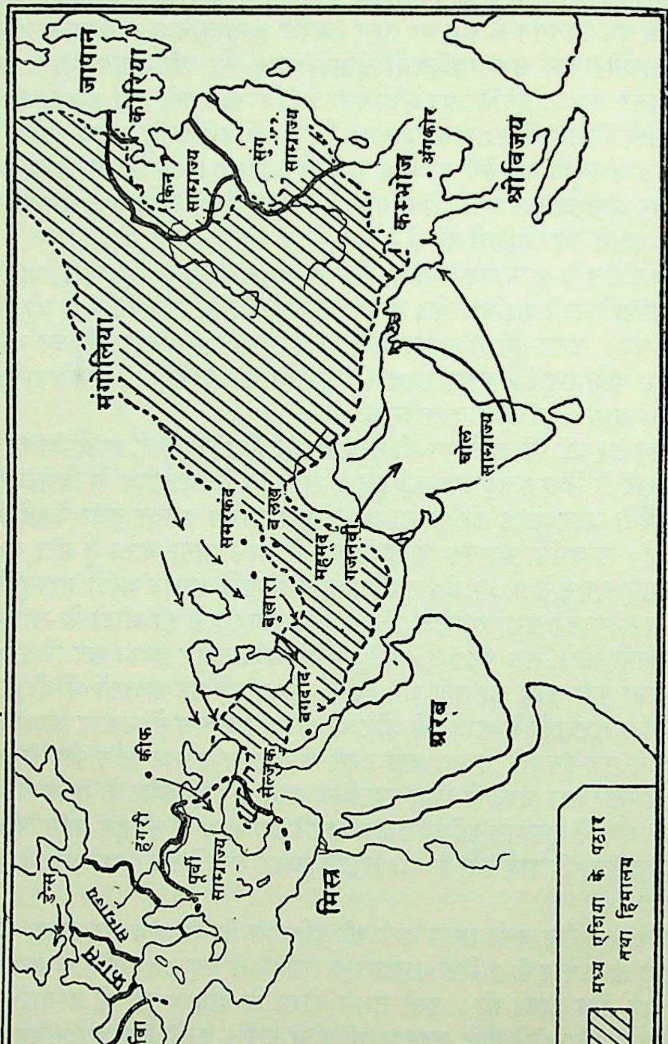

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देशों में आये। यहाँ आकर उन्होंने आगें लगाईं, क़त्ल किये और लूट-मार की। नॉर्थमैन या नॉर्समैन, जो नार्मन कहलाये, भूमध्यसागर में गये, अपने जहाज़ों को बड़ी-बड़ी नदियों के मार्ग से अन्दर ले गये और जहाँ-कहीं पहुँचे, वहाँ डकैती, मार-काट और लूट-खसोट की। इटली में अराजकता थी और रोम की दशा बहुत बुरी थी। इन लोगों ने रोम को लूट लिया और क़ुस्तुन्तुनिया पर भी जा धमके। इन लुटेरों और डाकुओं ने फ़्रांस के पश्चिमी हिस्से पर, जहाँ नारमण्डी है, और दक्षिण इटली और सिसली पर, क़ब्ज़ा जमाया और धीरे-धीरे वहाँ बस गये और उन प्रदेशों के मालिक तथा ज़मींदार बन बैठे, जैसाकि लुटेरे समृद्धिशाली होने पर अक्सर किया करते हैं। फ़्रांस के नारमण्डी प्रांत में बसे हुए इन्हीं नार्मनों ने सन् १०६६ ई० में, विलियम के सेनापतित्व में, जो 'विजेता' के नाम से मशहूर है, इंग्लैण्ड को जीत लिया। इस तरह हम इंग्लैण्ड की भी शक्ल बनते देखते हैं।

: ३७ :

चीन और खानाबदोश क़ौमें

हम पश्चिमी एशिया और योरप की बहुत-सी तब्दीलियों की चर्चा कर चुके हैं। इस दरमियान चीनी अपने ढंग पर चलता रहा और सचमुच बहुत अच्छी तरह चलता रहा। सातवीं और आठवीं सदियों में, तांग राजाओं के शासन में, चीन शायद दुनिया का सबसे सभ्य, खुशहाल और सुशासित देश था। सभ्यता में चीन उस ज़माने में सबसे आगे था और अगर वह उस समय के योरोपीय लोगों को आधे जंगलियों की श्रेणी में समझता हो, तो यह कुछ वाजिब ही था। जितनी दुनिया उस समय मालूम थी, उसमें चीन सबसे उन्नत था।

मध्य-एशिया और मंगोलिया की ख़ानाबदोश क़ौमों से चीन को बराबर लड़ना पड़ा। या शायद यह कहना ज्यादा सही होगा कि ये ख़ानाबदोश लोग चीन को बराबर परेशान करते रहे और चीन को अपनी रक्षा के लिए मजबूर होना पड़ा। इन्हीं क़ौमों से बचने के लिए चीन की 'बड़ी दीवार' बनाई गई थी। इसमें शक नहीं कि इस दीवार से कुछ फ़ायदा ज़रूर हुआ, लेकिन हमलों से बचने में यह कोई बहुत ज्यादा उपयोगी चीज़ साबित नहीं हुई। एक के-बाद दूसरे सम्राट को इन ख़ानाबदोश क़ौमों को पीछे खदेड़ना पड़ा और इन्हें इस तरह खदेड़ने में ही चीनी साम्राज्य दूर पश्चिम में कैस्पियन समुद्र तक फैल गया। चीनी लोगों में साम्राज्य स्थापित करने की कोई ज्यादा लालसा नहीं थी। इनके सम्राटों में से कुछ ज़रूर साम्राज्यवादी थे और दूसरे देशों को जीतने की महत्त्वाकांक्षा रखते थे, लेकिन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और क़ौमों के मुक़ाबले में चीनी लोग शान्तिप्रिय थे और ये लड़ाई या दूसरे मुल्कों को जीतना पसन्द नहीं करते थे। चीन में विद्वानों को सैनिकों से हमेशा ज्यादा आदर और कीर्ति मिली है। इस पर भी अगर चीन का साम्राज्य कभी-कभी बहुत बढ़ गया तो उसकी वजह बहुत करके यह थी कि उत्तर और पश्चिम की तरफ़ ख़ानाबदोश क़ौमें बराबर कोंचती रहती थीं और हमले करती रहती थीं, जिससे चीन के लोग झुंझला उठते थे।

पर यों चीन-निवासियों को जो राहत मिली, उसका ख़मियाज़ा अन्य मुल्कों और क़ौमों को उठाना पड़ा। क्योंकि जिन ख़ानाबदोशों को चीनी भगाते थे, वे जाकर दूसरे देशों पर आक्रमण करते थे। इसी तरह ये ख़ानाबदोश क़ौमें भारत आईं और बार-बार योरप गईं। चीन के हान् सम्राटों ने हूणों, तातारियों और दूसरे ख़ानाबदोशों को अपने यहाँ से खदेड़कर दूसरे देशों में पहुँचा दिया और तांग सम्राटों ने तुर्कों को योरप भिजवाया।

अभीतक तो चीनी लोग इन ख़ानाबदोश क़ौमों से अपनी रक्षा करने में बहुत हद तक सफल रहे। लेकिन अब हम उस ज़माने की चर्चा करेंगे जब वे इतने सफल नहीं रह सके।

जैसाकि हमेशा राज-वंशों का हर जगह हाल हुआ करता है, तांग-वंश में धीरे-धीरे एक-से-एक ज्यादा निकम्मे शासक होते गये, जिनमें विलासिता के अलावा अपने पूर्वजों के कोई सद्‌गुण नहीं पाये जाते थे। राज्य भर में बेईमानी फैल गई और इसीके साथ-साथ भारी टैक्स भी लगा दिये गये, जिनका बोझ ज्यादातर ग़रीब लोगों पर पड़ता था। असन्तोष बढ़ा और दसवीं सदी के शुरू में यानी सन् ९०७ ई० में, यह राज-वंश ख़तम हो गया।

लगभग पचास वर्ष तक छोटे-छोटे और अदना शासकों का सिलसिला चलता रहा। लेकिन सन् ९६० ई० में चीन के एक बड़े राज-वंश की शुरुआत होती है। यह सुंग राज-वंश था जिसे काओ-लू ने स्थापित किया। लेकिन चीन की सरहदों पर और अन्दर देश में भी, झगड़े जारी रहे। भारी लगानों का किसानों पर बहुत ज्यादा बोझ पड़ता था जिसके कारण वे नाराज़ थे। भारत की तरह चीन में भी ज़मीन का सारा बन्दोबस्त ऐसा था कि वह जनता पर बड़ा ज़बरदस्त बोझ डाल देता था, और बिना इसे पूरी तरह बदले न तो शांति ही संभव थी और न तरक्की ही। लेकिन जड़ से ऊपर तक इस क़िस्म की तब्दीलियाँ करना हमेशा मुश्किल होता है। चोटी के लोगों को मौजूदा व्यवस्था में फायदा रहता है और जब किसी परिवर्त्तन की चर्चा होती है, ये लोग बहुत शोर मचाने लगते हैं। लेकिन अगर परिवर्त्तन वक्त पर नहीं किया जाता, तो उसकी यह आदत है कि वह बिना बुलाये ही आजाता है और सारा मामला उलट देता है!

तांग राज वंश इसलिए ख़तम हो गया कि उसने ज़रूरी परिवर्त्तन नहीं किये।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसी वजह से सुंग राज-वंश को भी लगातार परेशानियाँ रहीं। एक ऐसा आदमी पैदा हुआ जो सफल हो सकता था। इसका नाम वांग-आन-शीह था और यह ग्यारहवीं सदी में सुंगों का प्रधान-मंत्री था। जैसाकि मैंने पहले बताया है, चीन का शासन कनफूशस के विचारों के अनुसार होता था। कनफूशस के शास्त्रों की परीक्षा सारे सरकारी अफसरों को पास करनी पड़ती थी और कनफूशस के लिखे हुए आदेशों के विरुद्ध जाने का कोई साहस नहीं कर सकता था। वांग-आन-शीह ने इन आदेशों की अवहेलना तो नहीं की, लेकिन उसने इनका एक निराला ही अर्थ लगाया। वांग के कुछ विचार बहुत हद तक आधुनिक ढंग के थे। उसका सारा उद्देश्य यह था कि ग़रीबों के ऊपर से टैक्स का बोझ कम कर दे और धनवानों पर, जो अदा कर सकते थे, बढ़ा दे। इसने लगानों में कमी कर दी और किसानों को यह छूट दे दी कि अगर रुपये की सूरत में लगान देना उनके लिए मुश्किल पड़े, तो वे अनाज या किसी दूसरी उपज की सूरत में अदा कर दें। धनवानों पर इसने इनकम-टैक्स लगा दिया। यह टैक्स बिल्कुल आधुनिक टैक्स समझा जाता है, लेकिन इसकी तजवीज़ चीन में हम नौ सौ वर्ष पहले पाते हैं। वांग की यह भी तजवीज़ थी कि किसानों की सहायता के लिए सरकार उन्हें तकावी दिया करे, जिसे वे फ़सल पर वापस कर दें। दूसरी कठिनाई यह थी कि अनाज का भाव घटता-बढ़ता रहता था। बाज़ार-भाव जब गिर जाता है तो ग़रीब किसानों को अपने खेतों की उपज की बहुत कम कीमत मिलती है। वांग-आन-शी ने इस समस्या को हल करने की कोशिश की। उसने यह तजवीज़ की कि अनाज के भाव को बढ़ने-घटने से रोकने के लिए सरकार को गल्ला खरीदना और बेचना चाहिए।

वांग की यह भी तजवीज़ थी कि सरकारी कामों में बेगार न ली जाय। जो आदमी काम करे उसे उसकी पूरी मजदूरी दी जाय। उसने स्थानीय रक्षक-सेना भी बनाई थी जिसे 'पाओ-चिया' कहते थे। लेकिन बदक़िस्मती से वांग अपने ज़माने से बहुत आगे था, इसलिए कुछ समय बाद उसके सुधार ख़तम हो गये। सिर्फ़ उसकी रक्षक-सेना ८०० वर्ष से ऊपर क़ायम रही।

सुंग लोगों में इतनी हिम्मत नहीं थी कि जो समस्याएं उनके सामने आईं उनका मुक़ाबला कर सकते। इसलिए इन लोगों ने उन समस्याओं के आगे घुटने टेक दिये। उत्तर की जंगली क़ौमें, जिनको ख़ितन कहते थे, इन्हें बहुत परेशान करती थीं। इनको पीछे हटाने में अपने को असमर्थ पाकर सुंग लोगों ने उत्तर-पश्चिम की एक जाति से, जिन्हें 'किन' या 'सुनहरे तातारी' कहते थे, मदद माँगी। किन लोगों ने आकर खितन लोगों को मार भगाया, लेकिन वे ख़ुद वहाँ जम गये और हटने से इन्कार कर दिया। ताक़तवर से मदद मांगनेवाले कमज़ोर आदमी या देश का अक्सर यही हाल हुआ करता है। किन लोग उत्तर चीन के मालिक बन बैठे और उन्होंने पेकिंग को अपनी राजधानी बना लिया। सुंग लोग दक्षिण की ओर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चले गये और ज्यों-ज्यों किन बढ़ते गये, वे पीछे हटते गये। इस तरह उत्तर चीन में तो किन साम्राज्य हो गया और दक्षिण में सुंग-साम्राज्य। इन सुंगों को दक्षिणी-सुंग कहा गया है। सुंग राजवंश उत्तर में सन् ९६० से ११२७ ई० तक रहा। दक्षिणी-सुंग चीन में इसके बाद भी १५० वर्ष तक राज करते रहे। अन्त में सन् १२६० ई० में मंगोलों ने आकर इन्हें खतम कर दिया। लेकिन चीन ने प्राचीन भारत की तरह इसका बदला लिया और मंगोलों को भी अपने अंदर मिलाकर और हज़म करके चीनी बना लिया।

दक्षिणी सुंगों के राज्य में कला और कविता बहुत ऊँचे दर्जे तक पहुँचीं और बड़े सुन्दर चित्र बनाये गये। इन चित्रों में प्राकृतिक दृश्यों की विशेषता थी क्योंकि सुंग कलाकार प्रकृति के उपासक थे। चीनी के बर्त्तन भी इस ज़माने में बनना शुरू हुए और कलाकारों के कुशल हाथों ने उन्हें सुन्दर बनाया। मिंग युग के बने हुए चीनी के कलश आज भी हृदय को आनन्दित करनेवाले और दुर्लभ चीज़ समझे जाते हैं।

: ३८ :

जापान में शोगनशाही

हम देख चुके हैं कि जापान में फ़ूजीवारा नाम के एक वंश ने सारी ताकत अपने हाथ में कर ली थी और वह सम्राट को कठपुतली की तरह नचाता था। दो सौ वर्ष तक इसी तरह राज चलता रहा। अ खिरकार सम्राटों ने बेबस होकर गद्दियाँ छोड़ दीं और मठों में आसरा लिया। लेकिन साधु होने पर भी भूतपूर्व सम्राट गद्दी पर बैठे हुए अपने पुत्र सम्राट को सलाह-मशविरा देकर शासन के कामों में बहुत दखल देता था। इस तरीक़े से सम्राटों ने फ़ूजीवारा कुटुम्ब से पैदा होने-वाली अड़चन को किसी हद तक मिटाने की कोशिश की। हा ांकि काम करने का यह तरीक़ा बहुत पेचीदा था, लेकिन फिर भी इससे फ़ूजीवारा वंश की शक्ति बहुत कम हो गई। असली ताकत उन सम्राटों के हाथ में होती थी, जो राजगद्दी छोड़-छोड़कर साधु बनते जाते थे। इसलिए इनको 'मठवासी सम्रा-' कहा गया है।

इस बीच दूसरी तब्दीलियाँ हुईं और बड़े-बड़े ज़मींदारों का, जो सैनिक भी थे, एक नया वर्ग भी पैदा हुआ। फ़ूजीवारों ने ही इन जमींदारों को बनाया था और सरकारी टैक्स जमा करने के लिए नियुक्त किया था। इनको 'दाइम्यो' कहते थे जिसका अर्थ 'बड़ा नाम' है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दाइम्यो लोग अपने हुज़ूरियों और अपनी छोटी-छोटी सेनाओं की मदद से बड़े ताक़तवर हो गये। वे आपस में लड़ते थे और क्योटो की केंद्रीय सरकार की कोई परवाह नहीं करते थे। दाइम्यो घरानों में दो घराने मुख्य थे—एक तायरा और दूसरा मिनामोतो। इन लोगों ने सन् ११५६ ई० में फ़ूजीवारों को दबाने में सम्राट की मदद की। लेकिन बाद में वे एक दूसरे पर हमले करने लगे। तायरा लोग जीत गये और इस इत्मीनान के लिए कि प्रतिद्वन्द्वी घराना भविष्य में उन्हें परेशान न करे, उन्होंने सभी प्रमुख मिनामोतों को मार डाला। सिर्फ़ चार बच्चों को छोड़ दिया, जिनमें से एक बारह वर्ष का बालक योरीतोमो था। तायरा घराने ने मिनामोतो को खतम कर देने की कोशिश तो की, लेकिन पूरी तरह नहीं की। यह लड़का योरीतोमो, जिसे न-कुछ समझकर छोड़ दिया गया था, बड़ा होकर तायरा घराने का कट्टर दुश्मन बन गया। उसके दिल में बदला लेने की आग थी। वह अपनी अभिलाषा पूरी करने में सफल हुआ। उसने तायरा लोगों को राजधानी से निकाल दिया और एक समुद्री लड़ाई में उनको तहस-नहस कर दिया।

इसके बाद योरीतोमो ने सारी ताक़त हथिया ली और सम्राट ने उसे 'सी-ए ताई-शोगन' की लम्बी-चौड़ी उपाधि दी, जिसका मतलब है 'बर्बरों का दमन करने-वाला महान् सेनापति' यह सन् ११९२ ई० की बात है। यह उपाधि पुश्तैनी थी और इसके साथ शासन के पूरे अधिकार जुड़े हुए थे। असली शासक शोगन ही होता था। इस तरह जापान में शोगनशाही क़ायम हुई। इसका दौर बहुत दिनों तक, यानी क़रीब ७०० बरस, रहा और क़रीब-क़रीब मौजूदा जमाने तक चला। लेकिन आधुनिक जापान अपने इस सामन्ती दायरे को तोड़कर बाहर निकल आया।

राजधानी क्योटो के विलासितामय जीवन से योरीतोमो बहुत डरता था, क्योंकि उसकी यह धारणा थी कि आराम की जिन्दगी उसे और उसके साथियों को कमज़ोर बना देगी। इसलिए उसने कामाकुरा में अपनी सैनिक राजधानी बनाई, और इसलिए यह पहली शोगनशाही 'कामाकुरा शोगनशाही' कहलाती है। यह १३३३ ई० तक, यानी क़रीब १५० वर्ष रही। इस युग के अधिकांश भाग में जापान में शांति रही। बहुत वर्षों के गृह-युद्ध के बाद शांति का लोगों ने बहुत स्वागत किया और सम्पन्नता का युग शुरू हुआ। इस ज़माने में जापान की हालत उस समय योरप के किसी भी देश की हालत से कहीं बेहतर थी और इसका शासन भी ज्यादा अच्छा था। जापान चीन का योग्य शिष्य था, हालांकि दोनों के दृष्टिकोणों में बहुत फ़र्क था। जैसा मैंने बताया है, चीन स्वभाव से ही शांतिप्रिय और संतोषी देश था। इसके विपरीत जापान एक उग्र सैनिक देश था।

मतलब यह कि जापान ने चीन से बहुत-कुछ सीखा। लेकिन अपने ही तरीके से सीखा और उसने हरेक चीज़ को अपनी जातीय भावना के अनुरूप बनाने और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ढालने की कोशिश की। चीन के साथ उसका घनिष्ट संबंध बना रहा और व्यापार भी चलता रहा, जो ज्यादातर चीनी जहाज़ों के जरिये होता था। तेरहवीं सदी के अन्त में यह सिलसिला एकदम से रुक गया, क्योंकि मंगोल लोग चीन और कोरिया में पहुँच गये थे। मंगोलों ने जापान को भी जीतने की कोशिश की, लेकिन वे पीछे हटा दिये गये। इन मंगोलों ने इस तरह एशिया की काया-पलट कर दी औ योरप को हिला दिया, पर उनका जापान पर कोई खास असर न पड़ा। जापान अपने पुराने ढंग पर ही चलता रहा और बाहरी प्रभावों से पहले की अपेक्षा और भी दूर हो गया।

जापान के पुराने सरकारी इतिहास में एक कहानी है कि इस देश में कपास का पौधा पहले-पहल किस प्रकार आया। कहते हैं कि कुछ भारतवासी, जिनका जहाज़ जापानी किनारे के नज़दीक डूब गया था, सन् ७९९ ई० में कपास का बीज अपने साथ जापान ले गये थे।

चाय का पौधा इसके बाद आया। पहले-पहल यह पौधा नवीं सदी की शुरुआत में पहुँचा था, लेकिन उस समय यह चल नहीं पाया। सन् ११९१ ई० में एक बौद्ध भिक्षु चीन से चाय के बीज लाया था; इसके बाद चाय बहुत जल्द लोकप्रिय हो गई। चाय पीने की आदत से सुन्दर चीनी के बर्त्तनों की मांग पैदा हुई। तेरहवीं सदी के आखिर में चीनी के बर्तन बनाने की कला सीखने के लिए एक जापानी कुम्हार चीन गया और वहाँ छः वर्ष रहा। वापस आने पर उसने चीनी के सुन्दर जापानी बर्त्तन बनाने शुरू किये। जापान में आजकल चाय पीना एक ललित कला है, जिसके साथ एक लम्बा-चौड़ा शिष्टाचार जुड़ गया है। अगर कोई जापान जाय, तो उसे सही ढंग से चाय पीनी चाहिए, वरना उसे गँवार समझा जायगा।

: ३९ :

अमरीका की 'मय' सभ्यता

अमरीका और आस्ट्रेलिया के बारे में मैंने अभीतक कुछ नहीं बताया, या, बताया भी तो नहीं के ही बराबर। मैं तुम्हें पहले ही आगाह कर चुका हूँ कि शुरू के ज़माने में भी अमरीका में एक सभ्यता थी। इस सभ्यता के बारे में अधिक जानकारी नहीं मिलती, और मैं तो दर असल बहुत ही कम जानता हूँ। फिर भी उसके बारे में बताने का लोभ मैं नहीं दबा सकता ताकि तुम यह समझने की आम गलती न कर बैठो कि कोलम्बस और दूसरे योरोपीयों के पहुँचने के पहले अमरीका एक वहशी मुल्क ही था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पाषाण युग[1] के बहुत पुराने ज़माने में, जब मनुष्य कहीं जमकर नहीं रहता था और शिकारी बना हुआ घूमता था, उत्तरी अमरीका और एशिया के बीच खुश्की का रास्ता था। मनुष्यों के कितने-ही गिरोह और कबीले अलास्का होकर एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप आते-जाते रहे होंगे। बाद में यातायात का यह रास्ता कट गया और अमरीका के लोगों ने धीरे-धीरे अपनी एक सभ्यता बना ली। याद रहे कि जहाँतक पता चला है, अमरीका के लोगों को एशिया और योरप से जोड़नेवाला कोई साधन नहीं था। सोलहवीं सदी तक, जबकि नई दुनिया की खोज की गई बतलाई जाती है, ऐसा कोई बयान नहीं पाया जाता कि योरप और एशिया का इस देश से किसी तरह का असर डालनेवाला सम्पर्क रहा हो। अमरीका की यह दुनिया दूर और अलग थी—और इसपर योरप और एशिया की घटनाओं का कोई असर नहीं पड़ता था।

मालूम होता है कि अमरीका में सभ्यता के तीन ख़ास केंद्र थे——मैक्सिको, मध्य-अमरीका और पेरू। यह ठीक तौर से मालूम नहीं कि ये सभ्यताएं कब से शुरू हुईं। लेकिन मैक्सिको का पंचांग ईसवी सन् से ६१३ साल पहले से शुरू होता है। ईसवी सन् के शुरू के वर्षों में, दूसरी सदी के बाद, बहुत से शहर बढ़ चुके थे। पत्थर के काम, मिट्टी के बर्तनों का काम, बुनाई और सुन्दर रंगाई का विकास हो चुका था। तांबा और सोना बहुतायत से मिलता था, लेकिन लोहा तबतक नहीं पाया गया था। गृह-निर्माण कला की तरक्क़ी हो रही थी और मकानों के बनाने में इन शहरों की आपस में होड़ चलती थी। एक खास तरह की और पेचीदा लिपि लिखी जाती थी। कला, ख़ासकर मूर्त्तिकला, बहुत देखने में आती थी और इसकी सुन्दरता अपूर्व थी।

सभ्यता के इन क्षेत्रों में से हरएक में कई राज्य थे। कई भाषाएं थीं और इन भाषाओं में क़ाफ़ी साहित्य भी था। शासन सुसंगठित और मजबूत था, और शहरों में एक सुसंस्कृत और बुद्धिजीवी समाज था। इन राज्यों का क़ानून और आर्थिक व्यवस्था बहुत उन्नत थी। सन् ९६० ई० के लगभग उक्षमल नगर की नींव डाली गई। कहा जाता है कि यह शहर बहुत जल्दी बढ़कर उस समय के एशिया के बड़े शहरों की टक्कर का हो गया। इसके अलावा लाबुआ, मयपान, चाओ-मुल्तन वग़ैरा और भी बड़े-बड़े शहर थे।

मध्य-अमरीका के तीन मुख्य राज्यों ने मिलकर एक संघ बनाया था, जिसे मयपान-संघ कहते थे। यह ईसा से ठीक एक हज़ार वर्ष के आसपास की बात है। इस तरह यह साफ़ है कि ईसा के एक हजार वर्ष बाद मध्य-अमरीका में सभ्य राज्यों

---

[1]पाषाण युग——मनुष्य जाति का शुरू का जमाना जब मनुष्य सिर्फ पत्थर के औजार बनाना जानता था।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मध्य अमरीका की मय सभ्यता

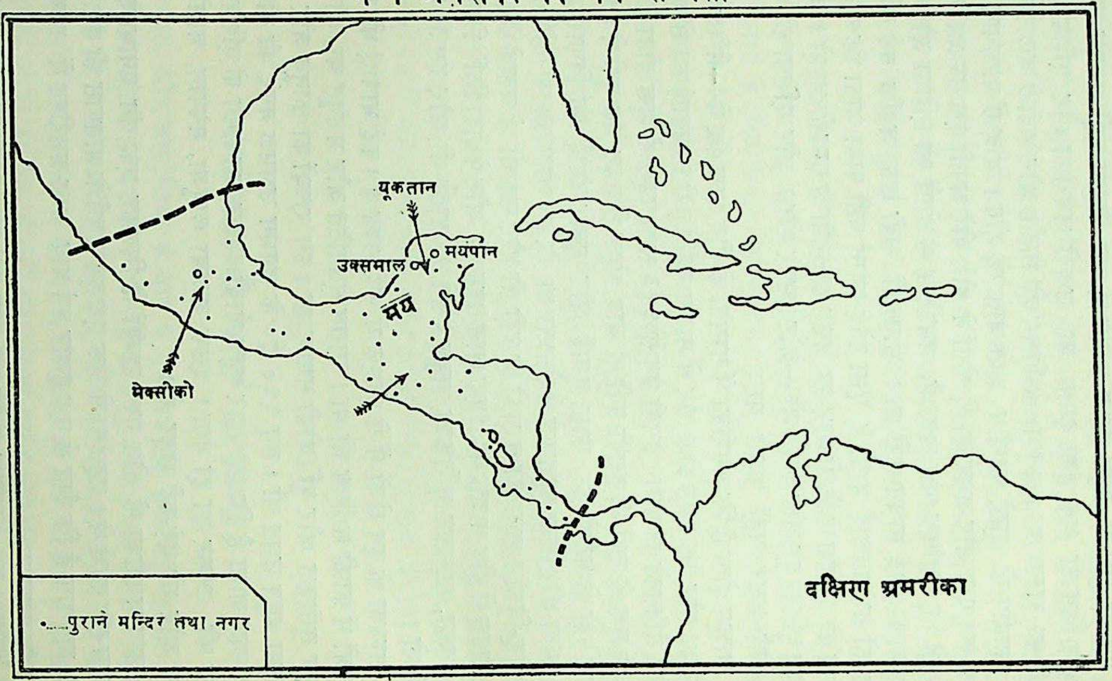

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का एक शक्तिशाली संगठन था। लेकिन इसके सारे राज्यों पर 'और ख़ुद मय' सभ्यता पर, पुरोहित लोग हावी थे। ज्योतिष सबसे प्रतिष्ठित विज्ञान समझा जाता था, और इस विज्ञान के जाननेवाले होने की वजह से पुरोहित लोग जनता के अज्ञान से फ़ायदा उठाते थे।

मयपान का यह संघ सौ वर्ष से अधिक रहा। जान पड़ता है कि इसके बाद एक सामाजिक क्रांति हुई और सरहद की एक बाहरी ताक़त ने दखल देना शुरू कर दिया। सन् ११९० ई० के लगभग मयपान नष्ट हो गया, लेकिन दूसरे शहर बने रहे। इसके बाद सौ साल के भीतर एक दूसरी जाति के लोग वहां आ गये। ये लोग मैक्सिको से आये थे और 'अज़टेक' कहलाते थे। इन लोगों ने चौदहवीं सदी के शुरू में मय देश को जीत लिया और सन् १३२५ ई० के लगभग टेनोच्टिटलन नाम का नगर बसाया। जल्द ही यह सारे मैक्सिको की राजधानी और अज़टेक-साम्राज्य का केंद्र बन गया। इस शहर की आवादी बहुत बड़ी थी।

अज़टेक लोग एक सैनिक क़ौम थे। इन लोगों ने सैनिक बस्तियाँ बसाईं, छावनियाँ बनाईं और फ़ौजी सड़कों का जाल बिछा दिया। यहाँतक कहा जाता है कि ये इतने चालाक थे कि अपने मातहत राज्यों को आपस में लड़ाते रहते थे। आपसी फूट के कारण उनपर शासन करना ज्यादा आसान था।

दूसरी बातों में चतुर होते हुए भी अज़टेक लोग धर्म के मामले में पुरोहितों के बन्धन में जकड़े हुए थे, और इससे भी बुरी बात यह थी कि उनके मज़हब में आदमियों की क़ुरबानियाँ बहुत होती थीं। हर साल धर्म के नाम पर हज़ारों आदमी बड़े ख़ौफ़नाक तरीक़े से बलि चढ़ा दिये जाते थे।

लगभग दो सौ वर्ष तक अज़टेक लोगों ने अपने साम्राज्य पर डंडे के ज़ोर से कठोर शासन किया। साम्राज्य में जाहिरा सुरक्षा व शांति थी, लेकिन जनता बेरहमी से निचोड़ी और लूटी जाती थी। जो राज्य इस तरह बना हो और इस तरह चलाया जाय, वह बहुत दिनों तक क़ायम नहीं रह सकता,और यही हुआ भी। सोलहवीं सदी के शुरू में, यानी सन् १५१९ ई० में, जब अज़टेक लोग अपनी शक्ति की सबसे ऊँची चोटी पर दिखाई देते थे, उनका साम्राज्य मुट्ठी-भर लुटेरे और दुस्साहसी विदेशियों के हमले से भरभरा कर गिर पड़ा! स्पेन-निवासी हर्नेन कोर्टे ने सिपाहियों की एक छोटी टुकड़ी की मदद से इस साम्राज्य को नष्ट कर दिया। कोर्टे बहादुर आदमी था और उसमें क़ाफ़ी साहस था। उसके पास दो चीजें थीं, जिनसे उसे बड़ी मदद मिली——बन्दूक़ें और घोड़े। मालूम होता है कि मैक्सिको के साम्राज्य में घोड़े नहीं थे और बन्दूकें तो निश्चय ही नहीं थीं। किंतु अगर अज़टेक साम्राज्य की जड़ें खोखली न होतीं, तो न तो कोर्टे की हिम्मत और न उसकी बन्दूकें और न घोड़े ही किसी काम आते। इस राज्य का ऊपरी ढांचा तो क़ायम था लेकिन अन्दर से खोखला हो चुका था, इसलिए इसे गिराने को ज़रा-सी ठोकर ही काफी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थी। यह साम्राज्य जनता के शोषण की नींव पर बना था; इसलिए लोग उससे बहुत असंतुष्ट थे। इसलिए जब उसपर हमला हुआ तो आम जनता साम्राज्य-वादियों की इस परेशानी पर खुश हुई और, जैसाकि अक्सर होता है, इसके साथ ही एक सामाजिक क्रांति भी हुई।

एक दफ़ा तो कोर्टे खदेड़ दिया गया और मुश्किल से वह अपनी जान बचा सका। लेकिन वह फिर लौटा और वहाँ के कुछ लोगों की मदद से उसने फ़तह पाई। इससे अज़टेक-शासन का अन्त तो हुआ ही, लेकिन मज़ेदार बात यह है कि साथ-ही-साथ मैक्सिको की सारी सभ्यता लड़खड़ाकर गिर पड़ी और थोड़े-ही समय में उस शाही और विशाल राजधानी टेनोच्टिटलन का निशान तक बाक़ी नहीं रहा। उसकी एक ईंट भी आज नहीं बची है। उसकी जगह पर स्पेनवालों ने एक गिरजाघर बनाया। मय सभ्यता के दूसरे बड़े शहर भी नष्ट हो गये और यूकेतान के जंगलों ने उन्हें ढक लिया, यहाँतक कि उनके नाम भी बाक़ी न रहे। बहुत-से शहरों की स्मृति आजकल उनके पड़ोस के गाँवों के नामों में बाकी रह गई है। उनका सारा साहित्य भी नष्ट हो गया और केवल तीन किताबें बच रही हैं, और उन्हें भी आज तक कोई पढ़ नहीं सका है।

दक्षिणी अमरीका के पेरू में सभ्यता का एक और केंद्र था। इस देश में 'इनका' का शासन था। यह एक प्रकार का दैवी राजा माना जाता था। यह अजीब बात है कि पेरू की इस सभ्यता का, कम-से-कम पिछले दिनों में, मैक्सिको की सभ्यता से बिल्कुल भी सम्पर्क नहीं था। दोनों सभ्यताएँ एक-दूसरे से बहुत दूर नहीं थीं; फिर भी वे एक-दूसरी के बारे में कुछ नहीं जानती थीं। सिर्फ इसी बात से यह साबित हो जाता है कि कुछ मामलों में वे कितनी ज्यादा पिछड़ी हुई थीं। मैक्सिको में कोर्टे के सफल होने के बाद ही, एक दूसरे स्पेन-निवासी ने पेरू राज्य का भी अंत कर दिया। इसका नाम पिज़ारो था। इसने सन् १५३० ई० में आकर इनका को दग़ाबाज़ी से पकड़ लिया। दैवी राजा के पकड़े जाने से ही लोग डर गये। पिज़ारो ने कुछ समय तक इनका के नाम पर शासन करने की कोशिश की और लोगों को दबाकर बहुत दौलत ऐंठी। बाद में यह आडम्बर खतम कर दिया गया और स्पेनवालों ने पेरू को अपने साम्राज्य का एक हिस्सा बना लिया।

मय और पेरू की कला के बहुत-से अवशेष मिले हैं और वे अमरीका के, ख़ासकर मैक्सिको के, अजायबघरों में देखे जा सकते हैं। इनमें एक सुन्दर कलामय परम्परा दिखाई देती है। कहा जाता है कि पेरू के सुनारों का काम बहुत-ही ऊँचे दर्जे का है। पत्थर की मूर्त्तियों के भी कुछ नमूने मिले हैं, जिनमें साँपों की कुछ मूर्त्तियाँ ख़ास तौर पर बहुत ही सुन्दर हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: ४० :

मोहन-जो-दड़ो की तरफ़ वापस छलाँग

मोहन-जो-दड़ो और सिन्ध घाटी की पुरानी भारतीय सभ्यता के बारे में एक नई महत्त्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसमें इस सभ्यता के बारे में वे सारी बातें, जो अभीतक मालूम हो सकी हैं, बयान की गई हैं। यह पुस्तक उन लोगों ने तैयार की है और लिखी है, जिनकी देख-रेख में खुदाई का और खोद निकालने का काम था। इन लोगों ने गहराई तक खोदते-खोदते अपनी आँखों से शहर को, जैसे पृथ्वी-माता के गर्भ से बाहर निकलते देखा है। सिन्ध-घाटी की यह सभ्यता एक अद्‌भुत वस्तु है और इसकी बाबत जितना ज्यादा मालूम होता है, उतना ही आश्चर्य भी बढ़ता है।

मोहन-जो-दड़ो को लोग, कम-से-कम, पाँच हजार वर्ष पुराना तो मानते ही हैं। जो मोहन-जो-दड़ो हमें मिला है, वह एक सुन्दर शहर था और एक सुसंस्कृत और सभ्य जाति का निवास स्थान था। इसके पीछे विकास का एक लम्बा युग ज़रूर रहा होगा। यही बात इस पुस्तक से हमें मालूम होती है। सर जान मार्शल, जिनकी देख-रेख में खोद निकालने का काम हो रहा है, लिखते हैं, "एक बात, जो मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा, दोनों जगहों में, साफ़तौर पर और निर्विवाद रूप से दिखाई देती है, यह है कि जो सभ्यता इन दो स्थानों पर प्रकट हुई है वह नवजात सभ्यता नहीं है। बल्कि युगों पुरानी और भारत की ज़मीन पर प्रौढ़ता पाई हुई सभ्यता है, जिसके पीछे लाखों वर्षों का मानव प्रयत्न है। इसलिए अब आगे ईरान, ईराक और मिस्र के साथ-साथ भारत की गणना भी सभ्यता के उन महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में की जानी चाहिए, जहाँ सभ्यता का सिलसिला शुरू हुआ और बढ़ा।"

एक दूसरा स्थान हड़प्पा है, जहाँ मोहन-जो-दड़ो से मिलते-जुलते पुराने खंडहर खोदकर निकाले गये हैं। यह पश्चिमी पंजाब में है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिन्ध-घाटी में हम न केवल ५००० वर्ष पहले, बल्कि उससे भी हज़ारों वर्ष पहले पहुँच जाते हैं। यहाँतक कि हम प्राचीनता के उस धुँधले कोहरे में खो जाते हैं, जब आदमी पहले-पहल घर बसाने लगा था। जिस समय मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता फूल-फल रही थी, उस समय भारत में आर्य लोग नहीं आये थे। किंतु इसमें संदेह नहीं कि उस समय "भारत के दूसरे भाग नहीं तो कम-से-कम पंजाब और सिन्ध एक उन्नत और निराली समानतावाली सभ्यता का उपभोग कर रहे थे। यह सभ्यता उस समय की ईराक़ और मिस्र की सभ्यताओं से बहुत-कुछ मिलती-जुलती और कई बातों में उनसे भी श्रेष्ठ थी।"

मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा की खुदाई से यह प्राचीन और चित्ताकर्षक सभ्यता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हमारे सामने प्रकट हो गई है। न जाने भारत-भूमि के नीचे दूसरे स्थानों पर कितना कुछ और दबा पड़ा है! मालूम होता है कि यह सभ्यता भारत के काफ़ी हिस्से में फैली हुई थी और केवल मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा तक ही सीमित नहीं थी। ये दोनों स्थान भी एक-दूसरे से काफ़ी दूरी पर हैं।

यह वह युग था जिसमें "पत्थर के हथियारों और बर्तनों के साथ-साथ ताँबे और काँसे के हथियारों और बर्तनों का भी उपयोग होता था।" सर जान मार्शल ने सिन्ध घाटी के निवासियों के साथ उस समय के मिस्र और ईराक़ के लोगों की तुलना करके उनका भेद और सिन्ध घाटी के निवासियों की श्रेष्ठता बताई है। वह लिखते हैं, "अगर सिर्फ़ कुछ ज़ाहिर बातों का ही ज़िक्र किया जाय, तो पहली चीज यह है कि कपड़ा बनाने के लिए रुई का उपयोग इस युग में केवल भारत तक ही परिमित था। पश्चिमी जगत में रुई का उपयोग इसके दो-तीन हज़ार साल बाद फैला। दूसरे ऐतिहासिक युग के पहले मिस्र या ईराक़ या पश्चिमी एशिया के किसी भी भाग में हमें कोई ऐसी चीज़ नहीं मिलती, जो मोहन-जो-दड़ो के नागरिकों के सुनिर्मित स्नानागारों और कुशादा मकानों की बराबरी कर सके। उन देशों में देवताओं के विशाल मन्दिरों तथा राजाओं के महलों और क़ब्रों के बनाने में बेशुमार दौलत और बुद्धि खर्च की जाती थी, लेकिन मालूम होता है बाक़ी जनता को मिट्टी की मामूली झोपड़ियों पर ही सन्तोष करना पड़ता था। लेकिन सिन्ध-घाटी में हमें इससे उलटा दृश्य मिलता है और यहाँपर सबसे अच्छे मकान वे हैं, जो नागरिकों के आराम के लिए बनाये गये थे।"

: ४१ :

कारडोबा और ग्रेनेडा

सन् ७११ ई० में अरब-सेनापति समुद्र पारकर अफ़रीका से स्पेन पहुँचा था। उसका नाम तरीक़ था और वह जिब्राल्टर (जबलुत्तरीक़, अर्थात् तरीक़ की पहाड़ी) पर उतरा था। दो साल के भीतर ही अरबों ने सारा स्पेन जीत लिया और कुछ दिनों बाद उन्होंने पुर्तगाल को भी अपने राज्य में मिला लिया। वे बराबर आगे बढ़ते गये; फ़्रांस में घुस गये और सारे दक्षिण में फैल गये। उनकी इस बढ़ती हुई ताक़त से फ़्रैंक और दूसरी जातियाँ बुरी तरह डर गईं और उन्होंने चार्ल्स मार्टल के नेतृत्व में मिल-जुलकर अरबों को रोकने की एक बहुत बड़ी कोशिश की। इसमें वे सफल हुईं और फ़्रांस में पाइतिये के पास तूर की लड़ाई में फ़्रैंक लोगों ने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अरबों को हरा दिया। यह बहुत करारी हार थी और इससे अरबों का योरप जीतने का स्वप्न खतम हो गया। इसके बाद बहुत बार अरबों और फ़्रैंकों तथ फ्रांस की दूसर ईसाई जा ियों के बीच लड़ाइयाँ हुईं; कभी अरब जीते और फ़्रांस में घुस पड़े और कभी ये वापस स्पेन में खदेड़ दिये गये। शार्लमेन ने भी स्पेन में अरबों पर हमला किया था, लेकिन वह हार गया। बहुत दिनों तक हार-जीत का यह सिलसिला बना रहा और अरब लोग स्पेन में राज्य करते रहे, पर वे आगे न बढ़ सके।

इस प्रकार स्पेन उस बड़े साम्राज्य का अंग बन गया, जो अफ़रीका के एक सिरे से लगाकर ठेठ मंगोलिया की सरहद तक फैला हुआ था। लेकिन यह हालत बहुत दिनों तक कायम न रही। स्पेन का अरबी गवर्नर उम्मैया था। उसने नये अब्बासी खलीफ़ा को मानने से इन्कार कर दिया। इस तरह स्पेन अरब साम्राज्य से अलग हो गया और बग़दाद का खलीफ़ा बहुत दूर होने के कारण और अपने घरेलू झगड़ों में उलझा रहने के कारण इधर ध्यान नहीं दे सका।

स्पेन के अरबों का अपनी मातृभूमि से सम्बन्ध तोड़ने का फैसला किसी हद तक जल्दबाज़ी का था। वे एक दूर देश में एक विदेशी जनता के बीच में थे और चारों ओर दुश्मनों से घिरे हुए थे। उनकी संख्या भी थोड़ी थी। मुसीबत व ख़तरे के मौक़े पर उनकी मदद करनेवाला कोई नहीं था। लेकिन उन दिनों उनमें आत्म-विश्वास भरा हुआ था और वे इन खतरों की बिल्कुल परवाह नहीं करते थे। सच तो यह है कि उत्तर की ईसाई जातियों के निरन्तर दबाव के बावजूद वे बहुत ख़ूबी से डटे रहे और उन्होंने अकेले ही ५०० वर्ष तक स्पेन के ज्यादातर हिस्से पर अपना प्रभुत्त्व क़ायम रखा। इसके बाद भी वे स्पेन के दक्षिण में एक छोटी-सी रियासत में २०० वर्षों तक अड़े रहे। इस तरह वे वास्तव में बग़दाद के बड़े साम्राज्य के खतम हो जाने के बाद तक बने रहे, और जब उन्होंने स्पेन से अन्तिम बिदा ली, उसके बहुत पहले-ही बग़दाद का शहर मिट्टी में मिल चुका था।

ठीक ५०० साल तक कुर्तुबा इस राज्य की राजधानी रहा। इसीको अंग्रेजी में कारडोबा, और कभी-कभी कारडोवा कहते हैं। कारडोवा बहुत बड़ा शहर था, जिसमें दस लाख आदमी रहते थे। यह बाग़-बाग़ीचोंवाला दस मील लम्बा शहर था जिसके उपनगर चौबीस मील तक फैले हुए थे। कहा जाता है कि इस नगर में साठ हज़ार महल और कोठियाँ थीं, दो लाख छोटे मकान थे, अस्सी हज़ार दूकानें थीं, ३७,८०० मसजिदें थीं और सात सौ सार्वजनिक हम्माम थे। इन आँकड़ों में कुछ अत्युक्ति हो सकती है, लेकिन इससे शहर की विशालता का कुछ अंदाज लगाया जा सकता है। यहाँ अनेक पुस्तकालय थे, जिनमें अमीर का शाही-पुस्तकालय मुख्य था। इसमें चार लाख किताबें थीं। कारडोबा का विश्व-

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विद्यालय सारे योरप में और पश्चिमी एशिया तक में मशहूर था। ग़रीबों के लिए बहुत-सी प्रारम्भिक पाठशालाएं थीं जिनमें उन्हें मुफ़्त शिक्षा दी जाती थी।

सन् १००० ई० के क़रीब अमीर का साम्राज्य लगभग सारे स्पेन पर फैला हुआ था। यहाँतक कि इसमें दक्षिणी फ़्रांस का भी एक छोटा-सा हिस्सा शामिल था। लेकिन इसका पतन जल्दी ही हुआ, और जैसाकि अक्सर होता है, इस पतन की जड़ में अन्दरूनी कमज़ोरी थी। कला, विलासिता और वीरता से युक्त अरबों की सुन्दर सभ्यता आखिर धनवानों की ही सभ्यता थी। भूखी ग़रीब जनता ने विद्रोह कर दिया और मज़दूरों ने दंगे शुरू कर दिये। धीरे-धीरे यह घरेलू लड़ाई बढ़ती गई, एक के बाद एक सूबा आज़ाद होता गया, और अन्त में अरबों का स्पेनी-साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया। हालाँकि अरबों की ताक़त बिखर गई थी, फिर भी वे सन् १२३६ ई० तक बराबर राज्य करते रहे, जबकि कैस्टाइल के ईसाई बादशाह ने कारडोबा को पूरी तरह फ़तह कर लिया।

अरब लोग दक्षिण की ओर खदेड़ दिये गये, फिर भी वे बराबर मुक़ाबला करते रहे। स्पेन के दक्षिण में उन्होंने ग्रेनेडा नाम का छोटा-सा राज्य स्थापित कर लिया और वे वहीं डट गये। आकार की दृष्टि से यह राज्य बहुत छोटा था, लेकिन यह अरबी सभ्यता का एक छोटा-सा नमूना बन गया। ग्रेनेडा का मशहूर अलहम्ब्र अपने सुन्दर महराबों, खम्भों और अरबेस्कों के साथ अभीतक मौजूद है और उस पुराने जमाने की याद दिलाता है। इसका असली नाम अरबी भाषा में 'अल-हम्र' था, जिसके मानी हैं—'लाल महल'। अरबेस्क उस सुन्दर नक्काशी को कहते हैं जो इस्लाम से प्रभावित अरब और दूसरी इमारतों में पाई जाती है। इस्लाम में मनुष्यों या जानवरों के चित्र बनाना मना है। इसलिए मेमार लोग सजीली और पेचीदा रेखाकृतियाँ बनाने लगे। अक्सर महराबों वग़ैरह पर वे कुरान की अरबी आयतें नक़्श करते और उनमें सुन्दर सजावट करते थे। अरबी लिपि एक बहावदार लिपि है, जिसमें सजावट का काम आसानी से हो सकता है।

ग्रेनेडा का राज्य दो सौ वर्ष तक क़ायम रहा। इस ज़माने में स्पेन के ईसाई राज्य, खासकर कैस्टाइल, उसे दबाते और तंग करते रहे। कभी-कभी उसने कैस्टाइल को कर देना भी मंज़ूर कर लिया। अगर स्पेन के ईसाई राज्यों में आपसी फूट न होती तो शायद ग्रेनेडा का राज्य इतने दिनों तक क़ायम न रहता। लेकिन सन् १४६९ ई० में इनमें से दो मुख्य ईसाई राज्यों के शासकों में, यानी फर्डीनेण्ड और आइज़ाबेला में, विवाह हो गया। इससे कैस्टाइल, एरागोन और लियोन तीनों एक हो गये। फर्डीनेण्ड और आइज़ाबेला ने ग्रेनेडा के अरब साम्राज्य का अन्त कर डाला। अरब कई वर्षों तक बहादुरी से लड़ते रहे, पर अन्त में वे ग्रेनेडा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में चारों तरफ़ से घेर लिये गये। आखीर में सन् १४९२ ई० में भूख से तंग आकर उन्होंने आत्म-समर्पण कर दिया।

बहुत-से सरासीन या अरब स्पेन छोड़कर अफ़रीका चले गये। ग्रेनेडा के नज़दीक, शहर के सामने ही एक जगह है, जो आज दिन भी 'मूरों की अन्तिम आह' के नाम से मशहूर है।

लेकिन बहुत-से अरब स्पेन में ही रह गये। इन अरबों के साथ जो सलूक हुआ, वह स्पेन के इतिहास का एक काला अध्याय है। उनके साथ बेरहमी की गई और उनको क़त्ल किया गया और सहिष्णुता के जो वादे उनसे किये गये थे, उन्हें बिल्कुल भुला दिया गया। इसी समय स्पेन में 'इनक्विज़िशन' की स्थापना हुई। रोमन पादरियों ने यह भयंकर हथियार उन तमाम लोगों को कुचलने के लिए ईजाद किया था जो उनके सामने सर नहीं झुकाते थे। यहूदी लोग, जो सरासीनों के राज्य में फूलते फलते रहे थे, अपना धर्म बदलने के लिए मजबूर किये जाने लगे और बहुतों को जिन्दा जला दिया गया। स्त्रियों और बच्चों तक को नहीं छोड़ा गया। इन जुल्मों के विरोध में विद्रोह और बलवे तो हुए, लेकिन वे बेरहमी से कुचल दिये गये।

ऐसा मालूम होता है कि स्पेन के ईसाई नहाने-धोने के बहुत खिलाफ़ थे। शायद वे इसका विरोध सिर्फ़ इसलिए करते थे कि स्पेन के अरब लोग गुसल के बहुत शौकीन थे, और उन्होंने सारे मुल्क में बड़े-बड़े सार्वजनिक हम्माम बना दिये थे। ईसाई इस हद तक चले गये कि उन्होंने 'मूरों या अरबों के सुधार के लिए' हिदायतें निकालीं कि "अरबी पुरुष, उनकी स्त्रियाँ और अन्य कोई, घर में या और कहीं भी नहाने-धोने न पावें, और उनके सब हम्माम गिराकर नष्ट कर दिये जायँ।"

नहाने-धोने के पाप के अलावा एक दूसरा भी भारी जुर्म मूरों पर यह लगाया गया कि वे धर्म के मामलों में सहनशील होते हैं। यह एक बड़ी अजीब बात मालूम होती है, लेकिन सन् १६०२ ई० में वेलेंशिया के बड़े पादरी ने सरासीनों को स्पेन से निकालनेकी सिफारिश करते हुए 'मूरों के कुफ़ और राजद्रोह' के बारे में जो बयान तैयार किया था, उसमें उनपर लगाये गये जुर्मों में यह मुख्य है।

लाखों सरासीन ज़बरदस्ती स्पेन से खदेड़ दिये गये। उनमें से ज्यादातर अफ़रीका और कुछ फ़्रांस चले गये। लेकिन अरब लोग स्पेन में सात सौ वर्षों तक रह चुके थे, और इस लम्बे ज़माने में स्पेन की जनता में बहुत-कुछ घुल-मिल गये थे; जड़ से तो वे अरब थे, लेकिन धीरे-धीरे स्पेनवासी बन गये थे। शायद पिछले ज़माने के स्पेनवासी अरब बग़दाद के अरबों से बिल्कुल भिन्न थे। आज भी स्पेनिश-जाति की नस में अरबों का काफ़ी ख़ून है।

इस तरह स्पेन से अरबों का राज्य ही नहीं, बल्कि उनकी सभ्यता भी ख़तम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हो गई। जैसाकि हम आगे चलकर देखेंगे, एशिया में इस सभ्यता का अन्त इससे ही पहले हो चुका था। इस सभ्यता ने बहुत-से देशों और संस्कृतियों पर अपना असर डाला और अपनी कितनी ही शानदार यादगारें यह छोड़ गई। लेकिन बाद में वह फिर अपने परों पर खड़ी न हो सकी।

सरासीनों के चले जाने के बाद फर्डीनेण्ड और आइज़ाबेला के शासन में स्पेन की ताकत बढ़ती गई। कुछ ही दिन बाद, अमरीका का पता लग जाने की वजह से, इसके हाथ गहरा माल लगा, और कुछ समय के लिए स्पेन योरप में सबसे ज्यादा शक्तिशाली देश हो या और इसका दबदबा दूसरे देशों पर छा गया। लेकिन इसका पतन भी तेज़ी के साथ हुआ और इसका महत्त्व नष्ट हो गया। जब योरप के दूसरे देश उन्नति करते रहे, स्पेन अपनी जगह पर सड़ता रहा और मध्य-युग के सपने देखता रहा। उसने यह महसूस नहीं किया कि तबसे दुनिया बहुत बदल गई थी।

: ४२ :

'क्रूसेड'

सेलजूक़ तुर्कों की बढ़ती हुई ताक़त से योरप भयभीत हो गया था; खासकर कुस्तुन्तुनिया की सरकार, जिसपर कि सीधा खतरा था। यरुशलम और फ़िलस्तीन के ईसाई यात्रियों पर तुर्कों के अत्याचार की कहानियों ने योरप के लोगों में उत्तेजना फैला दी थी और वे क्रोधित हो उठे थे। इसलिए 'धर्म युद्ध' की घोषणा कर दी गई। पोप और चर्च ने योरप के सारे ईसाइयों को आदेश दिया कि वे 'पवित्र नगर'[1] के उद्धार के लिए सेनाएँ सजायें।

इस तरह सन् १०९५ ई० से ये 'क्रूसेड' या धर्म-युद्ध शुरू हुए, और डेढ़ सौ वर्षों से ज्यादा समय तक ईसाइयत और इस्लाम में, सलीब और हिलाल में, लड़ाई जारी रही। बीच-बीच में क़ाफ़ी वक्त तक लड़ाई रुकी भी रहती थी, लेकिन युद्ध की अवस्था बराबर बनी रही। ईसाई जिहादियों के दल के दल लड़ने के लिए और ज्यादातर उस 'पवित्र भूमि'[2] में मरने के लिए जाते रहे। इन लम्बी लड़ाइयों से ईसाई जिहादियों को कोई वास्तविक फल नहीं मिला। कुछ समय के लिए यरुशलम ईसाई जिहादियों के हाथ में आ गया, लेकिन बाद में फिर वह तुर्कों

---

[1] यरुशलम को यहूदी और ईसाई अपना पवित्र नगर मानते हैं।
[2] फिलस्तीन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के हाथ में चला गया, और उन्हींके कब्जे में बना रहा। क्रूसेडों का ख़ास नतीजा यह हुआ कि लाखों ईसाइयों और मुसलमानों को मुसीबतें झेलनी पड़ीं और मौत के घाट उतरना पड़ा और एशिया कोचक और फ़िलस्तीन की ज़मीन इन्सान के खून से तर हुई।

योरप में क्रूसेडों ने ईसाइयत को, यानी इस भावना को बढ़ाया कि सब ग़ैर-ईसाइयों के मुक़ाबले में ईसाइयों की अपनी अलग दुनिया है। योरप भर में इसी भावना और उद्देश्य का दौर था कि 'काफ़िरों' के हाथों से 'पवित्र भूमि' का उद्धार होना चाहिए। इस समान-उद्देश्य ने जनता में उत्साह भर दिया था, और इस महान् कार्य के लिए कितने-ही आदमी अपना घर-बार और धन-दौलत छोड़कर चल दिये। बहुत-से लोग ऊँचे भावों से प्रेरित हो कर गये थे, लेकिन बहुत-से पोप के इस वादे से आकर्षित हुए थे कि वहाँ जाने से उनके पाप माफ़ कर दिये जायँगे। क्रूसेडों के दूसरे भी कितने ही कारण थे। रोम हमेशा के लिए कुस्तुन्तुनिया का सरदार बन जाना चाहता था। कुस्तुन्तुनिया और रोम के ईसाई सम्प्रदाय अलग-अलग थे। कुस्तुन्तुनियावाले अपने को कट्टर चर्च[1] का मानते थे। वे रोमन सम्प्रदाय से सख्त नफ़रत करते थे और पोप को कल का छोकरा समझते थे। पोप कुस्तुन्तुनिया का यह घमंड चूर करके उसे अपने मातहत लाना चाहता था। क़ाफ़िर तुर्कों के खिलाफ़ धर्म-युद्ध की आड़ में वह अपनी इस पुरानी लालसा को पूरा करना चाहता था।

क्रूसेडों का दूसरा कारण व्यापारिक था। व्यापारी लोग, खासकर वेनिस और जिनेवा के उन्नतिशील बन्दरगाहों के व्यापारी इन युद्धों को चाहते थे, क्योंकि उनका व्यापार घटता जा रहा था इसकी वजह यह थी कि सेलजूक तुर्कों ने पूर्व के कई तिजारती रास्तों को बन्द कर दिया था।

लेकिन आम जनता तो इन कारणों से बिलकुल अपरिचित थी। किसीने उसे ये बातें नहीं बताई थीं। राजनीतिज्ञ लोग आमतौर पर अपने असली कारणों को छिपा रखते हैं और धर्म, न्याय और सत्य वग़ैरह की लम्बी-चौड़ी दुहाई दिया करते हैं। क्रूसेडों के समय में यही बात थी और आज भी यही है। उस समय लोग उनकी बातों में आ जाते थे, और आज भी ज्यादातर लोग राजनीतिज्ञों की चिकनी-चुपड़ी बातों में आ जाते हैं।

इन कारणों से क्रूसेडों में शामिल होने के लिए बहुत आदमी जमा हो गये। उनमें बहुत-से तो नेक और लगनवाले थे, लेकिन बहुत-से ऐसे भी थे जो भलमनसाहत से दूर थे और लूट-खसोट की उम्मीद ने ही उन्हें इस तरफ़ खींचा था। इस अजीब जमघट में पुण्यात्मा और धर्मात्मा लोग भी थे, और समाज का वह

---

[1] ऑर्थोडोक्स चर्च

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कूड़ा-करकट भी था जो हर तरह के जुर्म कर सकता है। नेक काम समझकर उसमें मदद पहुँचाने के लिए घर छोड़कर जानेवाले इन जिहादियों ने, या उनमें से अधिकांश ने, दर असल नीच-से-नीच और महा-घृणित अपराध किये। बहुत-से रास्ते में लूट-मार और अन्य बुराइयों में ऐसे फँस गये कि फ़िलस्तीन के पास तक नहीं पहुँचे। कुछने रास्ते में यहूदियों को क़त्ल करना शुरू कर दिया; कुछने अपने ईसाई भाइयों को ही क़त्ल कर डाला। कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि जिन ईसाई देशों से होकर ये लोग गुज़रे, वहाँ के किसानों ने इनकी बदमाशियों से तंग आकर इनका मुक़ाबला किया और इनपर हमला करके बहुतों को मार डाला और बाकी को भगा दिया।

आखिर में बुइलों के गॉदफ़्रे नामक एक नार्मन के नेतृत्व में ये जिहादी फ़िलस्तीन पहुँच गये। इन्होंने यरुशलम जीत लिया और फिर वहाँ 'एक हफ़्ते तक मारकाट मची'। हज़ारों लोग क़त्ल कर दिये गये। इस घटना को अपनी आँखों से देखनेवाले एक फ़्रांसीसी ने लिखा है, "मस्जिद की बरसाती के नीचे घुटने तक ख़ून था, और घोड़ों की लगाम तक पहुँच जाता था।" गॉदफ़्रे यरुशलम का बादशाह बन गया।

सत्तर वर्ष बाद मिस्र के सुलतान सलादीन ने यरुशलम को ईसाइयों से फिर छीन लिया। इससे योरप की जनता फिर उत्तेजित हो उठी, और एक-के बाद-एक कई क्रूसेड हुए। इस बार योरप के कई बादशाह और सम्राट ख़ुद जिहाद में शामिल हुए, लेकिन उन्हें कोई सफलता न मिली। वे इस बात पर आपस में ही झगड़ते थे कि बड़ा कौन है, और एक दूसरे से ईर्ष्या करते थे। ये क्रूसेड बीभत्स और निर्दयतापूर्ण युद्ध थे, और इनमें से अक्सर साज़िशों और नीचतापूर्ण अपराधों की कहानी है। लेकिन कभी-कभी मानव प्रकृति के सद्‌गुणों ने इन बीभत्सताओं पर विजय पाई, और ऐसी घटनाएँ भी हुईं जब दुश्मनों ने एक-दूसरे के प्रति भलमनसाहत का और वीरोचित उदारता का वर्ताव किया। फ़िलस्तीन में बाहर से आये हुए इन राजाओं में इंग्लैण्ड का 'शेरदिल' रिचर्ड भी था, जो अपनी शारीरिक शक्ति और साहस के लिए मशहूर था। सुलतान सलादीन भी बड़ा लड़ाका था और अपनी वीरोचित उदारता के लिए मशहूर था। कहते हैं कि एक बार रिचर्ड बहुत बीमार पड़ गया, उसे लू लग गई थी। जब सलादीन को इसकी खबर हुई तो उसने उसके पास पहाड़ों से ताज़ा बर्फ़ भिजवाने का इन्तज़ाम कर दिया। आजकल की तरह उन दिनों पानी को जमाकर नकली बर्फ़ नहीं बनाई जा सकती थी। इसलिए पहाड़ों से कुदरती बर्फ़ हरकारों के द्वारा मंगवाई जाती थी।

जिहादियों का एक जत्था क़ुस्तुन्तुनिया भी पहुँचा और उसने उसपर क़ब्ज़ा कर लिया। इसने पूर्वी साम्राज्य के यूनानी सम्राट को मार भगाया और वहाँ लैटिन-राज्य और रोमन कैथलिक चर्च की स्थापना की। इन लोगों ने क़ुस्तुन्तुनिया में भी भयंकर मारकाट की और जिहादियों ने शहर का एक हिस्सा जला भी दिया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लेकिन यह लैटिन-राज्य ज्यादा दिनों तक क़ायम न रह सका। पूर्वी रोमन-साम्राज्य के यूनानी कमज़ोर होते हुए भी वापस लौटे और पचास साल से कुछ ही ज्यादा समय के अन्दर उन्होंने लैटिनों को मार भगाया। क़ुस्तुन्तुनिया का पूर्वी साम्राज्य दो सौ वर्ष तक और बना रहा। अन्त में सन् १४५३ ई० में तुर्कों ने हमेशा के लिए उसे खतम कर दिया।

लेकिन इन क्रूसेडों में सबसे भयंकर वह था जो 'बच्चों का क्रूसेड' कहलाता है। बहुत बड़ी तादाद में बच्चों ने, ख़ासकर फ़्रांस के और जर्मनी के कुछ बच्चों ने, जोश में आकर अपने घरों को छोड़ दिया और फ़िलस्तीन जाने का निश्चय कर लिया। उनमें से कितने तो रास्ते में ही मर गये और कितने ही खो गये। ज्यादातर बच्चे मार्साइ जा पहुँचे, जहाँ उन बेचारों के साथ धोखा किया गया और बदमाशों ने उनके उत्साह से बेजा फ़ायदा उठाया। 'पवित्र भूमि' तक पहुँचा देने का बहाना बनाकर ग़ुलामों का व्यापार करनेवाले इन्हें अपने जहाज़ों में बिठाकर मिस्र ले गये और वहाँ इन्हें ग़ुलामी के लिए बेच दिया।

फ़िलस्तीन से लौटते समय इंग्लैण्ड के बादशाह रिचर्ड को पूर्वी योरप में उसके दुश्मनों ने पकड़ लिया और उसको छुड़ाने के लिए बहुत बड़ी रक़म देनी पड़ी। फ़्रांस का एक राजा तो फ़िलस्तीन ही में गिरफ्तार कर लिया गया था और उसे भी रुपया देकर छुड़ाया गया। पवित्र रोमन साम्राज्य का एक सम्राट, फ़्रेडरिक बारबरोसा, फ़िलस्तीन की एक नदी में डूब गया। इधर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, क्रूसेडों का आकर्षण कम होता गया। लोग इन युद्धों से उकता गये थे। यरुशलम मुसलमानों के ही हाथों में बना रहा, लेकिन योरप के राजाओं में और योरप की जनता में अब यरुशलम को छीनने के लिए अधिक जान और माल बरबाद करने का उत्साह नहीं रहा। इसके बाद लगभग ७०० बरस तक यरुशलम मुसलमानों के ही पास रहा। थोड़े ही दिन पहले, पिछले योरोपीय महायुद्ध के समय, सन् १९१८ ई० में, एक अंग्रेज सेनापति ने इसे तुर्कों से छीन लिया।

बाद के क्रूसेडों में एक क्रूसेड बड़ा ही दिलचस्प और असाधारण था। वास्तव में पुराने अर्थ में तो यह क्रूसेड था ही नहीं। पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट फ़्रेडरिक द्वितीय फ़िलस्तीन गया। वहाँ युद्ध करने के बजाय उसने मिस्र के सुल-तान से भेंट की, और दोनों में एक दोस्ताना समझौता हो गया। फ़्रेडरिक असाधा-रण व्यक्ति था। उस ज़माने में, जब ज्यादातर बादशाह बे पढ़े-लिखे होते थे, यह अरबी के अलावा कई भाषाएं जानता था। वह 'जगत का आश्चर्य' करके मशहूर था। पोप की वह बिल्कुल परवाह नहीं करता था और इसलिए पोप ने उसे बहिष्कृत कर दिया, लेकिन उसपर इसका कोई असर न हुआ।

सारांश यह कि क्रूसेडों का कोई नतीजा नहीं निकला। पर इस लगातार लड़ाई ने सेलजूक़ तुर्कों को कमज़ोर कर दिया। लेकिन इससे भी ज्यादा सामन्त-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रथा ने सेलज़ूक़-साम्राज्य की जड़ खोखली कर दी। बड़े-बड़े सामन्त सरदार अपने को एक तरह से स्वतन्त्र मानने लगे। वे आपस में लड़ते रहते थे। कभी-कभी नौबत यहाँतक पहुँचती थी कि वे एक-दूसरे के ख़िलाफ़ ईसाइयों की सहायता माँगा करते थे। कभी-कभी जिहादी लोग तुर्कों की इसी अन्दरूनी कमज़ोरी का फ़ायदा उठाते थे। लेकिन जब कभी सलादीन की तरह कोई दबंग सुलतान होता था तब इनकी नहीं चलती थी।

सलादीन सन् ११९३ ई० में मर गया और पुराने अरब साम्राज्य का जो कुछ भाग बच रहा था वह भी धीरे-धीरे छिन्न-भिन्न हो गया। पश्चिमी एशिया के कई हिस्सों में, ज़ो छोटे-छोटे सामन्त-सरदारों के क़ब्ज़े में थे, उपद्रव होने लगे। अन्तिम क्रूसेड सन् १२४९ ई० में हुआ। इसका नेता फ़्रांस का राजा लुई नवम था। वह हार गया और क़ैद कर लिया गया।

यहाँ में एक बात का जिक्र कर देना चाहता हूँ। मध्य-एशिया के बुख़ारा नामक शहर में एक बहुत बड़ा अरब चिकित्सक रहता था, जो एशिया और योरप दोनों में मशहूर था। उसका नाम इब्न सीना था, लेकिन योरप में वह 'एवीसेना' के नाम से ज्यादा मशहूर है। वह 'चिकित्सकों का राजा' कहा जाता था। क्रूसेडों के शुरू होने के पहले सन् १०३७ ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

: ४३ :

अफ़गानों का हमला और दिल्ली की सल्तनत

बारहवीं सदी के अन्त में, सन् ११८६ ई० के क़रीब, हिन्दुस्तान पर उत्तर-पश्चिम से हमलों की एक नई लहर आई। अफ़गानिस्तान में एक नया सरदार पैदा हुआ। उसने ग़ज़नी पर क़ब्ज़ा कर लिया और ग़ज़नवी-साम्राज्य को ख़तम कर दिया। उसका नाम शहाबुद्दीन गोरी (गोर नाम के अफ़गानिस्तान के एक छोटे से क़सबे का रहनेवाला) था। शहाबुद्दीन लाहौर तक आ धमका और उसपर क़ब्ज़ा करके दिल्ली पर चढ़ आया। पृथ्वीराज चौहान उस वक्त दिल्ली का राजा था; उसके झंडे के नीचे उत्तर भारत के बहुत-से सरदार शहाबुद्दीन के ख़िलाफ़ लड़े और उसे बुरी तरह हरा दिया। लेकिन यह जीत थोड़े ही दिनों की थी। शहाबुद्दीन दूसरे साल बहुत बड़ी फ़ौज लेकर वापस आया और इस बार उसने पृथ्वीराज को हरा दिया और उसे मार डाला।

पृथ्वीराज अभीतक एक लोकप्रिय वीर नायक माना जाता है और उसके बारे में बहुत-सी गाथाएँ और गीत हैं। इनमें से सबसे मशहूर कथा कन्नौज के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजा जयचन्द की लड़की को उड़ा ले जाने की है। लेकिन इसकी उसे बड़ी भारी क़ीमत चुकानी पड़ी। इस झगड़े में उसके सबसे अधिक शूरवीर योद्धाओं की जानें गईं और एक शक्तिशाली राजा की दुश्मनी उसने मोल ली। इसने आपसी फूट और लड़ाई के बीज बो दिये, जिससे हमला करनेवाले की जीत का रास्ता आसान हो गया।

इस तरह सन् ११९२ ई० में शहाबुद्दीन ने पहली बार बड़ी विजय हासिल की, जिसकी वजह से भारत में मुसलमानों की हुकूमत क़ायम हुई। धीरे-धीरे ये आक्रमणकारी पूर्व और दक्षिण की तरफ़ फैलने लगे। आगे के १५० वर्षों के अन्दर, यानी सन् १३४० ई० तक, मुसलमानों की हुकूमत दक्षिण के बड़े भाग पर फैल चुकी थी। इसके बाद दक्षिण में यह सिकुड़ने लगी। नये-नये राज्य पैदा हुए—कुछ मुसलमान और कुछ हिन्दू। इनमें विजयनगर का हिन्दू-साम्राज्य ज़िक्र करने लायक़ है।

शुरू में ये मुसलमान बड़े ख़ूंख़ार और ज़ालिम थे। ये एक कठोर देश से आये थे,जहाँ 'नर्मी' की ज्यादा क़द्र नहीं थी। इसके अलावा दूसरी बात यह थी कि वे एक नये जीते हुए मुल्क में थे, और चारों तरफ़ दुश्मनों से घिरे हुए थे, जो किसी भी वक्त विद्रोह कर सकते थे। इन लोगों को बलवे का डर बराबर बना रहता होगा और डर से आदमी अक्सर भयंकर और ज़ालिम बन जाता है।

धीरे-धीरे भारत ने इन ख़ूंख़ार लड़ाकुओं को नर्म बना दिया और उन्हें सभ्यता सिखा दी। वे महसूस करने लगे कि वे विदेशी आक्रमणकारी नहीं बल्कि भारतीय हैं। उन्होंने इस देश की स्त्रियों के साथ शादियाँ करनी शुरू कर दीं और आक्रमणकारियों और आक्रान्ताओं के बीच का भेद धीरे-धीरे कम होता गया।

तुम्हें यह जानना दिलचस्प लगेगा कि महमूद ग़ज़नवी, जिसने उत्तर भारत में सबसे ज्यादा बरबादी मचाई और जो 'बुतपरस्तों' के ख़िलाफ़ मुसलमानों का रक्षक समझा जाता था, एक हिन्दू फ़ौज रखता था जिसका सेनापति तिलक नाम का एक हिन्दू था। वह तिलक और उसकी फ़ौज को ग़ज़नी ले गया और उसने विद्रोही मुसलमानों को दबाने में उसका उपयोग किया। इस तरह नये मुल्कों को फ़तह करना ही महमूद का उद्देश्य था। जैसे भारत में वह अपने मुसलमान सिपाहियों की मदद से 'बुतपरस्तों' को क़त्ल करने के लिए तैयार था, ठीक वैसे ही मध्य एशिया में वह हिन्दू सिपाहियों की मदद से मुसलमानों को क़त्ल करने के लिए तैयार रहता था।

इस्लाम ने भारत को हिला डाला। इसने ऐसे समाज में, जो बिल्कुल जड़ बनता जा रहा था जीवन-शक्ति और उन्नति की प्रेरणा भर दी। उत्तर भारत की हिन्दू कला में परिवर्तन शुरू हो गया। एक नई कला का विकास हुआ, जिसे भारतीय-मुस्लिम कला कह सकते हैं और जिसमें शक्ति और चेतना थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मुस्लिम हमलों का पहला असर यहाँ के लोगों पर यह हुआ कि बहुत-से लोग दक्षिण चले गये। महमूद के हमलों और क़त्ले आम के बाद उत्तरी भारत के लोग बर्बरतापूर्ण बेरहमी और विनाश को इस्लाम का अंग समझने लगे। इसलिए जब फिर हमला हुआ और उसका रोकना असम्भव हो गया, तो कुशल शिल्पकारों और विद्वानों के झुण्ड-के-झुण्ड दक्षिण भारत में जा बसे। इससे दक्षिण भारत में आर्य संस्कृति को बड़ी ताक़त मिली।

जिस समय उत्तरी भारत पर अफ़गानों के हमले हो रहे थे, दक्षिण भारत में चोल लोगों का बोलबाला था। कुछ दिन के बाद ये कमज़ोर पड़ने लगे और एक छोटा-सा राज्य, जो पहले इनकी मातहती में था, स्वतन्त्र हो गया और उसकी ताक़त बढ़ने लगी। यह पांड्यों का राज्य था। इसकी राजधानी मदुरा थी और इसका बन्दरगाह कायल था। वेनिस का मशहूर यात्री मार्को पोलो, जिसके बारे में मैं आगे फिर कुछ लिखूँगा, दो दफ़ा कायल गया था—एक दफ़ा सन् १२८८ ई० में और दूसरी दफ़ा सन् १२९३ ई० में। इसने लिखा है कि यह 'बहुत बड़ा और भव्य शहर' है, जो अरब और चीन के जहाज़ों से और व्यापार की हलचल से भरा रहता है। मार्को पोलो ख़ुद चीन से जहाज़ पर आया था।

मार्को पोलो ने यह भी लिखा है कि भारत के पूर्वी समुद्र तट पर महीन-से-महीन मलमल बनती थी जो 'मकड़ी के जाले की तरह' मालूम होती थी। मार्को पोलो यह भी ज़िक्र करता है कि तेलगू देश, यानी मद्रास के उत्तर में पूर्वी किनारे, की रानी रुद्रमणि नाम की एक महिला थी। इसने ४० वर्ष तक हुकूमत की। मार्को पोलो ने इसकी बड़ी तारीफ़ की है।

इस तरह तेरहवीं सदी में जब चोल-राज्य का पतन हुआ, तब पाण्ड्य-राज्य एक प्रमुख तमिल शक्ति था। चौदहवीं सदी के शुरू में, यानी सन् १३१० ई० में, मुसलमानों के हमले की फनी दक्षिण तक पहुँच गई। यह फनी पांड्य राज्य के अन्दर घुस गई और यह राज्य तेज़ी के साथ ढह गया।

इतनी बात तो दक्षिण और पूर्व के बारे में हुई। पश्चिम में महाराष्ट्र देश में चालुक्य, उनके बाद राष्ट्रकूट और राष्ट्रकूटों के बाद फिर चालुक्य हुए।

अफ़गान शहाबुद्दीन के बाद, जिसने पृथ्वीराज को हराया था, दिल्ली में ग़ुलाम-वंशी बादशाह कहलानेवाले सुल्तानों का सिलसिला शुरू हुआ। उनमें सबसे पहला कुतुब-उद्दीन था। यह शहाबुद्दीन का ग़ुलाम था, लेकिन ग़ुलाम भी ऊँचे पदों पर पहुँच सकते थे और वह अपनी कोशिशों से दिल्ली का पहला सुल्तान बन गया। उसके बाद होनेवाले कुछ सुल्तान भी शुरू में ग़ुलाम थे; इसीलिए यह ग़ुलाम वंश कहलाता है। ये सब-के-सब बड़े ख़ूंख़ार थे, और इमारतों व पुस्तकालयों का विनाश और आतंक फैलाना, यह इनकी जीतों के साथ-साथ चलता था। इन्हें इमारतें बनाने का भी शौक़ था और इनका झुकाव बड़ी-बड़ी इमारतें बनाने की तरफ़ था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क़ुतुब-उद्दीन ने क़ुतुब-मीनार बनवानी शुरू की। यह वही बड़ी मीनार है जो दिल्ली के पास है। उसके उत्तराधिकारी इल्तुतमिश ने इस मीनार को पूरा किया और उसीके पास ही कुछ सुन्दर महराब भी बनाये, जो अभीतक मौजूद हैं। इन इमारतों का क़रीब-क़रीब सारा मसाला पुरानी भारतीय इमारतों, खासकर मन्दिरों से लिया गया था।

बिहार और बंगाल को अफ़गानों ने बड़ी आसानी से जीत लिया। वे बड़े दिलेर थे और उन्होंने अचानक हमला करके बचाव करनेवालों को सम्हलने का मौक़ा नहीं दिया।

इल्तुतमिश के ज़माने में ही, यानी सन् १२११ और १२३६ ई० के बीच में, भारत की सरहद पर एक बड़ा भयंकर बादल उठा। यह बादल मंगोलों का था जिनका नेता चंगेज़ खाँ था। चंगेज़ खाँ अपने एक दुश्मन का पीछा करता हुआ ठेठ सिन्ध नदी तक आ गया, लेकिन यहीं रुक गया। भारत बच गया। इसके क़रीब २०० वर्ष बाद इसीके वंश का एक दूसरा आदमी, तैमूर, भारत में मार-काट और बरबादी लेकर आया। हालाँकि चंगेज़ यहाँ नहीं आया, लेकिन बहुत से मंगोलों ने भारत पर छापा मारने और ठेठ लाहौर तक भी आ-धमकने की आदत-सी डाल ली। कभी-कभी ये आतंक फैलाते थे और सुल्तानों तक को भी इतना डरा देते थे कि वे धन देकर उनसे अपना पिंड छुड़ाते थे। इनमें से हज़ारों मंगोल पंजाब में ही बस गये।

सुल्तानों में रज़िया नाम की एक स्त्री भी हुई है। यह इल्तुतमश की बेटी थी। मालूम होता है कि यह बड़ी बहादुर और योग्य स्त्री थी; लेकिन अपने ख़ूंख़ार अफ़गान अमीरों से, और उनसे भी ख़ूंख़ार पंजाब पर हमला करनेवाले मंगोलों से, बहुत परेशान रहती थी।

ग़ुलाम बादशाहों का सिलसिला सन् १२९० ई० में खतम हो गया। इसके बाद अलाउद्दीन ख़िलजी आया जिसने तख़्त पर क़ब्ज़ा करने का यह नरम तरीक़ा अपनाया कि अपने चाचा को, जो उसका ससुर भी था, मौत के घाट उतार दिया! और फिर उन सब मुस्लिम अमीरों को भी मरवा डाला जिनकी वफ़ादारी में उसे शक था। मंगोलों की साज़िश से डरकर उसने यह हुक्म निकाला कि उसके राज्य में जितने भी मंगोल हों, सब क़त्ल कर दिये जायँ, ताकि "उस नस्ल का एक भी आदमी दुनिया के पर्दे पर ज़िन्दा न बचे"। इस तरह बीस-तीस हज़ार मंगोल, जिनमें ज्यादातर तो निर्दोष ही थे, क़त्ल कर डाले गये।

अलाउद्दीन दूसरों की तरह असहिष्णु था, लेकिन मालूम होता है कि भारत के इन मध्य-एशियाई शासकों का दृष्टिकोण अब बदल रहा था। वे अब भारत को अपना वतन समझने लग गये थे। अब वे यहाँ अजनबी नहीं रहे थे। अलाउद्दीन ने एक हिन्दू औरत से शादी की और उसके लड़के ने भी ऐसा ही किया। मालूम होता है कि अलाउद्दीन के ज़माने में एक अच्छी शासन-व्यवस्था स्थापित करने की

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कोशिश की गई। फ़ौजों के आने-जाने के लिए सड़कें खासतौर से दुरुस्त रखी जाती थीं और अलाउद्दीन फ़ौज पर ख़ासतौर से ध्यान देता था। उसने अपनी फ़ौज को बहुत शक्तिशाली बना लिया और उसकी मदद से गुजरात और दक्षिण के बहुत बड़े हिस्से को जीत लिया। उसका सेनापति दक्षिण से बेशुमार दौलत अपने साथ लेकर लौटा। कहते हैं, वह पचास हज़ार मन सोना, बहुत से मोती और जवाहरात, बीस हज़ार घोड़े और ३१२ हाथी लेकर आया था।

वीर-गाथाओं तथा वीरता की भूमि चित्तौड़ में अब भी पहले का-सा साहस भरा था लेकिन उसका ढंग वही पुराना था और वह युद्ध के उन्हीं तरीक़ों से चिपटा हुआ था जो बेकार हो चुके थे, इसलिए अलाउद्दीन की कुशल सेना ने उसे हरा दिया। सन् १३०३ ई० में चित्तौड़ लूट लिया गया। लेकिन ऐसा होने से पहले ही किले के पुरुषों और स्त्रियों ने पुराने रिवाज का पालन करके भयंकर जौहर-व्रत कर डाला। इसके अनुसार जब हार सामने हो और दूसरा कोई चारा नं रहा हो, तो अन्तिम उपाय यही समझा जाता था कि पुरुष मैदान में आकर लड़ते हुए मर जायँ और स्त्रियाँ चिता में भस्म हो जायँ। यह चीज़ बड़ी भयंकर थी, खासकर स्त्रियों के लिए। अच्छा तो यह था कि स्त्रियाँ भी तलवार हाथ में लेकर निकल पड़तीं और रणक्षेत्र में काम आतीं। लेकिन किसी भी सूरत में, ग़ुलामी और अपमान से मौत अच्छी थी, क्योंकि उस ज़माने में हार का मतलब ग़ुलामी ही होता था।

इधर भारत के रहनेवाले, यानी हिन्दू, धीरे-धीरे मुसलमान बनते जा रहे थे—पर तेज़ी से नहीं। कुछ लोगों ने अपना मज़हब इसलिए बदल डाला कि इस्लाम उन्हें अच्छा लगा; कुछ लोगों ने डर के मारे ऐसा किया, और कुछ ने इसलिए, कि जीतनेवाले पक्ष की तरफ़ रहने की इच्छा मनुष्य का स्वभाव है। लेकिन इस धर्म-परिवर्त्तन का मुख्य कारण आर्थिक था। ग़ैर-मुस्लिमों को एक खास टैक्स देना पड़ता था, जो हर आदमी पर लगता था और 'जज़िया' कहलाता था। ग़रीबों के ऊपर यह भारी बोझ था। बहुत-से तो सिर्फ़ इससे बचने के लिए अपना मज़हब बदलने पर राज़ी हो जाते थे। ऊँचे वर्ग के लोगों में दरबारी कृपा और ऊँचे पद प्राप्त करने की लालसा मुसलमान बनने के लिए ज़बरदस्त प्रेरणा थी। अलाउद्दीन का महान् सेनापति मलिक काफ़ूर, जिसने दक्षिण को जीता था, हिन्दू से मुसलमान हुआ था।

मैं तुम्हें दिल्ली के एक दूसरे सुल्तान का हाल बताना चाहता हूँ। यह बड़ा-ही अजीब व्यक्ति था। इसका नाम मुहम्मद-बिन-तुग़लक था। यह फ़ारसी और अरबी का बहुत बड़ा पंडित और विद्वान था। इसने दर्शन और न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था और यूनानी दर्शन का भी। इसे गणित, विज्ञान और चिकित्सा-शास्त्र का भी कुछ ज्ञान था। यह बहादुर आदमी था और अपने ज़माने के लिहाज़

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से विद्वत्ता का अनोखा आदर्श और एक चमत्कार ही था। लेकिन आखिर फिर भी यह क्रूरता का दानव था और मालूम होता है कि बिल्कुल पागल था। वह अपने ही पिता को क़त्ल करके तख़्त पर बैठा था। ईरान और चीन जीतने के बारे में उसके विचार बड़े ही अजीब थे और उनका नाकामयाब होना कुदरती बात थी। लेकिन उसका सबसे मशहूर कारनामा यह था कि उसने अपनी ही राजधानी दिल्ली को इसलिए उजाड़ डालने का निश्चय किया कि शहर के कुछ लोगों ने गुमनाम पर्चों में उसकी नीति पर नुक्ताचीनी करने की गुस्ताख़ी की थी! उसने हुक्म दिया कि राजधानी दिल्ली से बदलकर दक्षिण में देवगिरि को ले जाई जाय। इस जगह का नाम उसने दौलताबाद रखा। मकान मालिकों को कुछ मुआवज़ा दिया गया, और इसके बाद हरएक आदमी को, बिना किसी लिहाज़ के यह हुक्म दिया गया कि तीन दिन के अन्दर शहर छोड़ दे।

बहुत लोग शहर छोड़ कर चल दिये। कुछ छिप भी गये। जब इनका पता चला तो इन्हें बेरहमी के साथ सज़ा दी गई हालाँकि इनमें से एक अन्धा था और दूसरा लकवे का मारा था। दिल्ली से दौलताबाद का रास्ता चालीस रोज़ का था। इस कूच में लोगों की कैसी भयंकर हालत हुई होगी और इनमें से कितने रास्ते में ही ख़त्म हो गये होंगे, इसका ख़याल तो करो!

और दिल्ली शहर का क्या हुआ? दो वर्ष बाद मुहम्मद-बिन-तुग़लक ने इस शहर को फिर बसाना चाहा, लेकिन कामयाब न हो सका। एक आँखों देखनवाले के शब्दों में उसने इसे बिल्कुल वीराना बना दिया था।

यह पागल पच्चीस वर्ष तक, यानी सन् १३५१ ई० तक सुल्तान बनकर शासन करता रहा। यह देखकर हैरत होती है कि जनता अपने शासकों की कितनी धूर्तता, क्रूरता और अयोग्यता को सहन कर सकती है। लेकिन जनता की ताबेदारी के बावजूद मुहम्मद-बिन-तुग़लक अपने साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर डालने में सफल रहा। उसकी पागलपन की योजनाओं ने और भारी टैक्सों ने देश को बरबाद कर दिया। अकाल पड़े और अन्त में बलवे होने लगे। उसकी ज़िन्दगी में ही, सन् १३४० ई० के बाद, साम्राज्य के बड़े-बड़े हिस्से आज़ाद हो गये। बंगाल आज़ाद हो गया। दक्षिण में भी कई रियासतें पैदा हो गईं। इनमें विजयनगर की रियासत मुख्य थी, जो सन् १३३६ ई० में क़ायम हुई और दस वर्ष के अन्दर ही दक्षिण में एक बड़ी ताक़त बन गई।

दिल्ली के पास तुग़लक़ाबाद के खंडहर अब भी हैं। इसे इसी मुहम्मद के पिता ने बसाया था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: ४४ :

चंगेज़ खाँ

भारत में गुलाम बादशाह मंगोलों से बच गये, लेकिन फिर भी इन्होंने यहाँ काफी हलचल पैदा कर दी थी। मंगोलिया के इन ख़ानाबदोशों ने मानों सारे एशिया को पस्त कर डाला था। सिर्फ़ एशिया को ही नहीं, बल्कि आधे योरप को भी। ये अद्भुत लोग कौन थे, जो एकदम फट पड़े और जिन्होंने दुनिया को हैरत में डाल दिया? मंगोलों ने अभीतक कुछ कारगुजारी नहीं दिखाई थी। पश्चिमी एशिया में शायद इनके बारे में कोई ज्यादा जानता भी नहीं था। इनमें मंगोलिया के अनजान कबीलों के लोग थे और ये 'किन' तातारियों की मातहती में थे जिन्होंने उत्तर चीन जीता था।

मालूम होता था कि इनमें एकदम ही कहीं से शक्ति आ गई। इनके बिखरे हुए कबीले आपस में मिल गये और उन्होंने अपना एक नेता—ख़ान महान्—चुना और उसकी मातहती और हुक्मबरदारी की शपथ ली। उसके नेतृत्व में इन्होंने पेकिंग पर धावा मारा और किन-साम्राज्य को ख़तम कर दिया। ये लोग पश्चिम की ओर भी बढ़े और रास्ते में जितने बड़े-बड़े राज्य मिले, सभी का सफ़ाया कर डाला। ये रूस पहुँचे और उसे परास्त कर दिया। बाद में इन लोगों ने बग़दाद और उसके साम्राज्य का भी नामोनिशान मिटा दिया और ठेठ पोलैण्ड और मध्य-योरप तक जा पहुँचे। इनको रोकनेवाला कोई नहीं था। भारत इनसे बच गया, यह सिर्फ़ संयोग की बात थी।

मंगोलिया के ये ख़ानाबदोश बड़े मज़बूत थे। कष्ट झेलने की इन्हें आदत थी और ये लोग उत्तरी एशिया के लम्बे-चौड़े मैदानों में तम्बुओं में रहते थे। लेकिन अगर इन्होंने एक सरदार न पैदा किया होता, जो बड़ा अनोखा व्यक्ति था, तो इनका शारीरिक बल और कष्ट झेलने का अभ्यास इनके ज्यादा काम न आते। यह वही व्यक्ति है जो चंगेज़ ख़ाँ के नाम से मशहूर है। यह सन् ११५५ ई० में पैदा हुआ था और इसका असली नाम तिमूचिन था। इसका पिता येगुसी बगातुर इसको बच्चा ही छोड़कर मर गया था। 'बगातुर' मंगोल अमीरों का लोकप्रिय नाम था। इसका मतलब है 'वीर' और मेरा ख़याल है कि उर्दू का 'बहादुर' शब्द इसीसे निकला है।

हालाँकि चंगेज़ १० वर्ष का छोटा लड़का-ही था, और उसका कोई मददगार नहीं था, फिर भी वह मेहनत करता चला गया और अन्त में सफल हुआ। वह क़दम-क़दम आगे बढ़ता गया, यहाँतक कि अंत में मंगोलों की बड़ी सभा 'कुरुलताई' ने अधिवेशन करके उसे अपना 'ख़ान महान्' या 'कागन' या सम्राट चुना। इससे कुछ साल पहले उसे चंगेज़ का नाम दिया जा चुका था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चंगेज़ जब 'खान महान्' या 'कागन' बना, उसकी उम्र ५१ वर्ष की हो चुकी थी। यह जवानी की उम्र नहीं थी, और इस उम्र पर पहुँचकर ज्यादातर आदमी शांति और आराम चाहते हैं। लेकिन उसके लिए तो यह विजय-यात्रा के जीवन की शुरुआत थी। यह ग़ौर करने की बात है; क्योंकि ज्यादातर महान् विजेताओं ने मुल्कों को जीतने का काम जवानी में ही पूरा कर लिया है। इससे हम यह नतीजा भी निकाल सकते हैं कि चंगेज़ ने जवानी के जोश में एशिया को रौंद नहीं डाला था। वह अधेड़ उम्र का एक होशियार और सावधान आदमी था और हर बड़े काम को हाथ में लेने से पहले उसपर विचार और उसकी तैयारी कर लेता था।

चंगेज ने बड़ी सावधानी के साथ अपनी विजय-यात्रा की तैयारियाँ कीं। उसने अपनी फ़ौज को लड़ाई की तालीम दी। सबसे ज्यादा उसने अपने घोड़ों को सिखाया था और इस बात का खास इन्तज़ाम किया था कि एक घोड़ा मरने के बाद दूसरा घोड़ा फौरन सिपाहियों के पास पहुँच सके, क्योंकि खानाबदोशों के लिए घोड़ों से ज्यादा महत्त्व की चीज़ कोई नहीं हैं। इन सब तैयारियों के बाद उसने पूर्व की तरफ़ कूच किया, और उत्तर चीन और मंचूरिया के किन-साम्राज्य को क़रीब-क़रीब खतम कर दिया और पेकिंग पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। उसने कोरिया जीत लिया। मालूम होता है कि दक्षिणी सुंगों को उसने दोस्त बना लिया था। इन सुंगों ने किन लोगों के विरुद्ध उसकी मदद भी की थी। बेचारे यह नहीं समझते थे कि इनके बाद उनकी बारी भी आनेवाली हैं। चंगेज़ ने बाद में तंगुतों को भी जीत लिया।

इन विजयों के बाद चंगेज़ आराम कर सकता था। ऐसा मालूम होता है कि पश्चिम पर हमला करने की उसकी इच्छा नहीं थी। वह खारज़म के शाह से मित्रता का सम्बन्ध रखना चाहता था, लेकिन यह हो नहीं पाया। एक पुरानी कहावत हैं जिसका मतलब है कि देवता जिसे नष्ट करना चाहते हैं पहले उसे पागल कर देते हैं। खारज़म का बादशाह अपनी-ही बरबादी पर तुला हुआ था और इसे पूरा करने के लिए जो कुछ सम्भव था, उसने किया। उसके एक सूबे के हाकिम ने मंगोल सौदागरों को क़त्ल कर दिया। चंगेज़ फिर भी सुलह चाहता था और उसने यह संदेश लेकर राजदूत भेजे कि उस गवर्नर को सज़ा दी जाय। लेकिन बेवकूफ़ शाह इतना घमंडी था, और अपने को इतना बड़ा समझता था, कि उसने इन राजदूतों का अपमान किया और उनको मरवा डाला। चंगेज़ के लिए इसे सहन करना असम्भव था, लेकिन उसने जल्दबाज़ी से काम नहीं लिया। उसने सावधानी से तैयारी की और तब पश्चिम की तरफ़ अपनी फ़ौज के साथ कूच का डंका बजा दिया।

इस कूच ने, जो सन् १२१९ ई० में शुरू हुआ, एशिया की, और कुछ हद तक योरप की, आँखें इस नये आतंक की तरफ़ खोल दीं, जो बड़े भारी बेलन की तरह शहरों और करोड़ों आदमियों को बेरहमी के साथ कुचलता हुआ चला आ रहा था।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

खारज़म का साम्राज्य मिट गया। बुखारा का बड़ा शहर, जिसमें बहुत से महल थे और दस लाख से ज्यादा आबादी थी, जलाकर राख कर दिया गया। राजधानी समरक़न्द बरबाद कर दी गई और उसकी दस लाख की आबादी में से सिर्फ़ पचास हज़ार लोग ज़िन्दा बचे। हिरात, बलख, और दूसरे बहुत से गुलज़ार शहर नष्ट कर दिये गये। करोड़ों आदमी मार डाले गये। जो कलाएँ और दस्तकारियाँ वर्षों से मध्य एशिया में फूल-फल रही थीं, ग़ायब हो गईं। ईरान और मध्य एशिया में सभ्य जीवन का अन्त सा हो गया। जहाँ से चंगेज़ गुज़रा, वहाँ वीराना हो गय ।

ख़ारज़म के बादशाह का लड़का जलालुद्दीन इस तूफ़ान के विरुद्ध बहादुरी से लड़ा। वह पीछे हटते-हटते सिन्ध नदी तक चला आया और जब यहाँ भी उस-पर ज़ोर का दबाव पड़ा, तो कहते हैं कि वह घोड़े पर बैठा हुआ ३० फ़ीट नीचे सिन्ध नदी में कूद पड़ा और तैरकर इस पार निकल आया। उसे दिल्ली दरबार में आश्रय मिला। चंगेज़ ने वहाँतक उसका पीछा करना व्यर्थ समझा।

सेलजूक तुर्कों का और बग़दाद का सौभाग्य था कि चंगेज़ ने इनको बिना छेड़े छोड़ दिया और वह उत्तर में रूस की तरफ़ बढ़ गया। उसने कीफ़ के ग्रैंड ड्यूक को हराकर क़ैद कर लिया। फिर वह हिसियों या तंगुतों के बलवे को दबाने के लिए पूर्व की तरफ़ लौट गया।

चंगेज़ सन् १२२७ ई० में ७२ वर्ष की उम्र में मर गया। उसका साम्राज्य पश्चिम में काले समुद्र से पूर्व में प्रशान्त महासागर तक फैला हुआ था। उसमें अब भी काफ़ी तेज़ी थी और वह प्रतिदिन बढ़ ही रहा था। उसकी राजधानी अभीतक मंगोलिया में क़राक़ुरम नाम का छोटा-सा क़सबा था। खानाबदोश होते हुए भी चंगेज़ बड़ा ही योग्य संगठन करनेवाला था और उसने बुद्धिमानी के साथ अपनी मदद के लिए योग्य मंत्री नियुक्त कर रखे थे। उसका इतनी तेजी के साथ जीता हुआ साम्राज्य उसके मरने पर टूटा नहीं।

अरब और ईरानी इतिहास-लेखकों की नज़र में चंगेज़ एक दानव है। उन्होंने उसे 'ख़ुदा का कहर' कहा है। इसमें शक नहीं कि वह बड़ा ज़ालिम था, लेकिन उस ज़माने के दूसरे बहुत से शासकों में और उसमें ज्यादा फर्क नहीं था। अफ़गान बादशाह, कुछ छोटे पैमाने पर, इसी तरह के थे।

चंगेज़ ख़ाँ के नाम से शायद तुम्हें यह ख़याल हो कि वह मुसलमान था, लेकिन वह मुसलमान नहीं था। यह एक मंगोल नाम है। मज़हब के मामले में चंगेज़ बड़ा उदार था। उसका अपना मज़हब, अगर कुछ था तो, 'शमावाद' था जिसमें 'अविनाशी नीले आकाश' की पूजा थी। वह चीन के ताओ धर्म के पंडितों से अक्सर खूब ज्ञान-चर्चा किया करता था। लेकिन वह खुद शमा-मत पर ही दृढ़ रहा और जब कठिनाई में होता, तब आकाश का ही आश्रय लिया करता था।

वह पढ़ा लिखा न था, और उसके तमाम अनुयायी भी उसीकी तरह थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शायद वह बहुत दिनों तक यह भी नहीं जानता था कि लिखने-जैसी कोई चीज़ होती है। संदेश जबानी भेजे जाते थे और आमतौर पर छन्दों या रूपकों या कहावतों के रूप में होते थे। ताज्जुब तो यह है कि जबानी संदेशों से किस तरह इतने बड़े साम्राज्य का काम चलाया जाता था। जब चंगेज़ को यह मालूम हुआ कि लिखने-जैसी कोई चीज़ होती है, तो उसने फौरन ही महसूस कर लिया कि यह फायदेमंद चीज है, और अपने पुत्रों और मुख्य सरदारों को इसे सीखने का हुक्म दिया।

: ४५ :

मंगोलों का दबदबा

चंगेज़ खाँ की मृत्यु के बाद उसका लड़का ओग़ताई 'ख़ान महान्' हुआ। चंगेज़ और उस ज़माने के मंगोलों के मुक़ाबले में वह दयावान और शान्तिप्रिय स्वभाव का था। वह कहा करता था, "हमारे कागन चंगेज़ ने बड़ी मेहनत से हमारे शाही ख़ानदान को बनाया है। अब वक्त आ गया है कि हम अपने लोगों को शान्ति दें, खुशहाल बनायँ और उनकी मुसीबतों को कम करें।"

लेकिन विजय का युग ख़तम नहीं हुआ था और मंगोलों में अभीतक शक्ति उबल रही थी। महान् सेनापति सबूताई के नेतृत्व में योरप पर दूसरी बार हमला हुआ। योरप की सेनाएँ और सेनापति सबूताई के मुक़ाबले में तुच्छ थे। शत्रु देशों के हालचाल लाने के लिए जासूस और अगाऊ मुख़बिर भेजकर वह सावधानी के साथ ज़मीन तैयार कर लेता था। इसलिए आगे बढ़ने से पहले उसे उन देशों की राजनैतिक और सैनिक स्थिति की पूरी जानकारी रहती थी। युद्धक्षेत्र में वह युद्ध-कला का उस्ताद था और योरप के सेनापति उसके मुक़ाबले नौसिखिये नज़र आते थे। सबूताई सीधा रूस चला गया और उसने दक्षिण-पश्चिम में, बग़दाद और सेलज़ूकों की शान्ति में बाधा नहीं पहुँचाई। छ वर्ष तक वह मास्को कीफ़, पोलैण्ड, हंगरी और क्राकाऊ को लूटता-पाटता और नष्ट करता हुआ लगातार आगे बढ़ता चला गया। सन् १२४१ ई० में मध्य-योरप के निचले साइलेशिया में लिबनितज़ नाम की जगह पर पोलैण्ड और जर्मनी की एक फ़ौज का बिल्कुल सफ़ाया कर दिया गया। मालूम होता था कि सारे योरप का फैसला होनेवाला है। मंगोलों को रोकनेवाला कोई नहीं दिखाई देता था। योरप के बादशाह और शासक लोग हक्के-बक्के हो रहे थे कि अचानक उन्हें राहत मिल गई जिसकी कि कोई आशा ही नहीं थी।

ओग़ताई की मृत्यु हो गई और उसके उत्तराधिकारी के बारे में कुछ झगड़ा खड़ा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हो गया। इसलिए योरप में जो मंगोल फ़ौजें थीं, वे अपराजित होती हुई भी पीछे लौट पड़ीं, और सन् १२४२ ई० में पूर्व की ओर अपने वतन को चल दीं। योरप की फिर जान-में-जान आई।

इस बीच मंगोल लोग चीन भर में फैल चुके थे और उत्तर में किन लोगों को और दक्षिण चीन में सुंगों को भी उन्होंने बिल्कुल खतम कर दिया था। सन् १२५२ ई० में मंगू खाँ 'खान महान्' बना, और उसने कुबलाई को चीन का गवर्नर नियुक्त किया। क़राकुरम में, मंगू के दरबार में, एशिया और योरप से लोगों की भीड़ की-भीड़ आया करती थी। खान महान् खानाबदोशों की तरह, अभीतक ख़ीमों में ही रहता था। लेकिन ये ख़ीमे बहुत शानदार होते थे और वे महाद्वीपों की दौलत और लूट के माल से भरे रहते थे। सौदागर, खासकर मुसलमान, आते थे और मंगोल लोग उनसे ख़ूब माल ख़रीदते थे। ज्योतिषी, कारीगर, गणितज्ञ और वे लोग, जो उस ज़माने के विज्ञान में दख़ल रखते थे, ख़ीमों के इस शहर में जमा हुआ करते थे। ऐसा लगता था कि मानो इस शहर का रौब सारी दुनिया पर छाया हुआ है। इस लम्बे-चौड़े मंगोल साम्राज्य भर में, एक हद तक, शांति और व्यवस्था थी। महाद्वीपों के बीच के कारवानी रास्ते इधर-उधर आने-जानेवाले लोगों से भरे रहते थे। यों, एशिया और योरप एक-दूसरे के अधिक सम्पर्क में आ गये थे।

मंगू के ज़माने में विजय और विनाश की एक लहर फिर चली। उसका भाई हलाक़ू ईरान का गवर्नर था। बग़दाद के ख़लीफ़ा की किसी बात पर खीझकर उसने उसके पास एक संदेश भेजा, जिसमें उसकी प्रतिज्ञा भंग पर उसे फटकारा और हिदायत की कि आगे से अपना ढंग ठीक रखे वरना अपना साम्राज्य खो बैठेगा। ख़लीफ़ा कोई बहुत अक्लमंद आदमी नहीं था और न वह तजुर्बे से फ़ायदा उठाना ही जानता था। उसने चुनौती भरा जवाब भेजा और बग़दाद के लोगों की एक भीड़ ने मंगोल-एलचियों की बेइज्ज़ती भी की। इसपर हलाक़ू का मंगोल ख़ून उबल पड़ा। तैश में आकर उसने बग़दाद पर धावा बोल दिया और चालीस दिन के घेरे के बाद उसपर क़ब्ज़ा कर लिया। अलिफ़ लैला के शहर बग़दाद का यहीं अन्त हो गया और साम्राज्य के ५०० वर्ष में यहाँ जो बेशुमार खजाना इकट्ठा हो गया था, वह भी ख़तम हुआ। ख़लीफ़ा और उसके बेटे और नज़दीकी रिश्तेदार मार डाले गये। यह हत्याकांड हफ्तों जारी रहा, यहाँतक कि दज़ला नदी का पानी मीलों तक ख़ून से लाल हो गया। कहते हैं, पन्द्रह लाख आदमी मारे गये। कला और साहित्य की बहुमूल्य वस्तुओं के संग्रह और पुस्तकालय — सब नष्ट कर दिये गये। बग़दाद बिल्कुल बरबाद हो गया। पश्चिमी एशिया की प्राचीन सिंचाई की व्यवस्था, जो हज़ारों वर्ष पुरानी थी, हलाक़ू ने नष्ट कर दी।

यही हाल एलप्पो, एडिस्सा और दूसरे शहरों का हुआ। पश्चिमी एशिया पर रात का अंधेरा छा गया। फ़िलस्तीन भेजी गई एक मंगोल फ़ौज को मिस्र के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सुल्तान बेबर ने हरा दिया। इस सुल्तान का एक मज़ेदार उपनाम 'बन्दूकदार' था, क्योंकि उसके पास बंदूक़चियों का एक फ़ौजी दस्ता था। अब हम उस ज़माने तक पहुँच गये हैं जब तोप-बन्दूकों का उपयोग शुरू हो गया था। चीन के लोग बहुत दिनों से बारूद बनाना जानते थे। मंगोलों ने शायद इसे चीनियों से सीखा और सम्भव है कि इन लोगों को बारूदी हथियारों की वजह से अपनी विजयों में सहायता मिली हो। मंगोलों के ज़रिये ही तोप-बन्दूक आदि बारूदी हथियार योरप में पहुँचे।

सन् १२५८ ई० में बग़दाद की बरबादी ने बचे-खुचे अब्बासिया साम्राज्य का भी अन्त कर दिया। पश्चिमी एशिया में अरब की अपनी विशेष सभ्यता का यहीं अन्त हो गया।

खुद अरब देश का महत्त्व भी तेजी से घटता गया, और वहां के लोगों ने इसके बाद इतिहास में कोई बड़ा हिस्सा नहीं लिया। ख़ान महान् मंगू सन् १२३९ ई० में मर गया। मरने के पहले वह तिब्बत को जीत चुका था। उसके बाद चीन का गवर्नर कुबलाई ख़ाँ ख़ान महान् बना। कुबलाई बहुत दिनों तक चीन में रह चुका था और उसे यह देश पसन्द था। इसलिए उसने अपनी राजधानी क़राकुरम् से हटाकर पेकिंग में स्थापित की और उसका नाम खानबालिक यानी 'ख़ान का नगर' रखा।

कुबलाई ने चीन की विजय पूरी कर ली, लेकिन इसका लड़ाइयों का ढंग पुराने मंगोल ढंग से बहुत भिन्न था। इसमें क्रूरता और बरबादी बहुत कम थी। चीन ने कुबलाई को पहले ही मुलायम कर दिया था और उसे सभ्य बना दिया था। चीनी लोगों ने भी इसे अपना लिया और उसके साथ अपने ही आदमी जैसा बर्ताव करने लगे। कुबलाई ने ही युआन वंश, जिसे कट्टर चीनी-वंश कहना चाहिए, चलाया। उसने टोंकिंग, अनाम और बरमा अपने राज्य में मिला लिये। उसने जापान और मलेशिया को भी जीतने की कोशिश की, लेकिन सफल नहीं हुआ, क्योंकि मंगोलों को समुद्र यात्रा की आदत नहीं थी और उनको जहाज़ बनाना भी नहीं आता था।

विशाल मंगोल साम्राज्य का शासन बड़ा मुश्किल काम रहा होगा। इसलिए ताज्जुब की बात नहीं कि यह छिन्न-भिन्न होने लगा। कुबलाई ख़ाँ सन् १२९२ ई० में मरा। इसके बाद कोई ख़ान महान् नहीं हुआ और साम्राज्य इन पांच बड़े हिस्सों में बँट गया:

१. चीन का साम्राज्य, जिसमें मंगोलिया, मंचूरिया और तिब्बत शामिल थे। यह मुख्य भाग था और कुबलाई के युआन-राजवंश के लोगों के अधीन था;

२. 'सुनहले गिरोह' (यह मुग़लों का स्थानीय नाम था) का साम्राज्य। यह बिल्कुल पश्चिम में रूस, पोलैण्ड और हंगरी में था;

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

३. ईरान, ईराक़ और मध्य-एशिया के एक हिस्से में इलख़ान-साम्राज्य था। इसकी नींव हलाक़ू ने डाली थी और सेलजूक़ तुर्क इसे ख़िराज देते थे;

४. मध्य एशिया में, तिब्बत के उत्तर में चग़ताई-साम्राज्य था, जिसे महान् तुर्की भी कहते थे;

५. मंगोलिया और 'सुनहले गिरोह' के बीच मंगोलों का साइबेरिया-साम्राज्य था।

इसके इन पांच टुकड़ों में हरएक एक शक्तिशाली साम्राज्य था।

: ४६ :

रोमन चर्च की सरज़ोरी

क्रूसेड की लड़ाइयाँ बड़ी ज़िल्लत और फज़ीहत के साथ ख़तम हो रही थीं। इनकी शुरुआत बड़ी आशाओं और बड़े जोश के साथ हुई थी, लेकिन ये कुछ भी सफलता हासिल न कर सकीं, और ऐसी असफलताओं की हमेशा प्रतिक्रिया होती है; चर्च का जो रूप बन गया था उससे पूरी तरह संतुष्ट न होने के कारण लोग कुछ अनिश्चितपने से और धीरे-धीरे प्रकाश की खोज में दूसरी तरफ़ नज़र दौड़ाने लगे। चर्च ने बदले में ज़ोर-ज़बरदस्ती शुरू कर दी और आतंकवाद के साधनों से लोगों के दिमाग़ों के ऊपर क़ब्ज़ा बनाये रखना चाहा। उसने संशय का जवाब तर्क और युक्ति से देने के बजाय डंडे और सूली से देने की कोशिश की।

सन् ११५५ ई० में ही इटली के लोकप्रिय और लगनवाले धर्मोपदेशक ब्रेशिया के आरनाल्ड पर चर्च का गुस्सा उतरा। आरनाल्ड पादरियों की विलासिता और भ्रष्टता के ख़िलाफ़ प्रचार करता था। उसे पकड़कर फाँसी पर लटका दिया गया और उसकी लाश को जलाकर राख टाइबर नदी में फिंकवा दी गई कि कहीं लोग उसे विभूति की तरह न रख लें। मरते दम तक आरनाल्ड दृढ़ और शान्त रहा।

इसी समय, या इससे कुछ पहले, इटली में एक आदमी रहता था, जो ईसाइयत के सबसे ज्यादा आकर्षक व्यक्तियों में गिना जाता है। यह असीसी का फ़्रांसिस था। यह बड़ा धनवान आदमी था, लेकिन इसने अपनी संपत्ति को त्यागकर ग़रीबी का व्रत लिया और बीमारों और ग़रीबों की सेवा के लिए दुनिया में निकल पड़ा। चूँकि कोढ़ी सबसे ज्यादा दुःखी और निराश्रित थे, इसलिए उनकी सेवा करना उसने अपना ख़ास उद्देश्य बना लिया। उसने एक संघ चलाया, जो 'संत फ़्रांसिस का संघ' कहलाता है, और जो कुछ-कुछ बौद्ध-संघ की तरह का है। वह एक जगह से दूसरी जगह प्रचार करता हुआ और लोगों की सेवा करता हुआ फिरता था और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हज़रत ईसा की तरह अपनी ज़िन्दगी बिताने की कोशिश करता था। हज़ारों आदमी इसके पास आते थे और उनमें से बहुत-से इसके शिष्य हो गये। जब क्रूसेड चल रहे थे, तब यह मिस्र और फिलस्तीन भी गया था। हालाँकि वह ईसाई था, लेकिन मुसलमान भी इस नेक और सर्वप्रिय व्यक्ति की इज्ज़त करते थे और उन्होंने उसके काम में किसी तरह की रुकावट नहीं डाली। यह सन् ११८१ से १२२६ ई० तक जीवित रहा। उसकी मृत्यु के बाद उसके संघ की चर्च के ऊँचे पदाधिकारियों से टक्कर हो गई। शायद चर्च को यह पसन्द नहीं था कि ग़रीबी की ज़िन्दगी पर इतना ज़ोर दिया जाय। यह प्रारंभिक ईसाई सिद्धान्त उन लोगों के लिए बहुत छोटा हो गया था। सन् १३१८ ई० में फ़्रांसिस के संघ के चार साधुओं को काफ़िर घोषित किया गया और मार्साइ में ज़िन्दा जला दिया गया।

सन् १२३३ ई० में 'इनक्विज़िशन' स्थापित करके चर्च ने बाक़ायदा और सरकारी तौर पर धर्म में हिंसा का राज्य स्थापित कर दिया। यह एक क़िस्म की अदालत होती थी, जो लोगों के ईमान की कट्टरता की जांच करती थी और अगर उसकी राय में वे जांच में पूरे नहीं उतरते थे, तो आमतौर पर उन्हें ज़िन्दा जला दिये जाने की सज़ा दी जाती थी। 'काफ़िरों' को बाक़ायदा ढूँढ़-ढूँढ़कर पकड़ा जाता था और उनमें से सैकड़ों को ज़िन्दा जला दिया गया। ज़िन्दा जलाने से भी बुरी बात यह थी कि लोगों को अपना मत बदलने को मजबूर करने के लिए उन्हें यातनाएँ दी जाती थीं। बहुतेरी ग़रीब अभागी स्त्रियों पर डाकन होने का अपराध लगाया जाता था और वे जला दी जाती थीं।

जब पोप लोग योरप के ऊपर यह आतंक ढा रहे थे, तब उधर उनका वह प्रभुत्व कम होता जा रहा था जो उन्होंने बादशाहों और सम्राटों के सरताज बनकर उनपर जमा रखा था। वे दिन लद गये थे जब वे किसी सम्राट को बहिष्कृत कर और धमकी देकर उसके घुटने टिकवा देते थे। जब पवित्र रोमन साम्राज्य की हालत खराब हो रही थी और कोई सम्राट नहीं था या सम्राट रोम से दूर रहता था, तब फ़्रांस का बादशाह पोपों के कामों में दखल देने लगा। सन् १३०३ ई० में पोप की किसी बात से बादशाह नाराज़ हो गया। उसने पोप के पास एक आदमी भेजा, जिसने पोप के महल में ज़बरदस्ती घुसकर उसके सोने के कमरे में जाकर उसके मुँह पर उसका अपमान किया। पोप के साथ इस अपमानजनक व्यवहार को किसी देश ने नापसन्द नहीं किया।

कुछ साल बाद, सन् १३०९ ई० में, एक नया पोप, जो फ़्रांसीसी था, फ़्रांस के आविन्यों नगर में रहने लगा। पोप लोग यहाँ सन् १३७७ ई० तक, फ़्रांसीसी बादशाहों के प्रभाव में, रहते रहे। एक साल बाद, सन् १३७८ ई० में, पोप का चुनाव करनेवाले बड़े पादरियों के संघ में फूट पड़ गई। दो दलों ने अपना-अपना पोप अलग चुन लिया। एक पोप तो रोम में रहने लगा और रोमन सम्राट और उत्तर-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

योरप के ज्यादातर देशों ने उसे मान लिया। दूसरा, जो विरोधी-पोप कहलाने लगा, आविन्यों में रहता था और फ़्रांस का बादशाह तथा उसके कुछ मित्र बादशाह उसका समर्थन करते थे। चालीस वर्ष तक यही हालत रही और पोप तथा विरोधी-पोप एक-दूसरे को कोसते और बहिष्कृत करते रहे। सन् १४१७ ई० में समझौता हो गया और दोनों दलों ने मिलकर एक नया पोप चुना, जो रोम में रहता था।

: ४७ :

मध्य-युग का अन्त

युद्ध और हत्याकांडों से भी ज्यादा भयंकर वह 'बड़ी प्लेग' थी जो योरप में सन् १३४८ ई० के क़रीब फैली। यह महामारी सारे योरप में, रूस और एशिया-कोचक से लेकर इंग्लैंड तक फैल गई। फिर यह मिस्र, उत्तर-अफरीका और मध्य एशिया में पहुँची और वहाँ से पश्चिम की तरफ़ फैली। इसको 'काली मौत' कहते थे और यह लाखों को खा गई। इंग्लैंड की एक तिहाई आबादी खतम होगई और चीन तथा दूसरे देशों की मृत्यु संख्या का तो कुछ ठिकाना ही नहीं था।

इस भयंकर विपत्ति के कारण ही आबादी बहुत घट गई और बहुत जगह तो ज़मीन जोतने के लिए आदमी भी नहीं रहे। आदमियों की कमी की वजह से मज़दूरों की मजूरी की दरें बढ़ने लगीं। लेकिन पार्लमेण्टें ज़मींदारों और जायदाद के मालिकों के हाथ में थीं। इन लोगों ने ऐसे क़ानून बनाये कि लोग पुरानी मामूली मजूरी पर काम करने और ज्यादा न माँगने के लिए मजबूर किये जा सकें। जब किसान और ग़रीब सहनशीलता की हद से बाहर कुचले और निचोड़े गये तब उन्होंने विद्रोह कर दिया। सारे पश्चिमी योरप में किसानों के ये बलवे एक-के बाद-एक करके होते रहे। फ़्रांस में सन् १३५८ ई० में किसानों का एक बलवा हुआ जो 'ज़्हाकरी' के नाम से मशहूर है। इंग्लैण्ड में वाट टाइलर का बलवा हुआ, जिसमें टाइलर, सन् १३८१ ई० में, अंग्रेज़ बादशाह के सामने मार दिया गया। लेकिन समानता के नये विचार धीरे-धीरे फैल रहे थे। लोगों के दिलों में सवाल पैदा होने लगे कि जब दूसरों के पास धन है और हर चीज़ की प्रचुरता है, तो वे ही ग़रीब क्यों रहें और भूखे क्यों मरें? इसलिए किसान लोग बार-बार सर उठाते थे। लेकिन वे कमज़ोर और असंगठित थे, इसलिए दबा दिये जाते थे। पर कुछ समय बाद वे फिर उठ खड़े होते थे।

इंग्लैण्ड और फ़्रांस के बीच क़रीब-क़रीब लगातार लड़ाई चलती रही। चौदहवीं सदी के शुरू से पन्द्रहवीं सदी के मध्य तक इन दोनों में युद्ध होता रहा, जो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'सौ वर्ष का युद्ध' कहलाता है। फ़्रांस के पूर्व में बरगंडी की रियासत थी। यह शक्तिशाली थी और नाम-मात्र के लिए फ़्रांस के राजा की ताबेदार थी। लेकिन साथ ही यह सरकश और झगड़ालू रियासत थी और अंग्रेज़ों ने, फ़्रांस के विरुद्ध, इससे और दूसरी शक्तियों से साजिश-सी कर ली थी। थोड़े दिनों के लिए फ़्रांस चारों ओर से भिंच गया था। जिस समय फ़्रांस की क़िस्मत का सितारा बहुत नीचे गिर गया था, तब आशा और विजय एक नौजवान किसान लड़की के रूप में प्रकट हुई। 'ओरलियाँ की कुमारी' जीन द आर्क या जोन आफ आर्क ने अपने पस्त-हिम्मत देशवासियों के दिलों में विश्वास पैदा किया और उन्हें महान् उद्योग करने की प्रेरणा दी और उसके नेतृत्व में फ़्रांसीसियों ने अंग्रेज़ों को अपने देश निकाल भगाया। लेकिन इसका इनाम उसे यह मिला कि 'इनक्विज़िशन' के सामने उस-पर मुक़दमा चला, और उसे ज़िन्दा जला दिये जाने की सज़ा दी गई। अंग्रेज़ों ने उसे पकड़ लिया और चर्च से उसके विरुद्ध फ़तवा निकलवाया, और सन् १४३० ई० में रूआं नगर के चौराहे पर उसे ज़िन्दा जला दिया गया।

अंग्रेज़ों को अपने मुल्क से निकालने के बाद फ़्रांस के बादशाह ने बरगंडी की तरफ़ ध्यान दिया, जिसने उसे इतना परेशान कर रखा था। यह शक्तिशाली रियासत क़ाबू में आगई, और सन् १४८३ ई० में बरगंडी फ़्रांस का इलाक़ा बन गया। फ़्रांस का बादशाह अब एक शक्तिशाली छत्रपति बन गया। उसने अपने सारे सामन्ती अमीरों को या तो कुचल दिया या क़ाबू में कर लिया। बरगंडी के फ़्रांस में मिल जाने से जर्मनी और फ़्रांस आमने-सामने आगये; इनकी सरहदें एक-दूसरी को छूने लगीं।

इंग्लैण्ड भी स्काटलैंड को जीतने की कोशिश कर रहा था। यह भी एक लम्बा संघर्ष रहा है, जिसमें स्काटलैंड अक्सर इंग्लैण्ड के विरुद्ध फ़्रांस का पक्ष लेता रहा। सन् १३४१ ई० में स्काटलैंडवालों ने रॉबर्ट ब्रूस के नेतृत्व में, बैनकबर्न की लड़ाई में अंग्रेज़ों को हरा दिया।

तेरहवीं सदी में योरप के एक छोटे-से राष्ट्र स्वीज़रलैण्ड ने अपनी आज़ादी के अधिकार का दावा किया। यह पवित्र रोमन-साम्राज्य का हिस्सा था और इस-पर आस्ट्रिया का शासन था। पहले तीन ज़िलों ने बलवा किया और सन् १२९१ ई० में एक 'अमर संघ' क़ायम किया। दूसरे ज़िले भी उनमें शामिल हो गये और सन् १४९९ ई० में स्वीज़रलैण्ड स्वतंत्र गणराज्य हो गया। यह अनेक ज़िलों का एक संघ था और इसे 'स्विस कॉन्फ़ेडरेशन' नाम दिया गया।

योरप के पूर्व में क़ुस्तुन्तुनिया को लातीनी जिहादियों ने सन् १२०४ ई० में यूनानियों से छीन लिया। सन् १२६१ ई० में यूनानियों ने इन लोगों को निकाल दिया और पूर्वी साम्राज्य फिर से स्थापित कर लिया। लेकिन एक दूसरा और ज्यादा बड़ा खतरा सामने आ रहा था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जब मंगोल एशिया में होते हुए आगे बढ़े, तब पचास हज़ार उस्मानी तुर्क उनसे जान बचाकर भाग निकले थे। ये सेलज़ूक तुर्क नहीं थे। ये अपने को उस्मान नाम के पूर्वज का वंशज कहते थे, इसलिए उस्मानी तुर्क कहलाते थे। इन उस्मानियों ने पश्चिमी एशिया में सेलज़ूकों की शरण ली। जान पड़ता है कि ज्यों-ज्यों सेलज़ूक तुर्क कमज़ोर पड़ते गये, उस्मानियों की ताक़त बढ़ती गई। वे फैलते गये। क़ुस्तुन्तुनिया पर हमला करने के बजाय, जैसाकि उनके पहले बहुतों ने किया था, वे उसे रास्ते में छोड़ गये और सन् १३५३ ई० में एशिया को पारकर योरप जा पहुँचे। उन्होंने बल्गारिया और सर्बिया पर क़ब्ज़ा कर लिया और एड्रियानोपल को अपनी राजधानी बनाया। इस तरह से उस्मानी साम्राज्य क़ुस्तुन्तुनिया के दोनों तरफ़, एशिया और योरप में फैल गया। इसने क़ुस्तुन्तुनिया को चारों तरफ़ से घेर लिया, मगर क़ुस्तुन्तुनिया शहर इसके बाहर ही रहा। हज़ार वर्ष पुराना अभिमानी पूर्वी रोमन साम्राज्य घटते-घटते बस अब इस शहर तक ही रह गया था। अन्त में सन् १४५३ ई० में क़ुस्तुन्तुनिया पर भी तुर्कों का क़ब्ज़ा हो गया। अब हम सिर्फ़ उस्मानी तुर्कों का ज़िक्र करेंगे। सेलज़ूकों का नाम अब बाक़ी नहीं रहा था।

जान पड़ता है कि उस्मानी तुर्कों का क़ुस्तुन्तुनिया के यूनानियों ने कोई ज़्यादा विरोध नहीं किया। उन्होंने देख लिया था कि पुराना साम्राज्य ढह रहा है। उन्होंने पोप से और पश्चिमी ईसाइयों से तुर्कों को अच्छा समझा। लातीनी जिहादियों का उन्हें बुरा अनुभव हो चुका था। कहते हैं कि सन् १४५३ ई० के क़ुस्तुन्तुनिया के आखिरी घेरे में, एक बाइज़ैण्टाइन अमीर ने कहा था, "पोप के ताज से रसूल की पगड़ी अच्छी है"।

तुर्कों ने जाँनिसार नाम की एक विचित्र फ़ौज बनाई। वे छोटे-छोटे ईसाई लड़कों को, ईसाइयों से खिराज के रूप में ले लेते थे, और उनको खास तालीम देते थे। इन लड़कों को इससे कुछ फ़ायदा भी होता था, क्योंकि उन्हें अच्छी तालीम दी जाती थी और वे एक तरह के सैनिक रईस बन जाते थे। जाँनिसारों की यह फ़ौज उस्मानी सुल्तानों की ताक़त का एक आधार बन गया। 'जाँनिसार' का मतलब है 'जान को निछावर करनेवाला।'

क़ुस्तुन्तुनिया के पतन की तारीख इतिहास की एक बड़ी तारीख है। इस दिन से एक युग का खातमा और दूसरे की शुरुआत मानी जाती है। मध्य युग खतम हो जाता है, 'अंधकार के युग' के हज़ार वर्ष समाप्त होते हैं; योरप में तेज़ी पैदा होती है और नई ज़िन्दगी और चेतना नज़र आती है। इसे पुनर्जागरण[1] यानी विद्या और कला के पुनर्जन्म की शुरुआत कहते हैं।

---

[1] रिनेजाँ (Renaissance)—कला और साहित्य के पुनरुत्थान का युग।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: ४८ :

समुद्री रास्तों की खोज

ठीक इसी समय, जब पश्चिमी योरप म नई ज़िन्दगी भर रही थी, पूर्व के सोने की तरफ़ लोगों का चित्त आर्कषित हुआ। पूर्व की अथाह सम्पत्ति की प्रेरणा ने बहुतों को समुद्र-यात्रा की ओर खींचा। इसी समय कुस्तुन्तुनिया का पतन हुआ। तुर्कों ने पूर्व जाने के खुश्की और समुद्री रास्तों पर क़ब्ज़ा कर रखा था और वे व्यापार को ज़्यादा प्रोत्साहन नहीं देते थे। बड़े-बड़े सौदागर और व्यापारी इससे खिज उठे और साहसियों की नई जमात भी, जो पूर्व के सोने पर दाँत लगाये बैठी थी, झल्ला गई। इसलिए इन लोगों ने सुनहरे पूर्व तक पहुँचने के लिए नये रास्ते खोज निकालने की कोशिश की।

भारत की दौलत लोगों को बराबर ललचाती और आर्कषित करती रही। खोज करने के लिए समुद्र-यात्रा में स्पेन और पुर्तगाल सबसे पहले आगे बढ़े। स्पेन उस वक़्त ग्रेनेडा से मूरों को सदा के लिए निकालने में लगा हुआ था। एरेगान के फ़र्डिनेण्ड और कैस्टाइल की आइज़ाबेला के विवाह से ईसाई स्पेन संयुक्त हो गया था और सन् १४९२ ई० में ग्रेनेडा अरबों के हाथ से जाता रहा। स्पेन जल्दी ही योरप की एक बड़ी ईसाई शक्ति बन गया।

पुर्तगालवालों ने पूर्व की तरफ़ जाने की कोशिश की; स्पेनवालों ने पश्चिम की तरफ़। सन् १४४५ ई० में पुर्तगालियों ने वर्ड का अन्तरीप खोज निकाला। यह अन्तरीप अफ़रीका का आखिरी पश्चिमी सिरा है। अगर कोई योरप से जहाज़ के द्वारा इस अन्तरीप को जाना चाहे तो उसे दक्षिण-पश्चिम जाना होगा। वर्ड-अन्तरीप पहुँचकर फिर उसे घूमकर दक्षिण-पूर्व जाना होता है। इस अन्तरीप की खोज आशा की बड़ी किरण थी क्योंकि इससे लोगों को विश्वास हो गया कि अब वे अफ़रीका का चक्कर काटकर भारत पहुँच सकेंगे।

फिर भी अभी अफ़रीका का चक्कर काटने में चालीस वर्ष की देर थी। सन् १४८६ ई० में ब्रोर्थोलोम्यू डायज़ ने, जो पुर्तगाली था, अफ़रीका की दक्षिणी नोक का चक्कर लगाया। यही नोक उत्तमाशा अन्तरीप (केप ऑफ गुड होप) कहलाती है। कुछ ही बरसों के बाद एक दूसरा पुर्तगाली, वास्को डि गामा, इस खोज से फ़ायदा उठाकर उत्तमाशा अन्तरीप होता हुआ भारत आया। वास्को डि गामा सन् १४९७ ई० में मलाबार के किनारे कालीकट पहुँचा था।

इस तरह भारत पहुँचने की दौड़ में पुर्तगालियों की जीत हुई। लेकिन इसी बीच दुनिया की दूसरी तरफ़ बड़ी-बड़ी घटनाएँ हो रही थीं और स्पेन को उनसे फ़ायदा पहुँचनेवाला था। क्रिस्टोफ़र कोलम्बस सन् १४९२ ई० में अमरीका की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दुनिया में जा पहुँचा। कोलम्बस जिनोआ का रहनेवाला एक ग़रीब आदमी था। इस विश्वास पर कि दुनिया गोल है, वह पश्चिम की ओर जहाज़ ले जाकर जापान और भारत पहुँचना चाहता था। वह एक दरबार से दूसरे दरबार में इस कोशिश में फिरा कि कोई राजा उसे इस खोजपूर्ण समुद्र-यात्रा के लिए मदद दे दे। आखिर-कार स्पेन के फ़र्डिनेण्ड और आइज़ाबेला मदद देने को तैयार हो गये और कोलम्बस अट्ठासी आदमियों और तीन छोटे जहाज़ों को लेकर रवाना हुआ। अज्ञात की ओर यह समुद्र-यात्रा असल में वीरता और साहस की यात्रा थी, क्योंकि कोई यह नहीं जानता था कि आगे क्या है। लेकिन कोलम्बस के दिल में विश्वास था और वह विश्वास सही साबित हुआ। उनसठ दिन की समुद्र-यात्रा के बाद वे किनारे लगे। कोलम्बस ने समझा कि यही भारत है। लेकिन असल में यह वेस्ट-इण्डीज़ का एक टापू था। कोलम्बस कभी अमरीका के महाद्वीपों में नहीं पहुँचा था और मरते समय तक उसका यही विश्वास था कि वह एशिया पहुँच गया है। इन टापुओं को आजतक वेस्ट-इण्डीज़ कहते हैं और अमरीका के आदिम निवासियों को अब भी इंडियन या 'रेड इंडियन' कहते हैं।

कोलम्बस योरप वापस आया और दूसरे साल और ज़्यादा जहाज़ों को लेकर फिर निकल पड़ा। लोगों ने समझा कि भारत का नया रास्ता मालूम हो गया। इससे योरप में काफी चहल-पहल मच गई। इसके कुछ समय बाद ही वास्को डि गामा ने पूर्वी यात्रा की जल्दी की और वह कालीकट पहुँच गया। पूर्व और पश्चिम में नये देशों की खोज की खबर से योरप की बेक़रारी बढ़ने लगी। इन नये देशों पर हुकूमत जमाने की इच्छा रखनेवाले दो प्रतिद्वन्द्वी पुर्तगाल और स्पेन थे। इस मौक़े पर पोप ने हस्तक्षेप किया और स्पेनियों तथा पुर्तगालियों के बीच संघर्ष को रोकने के लिए उसने दूसरे के बिरते पर उदारता दिखाने का निश्चय किया। सन् १४९३ ई० में उसने एक 'बुल' (पोप की घोषणाओं और फ़तवों को किसी कारण बुल कहते हैं) निकाला, जो 'हदबन्दी का बुल' कहलाता है। उसने अज़ोर्स के पश्चिम १०० लीग[1] के फ़ासले पर उत्तर से दक्षिण तक एक फ़र्ज़ी लकीर खींच दी और यह ऐलान कर दिया कि इस लकीर के पूर्व जितना गैर-ईसाई मुल्क है, वह पुर्तगाल ले ले, और इसके पश्चिम के मुल्क स्पेन ले ले। इस तरह से पोप ने वास्तव में अमरीका महाद्वीप स्पेन की नज़र कर दिया और भारत, चीन, जापान और दूसरे पूर्वी देशों को और सारे अफ़रीका को पुर्तगाल की भेंट कर दिया!

पुर्तगालियों ने इस बड़ी रियासत पर क़ब्ज़ा करना शुरू किया। यह कोई आसान बात नहीं थी। लेकिन वे कुछ आगे बढ़े और पूर्व की तरफ़ बढ़ते चले गये। सन् १५१० ई० में वे गोवा पहुँचे; १५११ ई० में मलाया द्वीप में मलक्का

---

[1]लीग—करीब तीन मील के बराबर होता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पहुँचे; इसके बाद ही जावा और सन् १५७६ ई० में चीन पहुँच गये। इसका मतलब यह नहीं है कि इन देशों पर उन्होंने क़ब्ज़ा कर लिया। कुछ जगहों पर उन्हें सिर्फ़ पाँव रखने को जगह मिल गई।

पूर्व में पुर्तगालियों में फर्डिनेण्ड मैगेलन नाम का एक व्यक्ति था। वह अपने पुर्तगाली मालिकों से लड़ पड़ा और योरप वापस जाकर स्पेन का नागरिक बन गया। उत्तमाशा अन्तरीप से होकर पूर्वी रास्ते से वह भारत और पूर्वी द्वीपों को जा चुका था। अब वह पश्चिमी रास्ते से अमरीका होकर इन देशों को जाना चाहता था। शायद उसको यह मालूम हो गया था कि जिस मुल्क का पता कोलम्बस ने लगाया था वह एशिया नहीं था। वास्तव में सन् १५१३ ई० में बलबोआ नाम का एक स्पेनी मध्यअमरीका में पनामा के पहाड़ों को पार करके प्रशान्त महासागर पहुँच गया था। किसी कारण से उसने इस समुद्र को दक्षिण समुद्र नाम दिया और इसके किनारे पर खड़े होकर उसने दावा किया कि यह नया समुद्र और इसके किनारों के तमाम देश उसके स्वामी स्पेन के बादशाह की मिल्कियत हैं।

सन् १५१९ ई० में मैगेलन अपनी पश्चिमी समुद्र-यात्रा पर रवाना हुआ। यह यात्रा उसकी सबसे महान् यात्रा साबित होनेवाली थी। उसके साथ पाँच जहाज़ और २७० आदमी थे। वह एटलाण्टिक महासागर पार करके दक्षिण-अमरीका पहुँचा और वहाँ से दक्षिण की तरफ़ सफ़र करते-करते वह आखिर में इस महाद्वीप के छोर तक पहुँच गया। उसका एक जहाज़ तो टूटकर नष्ट हो गया और दूसरा उसे छोड़कर भाग गया। सिर्फ़ तीन जह ज बचे। इन जहाज़ों को लेकर वह दक्षिणी अमरीका के महाद्वीप और एक टापू के बीच के तंग जलडमरूमध्य को पार करके दूसरी तरफ़ के खुले समुद्र में जा निकला। इस समुद्र को उसने 'प्रशान्त महासागर' नाम दिया, क्योंकि एटलाण्टिक के मुक़ाबले में यह बहुत ज़्यादा शान्त था। प्रशान्त महासागर तक पहुँचने में उसे १४ महीने लगे। जिस जलडमरूमध्य से वह गुज़रा था, वह अभीतक उसीके नाम पर 'मैगेलन का जलडमरूमध्य' कहलाता है।

आगे भी मैगेलन ने बहादुरी के साथ अपनी यात्रा उत्तर की तरफ़ और इसके बाद अज्ञात समुद्र में उत्तर-पश्चिम की तरफ़ जारी रखी। उसकी यात्रा का यह हिस्सा सबसे ज्यादा भयंकर था। क़रीब-क़रीब चार महीने, और हिसाब से ठीक गिना जाय तो १०८ दिन, वे समुद्र के बीच बिना खाना-पानी के भटकते रहे। आखिरकार, बड़ी तकलीफ़ें उठाने के बाद, वे फिलीपाइन द्वीप पहुँचे। वहाँ के लोगों ने उनके साथ दोस्ती का सलूक किया; उन्हें खाने-पीने का सामान दिया और उनके साथ भेटों की अदला-बदली की। लेकिन स्पेनवाले बदमिज़ाज और शान जमाने-वाले थे। मैगेलन ने वहाँ के दो सरदारों की आपसी मामूली लड़ाई में भाग लिया और मारा गया। और भी बहुत से स्पेनियों को इन टापुओं के निवासियों ने मार डाला।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्पेनी लोग मसाले के द्वीपों की तलाश में थे, जहाँ से कि क़ीमती गरम-मसाले आया करते थे। वे इन्हींकी तलाश में आगे बढ़ते गये। एक और जहाज़ को भी बेकार होने के कारण जला देना पड़ा; सिर्फ दो बाक़ी बचे। यह निश्चय हुआ कि इनमें से एक जहाज़ तो प्रशान्त महासागर होकर स्पेन वापस जाय और दूसरा उत्तमाशा अन्तरीप होकर। पहला जहाज़ तो बहुत दूर नहीं जा सका क्योंकि उसे पुर्तगालियों ने पकड़ लिया। लेकिन दूसरा जहाज़, जिसका नाम 'विट्टोरिया' था, चुपचाप अफ़रीका का चक्कर काटता हुआ, रवाना होने के ठीक तीन वर्ष बाद, सन् १५२२ ई० में, सिर्फ अठारह आदमियों के साथ स्पेन में सेविले जा पहुँचा। यह सारी दुनिया का चक्कर लगानेवाला पहला जहाज़ था।

जिस वक्त मैगेलन दुनिया का चक्कर लगा रहा था, कोर्टे मैक्सिको के शहर में दाखिल हो रहा था और अज़टेक, साम्राज्य को स्पेन के बादशाह के लिए विजय कर रहा था। कोर्टे सन् १५१९ ई० में मैक्सिको पहुँचा। पिज़ारो सन् १५३० ई० में दक्षिण-अमरीका के इनका-साम्राज्य में (जहाँ अब पेरू है) पहुँचा। हिम्मत और दिलेरी से, बेरहमी और फ़रेब से और वहाँ के लोगों के अन्दरूनी झगड़ों से फ़ायदा उठाकर, कोर्टे और पिज़ारो दोनों पुराने साम्राज्यों को समाप्त करने में सफल हो गये।

पुर्तगाल और स्पेन की सफलताओं से दूसरे देशों के लोगों की इच्छाओं का जागृत होना स्वाभाविक ही था। इन देशों में फ़्रांस, इंग्लैण्ड, हालैण्ड और उत्तरी जर्मनी खासतौर पर उल्लेखनीय हैं। पहले इन लोगों ने इस बात की बड़ी कोशिश की कि उत्तरी मार्ग से एशिया और अमरीका पहुँचने का, यानी नार्वे के उत्तर से होकर पूर्व जाने का और ग्रीनलैण्ड होकर पश्चिम जाने का, कोई रास्ता मिल जाय। लेकिन वे इसमें असफल रहे और उन्होंने जाने हुए रास्तों को ही पकड़ा।

: ४९ :

मंगोल-साम्राज्यों का विध्वंस

कुबलाई खाँ आखिरी खान महान था। सन् १२९२ ई० में उसकी मौत के बाद वह विशाल साम्राज्य, जो एशिया में कोरिया से लेकर योरप में हंगरी और पोलैण्ड तक फैला हुआ था, पाँच साम्राज्यों में बँट गया। इन पाँचों साम्राज्यों में हरएक वास्तव में एक-एक बड़ा साम्राज्य था।

इन पाँचों में चीन का साम्राज्य मुख्य था, जिसमें मंचूरिया, मंगोलिया, तिब्बत, कोरिया, अनाम, टांगकिंग, और बरमा का कुछ हिस्सा शामिल था। युवान खान-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दान, जो कुबलाई का वंशज था, इस साम्राज्य का अधिकारी हुआ। लेकिन बहुत दिनों के लिए नहीं। बहुत जल्दी दक्षिण में इसके टुकड़े टूट-टूटकर निकलने लगे और सन् १३६८ ई० में, कुबलाई के मरने के ठीक ७६ वर्ष बाद, यह ख़ानदान खतम हो गया और मंगोल लोग निकाल बाहर किये गये।

बहुत दूर पश्चिम में सुनहरे क़बीले (गोल्डन होर्ड) का साम्राज्य था। इन लोगों का क्या ही लुभावना नाम था! रूसी अमीरों ने कुबलाई की मृत्यु के बाद २०० वर्ष तक इन लोगों को खिराज दिया। इस ज़माने के अन्त में, यानी सन् १४८० ई० के लगभग, साम्राज्य कुछ क़मज़ोर पड़ रहा था और मास्को के ग्रांड ड्यूक ने, जो रूसी अमीरों का प्रमुख बन बैठा था, खिराज देने से इन्कार कर दिया। इस ग्रांड ड्यूक का नाम आइवन महान् था। रूसी साम्राज्य, जो सन् १९१७ ई० की क्रान्ति में हमेशा के लिए खतम हो गया, इसी आइवन महान् की मातहती में, इस तरह शुरू हुआ। इसके पोते ने, जो बड़ा बेरहम था और इसीलिए 'भयंकर आइवन' कहलाता था, 'ज़ार' की उपाधि धारण की जिसका अर्थ सीज़र या सम्राट होता था।

इस तरह मंगोल हमेशा के लिए योरप से बिदा हुए। सुनहरे क़बीले और मध्य एशिया के दूसरे मंगोल साम्राज्यों का क्या हुआ, इसके बारे में हमें अब ज़्यादा मग़ज़पच्ची करने की ज़रूरत नहीं है। दूसरे, मैं उनके बारे में ज्यादा जानता भी नहीं हूँ। लेकिन एक आदमी पर हमारा ध्यान ज़रूर जाता है।

यह आदमी तैमूर है, जो दूसरा चंगेज़ खाँ बनना चाहता था। वह चंगेज़ का वंशज होने का दावा करता था, लेकिन असल में वह तुर्क था। वह लंगड़ा था, इसलिए तैमूर लंग कहलाता था। वह अपने पिता के बाद सन १३६९ ई० में समरकंद का शासक बना। इसके बाद ही उसने अपनी विजय और क्रूरता की यात्रा शुरू कर दी। वह बहुत बड़ा सिपहसालार था, लेकिन पूरा वहशी भी था। मध्य-एशिया के मंगोल इस बीच में मुसलमान हो चुके थे और तैमूर खुद भी मुसलमान था। लेकिन मुसलमानों से पाला पड़ने पर वह उनके साथ ज़रा भी नरमी नहीं बरतता था। जहाँ जहाँ वह पहुँचा, उसने तबाही, बला और पूरी मुसीबत फैला दी। नर मुंडों के बड़े बड़े ढेर लगवाने में से ख़ास मजा आता था पूर्व में दिल्ली से लगाकर पश्चिम में एशिया-कोचक तक, उसने लाखों आदमी क़त्ल करा डाले और उनके कटे सिरों को स्तूपों की शकल में जमवाया!

भारत की दौलत ने इस वहशी को आकर्षित किया। अपने सिपहसालारों और अमीरों को भारत पर हमला करने के लिए राज़ी करने में इसे कुछ कठिनाई हुई। समरक़ंद में एक बड़ी सभा हुई, जिसमें अमीरों ने भारत जाने पर इसलिए एतराज किया कि वहां गर्मी बहुत पड़ती है। आखिर में तैमूर ने वादा किया कि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वह भारत में ठहरेगा नहीं, लूट-मार करके वापस चला आयगा। उसने अपना वादा पूरा किया।

उत्तर भारत में उस समय मुसलमानी राज्य था। दिल्ली में एक सुल्तान राज करता था। लेकिन यह मुसलमानी रियासत कमज़ोर थी और सरहद पर मंगोलों से बराबर लड़ाई करते-करते इसकी कमर टूट गई थी। इसलिए जब तैमूर मंगोलों की फ़ौज लेकर आया, तो उसका कोई कड़ा मुक़ाबला नहीं हुआ और वह क़त्लेआम करता और खोपड़ियों के स्तूप बनाता हुआ मज़े के साथ आगे बढ़ता गया। हिन्दू और मुसलमान दोनों क़त्ल किये गये। मालूम होता है उनमें कोई फ़र्क़ नहीं किया गया। जब ज़्यादा क़ैदियों को सम्हालना मुश्किल हो गया तो उसने उनके क़त्ल का हुक्म दे दिया और एक लाख क़ैदी मार डाले गये। कहते हैं कि एक जगह हिन्दू और मुसलमान दोनों ने मिलकर जौहर की राजपूती रस्म अदा की और युद्ध में लड़ते-लड़ते मर जाने के लिए बाहर निकल पड़े। तैमूर की फ़ौज के पीछे-पीछे अकाल और महामारी चलती थी। दिल्ली में वह पन्द्रह दिन रहा और उसने इस बड़े शहर को क़साईखाना बना दिया। बाद में काश्मीर को लूटता हुआ वह समरकंद वापस लौट गया।

तैमूर के जाने के बाद दिल्ली मुर्दों का शहर रह गया था। चारों तरफ़ अकाल और महामारी का राज था। दो महीने न कोई राजा था, न संगठन, न व्यवस्था। बहुत कम लोग वहाँ रह गये थे। यहाँतक कि जिस आदमी को तैमूर ने दिल्ली का वाइसराय मुक़र्रर किया था, वह भी मुलतान चला गया।

इसके बाद तैमूर ईरान और ईराक़ में तबाही और बरबादी फैलाता हुआ पश्चिम की तरफ़ बढ़ा। अंगोरा में सन् १४०२ ई० में उस्मानी तुर्कों की एक बड़ी फ़ौज के साथ इसका मुक़ाबला हुआ। अपने सैनिक कौशल से इसने इन तुर्कों को हरा दिया। लेकिन समुद्र के आगे उसका बस नहीं चला और वह बासफोरस को पार न कर सका। इसलिए योरप उससे बच गया।

तीन वर्ष बाद, सन् १४०५ ई० में, जब तैमूर चीन की तरफ़ बढ़ रहा था, वह मर गया। उसीके साथ उसका लम्बा-चौड़ा साम्राज्य भी, जो क़रीब-क़रीब सारे पश्चिमी एशिया में फैला हुआ था, डूब गया। असल में वह एक जंगली खाना-बदोश था; उसने न तो कोई संगठन बनाया और न चंगेज़ की तरह साम्राज्य चलाने के लिए अपने पीछे कोई क़ाबिल आदमी ही छोड़े। इसलिए तैमूर का साम्राज्य उसीके साथ खतम होगया; सिर्फ़ बरबादी और क़त्लेआम की यादगार पीछे छोड़ गया।

उस्मानी तुर्कों को हराकर तैमूर ने उन्हें हिला डाला था। लेकिन वे बहुत जल्दी फिर पनप गये और पचास वर्ष के अन्दर, यानी सन् १४५३ ई० में, उन्होंने कुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा कर लिया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: ५० :

चौदहवीं-पन्द्रहवीं सदी का भारत

अब हमें चौदहवीं और पन्द्रहवीं सदियों के भारत पर नज़र डालनी चाहिए। दिल्ली की सल्तनत सिकुड़ती जाती थी, यहाँतक कि तैमूर के आने पर वह बिल्कुल ग़ायब हो गई। सारे भारत में बहुत-सी बड़ी-बड़ी आज़ाद रियासतें थीं, जिनमें से ज्यादातर मुसलमानों की थीं। लेकिन दक्षिण में विजयनगर की एक शक्तिशाली हिन्दू रियासत थी। अब इस्लाम भारत के लिए कोई अजनबी या नया नहीं रह गया था; उसके पाँव यहाँ अच्छी तरह से जम गये थे। शुरू के अफ़गान हमलावरों और ग़ुलाम बादशाहों की खूंख्वारी और क्रूरता ठंडी पड़ चुकी थी और मुसलमान बादशाह अब उतने ही भारतीय थे जितने कि हिंदू थे। उनका बाहरी मुल्कों से कोई रिश्ता नहीं रह गया था। विभिन्न रियासतों में लड़ाइयाँ होती थीं, लेकिन ये लड़ाइयाँ राजनैतिक थीं, धार्मिक नहीं। कभी कोई मुसलमान रियासत हिन्दू सिपाहियों का उपयोग करती थी और कोई हिन्दू रियासत मुसलमान सिपाहियों का। मुसलमान बादशाह अक्सर हिन्दू औरतों से शादी करते थे। अक्सर वे हिन्दुओं को वज़ीर बनाते थे और ऊँचे-ऊँचे ओहदे देते थे। विजेता और पराजित या शासक और शासित की कोई भावना नहीं रही थी। सच तो यह है कि ज़्यादातर मुसलमान, जिनमें कुछ शासक भी थे, भारतीय थे जिन्होंने इस्लाम ग्रहण कर लिया था।

लेकिन ये सब बातें शहरों में हुईं। गाँवों पर इनका कोई असर नहीं पड़ा और लाखों देहाती अपने पुराने ढर्रे पर चलते रहे। यह सही है कि अब सरकारी अफ़सरों ने गाँव की ज़िन्दगी में पहले से ज़्यादा दखल देना शुरू कर दिया था। ग्राम-पंचायतों के पहलेवाले अधिकार अब कम हो गये थे। फिर भी पंचायतों का सिलसिला जारी रहा। वे ग्रामीण जीवन की केन्द्र और रीढ़ थीं। सामाजिक दृष्टि से और धर्म और रस्म-रिवाज के मामलों में गाँवों में बहुत ही कम परिवर्तन हुआ। असली भारत हमेशा से ग्रामीण भारत रहा है और आज भी है। इस ग्रामीण भारत को इस्लाम ज़्यादा नहीं बदल सका।

इस्लाम के आने से हिन्दू धर्म को दो तरह से धक्का लगा, और ताज्जुब तो यह है कि ये दोनों बातें एक दूसरे के विपरीत थीं। एक तरफ़ तो वह रूढ़िवादी बन गया; वह सख्त पड़ गया और हमले से बचने की कोशिश में मज़बूत परकोटे के अन्दर घुस गया। जात-पाँत का बन्धन ज़्यादा कठोर और अलगाव-पसन्द हो गया; परदा और स्त्रियों को बन्द करके रखना व्यापक हो गया। दूसरी तरफ़ जात-पाँत और बहुत अधिक पूजा-पाठ के खिलाफ़ एक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्दरूनी विद्रोह-सा पैदा हो गया। हिन्दू धर्म में सुधार के लिए बहुत-सी कोशिशें की गईं।

वास्तव में सारा इतिहास बताता है कि शुरू के ज़माने से हिन्दू धर्म में सुधारक पैदा होते रहे हैं, जिन्होंने इसकी बुराइयों को दूर करने की कोशिश की है। बुद्ध इनमें सबसे बड़े थे। मैंने शंकराचार्य का ज़िक्र किया ही है, जो आठवीं सदी में हुए थे। तीन सौ वर्ष बाद, ग्यारहवीं सदी में एक और महान् सुधारक पैदा हुए जो दक्षिण में चोल-साम्राज्य के रहनेवाले थे और शंकर मत के प्रतिद्वन्दी मत के नेता थे। इनका नाम रामानुज था। शंकर शैव थे और तीक्ष्ण बुद्धिवाले थे; रामानुज वैष्णव थे और श्रद्धावान थे। रामानुज का प्रभाव सारे भारत में फैल गया।

इस्लाम के भारत में जमने के बाद हिन्दुओं में और मुसलमानों में भी एक नये नमूने के सुधारक पैदा होने लगे। वे इन दोनों मज़हबों के समान पहलुओं पर जोर देकर दोनों को नज़दीक लाने की कोशिश करते थे और दोनों के आडम्बरों की निन्दा करते थे। इस तरह दोनों का सामंजस्य, या यों कहो कि सम्मिश्रण, करने की कोशिश की गई।

रामानन्द, जो चौदहवीं सदी में दक्षिण में हुए, इस सामंजस्य का प्रचार करनेवाले सबसे पहले मशहूर धर्म गुरु थे। वह जात-पाँत के खिलाफ़ प्रचार और उसका बिल्कुल विचार नहीं करते थे। कबीर नाम के एक मुसलमान जुलाहे उनके शिष्य थे, जो बाद को उनसे भी ज्यादा मशहूर हुए। कबीर बहुत लोकप्रिय हो गये। हिन्दी में उनके भजन आजतक उत्तर भारत के दूर-दूर के गाँवों तक में खूब प्रचलित हैं। वह न हिन्दू थे, न मुसलमान। वह हिन्दू मुसलमान दोनों थे या दोनों के बीच के थे और दोनों मज़हबों के और सब जाति के लोग उनके अनुयायी थे। कहते हैं कि जब वह मरे, उनका शव एक चादर से ढक दिया गया। हिन्दू चेले उसे जलाना चाहते थे और मुसलमान शागिर्द उसे दफ़न करना चाहते थे। इसपर दोनों में वाद-विवाद और झगड़ा हुआ। लेकिन जब चादर हटाई गई तो लोगों ने देखा कि वह शरीर, जिसके लिए वे झगड़ रहे थे, गायब था और उसकी जगह कुछ ताज़े फूल पड़े हुए थे। सम्भव है कि यह कहानी बिल्कुल काल्पनिक हो, लेकिन है बहुत सुन्दर।

कबीर के कुछ दिनों बाद उत्तर में एक दूसरे बड़े सुधारक और धार्मिक नेता पैदा हुए। इनका नाम गुरु नानक था और इन्होंने सिक्ख पन्थ चलाया। इनके बाद एक-एक करके सिक्खों के दस गुरु हुए, जिनमें आखिरी गुरु गोविन्दसिंह थे।

भारत के धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास में एक और नाम प्रसिद्ध है जिसका मैं यहाँ जिक्र करना चाहता हूँ। उनका नाम चैतन्य है। वह सोलहवीं सदी में बंगाल में हुए। वह सुप्रसिद्ध विद्वान् थे। उन्होंने यकायक यह निश्चय कर डाला कि उनका

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्ययन किसी काम का नहीं है। इसलिए उसे उन्होंने छोड़ दिया और भक्ति का मार्ग अपनाया। वह एक महान भक्त बन गये और अपने शिष्यों को साथ लेकर सारे बंगाल में भजन गाते फिरने लगे। उन्होंने एक वैष्णव सम्प्रदाय भी स्थापित किया। बंगाल में आज भी उनका बहुत बड़ा प्रभाव है।

यह तो हुई धार्मिक सुधार और सामंजस्य की बात। जीवन के दूसरे हिस्सों में भी इसी तरह का सामंजस्य, कभी जान में और ज्यादातर अनजान में, जारी था। एक नई संस्कृति, एक नई भवन-निर्माण कला और एक नई भाषा बन रही थी।

मैंने ऊपर कबीर के हिन्दी भजनों का जिक्र किया है। मालूम होता है कि पन्द्रहवीं सदी में हिन्दी न सिर्फ़ जनता की, बल्कि एक साहित्यिक भाषा भी बन गई थी। संस्कृत बहुत दिन पहले ही जीवित भाषा नहीं रही थी। यहाँतक कि कालिदास और गुप्त राजाओं के ज़माने में भी सिर्फ़ विद्वानों तक ही वह सीमित थी। साधारण लोग प्राकृत बोलते थे, जो संस्कृत का एक बदला हुआ रूप थी। धीरे-धीरे संस्कृत की दूसरी पुत्रियों—हिन्दी, बंगाली, मराठी और गुजराती—का विकास हुआ। बहुत-से मुसलमान लेखक और कवियों ने हिन्दी में रचनाएँ कीं। जौनपुर के एक मुसलमान बादशाह ने पन्द्रहवीं सदी में महाभारत और भागवत का संस्कृत से बंगला में अनुवाद कराया था। दक्षिण के बीजापुर के मुसलमान शासकों के हिसाब-किताब मराठी में रखे जाते थे। इस तरह हम देखते हैं कि पंद्रहवी सदी में ही संस्कृत से पैदा होनेवाली ये भाषाएँ काफ़ी उन्नति कर चुकी थीं। दक्षिण की द्रविड़ भाषाएँ—तमिल, तेलगू, मलयालम और कन्नड़—अलबत्ता इनसे कहीं पुरानी थीं।

मुसलमानी दरबार की भाषा फ़ारसी थी। ज्यादातर पढ़े-लिखे आदमी, जिन्हें दरबारों से या सरकारी दफ्तरों से कुछ भी सरोकार था, फ़ारसी पढ़ते थे। इस तरह बहुत-से हिन्दुओं ने फ़ारसी सीखी। धीरे-धीरे लश्करों और बाज़ारों में एक नई भाषा पैदा हो गई, जो उर्दू कहलाई; क्योंकि उर्दू 'लश्कर' को ही कहते हैं। असल में उर्दू कोई नई भाषा नहीं थी। यह हिन्दी ही थी जिसकी पोशाक बदली हुई थी; इसमें फ़ारसी के शब्द ज्यादा थे—वरना थी यह हिन्दी ही। यह हिन्दी-उर्दू भाषा, या जैसाकि कभी-कभी कहा जाता है, हिन्दुस्तानी भाषा, सारे उत्तर और मध्य भारत में फैल गई।

भवन-निर्माण कला में नई-नई शैलियों का विकास हुआ। और दक्षिण के बीजापुर और विजयनगर में, गोलकुंडा में, अहमदाबाद में—जो उस समय एक बड़ा और खूबसूरत शहर था—और इलाहाबाद के नज़दीक जौनपुर में, बहुत-सी भव्य इमारतें बनीं।

एक वक्त था जब विदेशी मंडियों की बागडोर भारत के हाथ में थी। इसकी वजह यह थी कि रसायन में, रंगों के बनाने में और फौलाद पर पानी चढ़ाने में, भारत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ने बहुत उन्नति कर ली थी। इसके सिवा और भी बहुत से कारण थे। भारत के जहाज़ दूर-दूर देशों को उसका सौदागरी सामान ले जाते थे। जिस ज़माने का हम ज़िक्र कर रहे हैं, उससे बहुत पहले भारत के हाथ से यह चीज़ जाती रही थी। सोलहवीं सदी में नदी वापस पूर्व की तरफ बहने लगी। शुरू में तो यह मामूली-सा झरना था, लेकिन आगे चलकर यह बढ़ते-बढ़ते एक विशाल धारा बन गई।

: ५१ :

दक्षिण भारत के राज्य

तुम्हें खब्ती सुल्तान मुहम्मद तुग़लक की याद होगी। मुहम्मद का उत्तराधिकारी उसका भतीजा फ़ीरोज़शाह हुआ। वह अपने चचा से ज्यादा समझदार और दयावान था। लेकिन असहिष्णुता का अन्त नहीं हुआ था। फ़ीरोज़ एक कुशल शासक था और उसने अपने शासन में बहुत-से सुधार किये। उसे नये-नये शहर, महल, मसजिदें और बग़ीचे बनाने का ख़ास शौक़ था। दिल्ली के पास फ़ीरोज़ाबाद और इलाहाबाद से कुछ दूर जौनपुर शहर उसीके बसाये हुए हैं। उसने यमुना की एक बड़ी नहर भी बनवाई थी और बहुत-सी पुरानी इमारतों की, जो टूट-फूट रही थीं, मरम्मत करवाई थी।

फ़ीरोजशाह की माँ राजपूत स्त्री थी। उसका नाम बीबी नैला था और वह एक बड़े सरदार की लड़की थी। कहते हैं कि उसके पिता ने पहले फ़ीरोज़ के बाप के साथ उसका विवाह करने से इन्कार कर दिया था। इसपर लड़ाई शुरू हुई। जब बीबी नैला को मालूम हुआ कि उसके कारण उसकी प्रजा पर मुसीबत आ रही है, तो वह बहुत परेशान हुई और उसने निश्चय किया कि अपने को फ़ीरोज़शाह के पिता के हवाले करके इसे समाप्त कर दे और अपनी प्रजा को बचा ले। इस तरह फ़ीरोज़शाह में राजपूती खून था।

फ़ीरोज़शाह, ३७ वर्ष के लम्बे समय तक राज करने के बाद सन् १३८८ ई० में मर गया। फौरन ही दिल्ली-साम्राज्य का ढांचा, जिसे उसने जोड़ रखा था, टुकड़े-टुकड़े हो गया। कोई केन्द्रीय सरकार न रह गई और हर जगह छोटे-छोटे शासकों की तूती बोलने लगी। अव्यवस्था और कमज़ोरी के इसी समय में, फ़ीरोज़शाह की मृत्यु के ठीक दस वर्ष बाद तैमूर उत्तर से आ टूटा। दिल्ली को तो उसने क़रीब-क़रीब खत्म ही कर दिया। धीरे-धीरे यह शहर फिर पनपा और पचास वर्ष बाद एक सुल्तान की मातहती में फिर एक केन्द्रीय सरकार की राजधानी बन गया। लेकिन यह छोटी-सी रियासत थी और दक्षिण, पश्चिम और पूर्वी भारत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के बड़े-बड़े राज्यों से उसका कोई मुकाबला नहीं था। सुल्तान अफ़गान थे। वे बड़े लीचड़ लोग थे; यहाँतक कि उन्हींके अफ़गान अमीर अन्त में उनसे ऊब गये और ग्लानि में भरकर उन्होंने एक विदेशी को अपने ऊपर राज्य करने के लिए यहाँ बुलाया। यह विदेशी बाबर था। बाबर मंगोल जाति का था जिसे अब हम भारत में बस जाने के बाद 'मुगल नाम से पुकारते हैं। वह तैमूर की पीढ़ी का था और उसकी माँ चंगेज़ खाँ के वंश की थी। उस समय वह काबुल का शासक था। उसने भारत आने का निमन्त्रण खुशी से मंजूर कर लिया। वास्तव में वह शायद बिना निमन्त्रण के ही आनेवाला था। दिल्ली के नज़दीक पानीपत के मैदान में, सन् १५२६ ई० में, बाबर ने भारत का साम्राज्य फ़तह कर लिया।

इस ज़माने में भारत में छोटी-बड़ी बहुत-सी रियासतें थीं। नये स्थापित जौनपुर में, मुसलमानों की एक छोटी-सी रियासत थी जिसपर शरक़ी बादशाहों की हुकूमत थी। यह रियासत बहुत ताक़तवर नहीं थी और राजनैतिक दृष्टि से भी उसका कोई महत्त्व नहीं था। लेकिन पन्द्रहवीं सदी में क़रीब सौ वर्ष तक वह संस्कृति और धार्मिक सहिष्णुता का बड़ा भारी केंद्र रही। जौनपुर के मुसलमानी मदरसे सहिष्णुता के इन विचारों को फैला रहे थे और जौनपुर के एक शासक ने तो हिंदुओं और मुसलमानों के बीच वह सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश की थी, जिसका जिक्र मैं पीछे कर चुका हूँ। कला और नफ़ीस इमारतों, और इसी तरह हिन्दी और बंगाली जैसी देश की उन्नतिशील भाषाओं को प्रोत्साहन दिया जाता था। घोर असहिष्णुता के बीच जौनपुर की यह छोटी सी रियासत विद्वत्ता, संस्कृति और सहिष्णुता के आश्रय-स्थान की तरह अलग खड़ी नज़र आती है।

पूर्व की तरह ठेठ इलाहाबाद के पास तक फैला हुआ गौड़ का विशाल राज्य था, जिसमें बिहार और बंगाल शामिल थे। गौड़ का नगर एक बन्दरगाह था, जिसका भारत के समुद्री किनारों के शहरों के साथ समुद्र के रास्ते यातायात संबंध था। मध्य भारत में, इलाहाबाद के पश्चिम में क़रीब-क़रीब गुजरात तक फैला हुआ मालवा का राज्य था, जिसकी राजधानी माँडू थी। यह शहर भी था और क़िला भी। मांडू में बहुत-सी सुन्दर और शानदार इमारतें बनीं जिनके खंड-हरों को देखने के लिए अभीतक लोग जाते हैं।

मालवा के उत्तर-पश्चिम में राजपूताना था, जिसमें बहुत-सी राजपूत रिया-सतें थीं—उनमें ख़ास चित्तौड़ थी। चित्तौड़, मालवा और गुजरात में अक्सर लड़ाइयाँ हुआ करती थीं। दोनों शक्तिशाली रियासतों के मुकाबले में चित्तौड़ छोटी थी, लेकिन राजपूत लोग हमेशा बहादुर योद्धा रहे हैं। संख्या में कम होने पर भी कभी-कभी उनकी जीत हुई है। चित्तौड़ के राणा ने मालवा पर इस तरह की एक विजय के उपलक्ष में चित्तौड़ में 'विजयस्तम्भ' नाम की एक सुन्दर मीनार बनवाई थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

माँडू के सुल्तान ने भी इससे होड़ करके माँडू में एक ऊँची मीनार बनवाई। चित्तौड़ की मीनार अभीतक है; माँडू की मीनार नष्ट हो चुकी है।

मालवा के पश्चिम में गुजरात था। यहाँ एक ज़बरदस्त राज्य कायम हुआ और इसकी राजधानी अहमदाबाद, जिसे सुल्तान अहमदशाह ने बसाया था, लगभग दस लाख की आबादी का एक बड़ा शहर बन गया। इस शहर में बड़ी खूबसूरत इमारतें बनीं, और कहते हैं कि ३०० वर्ष तक, यानी पन्द्रहवीं सदी से अठारहवीं सदी तक, अहमदाबाद दुनिया के सबसे सुन्दर शहरों में गिना जाता था। यह एक विचित्र बात है कि इस शहर की बड़ी जामा मसजिद रानपुर के जैन मन्दिर से, जिसे चित्तौड़ के राणा ने इसी ज़माने में बनवाया था, बहुत मिलती है। इससे जाहिर होता है कि भारत के पुराने शिल्पकार नये विचारों से किस तरह प्रभावित हो रहे थे और एक नई शिल्प-कला को जन्म दे रहे थे।

इसी समय के लगभग पुर्तगाली लोग भारत आये। उत्तमाशा अन्तरीप का फेरा लगाकर वास्को डि गामा ही पहले-पहल भारत आया था। सन् १४९८ ई० में वह दक्षिण में कालीकट पहुँचा। अलबत्ता इसके पहले भी बहुत-से योरपीय भारत आ चुके थे, लेकिन वे व्यापारी की हैसियत से या केवल सैर करने के लिए आये थे। पुर्तगाली लोग देश-विजय के इरादे से आये थे। शुरू में इनकी संख्या कम थी, लेकिन फिर जहाज़-पर-जहाज़ आने लगे और इन्होंने समुद्र तट के गोवा जैसे कुछ शहरों पर कब्ज़ा भी कर लिया। लेकिन पुर्तगाली लोग भारत में कुछ सफल न हो सके। इनके बहुत दिन बाद फ़्रान्सीसी और अंग्रेज आये। इस तरह समुद्री रास्ते खुल जाने पर भारत की सामुद्रिक कमज़ोरी प्रकट हो गई। दक्षिण भारत के पुराने राज्य क़मज़ोर पड़ गये थे और उनका ध्यान अन्दर से आनेवाले ख़तरों की तरफ़ ही लगा हुआ था।

गुजरात के सु तानों ने समुद्र पर भी पुर्तगालियों का सामना किया। उन्होंने उस्मानी तुर्कों से गठ-बंधन करके पुर्तगाली जल-सेना को हरा दिया, लेकिन बाद में पुर्तगाली जीत गये और समुद्र पर उनका क़ब्जा हो गया। उसी समय दिल्ली के मुग़ल बादशाहों के डर ने गुजरात के सुल्तानों को पुर्तगालियों से सुलह करने पर मजबूर कर दिया, लेकिन पुर्तगालियों ने उन्हें धोखा दिया।

दक्षिण भारत में, चौदहवीं सदी की शुरुआत में, दो बड़ी सल्तनतें उठ खड़ी हुई थीं। एक गुलबर्गा, जिसे बहमानी सल्तनत कहते थे, और दूसरी उसके दक्षिण में विजयनगर। बहमनी सल्तनत सारे महाराष्ट्र क्षेत्र में और कर्नाटक के कुछ हिस्सों में फैली हुई थी। यह डेढ़-सौ बरस से ज्यादा चली, लेकिन इसका इतिहास बहुत हेय है। जनता की बेहद मुसीबत के साथ-साथ असहिष्णुता, हिंसा, हत्या और सुल्तानों और अमीरों की विलासिता का ज़ोर था। सोलहवीं सदी की शुरुआत में अपनी घोर अयोग्यता की वजह से बहमनी सल्तनत ढह गई और उसके

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

टुकड़े होकर पाँच सल्तनतें बन गईं--बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुंडा, बीदर और बरार। इसी बीच विजयनगर की रियासत को बने करीब २०० बरस हो चुके थे और उस समय भी वह खूब अच्छी हालत में थी। इन छ: राज्यों के बीच अक्सर लड़ाइयाँ हुआ करती थीं और हरएक रियासत दक्षिण का मालिक बनने की कोशिश करती थी। उनमें तरह-तरह के गठ-बंधन होते रहते थे जो बार-बार बदलते रहते थे। कभी कोई मुसलमान रियासत हिन्दू रियासत से लड़ती थी; कभी मुसलमान और हिंदू रियासतें मिलकर किसी दूसरी मुसलमान रियासत से लड़ती थीं। आखिर विजयनगर की ताक़त और दौलत ने मुसलमान रियासतों को उसके विरुद्ध एक होने के लिए प्रेरित कर दिया, और सन् १५६५ ई० में तलीकोट के युद्ध में वे इसे पूरी तरह कुचलने में सफल हो गईं। विजयनगर का साम्राज्य ढाई सौ वर्ष बाद समाप्त हो गया और यह विशाल और शानदार शहर बिल्कुल नष्ट हो गया।

पर कुछ ही दिन बाद इन विजयी रियासतों में फूट पड़ गई और वे आपस में ही लड़ने लगीं। बहुत दिन न बीतने पाये थे कि उनपर दिल्ली के मुग़ल-साम्राज्य की आँख पड़ गई। इनके लिए पुर्तगाली एक और मुसीबत थे, जिन्होंने सन् १५१० ई० में गोवा पर कब्ज़ा कर लिया था। वह बीजापुर रियासत में था। उनका पैर उखाड़ने की भरसक कोशिशों के बावजूद पुर्तगाली गोवा में डटे रहे और उनका नेता अलबुकर्क़ जिसे 'पूर्व के वाइसराय' की शानदार पदवी थी, क्रूरता की घृणित कार्रवाइयों में लग गया। पुर्तगालियों ने लोगों का कत्ले आम किया और औरतों और बच्चों को भी नहीं छोड़ा। तब से आजतक पुर्तगाली गोवा में बराबर बने हुए हैं।

: ५२ :

विजयनगर

दक्षिण के जिन राज्यों की चर्चा हमने की है, उनमें विजयनगर का इतिहास सबसे लम्बा है। ऐसा हुआ कि बहुत-से विदेशी यात्री वहाँ आये और इस राज्य और शहर का हाल लिख गये हैं। निकोलो कॉण्टी नाम का एक इटालवी सन् १४२० ई० में आया था। हिरात का अब्दुर-रज्ज़ाक मध्य-एशिया में ख़ान महान् के दरबार से सन् १४४३ ई० में आया था। पेईज़ नाम का एक पुर्तगाली सन् १५२२ ई० में इस शहर में आया, और इसी तरह और भी बहुत-से लोग आये। भारत का एक इतिहास भी है जिसमें दक्षिण भारत की रियासतों का, खासकर बीजापुर का, हाल है। यह इतिहास, जिस युग की हम चर्चा कर रहे हैं, उससे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थोड़े ही दिन बाद अकबर के ज़माने में, फ़रिश्ता ने फ़ारसी में लिखा था। तत्कालीन इतिहास अक्सर पक्षपात और अतिशयोक्ति से भरे हुए हुआ करते हैं, लेकिन उनसे मदद बहुत मिलती है। काश्मीर की 'राजतरंगिणी' को छोड़कर मुसलमानों के पहले के ज़माने का कोई इतिहास नहीं मिलता। इसलिए फ़रिश्ता का इतिहास एक बिल्कुल नई चीज़ थी और कई लोगों ने उसका अनुकरण किया।

विदेशी यात्रियों ने विजयनगर के जो वर्णन लिखे हैं उनसे इस शहर की सही और निष्पक्ष तस्वीर हमारे सामने आ जाती है। इनसे हमें जितनी बातें मालूम होती हैं, उतनी उन खेदजनक युद्धों के वर्णनों से नहीं मालूम होतीं जो अक्सर हुआ करते थे।

विजयनगर की नीव सन् १३३६ ई० के क़रीब पड़ी। यह शहर दक्षिण भारत में कर्नाटक प्रदेश में था। चूँकि यह हिंदू राज्य था, इसलिए यह स्वाभाविक था कि दक्षिण की मुसलमानी रियासतों से बहुत से शरणार्थी वह जा पहुँचे। यह तेज़ी से बढ़ने लगा। कुछ-ही साल में इस राज्य ने दक्षिण में अपना प्रभुत्व जमा लिया और इसकी राजधानी पर उसकी दौलत और ख़ूबसूरती की वजह से लोगों का ध्यान आर्कषित होने लगा। विजयनगर दक्षिण में सबसे प्रभावशाली राज्य बन गया।

फ़रिश्ता ने इसके महान ऐश्वर्य का ज़िक्र किया है और सन् १४०६ ई० में, जब गुलबर्गा का एक मुसलमान बहमनी बादशाह विजयनगर की एक राजकुमारी से शादी करने वहाँ पहुँचा, तब राजधानी की क्या हालत थी, इसका वर्णन किया है। फ़रिश्ता लिखता है कि सड़क के ऊपर छः मील तक ज़री, मख़मल और इसी तरह की क़ीमती चीजें बिछाई गई थीं।

सन् १४२० ई० में इटालवी निकोलो कॉण्टी आया। उसने लिखा है कि शहर का घेरा साठ मील का था। यह विस्तार इतना विशाल इसलिए था कि इसमें बहुत-से बग़ीचे थे। कॉण्टी की यह राय थी कि विजयनगर का शासक, जो 'राय' कहलाता था, उस समय भारत का सबसे शक्तिशाली राजा था।

इसके बाद मध्य-एशिया से अब्दुर-रज़्ज़ाक आया। विजयनगर जाते हुए इसने मंगलूर के पास एक अद्भुत मन्दिर देखा जो ख़ालिस पीतल को गलाकर ढाला गया था। वह १५ फुट ऊँचा था और उसकी कुर्सी ३० फुट लम्बी और ३० फुट चौड़ी थी। उत्तर की ओर आगे बेलूर में वह एक दूसरे मन्दिर को देखकर और भी चकित हो गया। उसने इस मन्दिर का वर्णन करने की कोशिश नहीं की, क्योंकि उसे डर था कि अगर वह ऐसा करेगा तो लोग उसपर "अतिशयोक्ति का आरोप लगायंगे"। इसके बाद वह विजयनगर पहुँचा और इसके वर्णन में तो वह अपने-आपको ही भूल गया है। उसने लिखा है: "यह शहर ऐसा है कि सारी दुनिया में इसकी बराबरी की जगह न तो आँखों ने देखी, न कानों ने सुनी।"

यह ख़याल हो सकता है कि अब्दुर-रज़्ज़ाक बहुत-से बड़े शहरों से परिचित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नहीं था, इसलिए जब उसने विजयनगर को देखा तो वह हक्का-बक्का हो गया। लेकिन इसके बाद आनेवाला यात्री काफ़ी यात्राएँ कर चुका था। यह पेईज़ नाम का पुर्तगाली था, जो सन् १५२२ ई० में आया था। यह ठीक वही समय था जब इटली पर रिनेज़ाँ का प्रभाव पड़ रहा था और इटली के शहरों में सुन्दर इमारतें खड़ी हो रही थीं। उसने लिखा है कि विजयनगर का शहर "रोम के बराबर बड़ा है, देखने में बहुत सुन्दर मालूम होता है।" उसने इस शहर के अचम्भों का और इसकी अनेक झीलों, पानी के सोतों और फल के बगीचों की मनोहरता का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उसने लिखा है कि यह शहर "दुनिया भर में सबसे भरा पूरा है. . .क्योंकि इस शहर की हालत वैसी नहीं है जैसी दूसरे शहरों की होती है जहाँ अक्सर ज़रूरी चीज़ों की और रसद की कमी पड़ जाया करती है, क्योंकि यहाँ हरएक चीज़ की प्रचुरता है।" राजमहल में उसने एक कमरा देखा था जो "सारा हाथी दाँत का बना हुआ था"।

पेईज़ ने विजयनगर के तत्कालीन राजा का भी वर्णन किया है। वह दक्षिण भारत के इतिहास में एक महान् राजा हुआ है और एक महान् योद्धा, शत्रुओं पर दया दिखानेवाले, साहित्य के पोषक और लोकप्रिय तथा उदार शासक के रूप में उसकी कीर्ति दक्षिण में अभीतक बाकी है। उसका नाम कृष्णदेव राय था। इसने सन् १५०९ ई० से १५२९ ई० तक, बीस वर्ष राज्य किया। इस राजा की अनेक उपाधियाँ गिनाने के बाद पेईज़ लिखता है: "लेकिन सच तो यह है कि वह ऐसा बाँका और हर फन में उस्ताद है कि जो कुछ उसके पास है वह उसके जैसे आदमी के लिए कुछ भी नहीं है।"

विजयनगर का साम्राज्य इस समय सारे दक्षिण में और पूर्वी समुद्री किनारे पर फैला हुआ था। इसके अन्दर मैसूर, त्रावणकोर और आजकल के मद्रास का सारा सूबा आता था।

पेईज़ के आने के तेंतालीस बरस बाद दक्षिण की दूसरी रियासतों ने ईर्ष्या के कारण विजयनगर के विरुद्ध एक गुट्ट बना लिया और इसे नष्ट करने का इरादा कर लिया।

सन् १५६५ ई० में रियासतों के इस गुट्ट ने विजयनगर को हरा दिया। ज़बरदस्त नर-संहार हुआ और उसके बाद यह विशाल नगर लूट लिया गया। तमाम सुन्दर इमारतें, मंदिर और महल बरबाद कर दिये गये। पत्थर की खुदाई और मूर्तियाँ चकनाचूर कर डाली गईं और जितनी भी चीजें जलाई जा सकती थीं, उनकी बड़ी-बड़ी होलियाँ जला दी गईं। यह शहर इतना बरबाद किया गया कि सिर्फ़ खंडहरों के ढेर बाकी रह गये।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: ५३ :

मज्जापहित और मलक्का

हिन्द चीन की पुरानी भारतीय बस्तियाँ कई सौ वर्षों के दौरान में बढ़कर एक बड़ी रियासत—काम्भोज का साम्राज्य——बन गईं। और फिर प्रकृति का चक्र चला तो उसने इस नगर और साम्राज्य को कठोरता से और एकदम ख़तम कर दिया। यह सन् १३०० ई० के लगभग की बात है।

इसी काम्भोजी साम्राज्य का लगभग समकालीन एक दूसरा बड़ा राज्य समुद्र के उस पार सुमात्रा के टापू में था। लेकिन श्रीविजय, साम्राज्य बनाने की दौड़ में कुछ देर बाद शामिल हुआ था और काम्भोज के बाद तक बना रहा। इसका अन्त भी बहुत करके एकदम हुआ, लेकिन यह क़ुदरत का नहीं, बल्कि आदमी का काम था। तीन सौ साल तक श्रीविजय का बौद्ध साम्राज्य फूला-फला। पूर्व के लगभग सारे टापुओं पर उसका अधिकार था और कुछ दिनों उसने भारत, लंका और चीन में भी पैर रखने की जगह निकाल ली थी। यह व्यापारिक साम्राज्य था। लेकिन उसी समय जावा द्वीप के पूर्वी ि स्से में एक और व्यापारिक साम्राज्य उठ खड़ा हुआ। यह एक हिन्दू राज्य था, जिसने श्रीविजय के सामने सर झुकाने से इन्कार कर दिया।

नवीं सदी के शुरू से चार सौ बरस तक पूर्वी जावा के इस राज्य कोश्रीविजय की बढ़ती हुई ताकत का ख़तरा बना रहा। लेकिन यह अपनी आज़ादी क़ायम रखने में क़ामयाब रहा, और साथ ही इसने आश्चर्यजनक संख्या में पत्थर के सुन्दर मन्दिर बनवाये। इन मन्दिरों में सबसे मशहूर बोरोबुदर के मन्दिर हैं, जो अभी-तक मौजूद हैं, और जिन्हें देखने के लिए अनेक यात्री आते हैं। श्रीविजय के राज्य में शामिल होने से बच जाने पर पूर्वी जावा खुद सरज़ोर हो गया और अपने पुराने प्रतिद्वन्द्वी श्रीविजय के लिए उल्टा एक खतरा बन गया। दोनों व्यापारिक राज्य थे और दोनों के जहाज़ व्यापार के लिए समुद्रों को पार करते थे। इसलिए दोनों की आपस में अक्सर टक्कर होती रहती थी।

जावा ने अपनी समुद्री ताक़त खूब बढ़ा ली। बड़े-बड़े जंगी बेड़े लड़ाई के लिए भेजे जाते थे, लेकिन वर्षों तक इनका मुकाबला दुश्मन से नहीं होता था। इस तरह जावा बढ़ता चला गया और दिन-दिन सरज़ो होने लगा। तेरहवीं सदी के आख़ीर में मज्जापहित नाम क शहर बसाया गया और यह जावा के बढ़ते हुए राज्य की राजधानी हो गया।

जावा का यह राज्य इ ना गुस्ताख़ और घमण्डी होगया कि इसने ख़ान महान् कुबलाई के एलचियों को, जो ख़िराज लेने के लिए यहाँ भेजे गये थे, अपमानित तक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर डाला। यही नहीं कि ख़िराज न दिया हो, बल्कि एक एलची के माथे पर तो अपमानजनक सन्देशा तक गोद दिया गया। लेकिन जावा की खुशकिस्मती थी कि मंगोल लोग वहुत-कुछ ठंडे पड़ गये थे और उन्हें विजय की कोई इच्छा नहीं थी। फिर भी कुबलाई ने जावा के अपराधी राजा को सजा देने के लिए फ़ौज भेजी। चीनियों ने जावानियों को हरा दिया और उनके राजा को मार डाला। लेकिन मालूम होता है उन्होंने ज्यादा नु सान नहीं किया।

देखा जाय तो वास्तव में इस चीनी हमले के फलस्वरूप जावा, जिसे अब हम मज्जापहित का साम्राज्य कहेंगे, अन्त में और भी ज्यादा मजबूत हो गया। इसका कारण यह था कि चीनियों ने जावा में बन्दूकों का प्रयोग शरू कर दिया, और शायद इन बंदूकों की वजह से मज्जापहित को आगे चलकर कामयाबी हासिल हुई।

मज्जापहित का साम्राज्य फैलता गया। लेकिन यह कोई संयोग से या बेढंगेपन से नहीं हुआ। यह साम्राज्यवादी विस्तार था, जिसका संचालन राज्य की ओर से होता था और जिसे एक कुशल थल और जल सेना पूरा करती थी। फैलाव के इस ज़माने के कुछ दौर में मह रानी सुहिता यहाँ की शासिका, थी। शासन-व्यवस्था मालूम होता है, बहुत ही केन्द्रित और कारगर थी। पश्चिमी इतिहासकारों ने लिखा है कि कर लगाने की, चुंगी की राहदारी की और सरकारी आमदनी की प्रणाली आला दर्जे की थी। सरकार के विभिन्न महकमों में से कुछ ये थे—औपनिवेशिक विभाग, व्यापार विभाग, सार्वजनिक भलाई और सार्वजनिक-स्वास्थ्य का विभाग, गृह विभाग और युद्ध विभाग। एक सबसे ऊँची अदालत थी जिसमें दो अध्यक्ष और सात जज हुआ करते थे।

जावा का राज्य कई सौ वर्षों तक रहा, लेकिन मज्जापहित-साम्राज्य का महान् युग सन् १३३५ से १३८० ई० तक, यानी ठीक ४५ वर्ष का था। इसी ज़माने में सन् १३७७ ई० में, श्रीविजय पर अन्तिम रूप से क़ब्ज़ा हुआ और वह नष्ट कर दिया गया। अनाम, स्याम और काम्भोज के साथ मज्जापहित की सन्धि थी।

यह साम्राज्यवादी राज्य अपने पुराने दुश्मन श्रीविजय के बाद ज्यादा दिन तक नहीं टिका। घरेलू लड़ाई शुरू हो गई और चीन से भी झगड़ा हो गया। नतीजा यह हुआ कि चीनी जहाज़ों का एक बड़ा बेड़ा जावा पर चढ़ आया। उपनिवेश धीरे-धीरे टूट-टूटकर अलग होते गये। सन् १४२६ ई० में एक बड़ा भारी अकाल पड़ा और दो वर्ष बाद मज्जापहित साम्राज्य नहीं रह गया। फिर भी यह एक स्वतंत्र राज्य की हैसियत से पचास सा और चलता रहा। इसके बाद मलक्का के मुसलमान राज्य ने इसपर क़ब्जा कर लिया।

जिन तीन भारतीय उपनिवेशों का मैंने खासतौर पर ज़िक्र किया है, उनके अलावा भी भारतीय बस्तियाँ थीं। बर्मा और स्याम में भी बड़े ताक़तवर राज्य बने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और कला की प्रवृत्ति ने खूब ज़ोर पकड़ा। दोनों में बौद्ध-धर्म फैला। वर्मा और स्याम दोनों अक्सर चीन को खिराज देते थे।

मंगोलों का हमला होने के पहले बर्मा की राजधानी पगान थी। यह शहर उत्तरी बर्मा में था। यह नगर २०० वर्षों से ज्यादा राजधानी रहा। कहते हैं, यह शहर बड़ा खूबसूरत था और अंगकोर के अलावा कोई दूसरा शहर इसका मुक़ाबला नहीं कर सकता था। इसकी सबसे बढ़िया इमारत आनन्द मन्दिर की थी जिसे दुनिया भर में बौद्ध स्थापत्य-कला के सबसे खूबसूरत नमूनों में गिना जाता है। पगान की शान का ज़माना ग्यारहवीं से तेरहवीं सदी तक था। इसके बाद कुछ दिन बर्मा में कुछ झगड़ा और गड़बड़ रही और उत्तरी बर्मा दक्षिणी बर्मा से अलग हो गया। सोलहवीं सदी में दक्षिण में एक बड़ा राजा पैदा हुआ और उसने बर्मा को फिर एक कर दिया। उसकी राजधानी पेगू थी, जो दक्षिण में है।

अब एक नया असर मैदान में आता है। यह अरबों का लाया हुआ था। बर्मा और स्याम तो इससे बच गये, पर मलाया और दूसरे टापू प्रभावित हो गये; और थोड़े-ही दिनों में एक मुसलमान साम्राज्य बनने लगा।

इसी बीच राजनैतिक तब्दीलियाँ शुरू हो गई थीं। जब श्रीविजय का पतन हुआ, तो बहुत-से शरणार्थी भागकर मलाया प्रायद्वीप के दक्षिण में जा बसे। वहाँ उन्होंने मलक्का नाम का शहर स्थापित किया। यह शहर और राज्य तेजी से बढ़े और सन् १४०० ई० में ही मलक्का एक बड़ा शहर हो गया था। मलक्का बहुत-से लोगों का आश्रय-स्थान बन गया। यहाँ मुसलमान और बौद्ध दोनों थे। यहाँ के शासक पहले तो बौद्ध थे लेकिन बाद में उन्होंने इस्लाम ग्रहण कर लिया।

मलक्का के नये राज्य को एक तरफ जावा से और दूसरी तरफ़ स्याम से खतरा था। इसने टापुओं की दूसरी छोटी-छोटी मुसलमान रियासतों से दोस्ती और गठ-बन्धन करने की कोशिश की। इसने रक्षा के लिए चीन से भी मदद माँगी। उस वक़्त मिंग लोग, जो मंगोलों को हरा चुके थे, चीन में राज कर रहे थे।

मलेशिया के देशों के प्रति चीन ने हमेशा से दोस्ताना, पर रौबदार, अलहदगी की नीति बरती। वह विजय के लिए उत्सुक नहीं था। लेकिन जान पड़ता है कि उसने जावा और स्याम की सरज़ोरी को पसन्द नहीं किया। इसलिए इनको रोकने, और दूसरों पर चीन की ताकत का सिक्का जमाने, के इरादे से उसने एक विशाल जहाज़ी-बेड़ा जल-सेनापति चेंग-हो की मातहती में भेजा। इस बेड़े में कई जहाज़ ४०० फुट लम्बाई के थे।

चेंग-हो कई बार आया-गया और उसने क़रीब-क़रीब सभी टापुओं—फ़िलिपाइन, जावा, सुमात्रा, मलाया प्रायद्वीप, वग़ैरह का दौरा किया। वह लंका तक भी जा पहुँचा और उसे जीतकर उसके राजा को चीन पकड़ ले गया। अपने आखिरी धावे में वह ईरान की खाड़ी तक पहुँच गया था। हिंदू मज्जापहित और बौद्ध स्याम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को दबाने के लिए उसने जान-बूझकर इस्लाम को प्रोत्साहन दिया और मलक्का की रियासत उसके विशाल बेड़े की छत्रछाया में बहुत मज़बूती से जम गई। इसमें शक नहीं कि चेंग-हो की नीयत एकदम राजनैतिक थी और धर्म से इसका कोई ताल्लुक नहीं था। वह खुद बौद्ध था।

इस तरह मलक्का की रियासत मज्जापहित के विरोधियों की अगुआ बन गई। इसकी ताक़त बढ़ने लगी और इसने धीरे-धीरे जावा के उपनिवेशों पर कब्ज़ा कर लिया। सन् १४७८ ई० में मज्जापहित शहर पर भी क़ब्ज़ा हो गया।

मलक्का का साम्राज्य श्रीविजय और मज्जापहित की तरह महान् और दीर्घायु हो सकता था, लेकिन इसे मौका न मिला। इस बीच में पुर्तगाली आ धमके और कुछ वर्षों के अन्दर, सन् १५११ ई० में, इसपर उनका कब्ज़ा हो गया। इस तरह चौथे की जगह पाँचवें साम्राज्य ने ले ली। पर वह भी बहुत दिनों तक टिका न रहा। इतिहास में पहली बार पूर्वी समुद्रों में योरप सरज़ोर और हावी हो गया।

: ५४ :

योरप पूर्वी एशिया को हड़पना शुरू करता है

गरम मसाले (काली मिर्च वग़ैरह) गरम आबहवा में, यानी भूमध्य रेखा के आस-पास के देशों में पैदा होते हैं। योरप में मसाले बिल्कुल नहीं पैदा होते। दक्षिण-भारत और लंका में कुछ पैदा होते हैं, लेकिन ये मसाले ज्यादातर मलेशिया द्वीपों से, जिन्हें मोलका कहते हैं, आते हैं। इन टापुओं को दर असल 'मसाले के टापू' कहते हैं। बहुत पुराने जमाने से योरप में इन मसालों की बहुत मांग थी और वहाँ वे बराबर भेजे जाते थे। योरप पहुँचते-पहुँचते इनकी कीमत बहुत बढ़ जाती थी। रोमन जमाने में कालीमिर्च सोने के भाव बिकती थी। बहुत दिनों तक मसाले का व्यापार भारतीयों के हाथ में था। फिर अरबों के हाथ में आ गया। यह मसालों का ही आकर्षण था जिसने कि पुर्तगाल और स्पेन के लोगों को उल्टी दिशाओं में बढ़ते जाने को खींचा और अन्त में उन्हें मलेशिया में लाकर मिला दिया।

वास्को डि गामा उत्तमाशा अन्तरीप होता हुआ जब भारत पहुँचा तो उसके थोड़े-ही दिन बाद बहुत-से पुर्तगाली जहाज़ इसी रास्ते आये और पूर्व की तरफ़ आगे बढ़ गये। उस वक्त मसाले और दूसरी चीज़ों का व्यापार मलक्का के नये साम्राज्य के हाथ में था। इसलिए पुर्तगाली इस साम्राज्य और सारे अरब व्यापारियों के संघर्ष में आ गये। पुर्तगालियों के वाइसराय अलबुकर्क़ ने सन्

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१५११ ई० में मलक्का पर क़ब्ज़ा कर लिया और मुसलमानी तिजारत का ख़ातमा कर दिया। योरप का व्यापार अब पुर्तगालियों के हाथ में आगया और योरप में इनकी राजधानी लिस्बन मसालों और दूसरे पूर्वी मालों का योरप में वितरण करनेवाली बड़ी व्यापारिक मंडी बन गई।

इस बीच मसाले के टापुओं की तलाश जारी रही। मैगेलन, जिसने बाद में प्रशांत महासागर पार किया और दुनिया का चक्कर लगाया, उस जहाज़ी बेड़े में शामिल था जिसने मोलका खोज निकाला था। साठ वर्ष से ऊपर योरप के साथ मसाले के व्यापार में पुर्तगालियों का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहा। फिर सन् १५६५ ई० में स्पेन ने फ़िलीपाइन टापुओं पर क़ब्ज़ा कर लिया और इस तरह पूर्वी समुद्र पर एक दूसरी योरपीय ताक़त का उदय हुआ। लेकिन स्पेन की वजह से पुर्तगालियों के व्यापार में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा; क्योंकि स्पेन के लोग स्वभाव से व्यापारी नहीं थे। पुर्तगालियों का मसाले के व्यापार पर एकाधिका हो गया। इसलिए पुर्तगाल मालामाल हो गया, लेकिन उसने उपनिवेश बसाने की कोई कोशिश नहीं की।

स्पेन और पुर्तगाल की इन सफलताओं से योरप की दूसरी क़ौमें डाह से जली जा रही थीं। उस समय स्पेन योरप पर हावी था। इंग्लैण्ड अव्वल दर्जे की शक्ति नहीं था। निदरलैण्ड्स में, यानी हालैण्ड और बेलजियम के कुछ हिस्से में, स्पेन की हुकूमत के विरुद्ध विद्रोह हो गया था। अंग्रेज लोग स्पेन से डाह के कारण डच[1] ल गों से हमदर्दी रखते थे। इसलिए उन्होंने चुपके-चुपके हालैण्ड की मदद की। इनके कुछ नाविक खुले समुद्रों में जहाज़ों पर डाके मारते हुए घूमा करते थे और अमरीका से आनेवाले खजाना भरे स्पेनी जहाज़ों को पकड़ लेते थे। इस शिकारबाज़ी का सरदार सर फ़्रांसिस ड्रेक था और वह इसे 'स्पेन के बादशाह की डाढ़ी झुलसाना' कहा करता थ ।

सन् १५७७ ई० में ड्रेक पाँच जहाज़ों को लेकर स्पेन के उपनिवेशों को लूटने के लिए निकला। लूट में तो वह कामयाब रहा, लेकिन उसके चार जहाज़ डूब गये। उसका सिर्फ़ एक जहाज़ 'गोल्डन हिन्द' प्रशांत महासागर पहुँचा और इसीसे ड्रेक उत्तमाशा अंतरीप होता हुआ इंग्लैण्ड वापस आया। इस तरह उसने सारी दुनिया का चक्कर लगा लिया। मैगेलन के 'विट्टोरिया' के बाद 'गोल्डन हिन्द' ही दूसरा जहाज़ था जिसने पृथ्वी की परिक्रमा की। इस परिक्रमा में तीन वर्ष लगे थे।

अंग्रेजों और डचों दोनों ने दूर के पूर्वी देशों पर धावा बोल दिया और स्पेनियों और पुर्तगालियों पर हमला किया। स्पेनवाले सब फ़िलिपाइन में जमा थे और उसकी आसानी से रक्षा कर सकते थे। लेकिन पुर्तगालियों को भारी नुक्सान

[1] हालैण्ड निवासी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पहुँचा। उनका पूर्वी साम्राज्य लाल सागर से लगाकर मसाले के टापू मोलक्का तक ६००० मील फैला हुआ था। ये लोग ईरान की खाड़ी में अदन के पास, लंका में, और भारत के किनारे की कितनी ही जगहों में, और हाँ, सारे पूर्वी टापुओं में और मलाया में जमे हुए थे। धीरे-धीरे इनका पूर्वी साम्राज्य इनके हाथ से जाता रहा। शहर-के-बाद-शहर और बस्ती-के-बाद बस्ती या तो डचों के या अंग्रेजों के पल्ले पड़ीं। मलक्का भी सन् १६४१ ई० में जाता रहा। अगर बचा तो भारत में और अन्यत्र दो-चार छोटी-छोटी चौकियाँ। पश्चिमी भारत में गोवा इनमें मुख्य है और पुर्तगाली वहाँ अभीतक बने हुए हैं। अकबर ने पुर्तगालियों से गोवा छीनना चाहा था, लेकिन वह भी कामयाब नहीं हुआ।

पूर्व के बहुमूल्य व्यापार पर अब इंग्लैण्ड और हालैण्ड का प्रभुत्व हो गया। इन दोनों देशों ने इस काम के लिए दो व्यापारी कम्पनियाँ बनाकर पहले ही तैयारी कर ली थी। इंग्लैण्ड में रानी एलिज़ाबेथ ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सन् १६०० ई० में एक अधिकार पत्र दिया था। दो वर्ष बाद डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी क़ायम हुई। ये दोनों कम्पनियाँ केवल व्यापार के लिए थीं। हालाँकि दोनों प्राइवेट कम्पनियाँ थीं, लेकिन इन्हें अक्सर सरकारी मदद मिलती थी। इनकी सबसे ज्यादा तिजारती दिलचस्पी मलेशिया के मसाले के व्यापार से थी। भारत उस वक्त मुग़ल सम्राटों के मातहत एक शक्तिशाली देश था, जिसे नाराज़ करना ख़तरे से ख़ाली नहीं था।

: ५५ :

चीन में शान्ति और समृद्धि का युग

युआन राजवंश, जिसे मंगोल कुबलाई खाँ ने चलाया था, ख़तम हो गया था। सन् १३६८ ई० में लोगों ने बग़ावत करके बची-खुची मंगोल फ़ौजों को चीन की 'बड़ी दीवार' के उस पार खदेड़ दिया था। इस विद्रोह का नेता हाँग-वू था, जो एक ग़रीब मज़दूर का लड़का था औ जिसे कोई शिक्षा नहीं मिली थी। लेकिन ज़िन्दगी की बड़ी पाठशाला का वह बड़ा अच्छा विद्यार्थी था। वह बड़ा सफल नेता निकला और बाद को बड़ा अक्लमन्द शासक हुआ। इसने तीस वर्ष राज्य किया। लोग आज भी उसके शासन की याद इसलिए करते हैं कि उसने जन-साधारण की, जिनमें से वह उठा था, हालत सुधारने के लिए बराबर कोशिशें कीं। अख़ीर वक्त तक उसने अपनी शुरू की ज़िन्दगी की सादगी क़ायम रखी।

हाँग-वू नये मिंग-राजवंश का पहला सम्राट था। उसका लड़का युंग-लो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी बड़ा शासक हुआ है। वह सन् १४०२ से १४२४ ई० तक सम्राट रहा। मिंग खानदान २७६ वर्षों तक, यानी सन् १३६८ से १६४४ ई० तक चला। चीन के तमाम राजवंशों में यह राजवंश सबसे ज्यादा चीनी नमूने का कहा जा सकता है। इसके ज़माने में चीनियों को अपनी प्रतिभा के विकास का पूरा मौक़ा मिला। यह वह ज़माना था जबकि घरेलू और वैदेशिक शान्ति रही। पास-पड़ोस के मुल्कों से दोस्ती थी। सिर्फ़ उत्तर में खानाबदोश तातारियों से कुछ खतरा था। बाक़ी की पूर्वी दुनिया के लिए चीन एक ऐसे बड़े भाई के बराबर था, जो चतुर, सम्पन्न और सुसंस्कृत था; जिसे अपनी श्रेष्ठता का खूब भान था; पर जो छोटे भाइयों की भलाई चाहता था और उन्हें अपनी सभ्यता और संस्कृति सिखाने और उसमें हिस्सा देने के लिए तैयार था। अक्सर वे भी उसकी तरफ़ देखते थे। कुछ समय तक जापान ने भी चीन का प्रभुत्व माना और शोगन, जो जापान पर शासन करता था, अपने को मिंग-सम्राटों का अधीनस्थ कहता था। कोरिया से, सुमात्रा, जावा आदि हिन्देशियाई द्वीपों से, और हिन्द चीन से, खिराज वसूल होता था। युंग-लो के राज-काल में ही जल-सेनापति चेंग-हो की मातहती में सैनिक बेड़ा मलेशिया पर चढ़ाई करने गया था।

पन्द्रहवीं सदी के आख़ीर में चीन दौलत, उद्योग-धंधों और सभ्यता में योरप से बहुत आगे था। सारे मिंग-काल में जितना आनन्द और कला-सम्बन्धी जितनी प्रवृत्ति चीन के लोगों में थी, उतनी योरप के किसी देश में या और कहीं भी नहीं थी।

इसी ज़माने में पुर्तगाली जहाज़ पहले-पहल चीन आये। वे सन् १५१६ ई० में कैण्टन पहुँचे। अलबुक़र्क जिन चीनियों से मिलता था, उनसे बर्ताव करने के मामले में बहुत सावधानी रखता था।

डच लोग सत्रहवीं सदी के शुरू में मकाओ पहुँचे। उन लोगों ने व्यापार करने की इज़ाज़त माँगी, लेकिन उनके और पुर्तगालियों के बीच बहुत वैमनस्य था, इसलिए पुर्तगालियों ने चीनियों को उनके विरुद्ध भड़काने की पूरी कोशिश की। उन्होंने चीनियों से कहा कि डच लोग खूंख्वार समुद्री डाकू होते हैं। इसलिए चीनियों ने इज़ाजत देने से इन्कार कर दिया। कुछ वर्ष बाद डचों ने जावा के अपने शहर बटाविया से एक बड़ा जंगी बेड़ा मकाओ भेजा। उन्होंने बेवक़ूफ़ी से मकाओ पर ज़बरदस्ती क़ब्ज़ा करने की कोशिश की, लेकिन चीनियों और पुर्तगालियों के मुक़ाबले में वे ठहर नहीं सके।

डचों के पीछे-पीछे अंग्रेज भी पहुँचे, लेकिन उन्हें भी कोई सफलता नहीं मिली। चीन के व्यापार में उनको मिंग काल के खतम होने पर कुछ हिस्सा मिला।

मिंग-काल सत्रहवीं सदी के मध्य में खतम हो गया। तातारियों का छोटा-सा बादल उत्तर में उठा और इतना बढ़ा कि उसकी छाया चीन पर भी पड़ने लगी। 'किन' या 'सुनहरे तातारियों' ने सुंगों को चीन के दक्षिण में भगा दिया था और बाद

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में वे खुद मंगोलों द्वारा खदेड़ दिये गये। इन्हीं किन लोगों का भाई-बन्द एक नया क़बीला उत्तर चीन में, जहाँ आज मंचूरिया है, मैदान में आगे आया। वे अपने को मंचू कहते थे। यही मंचू लोग अख़ीर में मिगों के उत्तराधिकारी हुए।

सन् १६५० ई० में मंचुओं ने कैण्टन नगर को भी जीत लिया और चीन की विजय पूरी हो गई। उनकी जीत की वजह शायद यह भी थी कि वे चीनियों की अपेक्षा अच्छे लड़ाकू थे।

इस तरह चीन का यह उज्ज्वल मिग-काल खतम हुआ। ताज्जुब होता है कि लगभग तीन सदियों के अच्छे शासन के बाद यह इतनी तेज़ी से गिर क्यों गया? अगर यह शासन इतना-ही अच्छा था जितना कि माना जाता है, तो बलवे और अन्दरूनी झगड़े क्यों होते? मंचूरिया से विदेशियों के हमले क्यों नहीं रोके जा सके? शायद अख़ीर के दिनों में सरकार ज़ालिम हो गई। और यह भी हो सकता है कि माता-पिता की तरह ज़रूरत से ज़्यादा हिफ़ाज़त करनेवाली सरकार ने क़ौम को कमज़ोर बना दिया हो। लाड़-प्यार बच्चों और राष्ट्रों दोनों के लिए अच्छा नहीं होता।

: ५६ :

जापान अपने को बन्द कर लेता है

मंगोलों ने कोरिया में अपना अधिकार जमा ही रखा था। उन्होंने जापान पर भी हमला करने की कोशिश की, लेकिन कामयाबी नहीं हुई। कुबलाई खाँ ने कई जंगी बेड़े जापान भेजे, लेकिन वे सब भगा दिये गये। मालूम होता है कि मंगोलों को समुद्र कभी अनुकूल नहीं पड़ा। वे वास्तव में ज़मीन पर रहनेवाले लोग थे। टापू होने की वजह से जापान उनकी पकड़ में नहीं आया।

मंगोलों के चीन से खदेड़ दिये जाने के थोड़े ही दिन बाद कोरिया में एक क्रांति हुई और वे शासक, जिन्होंने मंगोलों की अधीनता स्वीकार कर ली थी, निकाल दिये गये। इस विद्रोह का नेता ई-ताई-जो नाम का एक देशभक्त कोरियाई था। वह वहाँ का नया शासक बना और उसने एक राजवंश क़ायम किया जो ५०० वर्षों से ज़्यादा तक, यानी सन् १३९२ ई० से अभी कुछ-ही वर्ष पहले तक चला। उस वक़्त सिओल को राजधानी बनाया गया था और अभीतक वह वहीं है।

जाप न में, बारहवीं सदी के आखिरी हिस्से में शो ान असली श सक हो गया था। सम्राट तो गुड्डे की तरह था। पहली शोगनशाही, जिसे 'कमाक़ुरा शोगनशाही' कहते हैं, क़रीब डेढ़ सौ वर्षों तक रही और उसने देश को सुयोग्य शासन-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्यवस्था और शान्ति दी। उसके बाद सदा की तरह शासक राजवंश का पतन शुरू हुआ और इसके साथ बदइन्तज़ामी, विलासिता और गृह-युद्ध आये। सम्राट् में, जो अपने अधिकारों को काम में लाना चाहता था और शोगन में झगड़े हुए। सम्राट् नाकामयाब रहा और साथ-ही-साथ पुरानी शोगनशाही भी खतम हो गई। सन् १३१८ ई० में शोगनों की एक नई शाखा का अधिकार हुआ। यह 'अशीकागा शोगनशाही' थी जो २३५ वर्ष तक राज करती रही। लेकिन यह संघर्ष और युद्ध का ज़माना था। यह क़रीब-क़रीब चीन के मिंगों का समकालीन था। इस घराने के एक शोगन की बड़ी इच्छा थी कि मिंगों की सद्भावना प्राप्त करे और वह इस हद तक गया कि उसने अपने को मिंग सम्राट का तावेदार क़बूल कर लिया।

सौ वर्ष पुराने घरेलू युद्ध से जापान को अन्त में तीन आदमियों ने बचाया। एक नोरवुनागा, जो 'दाइम्यो' या अमीर था, दूसरा हिदेयोशी,जो किसान था और तीसरा तोकूगावा आयेयासू, जो बड़े अमीरों में गिना जाता था। सोलहवीं सदी के ख़तम होते-होते सारा जापान फिर एकसूत्र में बँध गया। किसान हिदेयोशी जापान के सबसे योग्य राजनीतिज्ञों में गिना जाता है।

जापान को एकसूत्र में बाँधने के बाद इन लोगों की समझ में यह बात नहीं आई कि इतनी बड़ी फ़ौज का क्या किया जाय। इसलिए कोई दूसरा काम न पाकर उन्होंने कोरिया पर धावा बोल दिया। लेकिन बहुत जल्द उनको पछताना पड़ा। कोरिया के लोगों ने जापान की जल-सेना को हरा दिया और दोनों देशों के बीच के जापानी समुद्र को अपने अधिकार में ले लिया।

ऊपर लिखा तीसरा आदमी तोकूगावा आयेयासू गृह-युद्ध से फ़ायदा उठाने में बहुत सफल रहा। यहाँतक कि वह बड़ा मालदार हो गया और जापान के क़रीब सातवें हिस्से का मालिक हो गया। उसने अपनी रियासत के बीच बीच यैदो नाम का शहर बसाया। यही शहर बाद में टोकियो हो गया। सन् १६०३ ई० में आयेयासू शोगन बना और इस तरह तीसरी और आख़िरी शोगनशाही—'तोकूगावा शोगनशाही'—शुरू हुई जो २५० वर्ष से ज्यादा क़ायम रही।

मालूम होता है कि सेंट फ़्रांसिस ज़ेवियर ने सन् १५४९ ई० में इस देश में ईसाई धर्म की शुरुआत की। लेकिन बहुत जल्द जापानियों ने महसूस कर लिया कि ये धर्मोपदेशक खतरनाक हैं। इसपर फ़ौरन ही उन्होंने अपनी नीति बदल दी और इनको बाहर निकालने की कोशिश करने लगे। सन् १५८७ ई० में ईसाइयों के ख़िलाफ एक राजाज्ञा निकाली गई, जिसमें यह ऐलान किया गया कि जो ईसाई धर्मोपदेशक बीस दिन के अन्दर जापान से बाहर न चला जायगा, उसे मौत की सज़ा दी जायगी। यह आज्ञा व्यापारियों के ख़िलाफ़ नहीं थी। उसमें यह बता दिया गया था कि ईसाई व्यापारी रह सकते हैं और व्यापार कर सकते हैं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लेकिन अगर वे अपने जहाज़ में किसी धर्मोपदेशक को लायेंगे तो जहाज़ और माल दोनों ज़ब्त कर लिये जायंगे। उन्हें लगा कि मुमकिन है ईसाई धर्मोपदेशक और उनके ज़रिये ईसाई बनाये हुए लोग राजनैतिक दृष्टि से खतरनाक साबित हों और उनका खयाल ग़लत नहीं था।

जब आयेयासू शोगन हुआ तो वह विदेशियों से ज्यादा दोस्ती करने लगा। विदेशी व्यापार वढ़ाने में उसे खास दिलचस्पी थी; खासकर अपने बन्दरगाह येदो के साथ। लेकिन आयेयासू की मृत्यु के बाद ईसाइयों पर फिर अत्याचार शुरू हो गये। उनके धर्मोपदेशक ज़बरदस्ती निकाल दिये गये और जो जापानी ईसाई हो गये थे, उनको ईसाई धर्म छोड़ने पर मजबूर किया गया। जापानी लोग विदेशियों की राजनैतिक चालों से इतने डरे हुए थे कि व्यापार की नीति भी बदल दी गई। वे किसी भी तरह विदेशियों को अपने देश से बाहर रखना चाहते थे।

और अब इतिहास में एक निराली चीज़ शुरू हुई। यह थी जापान की दरवाज़ा-बन्दी। दूसरों से अलग रहने की और दूसरों को दूर रखने की नीति जानबूझकर इख्तियार की गई और एक बार इख्तियार करने के बाद इसे खास खूबी के साथ निभाया गया। अंग्रेजों ने यह देखकर कि उन्हें पसंद नहीं किया जाता, सन् १६२३ ई० में जापान जाना बन्द कर दिया। साल भर बाद स्पेन के लोगों को, जिन्हें सबसे ज्यादा खतरनाक समझा जाता था, देश से निकाल दिया गया। यह क़ानून बना दिया गया कि व्यापार के लिए सिर्फ़ ग़ैर-ईसाई ही विदेश जा सकते हैं और वे भी फ़िलीपाइन नहीं जा सकते। अन्त में, करीब बारह वर्ष बाद, सन् १६३६ ई० में, जापान को मोहर-बन्द कर दिया गया। पुर्तगाली निकाल दिये गये; सारे जापानी, चाहे ईसाई हों या ग़ैर-ईसाई, किसी भी कारण से विदेश जाने से रोक दिये गये; और विदेश में रहनेवाला कोई भी जापानी वापस जापान नहीं आ सकता था; अगर आता तो उसके लिए मौत की सज़ा थी! सिर्फ़ कुछ डच लोग रह गये, पर उनको भी सख्त हिदायत थी कि वे बन्दरगाहें न छोड़ें और न देश के अन्दर क़दम रखें। सन् १६४१ ई० में ये डच भी नागासाकी बंदरगाह के एक छोटे-से द्वीप में हटा दिये गये, जहाँ उन्हें बिल्कुल क़ैदियों की तरह रखा गया। इस तरह, सबसे पहले पुर्तगालियों के आने के ठीक निन्यानवे वर्ष बाद, जापान ने सारे वैदेशिक सम्पर्क तोड़ दिये और अपने को बंद कर लिया।

दो सौ वर्ष से ज्यादा समय तक जापान का दुनिया से, और यहाँतक कि अपने पड़ोसी चीन और कोरिया से भी, क़तई सम्पर्क नहीं रहा। लिखित इतिहास के किसी भी काल में, और किसी भी देश में, इस तरह का दूसरा उदाहरण नहीं पाया जाता।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: ५७ :

'रिनेज़ाँ' या पुनर्जागरण

हमें एशिया पर आये कुछ समय हो गया है। योरप को हमने ठीक उस वक्त, जब वह जग रहा था और उसकी कहानी दिलचस्प हो रही थी, एका एक छोड़ दिया था। वहाँ "रिनेज़ाँ" यानी पुनर्जागरण हो रहा था, बल्कि यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि उसका नया जन्म हो रहा था, क्योंकि सोलहवीं सदी में योरप में हर जगह खलबली और बेचैनी दिखाई देती थी। सैकड़ों वर्षों से सामन्त-प्रथा पर ढाले गये एक सामाजिक और आर्थिक ढाँचे ने सारे योरप को ढक रखा था और उसे अपने शिकंजे में दबा रखा था। कुछ समय तक इस खोल ने बढ़ोतरी को रोके रखा। लेकिन अब यह खोल जगह-जगह तड़कने लगा था। कोलम्बस और वास्को डि गामा और समुद्री रास्तों के पहले खोजी इस खोल को तोड़कर बाहर निकल पड़े और अमरीका और पूर्व के देशों से आई हुई स्पेन और पुर्तगाल की अभूतपूर्व दौलत ने योरप को चौंधिया दिया और परिवर्तन की गति तेज़ कर दी। योरप अपने तंग समुद्री दायरे से बाहर नज़र डालने लगा और उसका ख़याल दुनिया की तरफ़ दौड़ने लगा। संसारव्यापी व्यापार और हुकूमत की बड़ी-बड़ी सम्भावनाएँ सामने खुल गईं। मध्यम वर्ग दिन-पर-दिन ज्यादा ताक़तवर होने लगा और पश्चिमी योरप में सामन्त-प्रथा अधिकाधिक रुकावट बनने लगी।

इस हलचल और मुसीबत से, जो सारे योरप में फैल रही थी, रिनेज़ाँ या पुनर्जागरण का सुन्दर फूल पैदा हुआ। पहले यह इटली की ज़मीन में उगा, लेकिन अपनी प्रेरणा और पुष्टि के लिए उसने सदियों को पार करके पुराने यूनान की तरफ़ देखा। यूनान से इसने सौन्दर्य का प्रेम सीखा और इस शारीरिक सौन्दर्य में इसने एक नई चीज़ जोड़ दी, जो ज्यादा गहरी थी, जो मन से पैदा हुई थी और आत्मा से सम्बन्ध रखती थी। यह शहरी उपज थी और उत्तर इटली के शहरों ने इसे आश्रय दिया। फ्लोरेन्स खास तौर से प्रारम्भिक 'रिनेज़ाँ' का घर था।

तेरहवीं और चौदहवीं सदियों में फ्लोरेन्स इटालवी भाषा के दो महान् कवि—दान्ते और पेट्रार्क – पैदा कर चुका था। मध्य-काल में यह योरप की आर्थिक राजधानी बन गया था जहाँ बड़े-बड़े महाजन इकट्ठा होते थे। इस शहर ने पन्द्रहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में तीन निराले आदमी पैदा किये—लिओनार्दो द विंची, माइकेल एंजेलो और राफ़ेल। ये तीनों बहुत महान् कलाकार और चित्रकार हुए हैं। लिओनार्दो और माइकेल एंजेलो दूसरी बातों में भी महान् थे। माइकेल एंजेलो अद्भुत मूर्तिकार था। ठोस संगमरमर से विशाल मूर्तियाँ गढ़कर निकालता था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वह बहुत बड़ा स्थापत्य शिल्पकार भी था और रोम के सेण्ट पीटर के विशाल गिरजे का नक़शा मुख्यत: उसीने बनाया था।

इन तीनों में उम्र में बड़ा लिओनार्दो था और कई बातों में सबसे अद्भुत भी था। सच तो यह है कि वह अपने ज़माने का सबसे निराला आदमी था और यह वह युग था कि जिसमें अनेक महापुरुष पैदा हुए। महान् चित्रकार और प्रतिमाकार तो वह था ही, पर साथ ही वह महान् विचारक और वैज्ञानिक भी था। हमेशा प्रयोग करता रहता था और हमेशा बातों की तह में पहुँचने की कोशिश करता था तथा यह जानने की फ़िक्र में रहता था कि किसी बात की असली वजह क्या है। वह उन महान् वैज्ञानिकों में से था जिन्होंने शुरू-शुरू में आधुनिक विज्ञान की बुनियाद डाली थी। उसने जो-कुछ पढ़ा था, ख़ुद ही पढ़ा था। तीस वर्ष की उम्र में उसने लातीनी भाषा और गणित का अध्ययन शुरू किया। वह एक बड़ा इंजीनियर भी हो गया और उसीने पहले-पहल इस बात का पता चलाया कि आदमी के शरीर में ख़ून गर्दिश करता है।

उड्डयन यानी हवा में उड़ने की कोशिश लिओनार्डो के कामों में सबसे ज्यादा अद्भुत काम था। उसे सफलता तो नहीं मिली, लेकिन सफलता के रास्ते में वह काफ़ी बढ़ गया था। उसके सिद्धान्तों और प्रयोगों को आगे बढ़ानेवाला उसके बाद कोई दूसरा नहीं हुआ। अगर उसके बाद उसीकी तरह के दो-तीन और हो गये होते, तो शायद आजकल का हवाई जहाज़ आज से दो या तीन सौ वर्ष पहले ही ईजाद हो चुका होता। यह अद्भुत और विचित्र आदमी सन् १४५२ ई० में पैदा हुआ और सन् १५१९ ई० में मरा।

इस प्रकार रिनेज़ाँ इटली में पन्द्रहवीं सदी में फूला-फला और वहाँ से धीरे-धीरे अन्य पश्चिमी देशों की तरफ़ फैल गया। महान् कलाकारों ने पत्थर और तस्वीरी कपड़े में जान डालने की कोशिश की और योरप की चित्रशालाएँ और संग्रहालय उनकी बनाई हुई तस्वीरों और मूर्तियों से भरे पड़े हैं। सोलहवीं सदी के अखीर में इटली का कलात्मक रिनेज़ाँ ढलने लगा। सत्रहवीं सदी में हालैण्ड में महान् चित्रकार पैदा हुए। इनमें रैमब्रैण्ड सबसे ज्यादा मशहूर है। स्पेन में इसी समय वेलेस्क्वीज़ हुआ।

इसी दौरान में, यानी पंद्रहवीं से सत्रहवीं सदी तक, विज्ञान ने भी धीरे-धीरे आगे रास्ता बनाया और अपना स्थान प्राप्त कर लिया। चर्च से उसे सख़्त लड़ाई करनी पड़ी क्योंकि चर्च यह नहीं चाहता था कि लोग विचार और प्रयोग करें। उसके विचार में तो विश्व का केन्द्र पृथ्वी थी और सूर्य पृथ्वी के चारों तरफ़ चक्कर लगाता था और तारे आसमान में अपनी जगह पर जड़े हुए थे। जो कोई इसके विपरीत कहता, वह काफ़िर था और 'इन्क्विज़िशन' (रोमन चर्च की मज़हबी अदालत) उसे सज़ा दे सकती थी। इसपर भी कोपरनिकस नाम के एक पोलैण्ड-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निवासी ने इस धारणा को ग़लत कहने का साहस किया और सिद्ध किया कि ज़मीन सूर्य के चारों तरफ़ घूमती है। इस तरह उसने विश्व के सम्बन्ध में आजकल के विचारों की बुनियाद रखी। उसका जीवन काल सन् १४७३ से १५४३ ई० था। किसी तरह वह अपने क्रान्तिकारी और विधर्मी मतों के लिए चर्च के ग़ुस्से से बच गया। पर उसके बाद जो हुए, उनकी क़िस्मत इतनी अच्छी नहीं थी। गिओर्दानो ब्रूनो नाम के इटालवी को सन् १६०० ई० में रोम में चर्च ने इसलिए ज़िन्दा जलवा दिया कि वह इस बात पर ज़ोर देता था कि पृथ्वी सूर्य के चारों तरफ़ घूमती है और तारे ख़ुद भी सूर्य हैं। इसके समकालीन गैलीलियो को भी, जिसने दूरबीन ईजाद की थी, चर्च ने धमकी दी थी, लेकिन वह ब्रूनो की तरह बहादुर नहीं था, और उसने अपनी बात वापस ले लेने में ही ख़ैर समझी। इसलिए उसने चर्च के सामने अपनी ग़लती और बेवक़ूफ़ी मान ली और कह दिया कि वास्तव में पृथ्वी ही विश्व का केन्द्र है और सूर्य उसके चारों तरफ़ घूमता है। फिर भी उसे प्रायश्चित्त करने के लिए कुछ दिन क़ैदखाने में रहना पड़ा था।

सोलहवीं सदी के मशहूर वैज्ञानिकों में हारवे हुआ जिसने पूरी तौर से यह सिद्ध कर दिया कि ख़ून गर्दिश करता है। सत्रहवीं सदी में आइज़क न्यूटन हुआ, जिसका नाम संसार के सबसे महान् वैज्ञानिकों में गिना जाता है और जो एक महान् गणितज्ञ था। इसने पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का, यानी इस बात का पता लगाया कि चीज़ें ज़मीन पर क्यों गिरती हैं। इस तरह उसने प्रकृति का एक और रहस्य खोल डाला।

इस युग में साहित्य भी आगे बढ़ा। सब जगह फैली हुई नई भावना ने तरुण योरपीय भाषाओं पर भी ज़बरदस्त असर डाला। अभीतक इन भाषाओं में लिखना शान के खिलाफ़ समझा जाता था। लेकिन नई भावना ने, काग़ज़ और छपाई ने, इन भाषाओं को प्रोत्साहन दिया। इटालवी भाषा पहले-पहल मैदान में आई, फिर फ्रांसीसी और अंग्रेज़ी और स्पेनी और सबसे आख़िर में जर्मन।

इस तरह योरप की भाषाओं ने तरक्क़ी की और वे समृद्ध और बलशाली हुईं, और उनका आज का सुन्दर रूप बना। मैं प्रसिद्ध लेखकों के ज़्यादा नाम नहीं गिनाऊँगा, दो-चार का ही ज़िक्र करूँगा। इंग्लैण्ड में सन् १५६४ और १६१६ ई० के बीच मशहूर नाटककार शेक्सपियर हुआ। उसके बाद सत्रहवीं सदी में 'पैरेडाइज़ लॉस्ट' का रचयिता अन्धा कवि मिल्टन हुआ। फ्रांस में सत्रहवीं सदी में दिकार्ते नाम का दार्शनिक और मॉलियर नाम का नाटककार हुआ। मॉलियर ने पेरिस के बड़े सरकारी नाटक-गृह की स्थापना की। स्पेन में शेक्सपियर का समकालीन सरवेंटीज़ हुआ, जिसने 'डॉन क्विक्ज़ोट' नामक पुस्तक की रचना की।

एक और नाम का भी मैं ज़िक्र करूँगा, उसकी महानता के कारण नहीं, बल्कि इसलिए कि वह मशहूर है। यह नाम मैकियाविली का है, जो फ्लोरेन्स का रहने-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाला था। उसने 'प्रिन्स' नाम की एक किताब लिखी जो बहुत मशहूर हुई। इस किताब से उस ज़माने के राजाओं और राजनीतिज्ञों की मानसिक दशा की झलक मिल जाती है। मैकियाविली ने लिखा है : "राजा को जानना चाहिए कि एक ही साथ मनुष्य और पशु का, शेर और लोमड़ी का, नाटक कैसे खेला जा सकता है। उसे न तो अपने वादे का पालन करना चाहिए और न वह कर ही सकता है, जबकि वैसा करने से उसका नुक़्सान होता हो...। मैं साहस के साथ कह सकता हूँ कि हमेशा ईमानदार होना बहुत हानिकर होता है; लेकिन इसके विपरीत ख़ुदा-परस्त और दीनदार, दयावान और भक्त का स्वांग रचना लाभदायक है। नेकी का ढोंग बनाये रखने से ज़्यादा फ़ायदेमंद और दूसरी चीज़ नहीं।"

: ५८ :

प्रोटेस्टेण्ट-विद्रोह और किसान युद्ध

'रिनेज़ाँ' के समय के पहले ही रोमन चर्च के ढाँचे में खड़खड़ाहट होने लगी थी। योरप के राजा और जनता दोनों चर्च के भारी दबाव को महसूस करने लगे थे और असंतोष और शंका प्रगट करने लगे थे। रोमन चर्च के ख़िलाफ़ बग़ावत की नई भावना को 'इनक्विज़िशन' के सारे ख़ौफ़ भी दबा न सके। वह फैलती ही गई और इसमें शक नहीं कि इसके साथ किसानों का वह असन्तोष भी जुड़ गया जो बड़े ज़मींदार चर्च के विरुद्ध उनमें पैदा हो गया था। बहुत जगह राजाओं ने भी स्वार्थवश इस भावना को उकसाया। उनकी ईर्ष्या और लालच से भरी आँखें चर्च की विशाल सम्पत्ति पर लगी हुई थीं। इसी समय किताबों और इंजीलों की छपाई से भीतर-ही-भीतर सुलगती हुई आग और भी भड़की।

सोलहवीं सदी की शुरुआत में जर्मनी में मार्टिन लूथर पैदा हुआ, जो आगे चलकर रोम के विरुद्ध विद्रोह का एक महान् नेता होनेवाला था। वह एक ईसाई पादरी था। एक बार जब वह रोम गया तो वहाँ चर्च के भ्रष्टाचार और विलासिता ने उसके हृदय को ग्लानि से भर दिया। यह मतभेद बढ़ता ही गया, यहाँतक कि रोमन चर्च के दो टुकड़े हो गये और पश्चिमी योरप, धार्मिक और राजनैतिक दोनों मामलों में दो दलों में बँट गया। पूर्वी योरप और रूस का पुराना कट्टर यूनानी चर्च इस झगड़े से अलग ही रहा। जहाँतक उसका ताल्लुक था, वह ख़ुद रोम को ही सच्चे धर्म से बहुत दूर समझता था।

इस तरह 'प्रोटेस्टेण्ट-विद्रोह' शुरू हुआ। इसे प्रोटेस्टेण्ट इसलिए कहा गया कि यह रोमन चर्च के अनेक कट्टर उसूलों का 'प्रोटेस्ट' यानी विरोध करता था। तभी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से पश्चिमी योरप में ईसाइयत के दो मुख्य भाग हो गये हैं—रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट। लेकिन प्रोटेस्टेण्ट भी कितने ही सम्प्रदायों में बँटे हुए हैं।

चर्च के विरुद्ध इस आन्दोलन को 'रिफ़ार्मेशन' कहते हैं। असल में यह चर्च के भ्रष्टाचार और चर्च की निरंकुश सत्ता, दोनों के खिलाफ़ जनता का विद्रोह था। इसके साथ ही बहुत से राजा यह चाहते थे कि पोप का उनपर हुक्म चलाना हमेशा के लिए ख़तम हो जाय। वे अपने राजनैतिक मामलों में पोप की दस्तंदाजी से बहुत चिढ़े हुए थे। इसके अलावा रिफ़ार्मेशन का एक तीसरा पहलू भी था, और वह यह कि चर्च के वफ़ादार अनुयायी चर्च की बुराइयों का भीतरी सुधार करने की कोशिश में थे।

सोलहवीं सदी में, क़रीब-क़रीब उसी वक्त, जब मार्टिन लूथर की ताक़त बढ़ रही थी, लोयोला निवासी इग्नेशियस नामक स्पेनी ने चर्च का एक नया संघ स्थापित किया। उसने इसका नाम 'सोसायटी ऑफ जीसस' रखा और इसके सदस्य जैसुइट' कहलाये। यह 'जीसस-संघ' एक बड़ी निराली जमात थी। रोमन चर्च और पोप की कारगर सेवा के लिए पूरा वक्त देनेवाले आदमी तैयार करना इसका उद्देश्य था। यह जमात रोमन चर्च की सबसे बड़ी मददगार साबित हुई। इन लोगों ने योरप में चर्च का आदर्श ऊँचा उठा दिया। वह बड़ी सख्त तालीम देता था और इसमें वह इतना कामयाब हुआ कि उसने चर्च के बड़े ही कुशल और श्रद्धालु सेवक पैदा किये।

ज्यों-ज्यों प्रोटेस्टेण्ट-विद्रोह पनपा, योरप के कुछ राजा-महाराजाओं ने एक दल की हिमायत की, कुछ ने दूसरे की। इसका धार्मिक भावनाओं से कोई वास्ता नहीं था। यह तो अधिकांश में कूटनीति का मामला था और इसके पीछे स्वार्थ की भावना थी। हैप्सबर्ग वंश का चार्ल्स पंचम उस समय पवित्र रोमन-साम्राज्य का सम्राट था। उसने प्रोटेस्टेण्टों के विरुद्ध पोप की मदद करने का फ़ैसला किया। 'रिफ़ार्मेशन' की कल्पना साम्राज्य की कल्पना से मेल नहीं खाती थी। लेकिन बहुत-से छोटे छोटे जर्मन राजाओं ने प्रोटेस्टेण्टों का साथ दिया और सारे जर्मनी में रोमन और लूथरन, दो दल बन गये। इसका स्वाभाविक नतीजा यह हुआ कि जर्मनी में गृह-युद्ध छिड़ गया।

इंग्लैण्ड में बहु-विवाहित बादशाह हेनरी अष्टम ने पोप के विरुद्ध प्रोटेस्टेण्टों का या यों कहो कि ख़ुद अपना, साथ दिया। उसकी ललचाई आँखें चर्च की सम्पत्ति पर लगी हुई थीं, इसलिए रोम से सम्बन्ध तोड़कर उसने धर्मस्थानों, मठों और गिरजों की सारी उपजाऊ जमीनें जब्त कर लीं। पोप से सम्बन्ध तोड़ने का एक निजी कारण यह भी था कि वह अपनी पत्नी को तलाक़ देकर दूसरी स्त्री से विवाह करना चाहता था।

लूथर जबरदस्त प्रोटेस्टेण्ट था और उसने रोम की सत्ता का विरोध किया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लेकिन वह उतना-ही असहिष्णु था जितना कि पोप, जिससे वह लड़ रहा था। इसलिए 'रिफ़ार्मेशन' से योरप में कोई धार्मिक स्वतन्त्रता नहीं आई। इसने एक नये ढंग के धर्मान्ध पैदा कर दिये—'प्यूरिटन' और 'काल्विनिस्ट'। काल्विन प्रोटेस्टेण्ट-आन्दोलन के बाद के नेताओं में से एक था। उसमें संगठन करने का अच्छा गुण था और कुछ दिनों तक जेनेवा शहर की बागडोर उसके हाथ में रही। काल्विन इतना असहिष्णु था कि उसने बहुत से लोगों को सिर्फ़ इसलिए जलवा दिया था कि वे उससे सहमत नहीं होते थे और स्वतंत्र विचारक थे।

लूथर और प्रोटेस्टेण्टों की आम लोगों ने भी खूब मदद की क्योंकि उनमें रोमन चर्च के खिलाफ बड़ा जबरदस्त असंतोष था। मैं बतला चुका हूँ कि किसान लोग बड़ी मुसीबत में थे और बार-बार दंगे होते थे। बेचारे गरीब किसान उस प्रणाली के ख़िलाफ़ उठ खड़े हुए जो उनको पीस रही थी और उन्होंने बहुत-ही मामूली और न्यायोचित अधिकारों की माँग की—यानी यह कि दास प्रथा उठा दी जाय और उन्हें मछली मारने और शिकार करने के हक़ दिये जायँ। और उस महान् सुधारक लूथर का क्या रुख़ था? क्या उसने ग़रीब किसानों का साथ दिया और उनकी न्यायोचित माँगों का समर्थन किया? नहीं। बल्कि किसानों की इस माँग पर कि दास-प्रथा तोड़ दी जाय, उसने कहा—"इससे तो सब आदमी बराबर हो जायँगे और ईसा का आध्यात्मिक राज्य एक बाहरी सांसारिक राज्य में बदल जायगा। असंभव! पृथ्वी पर कोई राज्य लोगों की असमता के बिना टिक नहीं सकता। कुछ को आज़ाद, दूसरों को गुलाम, कुछ को शासक, दूसरों को रिआया रहना ही पड़ेगा।"

: ५६ :

सोलहवीं-सत्रहवीं सदी के योरप में तानाशाही

जिस वक्त 'रिनेज़ाँ' और 'रिफ़ार्मेशन' के ये आन्दोलन और आर्थिक उथल-पुथल योरप के नक्शे को बदल रहे थे, उस वक्त वहाँ की राजनैतिक पृष्ठ-भूमि कैसी थी? सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों में योरप का नक्शा किस तरह का था?

दक्षिण-पूर्व में तुर्क लोग क़ुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा जमाये हुए थे और उनका साम्राज्य हंगरी की तरफ़ बढ़ रहा था। दक्षिण-पश्चिमी कोने में अरब विजेताओं के वंशज मुस्लिम सरासीन लोग ग्रेनेडा से खदेड़े जा चुके थे, और स्पेन, फर्डिनेण्ड तथा आइज़ाबेला के सम्मिलित शासन में, एक ईसाई ताक़त बनकर उठ चुका था। स्पेन में ईसाइयों और मुसलमानों की सदियों की मुठभेड़ ने स्पेन-निवासियों को

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपने कैथलिक मज़हब से दिली जोश और कट्टरता के साथ चिपके रहने को मजबूर कर दिया था। भयंकर 'इनक्विज़िशन' की स्थापना स्पेन में ही हुई। अमरीका की खोज की मोहिनी और वहाँ से आनेवाली दौलत के प्रभाव से स्पेन योरप की राजनीति में बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लेने लगा था।

नक्शे पर फिर निगाह दौड़ाओ। इंग्लैण्ड और फ़्रांस लगभग वैसे ही थे जैसे कि वे आज हैं। नक्शे के बीच में एक साम्राज्य है जो बहुत-सी जर्मन रियासतों में बँटा हुआ है; जिनमें से हरेक क़रीब-क़रीब स्वतंत्र थी। राजाओं, ड्यूकों, पादरियों, इलक्टरों वग़ैरह के मातहत छोटी-छोटी रियासतों का यह अजीब जमघट था। इसमें ख़ास सुविधाएँ उपभोग करनेवाले कुछ नगर भी थे और उत्तर के व्यापारिक नगरों ने मिलकर एक संघ भी बना लिया था। फिर स्वीजरलैंड का गणरा य था जो असल में तो स्वतंत्र था, लेकिन अभीतक बाक़ायदा स्वतंत्र माना नहीं गया था। वेनिस का गणराज्य और उत्तर इटली के और भी कई नगर-गणराज्य थे। रोम के चारों ओर पोप की जमींदारी थी, जो पोप की रियासत कहलाती थी। इसके दक्षिण में नेपल्स और सिसली के राज्य थे। पूर्व में, जर्मन साम्राज्य और रूस के बीच में, पोलैण्ड था और हंगरी का बड़ा राज्य था जिसपर उस्मानी तुर्कों की छाया पड़ रही थी। दूर-पूर्व में रूस था जो 'सुनहरे फ़िरक़े' के मंगोलों के चंगुल से निकलकर एक नया शक्तिशाली राज्य बन रहा था। उत्तर और पश्चिम में कुछ और भी देश थे।

सोलहवीं सदी के शुरू में योरप का यह नक्शा था। सन् १५२० ई० में चार्ल्स पंचम बादशाह हुआ। यह हैप्सबर्ग खानदान का था, और, जैसाकि पीछे लिखा जा चुका है, स्पेन तथा नेपल्स और सिसिली के राज्यों और निदरलैण्ड्स की विरासत इसके साथ लग गई। यह एक अजीब बात है कि कुछ बादशाहों की शादियों की वजह से योरप के बहुत-से देशों और राष्ट्रों के स्वामी ही बदल गये। करोड़ों जनता और बड़े-बड़े देश केवल विरासत में मिल गये। कहीं-कहीं वे दहेजों में दिये गये। बम्बई का टापू इसी तरह इंग्लैण्ड के बादशाह चार्ल्स द्वितीय को उसकी स्त्री ब्रैगेंज़ा (पुर्तगाल) की कैथराइन के साथ दहेज में मिला था। इसलिए चतुराई के साथ शादियाँ करके हैप्सबर्गों ने एक साम्राज्य इकट्ठा कर लिया और चार्ल्स पंचम इसका अधिकारी हुआ। यह एक बहुत साधारण आदमी था और ख़ासतौर पर इसलिए मशहूर था कि वह ख़ूब खाता था। लेकिन उस वक्त तो अपने बड़े साम्राज्य के कारण वह योरप में बड़ा भारी-भरकम जँच रहा था।

जिस साल चार्ल्स सम्राट् हुआ, उसी साल सुलेमान उस्मानी साम्राज्य का स्वामी हुआ। इसके ज़माने में यह साम्राज्य सभी ओर, और ख़ासकर पूर्वी योरप की ओर फैला। तुर्क लोग ठेठ वियेना के दरवाज़ों तक पहुँच गये, मगर इस सुन्दर पुराने शहर को जीतने में ज़रा-सी कसर रह गई। लेकिन हैप्सबर्ग सम्राट् उनके रोब में आ गया और उसने सुलेमान को कर के रूप में धन देकर उससे पिंड छुड़ाना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ठीक समझा। पवित्र रोमन-साम्राज्य के सम्राट् का तुर्की के सुल्तान को कर देना ज़रा ग़ौर करने की बात है! सुलेमान 'प्रतापी सुलेमान' के नाम से मशहूर है। उसने सम्राट् का ख़िताब अपने-आप ले लिया क्योंकि वह अपने-आपको पूर्वी बाइज़ेण्टाइन सीज़रों का प्रतिनिधि समझता था।

सुलेमान के समय में क़ुस्तुन्तुनिया में इमारतें बनाने का काम बड़े ज़ोरों से हुआ और वहुत-सी सुन्दर मसजिदें बनवाई गईं। इटली में कलाओं का जैसा पुनर्जीवन हो रहा था, वैसा ही पूर्व में भी होता हुआ नज़र आ रहा था। यह कलात्मक प्रवृत्ति सिर्फ़ क़ुस्तुन्तुनिया में ही नहीं थी बल्कि ईरान और मध्य-एशिया के ख़ुरासान में भी वड़े सुन्दर चित्र बनाये जा रहे थे।

इस तरह सोलहवीं सदी का योरप कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट राजाओं के बीच बँटा हुअ था। उस वक्त राजाओं की गिनती थी, रैयत की नहीं। इटली, आस्ट्रिया, फ़ांस और स्पेन कैथलिक थे; जर्मनी आधा कैथलिक और आधा प्रोटेस्टेण्ट था; इंग्लैण्ड सिर्फ़ इसलिए प्रोटेस्टेण्ट था कि उसके बादशाह की ऐसी मर्ज़ी थी और चूँकि इंग्लैण्ड प्रोटेस्टेण्ट था, इसलिए आयरलैण्ड के लिए कैथलिक बने रहने की यह काफ़ी वजह थी, क्योंकि इं लैण्ड उसे जीतने और तंग करने की कोशिश करता था। लेकिन यह कहना सिर्फ़ एक हद तक ही सही है कि प्रजा का मज़हब किसी गिनती में न था।

फिर भी, बावजूद रिफ़ार्मेशन के, योरप में बादशाहों का बोलवाला था और योरप में वे पूर्ण सत्ताधारी थे। पहले कभी वे इतने निरंकुश न थे, क्योंकि बड़े-बड़े सामन्ती अमीर उनपर लगाम लगाते रहते थे और अक्सर उनकी सत्ता को भी मानने से इन्कार कर देते थे। व्यापारी और मध्यम-वर्ग के लोग इन सरदारों से खुश न थे और न ब दशाह ही इनको पसंद करत था। इसीलिए व्यापारी-वर्ग और कृषक वर्ग की मदद से बादशाह ने सामन्ती अमीरों को कुचल दिया और ख़ुद पूर्ण सत्ताधारी बन बैठा।

सोलहवीं सदी में योरप में लगभग सब जगह बादशाह की धाक थी—पूरे तौर पर नहीं बल्कि क़रीब-क़रीब। स्वीज़रलैण्ड के ग़रीब पहाड़ी किसानों ने हैप्सबर्ग के बादशाह को चुनौती देने की हिम्मत दिखलाई थी और अपनी आज़ादी हासिल कर ली थी। इस तरह निरंकुशता और तानाशाही के योरपीय समुद्र में स्वीज़रलैण्ड का छोटा-सा कृषक गणराज्य एक टापू के समान था जिसमें बादशाहों के लिए कोई जगह न थी।

जल्द-ही एक दूसरे देश—निदरलैण्ड्स—में भी मामले ने तूल पकड़ा और जनता और धर्म की स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ी गई और जीत ली गई। यह एक छोटा-सा देश है, लेकिन यह लड़ाई बड़ी ज़बरदस्त थी, क्योंकि यह उस ज़माने में योरप की सबसे ज़बरदस्त शक्ति—स्पेन—के ख़िलाफ़ लड़ी गई थी। इस तरह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निदरलैण्ड्स ने योरप को रास्ता बतलाया। इसके बाद इंग्लैण्ड में भी जनता की आज़ादी के लिए एक लड़ाई हुई, जिसमें एक बादशाह को अपने सिर गवाना पड़ा और उस वक्त की पाल मेंट की जीत हुई। इस तरह निदरलैण्ड्स और इंग्लैण्ड ने तानाशाही के विरुद्ध मध्यम-वर्ग की लड़ाई में सबसे पहले क़दम बढ़ाया। और चूंकि इन मुल्कों में मध्यम-वर्ग की जीत हुई, इसलिए नई परिस्थितियों का फ़ायदा उठाकर ये और देशों से आगे बढ़ गये।

सम्राट् चार्ल्स पंचम के बाद साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े हो गये। स्पेन और निदरलैण्ड्स उसके पुत्र फ़िलि॰ द्वितीय के हिस्से में आये। उस वक्त सबसे ताक़तवर बादशाहत होने की वजह से स्पेन सारे योरप के ऊपर सिर उठाये हुए था। पेरू और मैक्सिको उसके कब्ज़े में थे और अमरीका से सोने की नदी उसके पास चली आ रही थी। लेकिन कोलम्बस, कोर्टे और पिज़ारो के बावजूद भी स्पेन नई परिस्थितियों से फ़ायदा नहीं उठा सका। व्यापार में उसे कोई दिलचस्पी नहीं थी। उसे अगर परवाह थी तो ऐसे धर्म की जो बड़ा ही कट्टर और क्रूर था। सारे देश में 'इनक्विज़िशन' की तूती बोलती थी और काफ़िर कहे जानेवालों को भयंकर यन्त्रणाएं दी जाती थीं। समय-समय पर बड़े आम ज से किये जाते थे और इन 'काफ़िर' स्त्री-पुरुषों के झुंड-के-झुंड बादशाह, शाही ख़ानदान, राजदूतों और हज़ारों मनुष्यों के सामने बड़ी-बड़ी चिताओं पर ज़िन्दा जला दिये जाते थे।

स्पेन का साम्राज्य ज्यादा दिनों तक न टिक सका। छोटे-से हालैण्ड की वीरतापूर्ण लड़ाई ने उसे बिल्कुल हिला डाला। कुछ दिनों बाद, सन् १५८८ ई० में, इंग्लैण्ड को जीतने की कोशिश बिल्कुल बेकार गई और स्पेन की फ़ौजों को ले जानेवाला 'अजेय आर्मेडा' इंग्लैण्ड तक पहुँच भी न सका। समुद्री तूफ़ान ने उसे तहस-नहस कर डाला। इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं है, क्योंकि 'आर्मेडा' की कमान करनेवाला व्यक्ति समुद्र या जहाज़ों के बारे में कुछ भी नहीं जानता था।

: ६० :

निदरलैण्ड्स की आज़ादी की लड़ाई

निदरलैण्ड्स में हालैण्ड और बेल्जियम दोनों शामिल हैं। इनका नाम ही यह बतलाता है कि ये नीची ज़मीन में हैं। हालैण्ड का अर्थ है 'धंसी हुई ज़मीन'। इनके बहुत-से हिस्से समुद्र की सतह से दरअसल नीचे हैं और उत्तरी समुद्र के पानी को रोकने के लिए विशाल बाँध और दीवारें बनाई गई हैं। ऐसे देश के निवासी, जहाँ निरन्तर समुद्र से लड़ना पड़ता है, जन्म से ही मज़बूत और सागर-प्रिय होते हैं,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और जो लोग समुद्र-यात्रा करते रहते हैं वे अक्सर तिजारती बन जाते हैं। इसलिए निदरलैण्ड्स के निवासी तिजारती हो गये। वे ऊनी कपड़ा और दूसरी चीज़ें तैयार करते थे और पूर्वी देशों के गरम मसाले भी ले जाने लगे। नतीजा यह हुआ कि ब्रुग्स, घेण्ट और ख़ासकर एण्टवर्प जैसे मालदार और तिजारती शहर वहाँ खड़े हो गये। जैसे-जैसे पूर्वी देशों से व्यापार बढ़ता गया, वैसे-वैसे इन शहरों की दौलत भी बढ़ती गई और सोलहवीं सदी में एण्टवर्प योरप का व्यापारिक केन्द्र बन गया। इन्हीं व्यापारी वर्गों के हाथ में इन शहरों के शासन की बागडोर थी।

व्यापारियों की यह ठीक ऐसी जाति थी जो 'रिफ़ार्मेशन' के नये धार्मिक विचारों की ओर आकर्षित हो सकती थी। यहाँपर, और ख़ासकर उत्तरी भागों में, प्रोटेस्टेण्ट मत फैलने लगा। उत्तराधिकार के संयोग ने हैप्सबर्ग के चार्ल्स पंचम और उसके बाद उसके पुत्र फ़िलिप द्वितीय को निदरलैण्ड्स का शासक बना दिया। इन दोनों में से कोई भी किसी भी तरह की राजनैतिक या धार्मिक स्वतंत्रता सहन नहीं कर सकता था। फ़िलिप ने शहरों के विशेषाधिकारों को और नये मत को कुचल डालना चाहा। उसने आल्वा के ड्यूक को वहाँ का गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा जो जुल्मों और अत्याचारी शासन के लिए बदनाम हो गया है। 'इनक्विज़िशन' स्थापित हुई और एक 'ख़ूनी मजलिस' बनाई गई, जिसने हज़ारों को ज़िन्दा जला दिया या फांसी पर लटका दिया।

जैसे-जैसे स्पेन का अत्याचार बढ़ता गया, उससे टक्कर लेने की ताक़त भी लोगों में बढ़ती गई। उनमें प्रिन्स विलियम ऑफ़ ऑरेञ्ज या 'शांत विलियम' नामक एक ऐसा महान और बुद्धिमान नेता पैदा हुआ, जिसका मुक़ाबला आल्वा का ड्यूक नहीं कर सकता था। सन् १५६८ ई० में 'इनक्विज़िशन' ने तो, कुछ गिने-चुने आदमियों को छोड़कर, निदरलैण्ड्स के सारे निवासियों को एक ही फ़ैसले में काफ़िर क़रार देकर मौत की सज़ा दे डाली। यह आश्चर्यजनक फ़ैसला इतिहास में बे-मिसाल है, जिसने तीन-चार लाइनों में ही तीस लाख आदमियों को दण्ड दे दिया।

स्पेन एक बड़ा ज़बरदस्त राज्य था, जिसे अपने बड़प्पन का पूरा घमण्ड था; उधर निदरलैण्ड्स में सिर्फ़ व्यापारियों और निकम्मे और फ़िज़ूल-ख़र्च अमीरों के कुछ सूबे थे। दोनों में कोई बराबरी न थी। लेकिन फिर भी इनको दबाना स्पेन के लिए मुश्किल हो गया। बार बार हत्याकांड होते रहते थे; पूरी की पूरी आबादियाँ मौत के घाट उतार दी जाती थीं। मनुष्यों के प्राण हरने में आल्वा और उसके सेनापति चंगेज़ ख़ाँ और तैमूर की होड़ कर रहे थे। आल्वा एक के बाद दूसरे शहर पर घेरा डाल रहा था और शहर के बिना-सीखे पुरुष और अक्सर स्त्रियां भी एल्वा के सीखे-सिखाये सैनिकों से जल और थल पर तबतक लड़ते रहते थे जबतक कि भूख की यन्त्रणा असंभव न हो जाती। स्पेन की ग़ुलामी की अपेक्षा अपनी प्यारी-से-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्यारी तमाम चीज़ों का पूर्ण विनाश तक भी अच्छा समझकर हालैण्ड-निवासियों ने बांध तोड़ डाले, और स्पेन की फ़ौजों को जलमग्न करने तथा भगा देने के लिए उत्तरी समुद्र के पानी को खोल दिया। जैसे-जैसे लड़ाई गहरी होती गई, वैसे-ही-वैसे उसमें क्रूरता भी आती गई और दोनों पक्ष हद से ज्यादा निर्दय हो गये। सुन्दर हार्लेम नगर का घेरा एक मार्के की घटना है। इसे आखरी दम तक वीरता के साथ बचाने की कोशिश की गई। लेकिन अन्त वही हुआ—सदा की तरह —स्पेन के सैनिकों द्वारा हत्याकांड और लूटपाट ! अल्कमार को भी घेरा गया, लेकिन यह नगर बांध तोड़कर बच गया। और लीडन को जब दुश्मनों ने घेर लिया तो भूख और बीमारी से हज़ारों आदमी मर गये। लीडन के पेड़ों पर एक भी हरा पत्ता बाक़ी न रहा था; लोगों ने सब खा डाले। घूरों पर जूठन के टुकड़ों के लिए स्त्री और पुरुष भुखमरे कुत्तों तक से छीना-झपटी करते, लेकिन फिर भी वे लड़े जाते थे और शहर की दीवारों पर से सूखकर काँटा हुए और भूख से अधमरे लोग दुश्मन को चुनौती देते थे और स्पेनवालों से कहते थे कि वे चूहे, कुत्ते और चाहे जो कुछ खा-कर ज़िन्दा रहेंगे लेकिन हार न मानेंगे। "और जब हमारे सिवा कुछ भी बाक़ी न रहेगा तो विश्वास रखो कि हममें से हरएक अपने बायें हाथ को खा डालेगा और दाहने हाथ को विदेशी अत्याचारों से अपनी स्त्रियों की, अपनी स्वतंत्रता की और अपने धर्म की रक्षा करने के लिए बचा रखेगा।"

लीडन के निवासियों में ऐसी भावना थी। लेकिन जैसे दिन-पर-दिन बीतते जाते और कहीं से सहायता की सूरत नज़र नहीं आती थी, वैसे ही उनकी निराशा भी बढ़ती जाती थी। आखिर उन्होंने हालैण्ड की जागीरों के अपने दोस्तों को बाहर संदेश भेजा। इन जागीरों ने यह ज़बरदस्त फैसला किया कि लीडन को शत्रुओं के हाथ में जाने देने से तो यह अच्छा है कि अपने प्यारे देश को ही जलमग्न कर दिया जाय। उन्होंने घोर संकट में पड़े हुए अपने साथी शहर को यह उत्तर भेजा—"ऐ लीडन, हम तुझे संकट में छोड़ने की अपेक्षा यह बेहतर समझेंगे कि हमारा सारा देश और हमारी सारी सम्पत्ति समुद्र की लहरों से नष्ट हो जाय।"

आख़िरकार एक के बाद दूसरा बाँध तोड़ दिया गया और हवा की मदद पा-कर समुद्र का पानी भीतर घुस आया और उसके साथ हालैण्ड के जहाज़ भोजन और सहायता लेकर आ पहुँचे। इस नये दुश्मन–समुद्र–से भयभीत होकर स्पेन के सैनिक सिर-पर-पाँव रखकर भाग खड़े हुए। इस तरह लीडन बच गया और उसके निवासियों की वीरता की यादगार में सन् १५७५ ई० में लीडन का विश्वविद्यालय स्थापित किया गया, जो आजतक मशहूर है।

वीरता की ऐसी कितनी ही कहानियाँ हैं और बीभत्स हत्याकांडों की भी हैं। सुन्दर एण्टवर्प में बड़ा भयंकर हत्याकांड हुआ और लूटमार हुई जिसमें आठ हज़ार आदमी मारे गये। इसे 'स्पेन का कोप' कहा गया था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लेकिन इस महान् संघर्ष में हालैण्ड ने ही ज्यादातर हिस्सा लिया, निदरलैण्ड्स के दक्षिणी हिस्से ने नहीं। स्पेन के शासक घूस और दबाव से निदरलैण्ड्स के बहुत-से अमीरों कोअपनी तरफ़ मिला लेने में सफल हो गयेऔर उनके द्वारा उन्हींके देशवासियों को कुचलवाया। उनको इस बात से बड़ी मदद मिली कि दक्षिण में प्रोटेस्टेण्टों से कैथलिकों की संख्या बहुत ज्यादा थी। उन्होंने कैथलिकों को मिलाने की कोशिश की और कुछ हदतक वे सफल भी हो गये। और भला अमीर-उमर! शर्म की बात है कि इन लोगों में से बहुत-से स्पेन के बादशाह की कृपा और अपने लिए धन-दौलत हासिल करने की खातिर देशद्रोह और धोखेबाज़ी में कितने नीचे गिर गये थे; देश भले ही जहन्नुम में चला जाय!

इस तरह, आख़िरकार, स्पेनवाले निदरलैण्ड्स के उस हिस्से को अपनी ओर मिला लेने में क़ामयाब हुए जो आज मोटे तौरपर बेल्जियम कहलाता है। लेकिन लाख कोशिश करने पर भी वे हालैण्ड को क़ाबू में न ला सके। ग़ौर करने की अजीब बात यह है कि लड़ाई के दौरान में, क़रीब-क़रीब उसके खतम होने तक, हालैण्ड ने स्पेन के फ़िलिप द्वितीय की अधीनता से कभी इन्कार नहीं किया। वे उसे अपना बादशाह मानने के लिए तैयार थे, बशर्ते कि वह उनके स्वतंत्र अधिकारों को मंज़ूर कर लेता। लेकिन अन्त में उनको उससे सम्बन्ध तोड़ने के लिए मजबूर होना पड़ा। उन्होंने अपने महान् नेता विलियम के सिर पर ताज रखना चाहा, लेकिन उसने इन्कार कर दिया। इस तरह परिस्थिति ने उनको, अपनी इच्छा के विरुद्ध, ग णराज्य बनने के लिए मजबूर कर दिया।

हालैण्ड में यह संघर्ष कितने-ही वर्षों तक चला। सन् १६०९ ई० में कहीं जा-कर हालैण्ड आज़ाद हुआ। लेकिन निदरलैण्ड्स में असली लड़ाई सन् १५६७ से १५८४ ई० तक हुई। स्पेन का फ़िलिप द्वितीय जब विलियम ऑफ़ आरेन्ज को हरा न सका तो उसने उसे एक हत्यारे के हाथों मरवा डाला। उसकी हत्या के लिए उसने एक सार्वजनिक इनाम का ऐलान किया। विलियम को मारने की कितनी ही कोशिशें असफल हुईं। सन् १५८४ ई० में छठवीं बार की कोशिश सफल हुई, और यह महापुरुष—जो हालैण्ड भर में 'पिता विलियम' के नाम से पुकारा जाता था—मारा गया; लेकिन उसका काम पूरा हो चुका था। बलिदान और कष्टों की भट्टी में से निकलकर डच गणराज्य—हालैण्ड तैयार हो गया था। बलशाली और आत्म-निर्भर हालैण्ड बहुत जल्दी एक बड़ी समुद्री शक्ति बन गया और बहुत दूर-पूर्व तक फैल गया। बेल्जियम, जो हालैण्ड से अलग हो गया था, स्पेन के ही क़ब्ज़े में रहा।

योरप की इस तस्वीर को पूरा करने के लिए अब हमें जर्मनी की तरफ़ देखना चाहिए। यहाँ सन् १६१८ से १६४८ ई० तक एक भयंकर गृह-युद्ध रहा, जो 'तीस वर्षीय युद्ध' कहलाता है। यह लड़ाई कैथलिक और प्रोटेस्टेण्टों के बीच हुई और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जर्मनी के छोटे-छोटे राजा और निर्वाचक आपस में, और सम्राट से लड़े। फ़्रांस के कैथलिक बादशाह ने प्रोटेस्टेण्टों को शह दी, सिर्फ़ इसलिए कि यह गड़बड़ी और बढ़ जाय। अन्त में स्वीडन का बादशाह गस्टावस अडोल्फ़स—जो 'उत्तर का सिंह' कहलाता था—चढ़कर आया और उसने सम्राट को हराकर प्रोटेस्टेण्टों को बचा लिया। लेकिन जर्मनी का सत्यानाश हो चुका था। पैसे के ग़ुलाम सैनिक लुटेरे बन गये थे। उन्होंने चारों तरफ़ लूट-खसोट मचा रखी थी। यहाँतक कि फ़ौजों के सेनापति भी सिपाहियों की तनख़्वाह या ख़ुराक के लिए पैसा न रहने पर लूटमार करने लगे। और ख़याल करो कि यह सब लगातार तीस साल तक होता रहा!

आख़िरकार यह लड़ाई ख़तम हुई—जबकि शायद लूटने के लिए कुछ भी बाक़ी न रहा। लेकिन जर्मनी को यह नुक्सान पूरा करने और अपनी हालत सुधारने में बहुत लम्बा वक़्त लगा। सन् १६४८ ई० में वेस्टफ़ेलिया की सन्धि से इस गृह-युद्ध का अन्त हो गया। इससे पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट् छायामात्र और शक्तिहीन परछाईं रह गया। फ़्रांस ने एक बड़ा टुकड़ा, आसल्स, ले लिया, और उसे दो सौ वर्ष से अधिक अपने क़ब्ज़े में रक्खा। इस तरह इस सन्धि से फ़्रांस को तो लाभ हुआ। लेकिन अब जर्मनी में एक दूसरी ताक़त पैदा हो गई, जो आगे चल· कर फ़्रांस के रास्ते का काँटा बनी। यह प्रशिया था, जिसपर हॉयनज़ॉलर्न का घराना राज्य करता था।

वेस्टफ़ेलिया की सन्धि ने, अन्तिम रूप में स्वीज़रलैण्ड और हालैण्ड के गणराज्यों को स्वीकार कर लिया।

: ६१ :

इंग्लैण्ड में पार्लमेण्ट की जीत

इंग्लैण्ड के प्रारंभिक इतिहास में मुख्य दिलचस्पी का केन्द्र पार्लमिण्ट का विकास है। शुरू से ही अमीर-उमरा की यह कोशिश थी कि बादशाह के अधिकारों को सीमित कर दिया जाय। सन् १२१५ ई० में मैग्ना कार्टा बना। इसके कुछ दिन बाद पाल.मेण्ट की शुरुआत दिखलाई पड़ती है। शुरू-शुरू की ये बातें अधकचरी-सी थीं। बड़े-बड़े अमीर-उमरा और पादरी ही आगे चलकर लार्ड सभा के रूप में संगठित हो गये। लेकिन आख़िरकार सबसे महत्त्वपूर्ण जो चीज़ बनी वह थी एक चुनी हुई कौंसिल, जिसमें योद्धा लोग, छोटे-छोटे ज़मींदार और शहरों के कुछ प्रतिनिधि शामिल थे। यही चुनी हुई कौंसिल विकसित होकर लोक सभा (हाउस ऑफ़

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कामन्स) बन गई। ये दोनों कौंसिलें या सभाएँ ज़मींदारोंऔर धनवान लोगों की थीं। लोक सभा के लोग भी कुछ धनवान ज़मींदारों और व्यापारियों के प्रतिनिधि थे।

लोक सभा के हाथ में कुछ भी अधिकार नहीं था। वे लोग बादशाह के पास अर्ज़ियाँ भेजते थे और लोगों की शिकायतें पेश करते थे। धीरे-धीरे वे टैक्सों के मामले में भी दखल देने लगे। उनकी मर्ज़ी के बिना नये टैक्सों का लगाना या वसूल करना बहुत मुश्किल था; इसलिए बादशाह ने ऐसे टैक्स लगाने के बारे में उनकी मंज़ूरी लेने का रिवाज़ शुरू कर दिया। आमदनी पर अधिकार हमेशा एक बड़ी ताक़त होती है, इसलिए पार्लमेण्ट और खासकर कॉमन्स सभा का जैसे-जैसे यह अधिकार बढ़ता गया वैसे-ही-वैसे उसकी ताक़त औरउसका मान भी बढ़ते गये। लोक सभा और बादशाह में अक्सर मतभेद होने लगा। लेकिन फिर भी पालमेंट एक कमज़ोर चीज़ थी और ट्यूडर शासक क़रीब-क़रीब निरंकुश स्वेच्छाचारी राजा थे। लेकिन ट्यूडर लोग चालाक थे और वे पाल.मेण्ट से लड़ाई मोल लेना बचा जाते थे।

इंग्लैण्ड योरप के कठोर धार्मिक संघर्षों से बचा रहा। हेनरी अष्टम के साथ-साथ इंग्लैण्ड भी प्रोटेस्टेण्ट हो गया। महारानी एलिज़ाबेथ (यह अष्टम हेनरी की लड़की थी) के समय में पूर्वी देशों और अमरीका के जो नये समुद्री रास्ते खुले और व्यापार की नई-नई गुंजाइशें हुईं उन्होंने बहुत-से लोगों को अपनी तरफ़ लुभाया। स्पेन और पुर्तगाल के जहाज़ियों की सफलता से मोहित होकर और धन-प्राप्ति के लालच से इंग्लैण्ड ने भी समुद्र का रास्ता पकड़ा। सर फ़्रांसिस ड्रेक वग़ैरह शुरू में समुद्री डाकू बन गये और अमरीका से आनेवाले स्पेन के जहाज़ों को लूटने लगे। सर वाल्टर रैले ने एटलांटिक समुद्र को पार करके उस देश के पूर्वी किनारे पर बस्ती बनाने की कोशिश की जिसे आज अमरीका का संयुक्त राज्य कहते हैं। अविवाहित (वर्जिन) महारानी एलिज़ाबेथ के सम्मान में इसे 'वर्जिनिया' नाम दिया गया। रैले ही पहला आदमी था जो अमरीका से तमाखू पीने का रिवाज योरप में लाया।

एलिज़ाबेथ का ज़माना इंग्लैण्ड के सबसे अधिक शानदार ज़मानों में से है। एलिज़ाबेथ एक महान् रानी थी और उसके समय में इंग्लैण्ड में अनेक महान कर्मवीर पैदा हुए। लेकिन इस रानी और उसके साहसी योद्धाओं से भी बढ़कर थे इस पीढ़ी के कवि और नाटककार, और अमर विलियम शेक्सपीयर इन सबसे भी बड़ा है।

भारत में महान् अकबर की मौत के ठीक दो वर्ष पहले, सन् १६०३ ई० में, एलिज़ाबेथ की मौत हुई। उसके बाद स्काटलैण्ड का तत्कालीन राजा गद्दी पर बैठा, क्योंकि उत्तराधिकारियों की वंश-परम्परा में वही सबसे निकट था। वह जेम्स प्रथम के नाम से गद्दी पर बैठा और इस तरह इंग्लैण्ड और स्काटलैण्ड का एक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्मिलित राज्य बन गया। जिस बात को इंग्लैण्ड ख़ून-खराबी से न पा सका. वही शांति-पूर्वक हो गई। जेम्स प्रथम राजाओं के दैवी अधिकार का हामी था और पालमेण्ट को पसन्द नहीं करता था। वह एलिज़ाबेथ की तरह होशियार भी नहीं था और जल्दी-ही पार्लमेण्ट और उसके बीच झगड़ा पैदा हो गया। इसीके राज-काल में इंग्लैण्ड के बहुत-से कट्टर प्रोटेस्टेण्ट अपनी जन्मभूमि को हमेशा के लिए छोड़ गये और अमेरिका में बसने के लिए सन् १६२० ई० में 'मेफ्लावर' नामक जहाज़ से रवाना हो गये।

जेम्स प्रथम का पुत्र था चार्ल्स प्रथम। सन् १६२५ ई० में उसके गद्दी पर बैठने के बाद, बहुत जल्दी झगड़ा सामने आ गया। इसलिए सन् १६२८ ई० में पार्लमेण्ट ने उसको एक "अधिकार-याचिका" (पेटीशन ऑफ राइट्स) दी जो इंग्लैण्ड के इतिहास में एक महत्वपूर्ण ख़रीता है। इस याचिका में कहा गया था कि बादशाह स्वेच्छा-चारी शासक नहीं है और वह बहुत-सी बातें नहीं कर सकता। वह ग़ैर क़ानूनी तौर पर न तो प्रजा पर टैक्स लगा सकता है और न उसे गिरफ्तार करवा सकता है।

जब उसको यह बतलाया गया कि उसे क्या करना चाहिए, क्या नहीं, तो चार्ल्स ने खीझकर पार्लमेण्ट को तोड़ दिया और उसके बिना ही शासन करने लगा। लेकिन कुछ-ही वर्ष बाद उसे रुपये की इतनी तंगी महसूस हुई कि दूसरी पार्लमेण्ट बुलानी पड़ी। पार्लमेण्ट के बिना चार्ल्स ने जो कुछ किया उसपर लोग बहुत नाराज़ थे और नई पार्लमेण्ट तो उससे लड़ाई मोल लेने का मौक़ा ही ताक रही थी। दो साल बीते भी न थे कि सन् १६४२ ई० में गृह-युद्ध शुरू हो गया जिसमें एक तरफ़ तो था बादशाह, जिसकी मदद पर बहुत से अमीर-उमरा और फ़ौज का बड़ा हिस्सा था, और दूसरी तरफ़ थी पार्लमेण्ट, जिसके मददगार थे धनी व्यापारी और लंदन के नागरिक। कई वर्षों तक यह लड़ाई खिंचती रही, और अन्त में पार्लमेण्ट की तरफ़ एक महान् नेता, ऑलिवर क्रॉमवैल, उठ खड़ा हुआ। वह बड़ा ज़बरदस्त संगठन करनेवाला, कड़ा अनुशासन रखनेवाला और अपने उद्देश्य में कट्टर विश्वास रखनेवाला व्यक्ति था। क्रॉमवैल ने एक नई सेना का संगठन किया––इसके सैनिकों को 'लौह शरीर'[1] कहते थे––और उन्हें अपने ख़ुद के अनुशासित उत्साह से भर दिया। पार्लमेण्ट की फ़ौज के 'प्यूरिटन्स'[2] ने चार्ल्स के 'कैवेलियर्स'[3] का मुक़ाबला किया। अन्त में क्रॉमवैल की जीत हुई और बादशाह चार्ल्स पार्लमेण्ट का क़ैदी हो गया।

पार्लमेण्ट के बहुत-से मेम्बर अब भी बादशाह से समझौता करना चाहते थे, लेकिन क्रॉमवैल की नई सेना इस बात को सुनना भी नहीं चाहती थी और इस सेना के एक अफसर कर्नल प्राइड ने बेधड़क पार्लमेण्ट भवन में घुसकर ऐसे मेम्बरों को

---

1. आयरन साइड्स। 2. इंग्लैण्ड के चर्च का एक सुधारक फिरका। 3. घुड़सवार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निकाल बाहर किया। इस घटना को 'प्राइड्स पर्ज' यानी प्राइड की सफ़ाई कहा जाता है।

लोक सभा के बचे हुए मेम्बरों ने—जिनको 'रम्प पार्लमिण्ट' का नाम दिया गया था—लार्ड सभा के विरोध करने पर भी चार्ल्स पर मुक़दमा चलाने का फ़ैसला कर लिया और उसे "ज़ालिम, देशद्रोही, हत्यारा और देश का शत्रु" घोषित करके मौत की सज़ा दे दी। सन् १६४७ ई० में इस मनुष्य का, जो उनका बादशाह रह चुका था और शासन करने में अपने दैवी अधिकार की बात करता था, लंदन के ह्वाइट हॉल में सिर उड़ा दिया गया।

इस घटना से योरप के बादशाहों, सीज़रों, राजाओं और छोटे-मोटे शाहों के दिल दहल गये। अगर बस चलता तो इनमें से अनेक इंग्लैण्ड पर हमला करके उसे कुचल डालते, लेकिन इंग्लैण्ड की बागडोर उन दिनों किसी निकम्मे बादशाह के हाथों में न थी। पहली बार इंग्लैण्ड एक गणराज्य बना था और उसकी रक्षा करने के लिए क्रॉमवैल और उसकी सेना तैयार थी। वह 'लार्ड प्रोटैक्टर', यानी रक्षक स्वामी कहलाता था। उसके कठोर और कुशल शासन में इंग्लैण्ड की ताक़त बढ़ने लगी और उसके जहाज़ी बेड़ों ने हालैण्ड, फ़्रांस और स्पेन के बेड़ों को मार भगाया। पहली ही बार इंग्लैण्ड योरप की प्रधान समुद्री शक्ति बन गया।

लेकिन इंग्लैण्ड का यह गणराज्य ज्यादा दिन नहीं टिका। चार्ल्स प्रथम की मौत के बाद ग्यारह वर्ष बीतने न पाये कि सन् १६५८ ई० में क्रॉमवैल की मृत्यु हो गई और दो वर्ष बाद गणराज्य का भी अन्त हो गया। चार्ल्स प्रथम का पुत्र, जिसने भागकर विदेशों में शरण ली थी, इंग्लैण्ड लौट आया। उसका स्वागत किया गया और चार्ल्स द्वितीय के नाम से उसे गद्दी पर बिठाया गया। यह दूसरा चार्ल्स एक कमीना और चरित्रहीन व्यक्ति था और बादशाहत को वह केवल मौज उड़ाने का साधन समझता था।

चार्ल्स द्वितीय के बाद उसका भाई जेम्स द्वितीय गद्दी पर बैठा और उसने फ़ौरन ही पार्लमिण्ट से झगड़ा ठान लिया। जेम्स दीनदार कैथलिक था और पोप की प्रभुता को इंग्लैण्ड में फिर स्थापित करना चाहता था। लेकिन धर्म के बारे में अंग्रेज़ लोगों के विचार चाहे जैसे रहे हों—और ये विचार काफ़ी अस्पष्ट भी थे—लेकिन ज्यादातर लोग पोप और पोपलीला से बिल्कुल चिढ़े हुए थे। इस व्यापक भावना के विरुद्ध जेम्स कुछ भी न कर सका। उल्टे पार्लमिण्ट की नाराज़गी मोल लेने के कारण उसे जान बचाने के लिए फ़्रान्स भाग जाना पड़ा।

एक बार फिर पार्लमिण्ट ने बादशाह पर विजय पाई, लेकिन इस बार बिल्कुल शान्ति के साथ और बिना गृह-युद्ध के। देश बिना बादशाह का हो गया था। लेकिन अब इंग्लैण्ड दुबारा गणराज्य होनेवाला नहीं था। कहा जाता है कि अंग्रेज़ अपने ऊपर एक स्वामी चाहता है, इससे भी ज्यादा वह शाही शान-शौक़त और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तड़क-भड़क से प्रेम करता है। इसलिए पार्लमेण्ट को एक नये बादशाह की तलाश हुई और वह उसे उस ऑरेंज राजवंश में मिल गया, जिसने सौ वर्ष पहले, स्पेन के विरुद्ध निदरलैण्ड्स के महान् संग्राम का नेतृत्व करनेवाले 'विलियम दि साइलैण्ट' को पैदा किया था। इस समय ऑरेंज का शाहज़ादा एक दूसरा विलियम था जिसने अंग्रेज़ी राजघराने की मेरी से विवाह किया था। बस, विलियम और मेरी सन् १६८८ ई० में इंग्लैण्ड के संयुक्त शासक बना दिये गये। अब पार्लमेण्ट सर्वोपरि थी और पार्लमेण्ट में भेजे हुए प्रतिनिधियों द्वारा जनता के हाथ में सत्ता देनेवाली इंग्लैण्ड की राज्यक्रान्ति पूरी हो चुकी थी।

विलियम और मेरी के बाद मेरी की बहन एन इंग्लैण्ड की महारानी हुई। सन् १७१४ ई० में जब इसकी मृत्यु हुई तो यह दिक़्क़त फिर हुई कि आगे कौन राजा बनाया जाय। आख़िरकार पार्लमेण्ट को बादशाह चुनने के लिए जर्मनी जाना पड़ा। उन्होंने एक जर्मन को चुना, जो उस समय हैनोवर का शासक था, और उसे इंग्लैण्ड का जार्ज प्रथम बना दिया। शायद पार्लमेण्ट ने उसे इसलिए चुना कि वह भोंदू था और ज़रा भी चतुर न था, और एक बेवक़ूफ़ बादशाह रखने में कम ख़तरा था बनिस्बत एक ऐसा चतुर बादशाह रखने के जो पार्लमेण्ट के कामों में टाँग अड़ावे। जार्ज प्रथम अंग्रेज़ी तक न बोल सकता था। उसका पुत्र भी, जो जार्ज द्वितीय हुआ, कुछ अंग्रेज़ी नहीं जानता था। इस तरह इंग्लैण्ड में 'हैनोवर का राजघराना' या हैनोवर का राजवंश स्थापित हुआ, जो आजतक वहाँ राज कर रहा है।[1] इसे राज करना नहीं कहा जा सकता, क्योंकि राज और शासन तो पार्लमेण्ट करती है।

: ६२ :

बाबर

सन् १५२६ ई० में दिल्ली के कमजोर और तुच्छ अफ़ग़ान सुल्तान पर बाबर की विजय से भारत में एक नया ऐतिहासिक ज़माना और नया साम्राज्य—मुग़ल साम्राज्य—शुरू होता है। बीच में थोड़े समय को छोड़कर यह सन् १५२६ से १७०७ ई० तक, यानी १८१ वर्ष तक, रहा।

मैं बाबर के बारे में पहले ही कुछ कह चुका हूँ। चंगेज़ ख़ाँ और तैमूर के वंश

[1] सन् १९३९-४५ के दूसरे महायुद्ध में हैनोवर राजवंश का नाम बदलकर विण्डसर राजवंश रख दिया गया। अब यह घराना 'विण्डसर का घराना' (हाउस आफ विण्डसर) कहलाता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का होने की वजह से इसमें कुछ-कुछ उनका बड़प्पन और सैनिक योग्यता भी थी। लेकिन चंगेज़ के ज़माने से अबतक मंगोल लोग बहुत सभ्य हो गये थे और बाबर जैसा सुसंस्कृत और दिलपसंद व्यक्ति उस ज़माने में मिलना मुश्किल था। उसमें जाति-द्वेष बिल्कुल न था, धार्मिक कट्टरता नहीं थी और न उसने अपने पुरखों की तरह विनाश ही किया। वह कला और साहित्य का पुजारी था और ख़ुद भी फ़ारसी का कवि था।

अपने पिता की मृत्यु पर जब बाबर समरकन्द का शासक हुआ, तब वह सिर्फ़ ग्यारह वर्ष का बालक था। यह काम आसान न था। उसके चारों ओर दुश्मन थे। उसकी राजगद्दी छिन गई, लेकिन उसने फिर से उसे जीत लिया और अपनी तूफ़ानी ज़िन्दगी में उसे अनेक खतरों का सामना करना पड़ा। इसपर भी वह साहित्य, कविता और कला का अभ्यासी रहा। काबुल को जीतकर वह सिंध नदी पार करके भारत में आया। उसके साथ फ़ौज तो थोड़ी-सी थी, लेकिन उसके पास नई तोपें थीं, जो उन दिनों योरप और पश्चिमी एशिया में काम में लाई जा रही थीं। अफ़ग़ानों की जो बड़ी भारी फ़ौज उससे लड़ने आई,वह इस छोटी-सी लेकिन अच्छी तरह सिखाई हुई फ़ौज और उसकी तोपों के आगे तहस-नहस हो गई और विजय बाबर के हाथ लगी। लेकिन उसकी मुसीबतों का अन्त नहीं हुआ और कितनी-ही बार उसके भाग्य का पलड़ा डाँवाडोल हो गया था। एक बार जब वह बहुत खतरे में था तो उसके सेनापतियों ने उसे उत्तर की ओर वापस भाग चलने की सलाह दी। लेकिन वह बड़ा जीवटवाला था और उसने कहा कि पीछे हटने से तो वह मौत का सामना करना अच्छा समझता है। शराब उसे बहुत प्रिय थी। लेकिन अपने जीवन में इस संकट के समय उसने शराब छोड़ देने का निश्चय किया और अपने सब प्याले तोड़ डाले। संयोग से वह जीत गया और उसने शराब छोड़ने की अपनी प्रतिज्ञा को अन्ततक निभाया।

भारत में आये उसे चार वर्ष भी न बीते थे कि बाबर की मृत्यु हो गई। लेकिन ये चार वर्ष लड़ाई-झगड़ों में ही बीते और उसे ज़रा भी आराम न मिला। वह भारत के लिए एक अजनबी ही रहा और यहाँ के बारे में कुछ न जान सका। आगरे में उसने एक शानदार राजधानी की नींव डाली और क़ुस्तुन्तुनिया से एक मशहूर राज-मिस्त्री को बुलाया। सीनन एक मशहूर उस्मानी शिल्पकार था। उसने अपने प्रिय शिष्य युसुफ़ को भारत भेजा।

बाबर ने अपने संस्मरण लिखे हैं और इस मज़ेदार किताब में बाबर के व्यक्तित्व की अन्दरूनी झलक मिलती है। उसने भारत और उसके जानवरों, फूलों, पेड़ों, फलों का वर्णन किया है, यहाँतक कि मेढकों को भी नहीं छोड़ा है! वह अपने वतन के खरबूज़ों, अंगूरों और फलों के लिए छटपटाता है। भारतवासियों के बारे में हद दर्जे की निराशा ज़ाहिर करता है। उसके कहने के मुताबिक़ तो उनके

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पक्ष में कोई अच्छी बात नहीं है। शायद चार वर्षों तक लड़ाइयों में फँसा रहने के कारण वह भारतवासियों को पहचान न सका और सुसंस्कृत वर्गों के लोग इस नये विजेता से दूर-दूर भी रहे। शायद एक नवागन्तुक दूसरे देश के निवासियों के जीवन, और उनकी सभ्यता में आसानी से घुल-मिल नहीं सकता।

भारत का वर्णन करते हुए बाबर भारत के जानवरों, फूलों, पेड़ों और फलों की एक सूची देता है। इसके बाद वह यहाँ के रहनवालों का वर्णन करता है:

> "भारत के देश में आनन्द के कोई ऐसे साधन नहीं हैं जिनके लिए इसकी तारीफ़ की जाय। यहाँ के निवासी सुरूप नहीं हैं। उन्हें मित्र मंडली के आनन्द का, या दिल खोलकर एक-दूसरे से मिलने का, या आपसी घरू बर्त्ताव का कुछ भी ज्ञान नहीं है। उनमें न तो प्रतिभा है, न दिमाग़ की सूझ-बूझ; न शिष्टाचार की नम्रता, न दया या सहानुभूति; न दस्तकारी के कामों का ढांचा बनाने और उनको कार्यान्वित करने की चतुरता या यान्त्रिक आविष्कार-बुद्धि, न नक्शे और इमारतें बनाने का हुनर या ज्ञान। उनके यहाँ न तो अच्छे घोड़े हैं न अच्छा मांस, न अंगूर और न ख़रबूज़े, न अच्छे फल, न बर्फ़, न ठंडा पानी, न बाज़ारों में अच्छा खाना और रोटी, न हम्माम, न कॉलेज, न मोमबत्तियाँ, न मशालें, यहाँ तक कि शमादान भी नहीं हैं।"

सन् १५३० ई० में ४९ वर्ष की उम्र में बाबर की मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के बारे में एक मशहूर क़िस्सा है। उसका पुत्र हुमायूँ बीमार पड़ा और कहते हैं कि उसके प्रेम में बाबर ख़ुद अपना जीवन भेंट चढ़ाने के लिए तैयार हो गया, बशर्ते कि उसका पुत्र अच्छा हो जाय। कहते हैं कि हुमायूँ अच्छा हो गया और उस घटना के कुछ ही दिन बाद बाबर की मृत्यु हो गई।

बाबर की लाश को लोग काबुल ले गये और वहाँ उसी बाग़ में उसे दफ़नाया जो बाबर को बहुत पसंद था। जिन फूलों के लिए वह तरसता था, अन्त में वह उन्हीं के बीच चला गया।

: ६३ :

अकबर

अपने सेनापतित्व और अपनी सैनिक योग्यता के बल पर बाबर ने उत्तर भारत का बहुत-सा भाग जीत लिया था। उसने दिल्ली के अफ़ग़ान सुल्तान को हरा दिया और बाद में राजपूत इतिहास के एक प्रसिद्ध वीर चित्तौड़ के रण-बांकुरे राणा सांगा के नेतृत्व में लड़नेवाले राजपूतों को हराया, जो ज्यादा मुश्किल काम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था। लेकिन इससे भी ज्यादा मुश्किल काम वह अपने पुत्र हुमायूँ के लिए छोड़ गया। हुमायूँ बहुत सुसंस्कृत और विद्वान था लेकिन अपने पिता की तरह सैनिक न था। उसके नये साम्राज्य में सब जगह गड़बड़ फैल गई और आखिर सन् १५४० ई० में, बाबर की मृत्यु के दस वर्ष बाद, बिहार के शेरखाँ नामक अफ़ग़ान सरदार ने उसे हराकर भारत से बाहर निकाल दिया। इस तरह यह दूसरा महान् मुग़ल इधर-उधर छिपता हुआ और बड़ी मुसीबतें झेलता हुआ मारा-मारा फिरने लगा। इसी भाग-दौड़ की हालत में, राजपूताना के रेगिस्तान में, नवम्बर सन् १५४२ ई० में, उसकी स्त्री ने एक पुत्र को जन्म दिया। रेगिस्तान में पैदा हुआ यह पुत्र आगे जाकर अकबर के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

हुमायूँ भागकर ईरान पहुँचा और वहाँ के बादशाह तहमास्प ने उसे शरण दी। इस अरसे में उत्तरी भारत में शेरखाँ का दबदबा खूब फैला और उसने शेरशाह के नाम से पाँच वर्ष तक राज्य किया। इस थोड़े से समय में ही उसने बतला दिया कि वह बहुत योग्य और कुशल व्यक्ति था। वह एक प्रतिभाशाली व्यवस्थापक था और उसका शासन सजीव और कारगर था। अपने युद्धों के बीच भी उसने किसानों पर टैक्स नियत करने की एक नई और अच्छी लगान प्रणाली जारी करने का समय निकाल लिया। वह सख्ती बरतनेवाला और कठोर व्यक्ति था, लेकिन भारत के सारे अफ़ग़ान शासकों में, और बहुत-से अन्य शासकों में भी, वह सबसे योग्य और अच्छा था। लेकिन जैसाकि अक्सर कुशल स्वेच्छाचारी शासकों का हाल हुआ करता है, वह खुद ही सारे शासन का कर्त्ता-धर्त्ता था, इसलिए उसकी मृत्यु के बाद सारा ढांचा टुकड़े-टुकड़े हो गया।

हुमायूँ ने इस अव्यवस्था से फ़ायदा उठाया और सन् १५५६ ई० में एक सेना लेकर ईरान से लौटा। उसकी जीत हुई और सोलह वर्ष बाद वह फिर दिल्ली के सिंहासन पर आ बैठा। लेकिन वह ज्यादा दिन के लिए नहीं। छः महीने बाद ही वह ज़ीने से गिरकर मर गया।

अकबर उस समय सिर्फ़ तेरह वर्ष का था। अपने दादा की तरह इसे भी राजगद्दी बहुत जल्दी मिल गई। बैरमखाँ, जिसे खानबाबा भी कहते हैं, इसका अभिभावक और रक्षक था। लेकिन चार ही वर्षों में अकबर इस अभिभावकता से और दूसरे आदमी के इशारों पर चलने से तंग आ गया और उसने राज्य-शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली।

सन् १५५६ से १६०५ ई० तक, यानी क़रीब पचास वर्ष तक, अकबर ने भारत पर राज किया। यह ज़माना योरप में निदरलैण्ड्स के विद्रोह का और इंग्लैण्ड में शेक्सपीयर का था। अकबर का नाम भारत के इतिहास में जगमगा रहा है और कभी-कभी कुछ बातों में वह हमें अशोक की याद दिलाता है। यह एक अजीब बात है कि ईसा से तीन सौ वर्ष पहले का एक बौद्ध सम्राट और ईसा के बाद सोल-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हवीं सदी का एक मुसलमान सम्राट, दोनों एक-ही ढंग से और क़रीब-क़रीब एक-ही आवाज़ में बोल रहे हैं। ताज्जुब नहीं कि यह खुद भारत की-ही आवाज़ हो, जो उसके दो महान् पुत्रों के ज़रिये बोल रही हो।

अकबर एक बुद्धिमान निरंकुश शासक था और वह भारत के लोगों की भलाई के लिए जी-तोड़ कोशिश करता रहता था। एक तरह से वह भारत में राष्ट्रीयता का जन्मदाता माना जा सकता है। ऐसे समय में, जबकि देश में राष्ट्रीयता का कुछ भी निशान न था और धर्म लोगों को एक-दूसरे से अलग कर रहा था, अकबर ने जुदा-जुदा धर्मों के दावों के ऊपर सार्वजनिक भारतीय राष्ट्रीयता का आदर्श स्थापित किया। वह अपनी कोशिश में पूरी तरह तो सफल नहीं हुआ, लेकिन यह अचंभे की बात है कि वह कितना आगे बढ़ गया और उसकी कोशिशों को कितनी ज्यादा कामयाबी मिली।

एक राजनीतिज्ञ की हैसियत से भी वह इसी नतीजे पर पहुँचा होगा कि उसका और राष्ट्र का बल इसी एकीकरण से बढ़ सकता है। वह एक बहुत बहादुर योद्धा और कुशल सेनानायक था। अशोक की तरह वह लड़ाई से घृणा नहीं करता था। लेकिन तलवार की विजय से वह प्रेम की विजय को अच्छी समझता था और यह भी जानता था कि ऐसी विजय ज्यादा टिकाऊ होती है। इसलिए वह दृढ़ निश्चय के साथ हिन्दू सरदारों और हिन्दू जनता का प्रेम प्राप्त करने में जुट गया। उसने गैर-मुसलमानों से वसूल किया जानेवाला जज़िया, और हिन्दू तीर्थ-यात्रियों पर लगाया जानेवाला टैक्स बन्द कर दिया। उसने खुद एक उच्च राजपूत-वंश की लड़की से विवाह किया; बाद में उसने अपने पुत्र का विवाह भी एक राजपूत लड़की से किया; और उसने ऐसी मिश्रित शादियों को प्रोत्साहन दिया। उसने अपने साम्राज्य के ऊँचे-से-ऊँचे ओहदों पर राजपूत सरदारों को नियुक्त किया। उसके सबसे बहादुर सेनापतियों और सबसे योग्य मंत्रियों और गवर्नरों में कितने ही हिन्दू थे। राजा मानसिंह को तो उसने कुछ दिनों के लिए काबुल तक का गवर्नर बनाकर भेजा था। देखा जांय तो राजपूतों को और अपनी हिन्दू प्रजा को मनाने के लिए कभी-कभी तो वह इतना आगे बढ़ जाता था कि मुसलमान प्रजा के साथ अक्सर अन्याय हो जाता था। बहरहाल, वह हिन्दुओं की सद्भावना प्राप्त करने में सफल हुआ और उसकी नौकरी करने और उसे सम्मान देने के लिए चारों ओर से लगभग सभी राजपूत इकट्ठे होने लगे, सिवाय मेवाड़ के राणा प्रताप के, जिसने कभी सिर नहीं झुकाया। राणा प्रताप ने अकबर को नाममात्र के लिए भी अपना सम्राट मानने से इन्कार कर दिया। युद्ध-क्षेत्र में हार जाने पर भी उसने अकबर का मांडलिक बनकर ऐश-आराम का विलासी जीवन बिताने की अपेक्षा जंगल में छिपते फिरना अच्छा समझा। जिन्दगी भर यह अभिमानी राजपूत दिल्ली के महान् सम्राट से लड़ता रहा, और उसके सामने सिर झुकाना मंजूर नहीं किया। अपने जीवन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के अन्तकाल में उसे कुछ सफलता भी मिली। इस रण-बांकुरे राजपूत की यादगार राजस्थान की एक बहुमूल्य निधि है और इसके नाम के साथ कितनी-ही गाथाएँ जुड़ गई हैं।

शारीरिक दृष्टि से अकबर अपूर्व बलशाली और फुर्तीला था और वह जंगली और ख़ुंख्वार जानवरों के शिकार से अधिक किसी चीज़ से प्रेम नहीं करता था। एक सिपाही की हैसियत से तो वह इतना वीर था कि उसे अपनी जान तक की बिल्कुल परवाह न थी। उसकी आश्चर्य-जनक शक्ति का अनुमान आगरे से अ मदाबाद की उस प्रसिद्ध यात्रा से लगाया जा सकता है जो उसने नौ दिन में पूरी की थी। गुजरात में विद्रोह हो गया था और अकबर एक छोटी-सी सेना के साथ राजपूताना के रेगिस्तान को पार करके साढ़े चार सौ मील की दूरी तय करके वहाँ जा धमका। यह एक असाधारण करतब था। यह बतलाने की ज़रूरत नहीं है कि उस ज़माने में न तो रेलें थीं और न मोटरें।

विजेता की दृष्टि से अकबर ने सारे उत्तर भारत और दक्षिण को भी जीत लिया था। उसने गुजरात, बंगाल, उड़ीसा, कश्मीर, और सिंध अपने साम्राज्य में मिला लिये। मध्य-भारत और दक्षिण-भारत में भी उसकी विजय हुई और उसने कर वसूल किया। लेकिन मध्य-प्रान्त की रानी दुर्गावती को हराना उसकी कीर्ति को नहीं बढ़ाता। दुर्गावती एक वीरांगना और न्यायप्रिय रानी थी और उसने अकबर को कुछ नुकसान नहीं पहुँचाया था। लेकिन महात्वाकांक्षा और साम्राज्य-लिप्सा इन छोटी-मोटी अड़चनों की बिल्कुल परवाह नहीं करती। दक्षिण में भी उसकी सेनाएँ अहमदनगर की प्रबन्धकर्त्री मशहूर चाँदबीबी से लड़ीं। इस महिला में साहस और योग्यता थी और उसने युद्ध में जो लोहा लिया, उसका असर मुग़ल फ़ौज पर इतना पड़ा कि उन्होंने उसके अनुकूल शर्तों पर सुलह मंजूर कर ली। दुर्भाग्य से कुछ दिन बाद उसके ही कुछ असन्तुष्ट सिपाहियों ने उसे मार डाला।

अकबर की फौजों ने चित्तौड़ पर भी घेरा डाला। यह राणा प्रताप से पहले की बात है। जयमल ने बड़ी वीरता से चित्तौड़ की रक्षा की। उसके मारे जाने पर भयंकर जौहर व्रत हुआ और फिर चित्तौड़ जीत लिया गया।

अकबर ने अपने चारों तरफ बहुत-से योग्य सहायक इकट्ठा कर लिये जो उसके प्रति बड़े वफ़ादार थे। इनमें मुख्य फ़ैजी और अबुलफ़ज़ल, ये दो भाई थे, और एक था बीरबल जिसके बारे में अनगिनती कहानियाँ आजतक प्रचलित हैं। अकबर का वित्त-मंत्री था टोडरमल। इसने लगान की सारी प्रणाली को बदला था। यही आजकल रैयतवारी प्रणाली कहलाती है।

जयपुर का राजा मानसिंह अकबर के सबसे अच्छे सेनापतियों में से था। अकबर के दरबार में एक और प्रसिद्ध आदमी था—महान गायक तानसेन—जिसे आज भारत के सारे गवैये अपना गुरु मानते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शुरू में अकबर की राजधानी आगरा थी, जहाँ उसने क़िला बनवाया। इसके बाद उसने आगरा से पन्द्रह मील दूर फ़तहपुर-सीकरी में एक नया शहर बसाया। उसने यह जगह इसलिए पसन्द की कि यहाँ शेख़ सलीम चिश्ती नाम के एक मुस्लिम संत रहते थे। यहाँ उसने एक आलीशान शहर बनवाया जो उस वक्त के एक अंग्रेज यात्री के शब्दों में "लन्दन से भी ज्यादा बड़ा" था और यही पन्द्रह वर्ष से ज्यादा उसके साम्राज्य की राजधानी रहा। बाद में उसने लाहौर को अपनी राजधानी बनाया। अकबर का मित्र और मंत्री अबुलफ़ज़ल लिखता है—"बादशाह सलामत आलीशान इमारतों के नक़्शे सोचते हैं और अपने दिल और दिमाग़ की सूझ को पत्थर और मिट्टी का जामा पहना देते हैं।"

फ़तहपुर-सीकरी और उसकी ख़ूबसूरत मस्जिद, उसका ज़बरदस्त बुलंद दरवाज़ा और बहुत-सी दूसरी सुन्दर इमारतें आज भी मौजूद हैं। यह शहर उजड़ गया है और उसमें किसी तरह की हलचल अब नहीं है; लेकिन उसकी लियों में और उसके चौड़े सहनों में एक मिटे हुए साम्राज्य की छायाएं आज भी चलती मालूम होती हैं।

हमारा मौजूदा इलाहाबाद शहर भी अकबर का ही बसाया हुआ है, लेकिन जगह यह ज़रूर बहुत प्राचीन है और प्रयाग तो यहाँ रामायण के युग से चला आ रहा है। इलाहाबाद का क़िला अकबर का बनवाया हुआ है।

अकबर का जीवन एक विशाल साम्राज्य को जीतने और उसे संगठित करने में व्यस्त रहा होगा। लेकिन इसके अन्दर अकबर की एक और विचित्र प्रवृत्ति नज़र आती है। यह थी उसकी असीम ज्ञान पिपासा और सत्य की खोज। जो कोई किसी भी विषय पर रोशनी डाल सकता था, उसे बुलाया जाता था और उससे प्रश्न किये जाते थे। अलग-अलग धर्मों के लोग इबादतख़ाने में उसके चारों तरफ़ बैठते थे और हरएक इस महान् बादशाह को अपने धर्म में शामिल करने की आशा रखता था। वे अक्सर एक-दूसरे से झगड़ पड़ते थे और अकबर बैठा-बैठा उनकी बहसें सुनता रहता और उनसे बहुत-से सवाल पूछता रहता था। मालूम होता है उसे यह विश्वास हो गया था कि सत्य का ठेका किसी ख़ास धर्म या फ़िरक़े ने नहीं ले रखा है और उसने यह घोषणा कर दी थी कि वह धर्म में सार्वभौम सहिष्णुता को मानता है।

यह भी मार्के की बात है कि उसने हिन्दू विधवाओं के सती होने की प्रथा को बन्द करने का हुक्म निकाला था और युद्धबन्दियों को गुलाम बनाये जाने की भी मनाही कर दी थी।

चौंसठ साल की उम्र में, क़रीब पचास रस राज करने के बाद, अक्तूबर सन् १६०५ ई० में अकबर की मृत्यु हुई। उसकी लाश आगरा के पास सिकन्दरे में एक ख़ूबसूरत मक़बरे में दफ़न की हुई है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अकबर के राज्य-काल में उत्तर भारत में— ज्यादातर काशी में—एक व्यक्ति रहता था जिसका नाम संयुक्त प्रान्त के हरएक ग्रामीण की जबान पर है। वहाँ वह इतना मशहूर है और इतना लोकप्रिय है जितना अकबर या दूसरा कोई बादशाह नहीं हो सकता। मेरा मतलव तुलसीदास से है जिन्होंने हिंदी में रामचरित-मानस या रामायण लिखी है।

: ६४ :

मुग़ल-साम्राज्य का पतन और अन्त

अकबर के बाद तीन और योग्य बादशाह हुए, लेकिन उनमें कोई असाधारण बात नहीं थी। जब कोई बादशाह मरता तो उसके पुत्रों में राजगद्दी के लिए बड़ी गन्दी छीना झपटी होती। राजमहलों की साजिशें औ उत्तराधिकार की लड़ाइयाँ होती थीं। पुत्रों का पिताओं से विद्रोह भाइयों का भाइयों से विद्रोह ह याएँ और रिश्तेदारों की आँखें फोड़ी जाना —मतलब यह कि स्वेच्छाचारिता और निरंकुश शासन के साथ चलनेवाली तमाम बीभत्स बातें होती थीं।

अकबर के समय की धर्मों की सहिष्णुता उसके पुत्र जहाँगीर के राज्य में भी जारी रही, लेकिन फिर यह धीरे-धीरे मिटती गई और ईसाइयों और हिंदुओं पर कुछ अत्याचार होने लगे। बाद में, औरंगजेब के राज में, मन्दिरों को तोड़कर और बदनाम जज़िया टैक्स को दुबारा जारी करके हिन्दुओं को जान-बूझकर सताने की कोशिश की गई। साम्राज्य की जो नींव अकबर ने इतनी मेहनत से डाली थी, वह इस तरह एक-एक पत्थर करके खोद डाली गई और साम्राज्य एकदम भहराकर गिर पड़ा।

अकबर के बाद जहाँगीर गद्दी पर बैठा जो उसकी राजपूत रानी का पुत्र था। उसने कुछ हदतक अपने पिता की परम्परा को जारी रखा लेकिन शायद उसे सरकारी कामों की अपेक्षा कला तथा चित्रकारी और बाग़ों तथा फूलों में ज्यादा दिलचस्पी थी। उसके यहाँ सुन्दर चित्रशाला थी। वह हर साल कश्मीर जाता था और मेरे ख़याल से श्रीनगर के पास शालिमार और निशात नाम के मशहूर बाग़ इसीने लगवाये थे। जहाँगीर की बेगम—या यों कहो कि उसकी बहुत-सी बेगमों में से एक—सुन्दरी नूरजहाँ थी जिसके हाथों में परदे के पीछे राज की असली सत्ता थी। ऐतमादुद्दौला की कब्र पर खूबसूरत इमारत जहाँगीर के ही राज में बनी थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जहाँगीर के बाद उसका पुत्र शाहजहाँ गद्दी पर बैठा और उसने तीस वर्ष, यानी सन् १६२८ से १६५८ ई० तक राज किया। ह फ़्रांस के चौदहवें लुई का समकालीन था और इसके राज्य में जहाँ मुग़लों का वैभव चरमसीमा तक पहुँच गया, वहाँ उसकी गिरावट के भी बीज साफ़ नज़र आने लगे थे। बादशाह के बैठने के लिए बहुमूल्य रत्नों से जड़ा हुआ मशहूर तख़्त-ताऊस बनाया गया। और फिर आगरे में यमुना के किनारे वह सुन्दरता का स्वप्न, ताजमहल, बना। यह उसकी प्यारी बेगम मुमताज़महल का मक़बरा है। शाहजहाँ ने बहुत-से ऐसे काम किये जिनसे उसकी कोर्ति और प्रतिष्ठा को बट्टा लगता है। वह धर्म के मामले में असहिष्णु था और जब दक्षिण में गुजरात में भयंकर अकाल पड़ा तो उसने अकाल-पोड़ितों की सहायता के लिए कुछ न किया। उसकी प्रजा की इस कमबख़्ती और ग़रीबी के मुक़ाबले में उसके धन और ऐश्वर्य बड़े घृणित दिखाई पड़ते हैं। फिर भी पत्थर और संगमरमर में उसने मनोहरता के जो चमत्कार छोड़े हैं उनके कारण शायद उसकी बहुत-सी बातें क्षमा की जा सकती हैं। इसीके समय में मुग़ल शिल्पकला अपनी चोटी पर पहुँची थी। ताज के अलावा इसने आगरे की मोती मस्जिद, दिल्ली की विशाल जामा मस्जिद, और दिल्ली के महलों में दीवाने-आम और दीवाने ख़ास बनवाये। इन इमारतों में ऊँचे दरजे की सादगी है और इनमें से कुछ तो बड़ी विशाल, सुघड़ और सुडौल हैं और उनकी सुन्दरता परियों जैसी लोकोत्तर है।

इसके बाद अन्तिम महान मुग़ल औरंगजेब आया। उसने अपने शासन का श्रीगणेश अपने पिता को क़ैद में डालकर किया। उसने सन् १६५९ से १७०७ ई० तक—अड़तालीस वर्ष—राज्य किया। अपने दादा जहाँगीर की तरह वह न तो कला और साहित्य से प्रेम करता था और न अपने पिता शाहजहाँ की तरह शिल्प-कला से। वह कठोर सादगी का पालन करनेवाला साधु और कट्टर मुसलमान था, और अपने धर्म के सिवा अन्य किसी धर्म को सहन नहीं करता था। दरबार की तड़क-भड़क तो क़ायम रही पर अपने व्यक्तिगत जीवन में औरंगज़ेब सादा-मिज़ाज और संन्यासी जैसा था। उसने इरादा करके हिन्दुओं को सताने की नीति चलाई। इरादा करके ही उसने अकबर की सबको मित्र बनाने की और एकीकरण की नीति को उलट दिया और जिस नींव पर अभीतक साम्राज्य टिका हुआ था, उसे इस तरह उखाड़ डाला। उसने हिन्दुओं पर जज़िया टैक्स फिर लगा दिया; जहाँतक हो सका हिन्दुओं से सब ओहदे छीन लिये; जिन राजपूत सरदारों ने अकबर के समय से इस राजवंश की सहायता की थी उन्हींको उसने नाराज़ करके राजपूतों से लड़ाई मोल ले ली। उसने हज़ारों हिन्दू-मन्दिरों को तुड़वा डाला और इस तरह अनेक सुन्दर पुरानी इमारतें धूल में मिला दी गईं। जहाँ एक ओर दक्षिण में उसका साम्राज्य बढ़ रहा था, बीजापुर और गोलकुंडा उसके क़ब्ज़े में आ गये थे और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सुदूर दक्षिण से उसे खिराज मिलने लगा था, वहाँ दूसरी ओर इस साम्राज्य की नींव ढीली होकर दिन-पर-दिन कमज़ोर होती जा रही थी और चारों तरफ़ दुश्मन पैदा हो रहे थे।

जिस तरह तमाम साम्राज्यों का अन्त हुआ करता है, उसी तरह मुग़ल-साम्राज्य का अन्त उसीकी अन्दरूनी कमज़ोरियों की वजह से हुआ। वह बिल्कुल छिन्न-भिन्न हो गया। लेकिन हिन्दुओं में विद्रोह की जो नई चेतना पैदा हो रही थी और जो औरंगज़ेब की नीति की वजह से उफान पर आगई थी, उसने इस अन्त को लाने की क्रिया में बहुत सहायता पहुँचाई। परन्तु एक तरह की यह धार्मिक हिन्दू राष्ट्रीयता औरंगजेब के राज से पहले ही जड़ पकड़ चुकी थी और सम्भव है कि कुछ-कुछ इसीकी वजह से औरंगज़ेब इतना द्वेषपूर्ण और असहिष्णु हो गया हो। मराठे, सिक्ख, वग़ैरा इस हिन्दू जागृति के अगुआ थे और, मुग़ल साम्राज्य का तख़्ता अन्त में इन्होंने उलट ही दिया।

यह जानना दिलचस्प बात होगी कि जब मुग़ल सम्राट फ़ौज के साथ कूच करते थे तो उनका शाही डेरा किस तरह का होता था। वह बड़ा भारी भरकम मामला होता था जिसका घेरा तीस मील और आबादी क़रीब पांच लाख होती थी! इस आबादी में सम्राट के साथ चलनेवाली फ़ौज तो होती ही थी लेकिन उसके अलावा इस चलते-फिरते भारी शहर में लाखों दूसरे लोग और सैकड़ों बाज़ार भी होते थे। इन्हीं चलते-फिरते डेरों में उर्दू यानी 'लश्कर' की भाषा का विकास हुआ।

मुग़ल सम्राट दिन में कम-से-कम दो बार झरोखे में से लोगों को दर्शन दिया करते थे और अर्ज़ियाँ लिया करते थे।

मैंने अभीतक यह नहीं बतलाया कि पिछले मुग़ल बादशाहों का विदेशियों के साथ कैसा ताल्लुक़ था। अकबर के दरबार में पुर्तगाली पादरियों पर ख़ास कृपा रहती थी और योरप की दुनिया के साथ अकबर का जो-कुछ भी सम्पर्क था, वह इन्हींके जरिये था। अकबर इनको योरप की सबसे ताक़तवर क़ौम समझता था, क्योंकि समुद्रों पर इनका प्रभुत्व था। अंग्रेजों का उस वक्त पता भी न था। अकबर की गोआ लेने की बड़ी इच्छा थी और उसने उसपर हमला भी किया मगर सफलता न मिली।

जब अंग्रेज़ लोगों ने मुग़ल दरबार में आने की कोशिश की, तो पुर्तगालियों को उनसे डाह हुई और उन्होंने जहाँगीर के कान उनके विरुद्ध भरने में कोई कसर न उठा रखी। लेकिन इंग्लैण्ड के जेम्स प्रथम का एलची सर टामस रो सन् १६१५ ई० में किसी तरह जहाँगीर के दरबार में जा पहुँचा। उसने सम्राट से बहुत-सी सहूलियतें हासिल कर लीं और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापार की नींव जमा दी। इसी बीच अंग्रेज़ी बेड़े ने भारतीय समुद्र में पुर्तगाल के बेड़े को हरा दिया। इंग्लैण्ड का सितारा धीरे-धीरे आसमान में चढ़ रहा था और पुर्तगाल का सितारा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पश्चिम में डूब रहा था। डचों और अंग्रेज़ों ने धीरे-धीरे पुर्तगालियों को पूर्वी समुद्रों से बाहर निकाल दिया और मलक्का का बड़ा बन्दरगाह भी सन् १६४१ ई० में डच लोगों के हाथ आ गया। सन् १६२९ ई० में हुगली में शाहजहाँ और पुर्तगालियों के बीच युद्ध हुआ। पुर्तगाली बाक़ायदा गुलामों का व्यापार करते थे और लोगों को ज़बरदस्ती ईसाई बना रहे थे। पुर्तगालियों ने बड़ी बहादुरी से रक्षा की लेकिन मुग़लों ने हुगली पर क़ब्ज़ा कर लिया। छोटा-सा पुर्तगाल देश बार-बार के इन युद्धों से थक गया। उसने साम्राज्य की होड़ से पीछा छुड़ाया; लेकिन वह गोआ और दूसरी कई जगहों से चिपका रहा और आज भी इन जगहों पर उसका क़ब्ज़ा है।

इसी दौरान में अंग्रेजों ने मद्रास और सूरत के पास, भारत के समुद्र-तट के नगरों में, कारखाने खोल दिये। मद्रास की नींव भी उन्होंने ही सन् १६३९ ई० में डाली। सन् १६६२ ई० में इंग्लैण्ड के बादशाह चार्ल्स द्वितीय ने पुर्तगाल की कैथराइन ऑफ ब्रेगैञ्ज़ा के साथ शादी की और बम्बई का टापू उसे दहेज में मिला। कुछ दिनों बाद उसने इसे बहुत सस्ते दाम पर ईस्ट इडिया कम्पनी के हाथ बेच दिया। यह घटना औरंगज़ेब के राजकाल में हुई। पुर्तगालियों के ऊपर विजय के नशे में चूर ईस्ट इण्डिया कंपनी ने यह सोचकर कि मुग़ल साम्राज्य कमज़ोर होता जा रहा हैं, सन् १६८५ ई० में भारत में ज़बरदस्ती अपना अधिकार बढ़ाने की कोशिश की। लेकिन उसे नुक्सान उठाना पड़ा। इंग्लैण्ड से लड़ाई के जहाज़ दौड़े हुए आये और औरंगज़ेब के राज्य पर पूर्व में बंगाल पर और पश्चिम में सूरत पर हमले किये गये। लेकिन अभी मुगलों में उनको बुरी तरह हरा देने की ताक़त थी। अंग्रेजों ने इससे शिक्षा ली और आगे के लिए वे बहुत सावधान हो गये। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद भी, जबकि मुग़ल-शक्ति स्पष्ट ही छिन्न-भिन्न हो रही थी, वे बहुत वर्षों तक कोई बड़ा हमला करने से पहले आगा-पीछा सोचते रहे। सन् १६९० ई० में जॉब चारनॉक ने कलकत्ता शहर की नींव डाली। इस तरह मद्रास, बम्बई और कलकत्ता, इन तीनों शहरों की स्थापना अंग्रेज़ों के हाथों से हुई और शुरू-शुरू में ये शहर अंग्रेज़ों के ही साहसपूर्ण प्रयत्नों से बढ़े।

अब फ़्रांस ने भी भारत में क़दम रखा। एक फ़्रांसीसी व्यापारी कम्पनी बनी और सन् १६६८ ई० में उसने सूरत में और कुछ अन्य जगहों में कारखाने खोले। कुछ साल बाद उसने पांडिचेरी शहर खरीद लिया जो पूर्वी तट पर सबसे महत्त्वपूर्ण व्यापारिक बन्दरगाह बन गया।

सन् १७०७ ई० में क़रीब नब्बे वर्ष की बड़ी उम्र में औरंगज़ेब की मृत्यु हुई। उसकी छोड़ी हुई शानदार सम्पत्ति यानी भारत को हथियाने के लिए संघर्ष का सूत्रपात हुआ। एक तो खुद उसीकी अयोग्य सन्तान और उसके कुछ बड़े-बड़े सूबेदार थे; उधर मराठे व सिक्ख थे; दूसरी तरफ उत्तर-पश्चिम सीमा के पार के लोग

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दाँत लगाये हुए थे; समुद्रपार के दो शक्तिशाली राष्ट्र अँग्रेज़ और फ्रांसीसी भी थे। बेचारे भारतवासियों की चिन्ता किसे होती ?

: ६५ :

सिक्ख और मराठे

औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद के सौ वर्षों में भारत एक अजीब पैबन्दकारी का नमूना बना रहा। ऐसा ज़माना ले-भग्गुओं के, या ऐसे लोगों के, लिए बड़ा उपयुक्त होता है, जो साधनों और उपायों की परवाह नहीं करते और मौक़े का फायदा उठाने में न तो डरते हैं और न भले-बुरे का कुछ विचार करते हैं। इसलिए सारे भारत में इस तरह के मौक़ापरस्त पैदा हो गये। इन मौक़ापरस्तों में एक तो ख़ुद भारत के ही रहनेवाले थे, दूसरे वे थे जो उत्तर-पश्चिम की सीमाओं से आ रहे थे और तीसरे वे लोग थे जो अंग्रेजों और फ़्रांसीसियों की तरह समुद्रपार से आये थे। हरएक आदमी या गिरोह अपना-अपना उल्लू सीधा करना चाहता था और अन्य सबों को भट्टी में झोंकने के लिए तैयार था। कभी-कभी दो मिलकर तीसरे को ख़तम कर देते थे लेकिन बाद में ये दोनों आपस में ही लड़ मरते थे। रियासतें हड़पने के लिए, जल्दी से मालदार बनने के लिए और लूटमार करने के लिए जी-तोड़ कोशिशें की जा रही थीं। लूट-मार ज्यादातर खुल्लम-खुल्ला और बेशर्मी के साथ होती थी; लेकिन कभी-कभी इसपर व्यापार का पतला परदा भी डाल दिया जाता था।

लेकिन ये सब उथल-पुथल और हलचल और तोड़-मरोड़ उस क्रांति के बाहरी लक्षण थे जो सतह के नीचे हो रही थी। पुरानी आर्थिक व्यवस्था टूट रही थी; सामन्तशाही के दिन पूरे हो गये थे और वह भी ख़तम हो रही थी। देश में जो नई हालतें पैदा हो रही थीं, यह उनके अनुकूल न थीं।

सन् १६६९ ई० में ही मथुरा के जाट किसानों ने विद्रोह कर दिया। बार-बार उनको दबाया गया, लेकिन वे तीस साल से ऊपर तक, यानी औरंगज़ेब की मृत्यु तक, बार-बार सिर उठाते रहे। याद रहे कि मथुरा आगरे के बहुत नज़दीक है, इसलिए ये विद्रोह राजधानी के पास ही हुए थे। दूसरा विद्रोह सतनामियों ने किया, जो मामूली लोगों का एक हिन्दू सम्प्रदाय था। इसलिए यह भी ग़रीब आदमियों का विद्रोह था और अमीरों, हाकिमों, वग़ैरा की बग़ावत से बिल्कुल भिन्न था। उस समय का एक मुग़ल अमीर इनके बारे में घृणा से लिखता है कि यह "ख़ून के प्यासे पाजी बाग़ियों का गिरोह था जिसमें सुनार, बढ़ई, भंगी, चमार और दूसरे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नीच लोग शामिल थे।" उसकी राय में ऐसे "नीच लोगों" को अपने से ऊँचे लोगों के विरुद्ध विद्रोह करने में शर्म आनी चाहिए थी।

अब हम सिक्खों की तरफ आते हैं और उनके इतिहास का सिलसिला कुछ समय पहले से शुरू करेंगे। मैंने गुरु नानक का जिक्र किया था। इनकी मृत्यु बाबर के भारत में आने के कुछही साल बाद हो गई। वह उन लोगों में से थे जिन्होंने हिन्दू धर्म और इस्लाम को एक ही तख्ते पर लाने की कोशिश की। इनके बाद तीन 'गुरु' और हुए, जो इन्हींकी तरह शान्तिप्रिय थे और सिर्फ़ धार्मिक बातों में ही दिलचस्पी रखते थे। अकबर ने चौथे गुरु को अमृतसर के तालाब और सुनहरे मन्दिर के लिए ज़मीन दी थी। तबसे अमृतसर सिक्ख धर्म का केंद्र बन गया है।

इसके बाद पाँचवें गुरु अर्जुनसिंह हुए, जिन्होंने ग्रन्थ साहब का संकलन किया, जो वाणियों और भजनों का संग्रह है और सिक्खों का पवित्र ग्रन्थ माना जाता है। एक राजनैतिक अपराध के लिए जहाँगीर ने अर्जुनसिंह को यन्त्रणाएँ देकर मरवा डाला। सिक्खों के इतिहास की घड़ी बस यहीं से बदल गई। गुरु के साथ अन्याय और बेरहमी के इस बर्त्ताव ने उनमें रोष भर दिया और उन्होंने तलवारें उठालीं। छठे गुरु हरगोविंद के समय में वे एक सैनिक बिरादरी बन गये और तबसे उनकी राज-शक्ति के साथ अक्सर मुठभेड़ें होने लगीं। गुरु हरगोविंद खुद दस साल तक जहाँगीर की कैद में रहे। नवें गुरु तेग़बहादुर औरंगज़ेब के राजकाल में हुए। औरंगज़ेब ने इनको इस्लाम ग्रहण करने का हुक्म दिया और इन्कार करने पर इनको क़त्ल करवा डाला। दसवें और अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह थे। उन्होंने सिक्खों को एक बलशाली सैनिक जाति बना दिया, जिसका मुख्य उद्देश्य दिल्ली के बादशाह का विरोध करना था। ये औरंगज़ेब की मृत्यु के एक साल बाद मरे। इनके बाद से अबतक कोई गुरु न हुआ। कहते हैं कि गुरु के अधिकार अब सारी सिक्ख जाति में हैं, जो 'खालसा' यानी 'स्वीकृत' कहलाती है।

औरंगज़ेब की मृत्यु के कुछही दिन बाद सिक्खों का विद्रोह हुआ। इसे तो दबा दिया गया, लेकिन सिक्ख लोग अपना बल बढ़ाते रहे और पंजाब में अपनी स्थिति को मज़बूत बनाते रहे।

ये सब बग़ावतें तो दिक्क़त में डालनेवाली थी हीं, पर मुग़ल साम्राज्य को असली खतरा दक्षिण-पश्चिम में मराठों की बढ़ती हुई शक्ति से था। शाहजहाँ के राज्य में ही शाहजी भोंसले नाम के एक मराठा सरदार ने सर उठाया था। वह पहले तो अहमदनगर की रियासत में और बाद में बीजापुर रियासत में हाकिम रहा था। लेकिन मराठों का गौरव और मुग़ल साम्राज्य को थर्रा देनेवाला अगर कोई था, तो वह इसका पुत्र शिवाजी था, जिसका जन्म सन् १६२७ ई० में हुआ था। वह उन्नीस वर्ष का भी न हुआ था कि उसने लूट-मार शुरू कर दी और पूना के पास

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पहला क़िला जीत लिया। वह एक वीर सेनानायक, छापामारों का योग्य नेता और जोखिम उठानेवाला था। उसने बहादुर और मज़बूत पहाड़ियों का एक गिरोह इकट्ठा कर लिया जो उस पर जान देते थे। इनकी मदद से उसने बहुतसे क़िलों पर कब्ज़ा कर लिया और औरंगज़ेब के सेनापतियों को खूब छकाया। सन् १६६५ ई० में उसने अचानक सूरत पर धावा बोल दिया, जहाँ अंग्रेजों का कारखाना था, और शहर को लूट लिया। बातों में आकर वह आगरे में औरंगज़ेब के दरबार में भी गया, लेकिन जब उसके साथ एक स्वतन्त्र राजा का-सा बर्त्ताव नहीं किया गया, तो उसने अपने गौरव और मान की हानि महसूस की। उसे वहाँ क़ैद कर लिया गया लेकिन वह छूटकर भाग निकला। फिर भी औरंगज़ेब ने उसे राजा का खिताब देकर अपनी तरफ़ मिलाने की कोशिश की।

लेकिन शिवाजी ने फिर लड़ाई छेड़ दी और दक्षिण के मुगल हाकिम तो उससे इतने डर गये कि वे अपनी रक्षा के लिए उसे धन देने लगे। यही वह इतिहास-प्रसिद्ध 'चौथ', यानी लगान का चौथा अंश, थी जिसे मराठे लोग जहाँ जाते वहीं वसूल करते थे। इस तरह मराठों की ताकत बढ़ती गई और दिल्ली का साम्राज्य कमज़ोर होता गया। सन् १६७४ ई० में शिवाजी ने रायगढ़ में बड़े ठाठ-बाट के साथ राज-सिंहासन ग्रहण किया। सन् १६८० ई० में अपनी मृत्यु तक वह बराबर विजय-पर-विजय प्राप्त करता रहा।

शिवाजी के पुत्र संभाजी को मुगलों ने यंत्रणाएँ देकर मरवा डाला, लेकिन कुछ धक्कों के बाद मराठों की ताक़त फिर बढ़ने लगी। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य हवा में ग़ायब होने लगा। सारे हाकिम राजधानी से अपना सम्बन्ध तोड़कर स्वतन्त्र बन बैठे। बंगाल अलग हो गया। यही हाल अवध और रुहेलखण्ड का हुआ। दक्षिण में वज़ीर आसफ़जाह ने एक राज्य स्थापित किया, जो आजकल रियासत हैदराबाद कहलाता है। मौजूदा निज़ाम आसफ़जाह का वंशज है। औरंगज़ेब के मरने के बाद सत्रह वर्ष के भीतर ही साम्राज्य क़रीब-क़रीब ख़तम हो गया। लेकिन दिल्ली और आगरा में, बिना साम्राज्य के, नाम मात्र के कई बादशाह एक के बाद एक गद्दी पर बैठते रहे।

जैसे-जैसे साम्राज्य कमज़ोर होता गया वैसे-ही-वैसे मराठों की ताक़त बढ़ती गई। उनका प्रधान मंत्री, जो पेशवा कहलाता था, राजा पर हावी होकर असली सत्ताधारी बन बैठा। पेशवाओं की गद्दी, जापान के शोगनों की तरह, पुश्तैनी मानी जाने लगी और राजा पीछे ढकेल दिया गया। दिल्ली का सम्राट इतना कमज़ोर हो गया कि उसने सारे दक्षिण में चौथ वसूल करने के मराठों के अधिकार को मंजूर कर लिया। पेशवा को इतने पर भी संतोष नहीं हुआ और उसने गुजरात, मालवा और मध्य भारत पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। सन् १७३७ ई० में उसकी फ़ौजें ठेठ दिल्ली के फाटक पर जा पहुँचीं। ऐसा मालूम होता था कि भारत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर सिर्फ़ मराठों का ही अधिकार होनेवाला है। सारे देश में उनकी धाक थी। लेकिन सन् १७३९ ई० में उत्तर-पश्चिम की तरफ़ से अचानक एक हमला हुआ, जिसने ताक़त की तराज़ू का पलड़ा उलट दिया और उत्तर भारत के नक़्शे को ही बदल दिया।

: ६६ :

भारत में अंग्रेज़ों की विजय

हम देख चुके हैं कि दिल्ली के मुगल-साम्राज्य की हालत बहुत ख़राब थी। भारत में उन दिनों ले-भग्गुओं का बोलबाला था। उत्तर-पश्चिम से एक लुटेरों के राजा ने अचानक आकर धावा बोल दिया और बहुत-सी खून-ख़राबी और लूट-मार करके वह बेशुमार दौलत लेकर चम्पत हो गया। यह नादिरशाह था जो ईरान का शाह बन बैठा था। वह शाहजहाँ के बनवाये हुए मशहूर तख़्त-ताऊस को भी साथ ले गया। यह भयंकर हमला सन् १७३९ ई० में हुआ और इसने उत्तर भारत को पस्त कर दिया। नादिरशाह ने अपने राज्य की सरहद ठेठ सिन्ध नदी तक बढ़ा ली। इस तरह अफ़ग़ानिस्तान भारत से अलग हो गया। महाभारत और गांधार के ज़माने से लगाकर भारत के सारे इतिहास में अफ़ग़ानिस्तान का भारत से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा था। लेकिन अब वह कटकर अलग जा पड़ा।

सत्रह वर्ष के भीतर ही दिल्ली पर एक और छापामार लुटेरा चढ़कर आया। यह था अहमदशाह दुर्रानी,जो अफ़ग़ानिस्तान में नादिरशाह का उत्तराधिकारी था। लेकिन इन हमलों के होते हुए भी मराठों की ताक़त लगातार बढ़ती ही गई और सन् १७५८ ई० में पंजाब पर भी उनका क़ब्ज़ा हो गया। उन्होंने इन सब जीते हुए हिस्सों पर कोई संगठित सरकार क़ायम करने की कोशिश नहीं की। वे तो अपनी विख्यात 'चौथ' वसूल कर लेते थे और राज्य का भार वहींके लोगों पर छोड़ देते थे। ऐसे उनको एक तरह से दिल्ली का सारा साम्राज्य विरासत में मिल गया। लेकिन इसके बाद ही एक बड़ी रुकावट सामने आई। उत्तर पश्चिम से दुर्रानी फिर चढ़ आया और उसने सन् १७६१ ई० में पानीपत के पुराने युद्ध-क्षेत्र में औरों की मदद से मराठों की एक बड़ी भारी फ़ौज को बुरी तरह हराया। अब दुर्रानी तमाम उत्तर भारत का मालिक बन बैठा और उसे रोकनेवाली कोई ताक़त न थी। लेकिन विजय की इस घड़ी में उसे ख़ुद अपने-ही आदमियों में झगड़े और विद्रोह का सामना करना पड़ा और वह अपने देश को लौट गया।

कुछ दिनोंतक तो ऐसा मालूम होता था कि मराठों के प्रभुत्व के दिन पूरे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हो गये और उनकी कोई गिनती न रही। जो बड़ा फल वे प्राप्त करना चाहते थे वह उनके हाथ से जाता रहा। लेकिन उन्होंने धीरे-धीरे अपनी हालत फिर सुधार ली और वे एक बार फिर भारत में सबसे ज़बरदस्त अन्दरूनी ताक़त बन गये। इसी समय में कई मराठे सरदार पैदा हो गये, जो पेशवा के मातहत समझे जाते थे। इनमें सबसे प्रमुख ग्वालियर का सिन्धिया था; बड़ौदा का गायकवाड़ और इन्दौर का होल्कर भी इन्हींमें से थे।

दक्षिण भारत में इस ज़माने की प्रमुख घटना अँग्रेज़ों और फ़्रांसीसियों का संघर्ष है। अठारहवीं सदी में योरप में इंग्लैण्ड और फ़्रांस की अक्सर मुठभेड़ होती रहती थी और उनके प्रतिनिधि भारत में भी एक-दूसरे से लड़ते थे। लेकिन कभी-कभी योरप में दोनों देशों में बाक़ायदा सुलह होने पर भी भारत में ये लड़ते रहते थे। दोनों तरफ़ दुस्साहसी और भले-बुरे का विचार न करनेवाले ले-भग्गू थे, जिनकी सबसे बड़ी आकाक्षा थी धन और शक्ति प्राप्त करना, इसलिए इनके बीच घोर प्रतियोगिता स्वाभाविक थी। फ़्रांसीसियों में उस समय सबसे ज़ोरदार आदमी डुप्ले था और अंग्रेजों में क्लाइव। डुप्ले ने दो रियासतों के आपसी झगड़ों में दखल देने का लाभकारी खेल शुरू किया; पहले तो वह अपने शिक्षित सैनिक किराये पर दे देता और बाद में रियासत हड़प जाता। फ़्रांसीसियों का प्रभाव बढ़ने लगा; लेकिन अंग्रेज़ों ने बहुत जल्दी उसके तरीक़ों को अपना लिया और उससे भी आगे बढ़ गये। भूखे गिद्धों की तरह दोनों गड़बड़ी की ताक में रहते थे और उस वक्त ऐसी गड़बड़ें काफ़ी मिल भी जाती थीं। दक्षिण में जब कभी उत्तराधिकार के बारे में झगड़ा होता, तो अंग्रेज एक दावेदार की और फ़्रांसीसी दूसरे की तरफ़दारी करते दिखाई पड़ते थे। पन्द्रह साल के लड़ाई-झगड़े (सन् १७४६–१७६१ ई०) के बाद इंग्लैण्ड ने फ़्रांस पर विजय पाई। भारत में अंग्रेज दुस्साहसियों को अपने देश की पूरी हिमायत थी; लेकिन डुप्ले और उसके साथियों को फ़्रांस से ऐसी कोई सहायता नहीं मिली।

बस, अंग्रेजों ने भारत में फ़्रांसीसियों को हरा दिया और चन्द्रनगर तथा पांडिचेरी के फ़्रांसीसी शहरों को बिल्कुल तहस-नहस कर डाला। यह बरबादी ऐसी हुई कि दोनों जगह एक भी मकान साबित न बचा। इस समय से फ़्रांसीसियों का भारत की रंगभूमि से लोप हो गया। हालांकि बाद में उन्हें पांडिचेरी और चन्द्रनगर फिर मिल गये, लेकिन उनका महत्त्व कुछ नहीं है।[1]

फ़्रांसीसियों को निकाल बाहर करने के बाद अंग्रेजों के रास्ते में और क्या रुकावटें रह गई थीं? पश्चिम में, मध्य-भारत में और कुछ हद तक उत्तर में भी

---

[1] सन् १९५६ में फ्रांसीसी बस्तियों का हस्तांतरण भारत-सरकार के साथ विधिवत् हो गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मराठे तो थे ही। हैदराबाद का निज़ाम भी था, लेकिन उसकी ज्यादा बिसात नहीं थी। हां, दक्षिण में एक नया और ताक़तवर प्रतिद्वन्द्वी हैदरअली था। वह पुराने विजयनगर साम्राज्य के बचे-खुचे टुकड़ों का, जिनसे आजकल की मैसूर रियासत बन गई है, स्वामी बन बैठा। उत्तर में बंगाल सिराजुद्दौला नाम के एक बिल्कुल निकम्मे आदमी के कब्जे में था। दिल्ली का साम्राज्य तो, जैसाकि हम देख चुके हैं, एक खयाल-ही खयाल रह गया था। लेकिन काफ़ी मज़ेदार बात यह है कि सन् १७५६ ई० तक, यानी नादिरशाह के हमले के बहुत बाद तक, जिसने केंद्रीय सरकार की छायातक मिटा दी थी, अंग्रेज़ लोग दिल्ली-साम्राज्य को अपनी मातहती के चिह्न-रूप विनम्रता से नज़राने भेंट करते रहे।

क्लाइव नाम का अंग्रेज, जिसकी उसके देशवासी एक महान् साम्राज्य-निर्माता के रूप में प्रशंसा करते हैं, हौसलेवाला आदमी था। वह बड़ा दिलेर, दुस्साहसी और हद दरजे का लालची था और अपने इरादे के सामने वह जालसाज़ी और धोखेबाजी से भी नहीं चूकता था। बंगाल का नवाब सिराजुद्दौला, जो अंग्रेजों की बहुत-सी कार्रवाइयों से चिढ़ गया था, अपनी राजधानी मुर्शिदाबाद से चढ़कर आया और उसने कलकत्ते पर कब्जा कर लिया। 'काल-कोठरी' की कथित दुखद घटना, कहते हैं, इसी समय हुई थी। किस्सा यों बतलाया जाता है कि नवाब के हाकिमों ने बहुत-से अंग्रेजों को रात भर एक छोटी-सी दम घोटनेवाली कोठरी में बन्द कर दिया और उनमें बहुत-से दम घुटकर मर गये। यह हरकत निस्संदेह जंगली और वीभत्स है, लेकिन यह सारा किस्सा एक ऐसे आदमी के कथन पर निर्भर है जो ज्यादा विश्वास के योग्य नहीं माना जाता। इसलिए बहुत-से लोगों का खयाल है कि यह सारा क़िस्सा ज्यादातर झूठा है और कम-से-कम अत्युक्तिपूर्ण तो ज़रूर है।

नवाब ने कलकत्ते पर कब्ज़ा करके जो सफलता प्राप्त की, उसका बदला क्लाइव ने ले लिया। लेकिन इसके लिए साम्राज्य-निर्माता ने नवाब के वज़ीर मीरजाफ़र को देश-द्रोह करने के लिए घूस देकर और एक जाली दस्तावेज़, जिसका क़िस्सा बहुत लम्बा है, बनाकर अपने-ही ढंग से काम किया। जालसाज़ी और धोखेबाज़ी के द्वारा रास्ता साफ करके क्लाइव ने सन् १७५७ ई० में नवाब को प्लासी की लड़ाई में हरा दिया। जैसी लड़ाइयां हुआ करती हैं उनके मुक़ाबले में यह लड़ाई छोटी थी, और इसे तो क्लाइव ने असल में अपनी साज़िशों से, लड़ाई शुरू होने के पहले ही, क़रीब-क़रीब जीत लिया था। लेकिन प्लासी की इस छोटी-सी लड़ाई का नतीजा बहुत बड़ा निकला। इसने बंगाल के भाग्य का निपटारा कर दिया; और भारत में ब्रिटिश राज्य की शुरुआत अक्सर प्लासी से ही मानी जाती है।

भाग्यचक्र के इस अचानक परिवर्त्तन ने बंगाल के दुस्साहसी और लालची

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अंग्रेज़ों का दिमाग आसमान पर चढ़ा दिया। वे बंगाल के स्वामी बन बैठे और उनके हाथ रोकनेवाला कोई न रहा। बस, क्लाइव की सरदारी में उन्होंने बंगाल के खजाने पर हाथ मारना शुरू किया और उसे बिल्कुल खाली कर डाला। क्लाइव ने क़रीब २५ लाख रुपये नक़द खुद अपनी नज़र किये और इतने पर भी संतोष न करके कई लाख रुपये साल की आमदनी की एक बड़ी क़ीमती जागीर हड़प कर ली। बाकी के सब अंग्रेज़ लोगों ने भी इसी तरह अपना 'हर्जाना वसूल किया'।

कुछ वर्ष बाद, सन् १७६४ ई० में, अंग्रेजों ने बक्सर में एक और लड़ाई जीती, जिसका नतीजा यह हुआ कि दिल्ली का नाममात्र का बादशाह भी उनकी शरण में आ गया। उन्होंने उसे पेन्शन दे दी। अब बंगाल और बिहार में अंग्रेजों का अटल प्रभुत्व हो गया। देश से जो अपार धन वे लूट रहे थे उससे उनको संतोष न हुआ और उन्होंने रुपया बटोरने के नये-नये तरीक़े निकालने शुरू किये। देश के अन्दरूनी व्यापार से उनको कुछ लेना-देना नहीं था। लेकिन अब वे उन ज़कातों को, जो देशी माल के व्यापारियों को देनी पड़ती थीं, दिये बिना ही व्यापार करने पर उतारू हो गये। भारत की कारीगरी और व्यापार पर अंग्रेज़ों की यह पहली चोट थी।

राजनैतिक जोखिम और गड़बड़ें, वर्षा की कमी, और अंग्रेज़ों की हड़पने की नीति, इन सबका नतीजा यह हुआ कि सन् १७७० ई० में बंगाल और बिहार में एक बड़ा भयंकर अकाल पड़ा। कहा जाता है कि इन प्रांतों की एक-तिहाई से ज्यादा आबादी ख़तम हो गई। इस दिल दहलानेवाली संख्या का ख़याल तो करो! कितने लाख आदमी भूख से तड़प तड़पकर मर गये! इलाक़े-के-इलाक़े उजाड़ हो गये और वहाँ जंगल खड़े हो गये जिन्होंने उपजाऊ खेतों और गांवों को ढक दिया। भूख से मरनेवालों की मदद के लिए किसीने कुछ न किया। नवाब के पास न तो ताकत थी, न सत्ता, और न प्रवृत्ति। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के पास ताक़त और सत्ता तो थी, लेकिन वे कोई ज़िम्मेदारी या सहायता की प्रवृत्ति महसूस नहीं करते थे। उनका काम तो रुपया इकट्ठा करना और मालगुज़ारी वसूल करना था और उन्होंने यह काम अपनी जेबें भरने के लिए इतनी कुशलता और खूबी के साथ किया कि भयंकर अकाल और एक-तिहाई आबादी के नाश के बावजूद भी उन्होंने बचे हुए लोगों से मालगुज़ारी की पूरी रक़म वसूल कर ली।

बंगाल में और फ़्रांसीसियों पर विजय-प्राप्ति पर भी दक्षिण में अंग्रेजों को बड़ी दिक्कतों का सामना करना पड़ा। अन्तिम विजय मिलने से पहले उनको कई बार हारना और अपमानित होना पड़ा। मैसूर का हैदरअली उनका कट्टर दुश्मन था। वह एक सुयोग्य और ख़ूंख्वार सेनानायक था और उसने अंग्रेजी फ़ौजों को बार-बार हराया। सन् १७६९ ई० में उसने ठेठ मद्रास के किले के नीचे अपने अनुकूल सन्धि की शर्तें लिखवा लीं। दस साल बाद उसे फिर बहुत हद तक सफलता मिली

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र टीपू सुल्तान अंग्रेज़ों की राह का कांटा बन गया। टीपू को पूरी तौर पर हराने में मैसूर के दो युद्ध और हुए तथा कई साल लग गये। फिर मौजूदा मैसूर महाराजा का एक पूर्वज अंग्रेजों की छत्रछाया में राजा की गद्दी पर बिठलाया गया।

सन् १७८२ ई० में दक्षिण में मराठों ने भी अंग्रेजों को हराया। उत्तर में ग्वालियर के सिन्धिया का दबदबा था और दिल्ली का अभागा बेचारा सम्राट उसकी मुट्ठी में था।

इसी अरसे में इंग्लैण्ड से वॉरन हेस्टिंग्ज भेजा गया। वह यहां का पहला गवर्नर-जनरल हुआ। ब्रिटिश पार्लमेण्ट अब भारत के मामलों में दिलचस्पी लेने लगी। हेस्टिंग्ज भारत के अंग्रेज शासकों में सबसे बड़ा माना जाता है, लेकिन उसके शासन-काल में भी सरकारी इन्तज़ाम बहुत भ्रष्ट और बुराइयों से भरा हुआ था। हेस्टिंग्ज़ द्वारा बहुत-सा रुपया ऐंठे जाने के कई उदाहरण मशहूर हैं। जब हेस्टिंग्ज़ इंग्लैण्ड लौटा तो भारत के शासन के बारे में पार्लमेण्ट के सामने उस पर आरोप लगाया गया, लेकिन बहुत दिन मुक़दमा चलने के बाद वह बरी कर दिया गया। इससे पहले पार्लमेण्ट ने क्लाइव की भी निन्दा की थी और उसने तो सचमुच आत्महत्या ही कर ली।

भारत में जैसे-जैसे ब्रिटिश-साम्राज्य बढ़ा वैसे ही वैसे मराठों, अफ़ग़ानों, सिक्खों, बर्मियों आदि से बहुत से युद्ध हुए। लेकिन इन युद्धों के बारे में निराली बात यह थी कि हाल कि ये इंग्लैण्ड के फ़ायदे के लिए लड़े जाते थे, लेकिन इनका खर्चा भारत के सिर पड़ता था। इंग्लैण्ड या इंग्लैण्ड के निवासियों पर कोई बोझ नहीं पड़ता था।

: ६७ :

चीन का एक महान् मंचू शासक

मैंने मिंग-युग के खुशहाल दिनों का हाल लिखा था और यह बतलाया था कि किस तरह उसमें ख़राबियां और फूट घुस गईं और चीन के उत्तरी पड़ोसी मंचुओं ने हमला करके उसे जीत लिया। सन् १६५० ई० से आगे के वर्षों में सारे चीन में मंचू लोगों के क़दम मज़बूती के साथ जम गये। इस अर्द्ध-विदेशी राजवंश के मातहत चीन बहुत शक्तिशाली हो गया और दूसरों पर हमले तक करने लगा। मंचू लोग एक नई ताकत लेकर आये थे, और जहां एक ओर वे चीन के घरू मामलों में कम-से-कम रुकावटें डालते थे, वहां वे अपनी फालतू ताक़त

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को उत्तर, पश्चिम और दक्षिण की तरफ अपना साम्राज्य बढ़ाने में लगाते थे।

नया राजवंश शुरू-शुरू में अक्सर कुछ सुयोग्य शासक पैदा करता है और बाद में नालायकों से उसका अन्त हो जाता है। इसी तरह मंचुओं में भी कुछ असाधारण योग्यतावाले और निपुण शासक और राजनीतिज्ञ पैदा हुए। कांग-ही दूसरा सम्राट हुआ। जब वह गद्दी पर बैठा तो उसकी उम्र सिर्फ़ आठ वर्ष की थी। इकसठ वर्ष तक वह ऐसे साम्राज्य का शासक रहा जो अपने ज़माने की दुनिया के किसी भी साम्राज्य से बड़ा और ज्यादा आबाद था। लेकिन इतिहास में उसने जो स्थान प्राप्त किया है वह न तो इस वजह से है, और न उसकी सैनिक योग्यता के कारण। उसका नाम अमर हुआ है उसकी राजनीतिज्ञता और उसकी निराली साहित्यिक प्रवृत्तियों के कारण। वह सन् १६६१ से १७२२ ई० तक सम्राट रहा, यानी चौव्वन वर्ष तक वह फ़्रांस के महान् सम्राट लुई चौदहवें का समकालीन था। कांग-ही कन्फूशस का पक्का अनुयायी था, लेकिन वह दूसरे धर्मों के प्रति उदार था। उसके राज्य में, और असल में पहले चार मंचू सम्राटों के राज्य में, मिंग संस्कृति से कोई छेड़-छाड़ नहीं की गई। उसका ऊंचा आदर्श बना रहा और कुछ हद तक तो उसमें उन्नति भी हुई। उद्योग-धंधे, कला-कौशल, साहित्य और शिक्षा उसी तरह फूलते-फलते रहे जैसेकि मिंग राजाओं के ज़माने में। चीनी मिट्टी के अद्भुत बरतनों का बनना जारी रहा। रंगीन छपाई का आविष्कार हुआ और तांबे पर खुदाई का काम जेसुइट लोगों से सीखा गया।

कांग-ही एक असाधारण और अजीब खिचड़ी था, यानी दर्शन और साहित्य को लगन के साथ अध्ययन करनेवाला, सांस्कृतिक प्रवृत्तियों में डूबा हुआ और साथ-ही कुशल सेनानायक, जिसे मुल्क जीतने का ज़रा ज़्यादा शौक़ था। वह साहित्य और कला कौशल का कोई नया शौकीन या दिखाऊ प्रेमी न था। उसकी गहरी दिलचस्पी और विद्वत्ता का कुछ अन्दाज़ा उसके साहित्यिक कार्यों में से नीचे लिखी तीन रचनाओं से लग सकता है जो उसकी सलाह से, और ज्यादातर खुद उसीकी देखरेख में, तैयार की गई थीं।

चीनी भाषा में चिह्न हैं, शब्द नहीं हैं। कांग-ही ने चीनी भाषा का एक कोष तैयार करवाया। यह एक विशाल ग्रंथ था जिसमें चालीस हजार से ज्यादा चिह्न थे और उनके प्रयोग बतलानेवाले कितने ही वाक्यांश थे। आज भी उसकी जोड़ का कोई ग्रंथ नहीं है।

कांग-ही के उत्साह ने हमें जो एक और रचना दी, वह एक बड़ा भारी सचित्र विश्वकोष है, जो कई सौ जिल्दों में पूरा होनेवाला एक अद्भुत ग्रंथ है। यह एक पूरा पुस्तकालय था; इसमें हरेक बात का वर्णन था, हरेक विषय की विवेचना थी। कांग-ही की मृत्यु के बाद यह ग्रन्थ तांबे के ठप्पों से छापा गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जिस तीसरे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का मैं यहां ज़िक्र करूँगा, वह था सारे चीन के साहित्य का निचोड़, यानी ऐसा कोष जिसमें शब्दों और पुस्तकों के अंशों का संकलन और उनकी तुलना की गई थी। यह भी एक असाधारण कार्य था, क्योंकि इसके लिए सारे चीनी साहित्य का गहरा अध्ययन ज़रूरी था। कवियों, इतिहास-लेखकों और निबन्ध-लेखकों की रचनाओं के पूरे-पूरे उद्धरण इसमें दिये गये थे।

कांग-ही ईसाई धर्म और ईसाई मिशनरियों की तरफ़ काफ़ी झुका हुआ था। वह विदेशों के साथ व्यापार को प्रोत्साहन देता था और उसने चीन के सारे बन्दरगाह इसके लिए खोल दिये थे। लेकिन उसे जल्दी ही पता लग गया कि योरप के लोग बदमाशी करते हैं और उनपर बन्दिश रखने की ज़रूरत है। उसे यह शक हो गया, जिसके लिए काफ़ी सबूत थे, कि मिशनरी लोग चीन को आसानी से जीत लेने के लिए अपने-अपने देश की सरकारों के साम्राज्यवादियों के साथ साज़िश कर रहे हैं। इससे उसे ईसाई धर्म के प्रति अपना उदार रुख त्याग देना पड़ा। बाद में कैण्टन के चीनी फ़ौजी अफ़सर से जो रिपोर्ट मिली, उससे उसके संदेह मज़बूत हो गये। इस रिपोर्ट में बतलाया गया था कि फ़िलिपाइन और जापान में योरप की सरकारों और उनके सौदागरों और मिशनरियों के बीच में कितना गहरा ताल्लुक़ था। इसलिए इस अफ़सर ने यह सिफ़ारिश की थी कि बाहरी हमलों और विदेशियों की साज़िशों से साम्राज्य को बचाने के लिए विदेशी व्यापार पर पाबन्दी लगाई जाय और ईसाई-धर्म के प्रचार को बन्द किया जाय।

कैण्टन के अफ़सर की यह रिपोर्ट सन १७१७ में पेश की गई थी। चीन की बड़ी राज्यसभा ने इसपर विचार करके इसे मंज़ूर कर लिया। इसका नतीजा यह हुआ कि सम्राट कांग-ही ने उसके अनुसार कार्रवाई करके विदेशी व्यापार और पादरियों के प्रचार पर सख्त पाबन्दी लगाने के हुक्म जारी कर दिये।

अब मैं थोड़ी देर के लिए खास चीन को छोड़कर एशिया के उत्तर की ओर, यानी साइबेरिया, जाना चाहता हूं और यह बतलाना चाहता हूं कि वहां क्या हो रहा था। साइबेरिया का लम्बा-चौड़ा मैदान सुदूर-पूर्व के चीन को पश्चिम के रूस से मिलाता है। मैं कह चुका हूं कि चीन का मंचू साम्राज्य बड़ा सरज़ोर था। इसमें मंचूरिया तो शामिल था ही, लेकिन यह मंगोलिया और उसके परे तक भी फैला हुआ था। सुनहरे क़बीले के मंगोलों को बाहर निकालकर रूस भी एक मज़बूत केन्द्रीय राज्य बन गया था और पूर्व में साइबेरिया के मैदानों की तरफ़ बढ़ रहा था। ये दोनों साम्राज्य अब साइबेरिया में आकर मिलते हैं।

एशिया में मंगोलों का तेज़ी के साथ कमजोर होकर नष्ट हो जाना इतिहास की एक अजीब घटना है। ये लोग, जिनका डंका सारे एशिया और योरप में बजता था और जिन्होंने चंगेज़ खां और उसके वंशजों के अधीन उस वक्त की दुनिया का ज्यादातर हिस्सा जीत लिया था, अपना नाम तक खो बैठे। तैमूर के ज़माने में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुछ दिनों तक इन्होंने फिर सिर उठाया था, लेकिन उसका साम्राज्य उसीके साथ ख़तम हो गया। उसके बाद उसके वंश के कुछ लोग, जो तैमूरिया कहलाते थे, मध्य एशिया में हुकूमत करते रहे, और हमको मालूम है कि उनके दरबारों में चित्र-कला की एक मशहूर शैली का विकास हुआ। लेकिन तैमूरिया शासकों के होते हुए भी रूस से लगाकर अपनी जन्मभूमि मंगोलिया तक सारे एशिया में मंगोल जाति गिरकर अपना सारा प्रभाव खो बैठी।

मंगोल साम्राज्य के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने के बाद क़रीब-क़रीब दो सौ वर्षों तक एशिया में होकर जानेवाले खुश्की के रास्ते बन्द रहे। सोलहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में रूसवालों ने ज़मीन के रास्ते चीन राजदूत भेजे। उन्होंने मिंग सम्राटों से राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश की, लेकिन कामयाब न हुए। थोड़े दिन बाद ही यरमक नाम के एक रूसी डाकू ने क़ज़्ज़ाकों का एक गिरोह लेकर यूराल पहाड़ को पार किया, और सिबिर के छोटे से राज्य को जीत लिया। साइ-बेरिया का नाम इसी राज्य के नाम से निकला है।

यह घटना सन् १५८१ ई० की है। इस तारीख से रूसी लोग पूर्व की तरफ़ लगातार आगे ही बढ़ते गये, यहाँ तक कि लगभग पचास वर्ष में वे प्रशांत महासागर तक पहुँच गये। जल्द ही आमूर की घाटी में उनकी चीनियों से मुठभेड़ हुई। लड़ाई में रूसवालों की हार हुई। सन् १६८९ ई० में दोनों देशों में नरचिन्स्क की सन्धि हुई। सरहदें तय कर दी गईं और व्यापार-सम्बन्धी समझौता किया गया। योरप के एक देश के साथ चीनवालों की यह पहली सन्धि थी। इस सन्धि से रूस का आगे बढ़ना तो रुक गया, लेकिन कारवानों के व्यापार में बड़ी भारी तरक़्क़ी हुई। उस ज़माने में पीटर महान् रूस का ज़ार था और वह चीन से नज़दीकी सम्बन्ध स्थापित करने का इच्छुक था। उसने कांग-ही के पास दो बार राजदूत भेजे और बाद में चीन के दरबार में एक स्थायी एलची नियुक्त कर दिया।

: ६८ :

चीनी सम्राट का अंग्रेज़ बादशाह को पत्र

मालूम होता है कि मंचू-सम्राट असाधारण तौर पर लम्बी उम्रवाले होते थे। कांग-ही का पोता शियन-लुंग (चिन-लुंग) चौथा सम्राट हुआ। इसने भी सन् १७३६ से १७९६ ई० तक, यानी साठ वर्ष के बहुत ही लम्बे समय तक, राज किया। दूसरी बातों में भी यह अपने दादा के ही समान था। इसकी भी ख़ास दिलचस्पी दो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चिन-लुंग का साम्राज्य १७९६ ई०

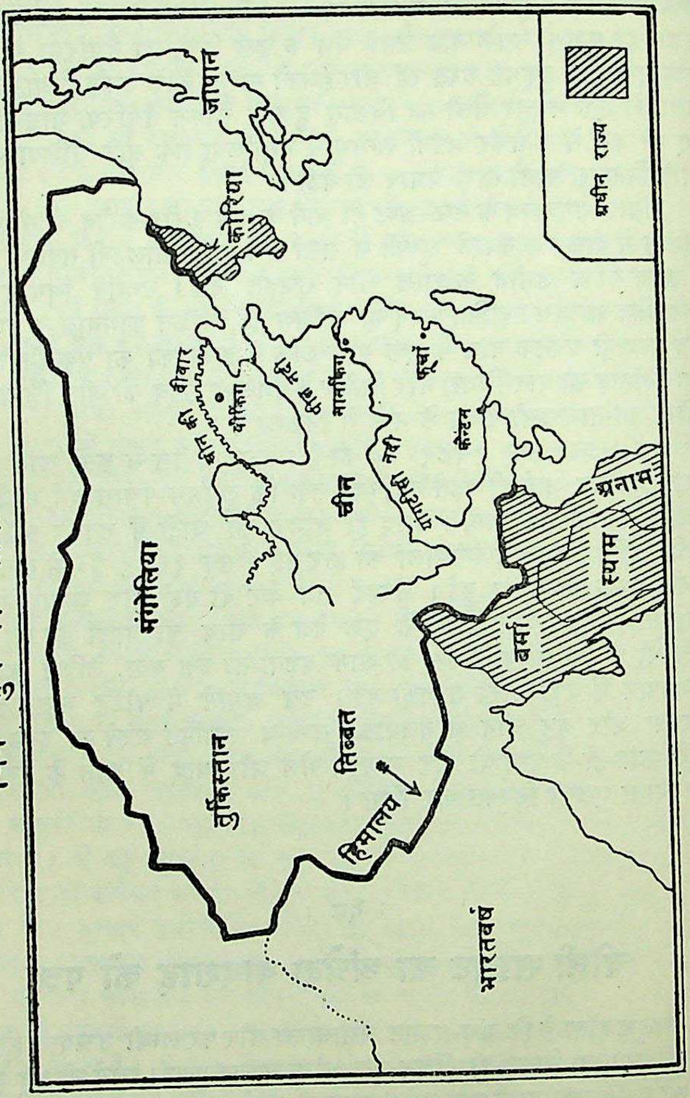

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बातों में थी—साहित्यिक प्रवृत्तियाँ और साम्राज्य का विस्तार। इसने बचाकर रखने लायक सब साहित्यिक ग्रंथों की बड़ी भारी खोज करवाई। इनको इकट्ठा किया गया और बड़ी तफ़सील के साथ इनका सूचीपत्र बनाया गया। इसके लिए सूचीपत्र शब्द उपयुक्त नहीं है, क्योंकि हरेक ग्रंथ के बारे में जितनी भी बातें मालूम हो सकीं, वे सब लिखी गईं और साथ-ही उनपर आलोचनात्मक टिप्पणियाँ भी जोड़ दी गईं। शाही पुस्तकालय का यह बड़ा वर्णनात्मक सूचीपत्र चार हिस्सों में था—कन्फ्यूशन धर्म-सम्बन्धी, इतिहास, दर्शन और सामान्य साहित्य। कहा जाता है कि इसकी जोड़ का ग्रंथ दुनिया में और कहीं नहीं है।

शियन-लुंग ने मध्य एशिया में तुर्किस्तान को जीतकर और तिब्बत पर क़ब्ज़ा करके अपना साम्राज्य बढ़ाया। कुछ वर्ष बाद, सन् १७९० ई० में, नेपाल के गुरखों ने तिब्बत पर चढ़ाई की। इसपर शियन-लुंग ने न केवल गुरखों को तिब्बत से ही मार भगाया, बल्कि हिमालय के ऊपर होकर नेपाल तक उनका पीछा किया और नेपाल को चीनी-साम्राज्य की मातहत रियासत बनने पर मजबूर किया।

शियन-लुंग के शासन के आखिरी वर्ष, यानी सन् १७९६ ई० में, जो साम्राज्य सीधा उसके कब्ज़े में था, उसमें मंचूरिया, मंगोलिया, तिब्बत और तुर्किस्तान शामिल थे। उसकी सत्ता को माननेवाली मातहत रियासतें थीं—कोरिया, अनाम, स्याम और बर्मा। लेकिन देश-विजय और सैनिक-कीर्ति की लालसा बड़े ख़र्चीले खेल हैं। इनमें बड़ा भारी ख़र्चा होता है और करों का भार बढ़ता जाता है। यह भार सबसे ज्यादा ग़रीबों पर ही पड़ता है। उस समय आर्थिक परिवर्त्तन भी हो रहे थे, जिससे असन्तोष की आग और भी बढ़ी। देश-भर में राज्य के विरुद्ध गुप्त समितियाँ क़ायम हो गईं।

इस दौरान में सब तरह की पाबन्दियों के होते हुए भी विदेशी व्यापार बढ़ रहा था। इन पाबन्दियों के कारण विदेशी व्यापारियों में बड़ा असन्तोष था। व्यापार का सबसे बड़ा हिस्सा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ में था, जिसने कैण्टन तक पैर फैला रखे थे, इसलिए पाबन्दियाँ सबसे ज्यादा इसीको अखरती थीं। ठीक इसी वक्त भारत उसके क़ब्ज़े में था जिससे वह यहाँ अपने माल को ज़बरदस्ती बिकवाने का इंतज़ाम कर सकती थी, जैसाकि उसने असल में किया भी। लेकिन वह चीन के व्यापार को भी हथियाना चाहती थी।

इसलिए सन् १७९२ ई० में ब्रिटिश सरकार ने लार्ड मैकार्टनी के नेतृत्व में एक राजदूत मंडल पेकिंग भेजा। उस समय जार्ज तृतीय इंगलैण्ड का बादशाह था। शियन-लुंग ने उसको दरबार में मुलाक़ात के लिए बुलाया और दोनों ओर से नज़राने दिये-लिये गये। लेकिन सम्राट ने विदेशी व्यापार पर लगी हुई पुरानी पाबन्दियों में कुछ भी हेर-फेर करने से इन्कार कर दिया। शियन-लुंग ने जो जवाब तीसरे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जार्ज को भेजा था, वह बड़ा मज़ेदार ख़रीता है और मैं उसका एक अंश यहाँ देता हूँ। उसमें लिखा है :

"...ऐ बादशाह, तू बहुत-से समुद्रों की सीमा से परे रहता है, फिर भी हमारी सभ्यता से कुछ फ़ायदा उठाने की नम्र इच्छा से प्रेरित होकर तूने एक राजदूत मंडल भेजा है जो बाइज़्ज़त तेरी अर्ज़ी ले कर आया है...। अपनी भक्ति का सबूत देने के लिए तूने अपने देश की बनी हुई चीज़ें भी भेंट में भेजी हैं। मैंने तेरी अर्ज़ी को पढ़ा है : उसकी लिखावट की दिली भाषा से मेरे प्रति तेरी आदरपूर्ण विनम्रता प्रकट होती है, जो अत्यन्त प्रशंसा के योग्य है।

"मुझे...तेरे देश की बनी हुई चीज़ों की ज़रूरत नहीं है। ऐ बादशाह, तुझे मुनासिब है कि मेरी भावनाओं का आदर करे और भविष्य में इससे ज्यादा श्रद्धा और राजभक्ति दिखलाये, ताकि तू सदा हमारे राजसिंहासन की छत्रछाया में रहकर अपने देश के लिए आगे शान्ति और सुख प्राप्त करे...।"

तीसरे जार्ज और उसके मंत्रियों ने जब इस पत्र को पढ़ा होगा तो वे ज़रा सकते में आ गये होंगे। लेकिन जिस स्थिर-विश्वास और ताकत का पता इस जवाब से मिलता है उसका आधार असल में टिकाऊ न था। मंचू-सरकार ऊपर से मजबूत दिखाई देती थी, लेकिन बदलती हुई आर्थिक व्यवस्था ने उसकी नींव खोखली कर दी थी। जिन गुप्त समितियों का मैंने ज़िक्र किया है, वे इसी असंतोष को दिखानेवाली थीं।

अब मैं पूर्व में रूस की बढ़ोतरी का कुछ हाल बतलाऊँगा। रूस और चीन के बीच सन् १६८९ ई० की नरचिन्स्क की सन्धि के बाद क़रीब डेढ़-सौ वर्ष तक पूर्व में रूस का प्रभाव बढ़ता ही गया। सन् १७२८ ई० में वाइटस बेरिंग नाम के एक डेनमार्क निवासी कप्तान ने, जो रूस में नौकर था, एशिया और अमरीका को अलग करनेवाले जल-डमरूमध्य की खोज की। यह जल-डमरूमध्य आज भी उसके नाम पर बेरिंग का जल-डमरूमध्य कहलाता है। बेरिंग समुद्र को पार करके अलास्का जा पहुँचा और उसे उसने रूसी-क्षेत्र घोषित कर दिया। अलास्का समूरों[1] के लिए वहुत मशहूर है, और चूंकि समूर की खालों की चीन में बड़ी भारी माँग थी, इसलिए रूस और चीन के बीच समूर की खालों का एक खास व्यापार स्थापित हो गया।

---

[1]—समूर उत्तरी ध्रुव प्रदेशों की एक लोमड़ी जिसके बाल बहुत मुलायम होते हैं। इसकी खाल के गुलूबन्द बनते हैं जो बड़े कीमती होते हैं। अंग्रेजों में समूर की खाल को फर कहते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: ६९ :

महान् परिवर्त्तनों के पहले का योरप

फ़्रांस में बूढ़ा लुई चौदहवाँ आख़िरकार सन् १७१५ ई० में मरने में कामयाब हो ही गया। वह कई पीढ़ियों को पार करके ज़िन्दा रहा और उसके बाद उसका पोता लुई पंद्रहवें के नाम से गद्दी पर बैठा। फिर उनसठ वर्षं का लम्बा शासन चला। इस तरह चौदहवें और पंद्रहवें लुई--फ़्रांस के इन दो सिलसिलेवार बादशाहों ने--कुल १३१ वर्ष तक राज किया! सचमुच यह दुनिया का एक रिकार्ड है।

अपनी अयोग्यता और गिरावट के बावजूद भी लुई पंद्रहवें को राज्य में अपनी एकमात्र सत्ता के बारे में कोई संदेह न था। वह सबकुछ था और उसे अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ करने से रोकनेवाला कोई न था।

कुछ दिनों तक तो योरप में उसका दबदबा मालूम होता रहा। लेकिन बाद में दूसरे राजाओं और राष्ट्रों की महत्त्वाकांक्षाओं से उसकी टक्कर हुई, और उसे हार माननी पड़ी। फ़्रांस के कुछ पुराने प्रतियोगियों का भी योरप के रंगमंच पर कोई प्रमुख अभिनय न रहा। लेकिन उनकी जगह लेने और फ़्रांस की ताक़त को चुनौती देनेवाले दूसरे पैदा हो गये। थोड़े दिन की शहंशाही शान-शौकत भुगतकर घमंडी स्पेन योरप में, और दूसरी जगहों में भी, नीचे गिर गया। लेकिन अमरीका और फ़िलिपाइन टापुओं में बड़े-बड़े उपनिवेश अब भी उसके क़ब्ज़े में थे। आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग भी, जिन्होंने साम्राज्य के शिरोमणि होने का और योरप की नेतागिरी का ठेका-सा ले रखा था, अब पहले जैसे महत्त्वपूर्ण नहीं रहे थे। आस्ट्रिया अब साम्राज्य की अगुआ रियासत नहीं थी—एक दूसरी रियासत प्रशिया आगे बढ़ गई थी और आस्ट्रिया के समान महत्त्वपूर्ण बन गई थी। आस्ट्रिया की राजगद्दी के उत्तराधिकार के लिए युद्ध हुए, और बहुत दिनों तक मेरिया थेरेसा नाम की एक महिला ने उसे घेरे रखा।

सन् १६४८ ई० की वैस्टफेलिया की सन्धि ने प्रशिया को योरप की एक महत्त्वपूर्ण शक्ति बना दिया था। वहाँ पर हॉहेनज़ॉलर्न का घराना राज कर रहा था और वह दूसरे जर्मन राजवंश, आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग घराने, की सत्ता को चुनौती दे रहा था। छियालीस वर्ष, यानी सन् १७४० से १७८६ ई० तक, प्रशिया पर फ़्रेडरिक ने राज किया जो अपनी फ़ौजी सफलता के कारण महान् कहलाता है। योरप के दूसरे राजाओं की तरह यह भी एक स्वेच्छाचारी राजा था, लेकिन उसने दार्शनिक का चोग़ा पहन लिया था और वाल्तेयर से दोस्ती करने की कोशिश भी की थी।

प्रशिया के पूर्व में रूस था, जिसका एक बननेवाली बड़ी शक्ति के रूप में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बढ़ना शुरू हो गया था। सत्रहवीं सदी के अन्त में रूस में पीटर महान् नामक शक्तिशाली शासक था। रूस में परंपरा से जो पुराने मंगोली रिवाज और नज़रिये चले आ रहे थे, पीटर उनका अन्त करना चाहता था। वह रूस को, आजकल की भाषा में, 'वेस्टरनाइज़' करना चाहता था। इसलिए उसने पुरानी परम्पराओं से भरी हुई पुरानी राजधानी मास्को को छोड़ दिया, और अपने लिए एक नया शहर और नई राजधानी बसाई। यह नगर उत्तर में नीवा नदी के किनारे और फिनलैण्ड की खाड़ी के मुहाने पर सेंट पीटर्सबर्ग था। यह शहर सुनहरी गुम्बज़ोंवाले मॉस्को से बि कुल अलग तरह का था; वह ज्यादातर पश्चिमी योरप के बड़े शहरों जैसा था। पीटर्सबर्ग पश्चिमीकरण का प्रतीक बन गया और रूस योरप की राजनीति में ज्यादा हिस्सा लेने लगा। पीटर्सबर्ग नाम अब नहीं रहा है। पिछले बीस वर्षों में[1] उसका नाम दो बार बदला है। पहली बार उसका नाम बदलकर पीट्रोग्राड किया गया और दूसरी बार लेनिनग्राड हुआ। आजकल यही नाम चालू है।

एक तरफ़ प्रशिया और आस्ट्रिया तथा दूसरी तरफ़ रूस के बीच में पोलैण्ड था। वह एक पिछड़ा हुआ देश था जहाँ के किसान बहुत ग़रीब थे। वहाँ कोई व्यापार और उद्योग-धन्धे न थे और न बड़े-बड़े शहर थे। उसका संविधान भी अजीब-सा था जिसमें बादशाह तो चुना हुआ होता था और सत्ता सामन्ती अमीरों के हाथ में रहती थी। जैसे-जैसे आसपास के देश ताक़तवर होते गये, पोलैण्ड कमज़ोर होता गया। प्रशिया, रूस और आस्ट्रिया तीनों-ही उसे हड़पना चाहते थे।

लेकिन पोलैण्ड के बादशाह ने ही सन् १६८३ ई० में वियेना पर आखिरी हमला करनेवाले तुर्कों को मारकर भगाया था। उस्मानी तुर्क फिर सिर न उठा सके। उनकी ताक़त खतम हो चुकी थी और पलड़ा धीरे-धीरे पलट रहा था। आगे से वे अपना बचाव करने में ही रहे और धीरे-धीरे योरप में तुर्क-साम्राज्य छोटा होने लगा। लेकिन जिस ज़माने का हम ज़िक्र कर रहे हैं, यानी अठारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में, तुर्की दक्षिण-पूर्वी योरप का एक शक्तिशाली देश था, और उसका साम्राज्य बाल्कान की रियासतों से लगाकर हंगरी के पार पोलैण्ड तक फैला हुआ था।

दक्षिण में इटली कई राज्यों में बंटा हुआ था और योरप की राजनीति में उसकी कोई गिनती न थी। पोप का पहलेवाला दबदबा नहीं रहा था और राजा और बादशाह उसकी इज्ज़त तो करते थे, लेकिन राजनैतिक मामलों में उसे पूछते भी न थे। धीरे-धीरे योरप में एक नया ढाँचा, यानी बड़ी शक्तियों का ढाँचा पैदा हो रहा था। केन्द्रीय सत्तावाले राजतन्त्र राष्ट्रीयता की भावना के

---

[1] यह याद रखना चाहिए कि ये पत्र १९३२ के आस-पास लिखे गये थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विकास में मदद दे रहे थे। लोग अपने-अपने देशों का विचार एक ख़ास तरीक़े से करने लगे थे, जो आजकल तो बहुत फैल गया है लेकिन इस ज़माने के पहले एक असाधारण बात थी। फ़्रांस, इंग्लैण्ड या ब्रिटानिया, इटालिया और इसी तरह की दूसरी सूरतें प्रगट होने लगी थीं। ये राष्ट्र के प्रतीक से मालूम होने लगे। कुछ दिन बाद, उन्नीसवीं सदी में, ये शक्लें लोगों के दिमाग़ में मूर्तिमान होने लगीं और उनके दिलों पर अजीब तौर से असर डालने लगीं। ये प्रतीक नई देवियाँ बन गये जिनकी वेदी पर हरएक देशभक्त को पूजा करनी पड़ती है और जिसके नाम पर और जिनके लिए देशभक्त लोग लड़ते हैं और एक दूसरे की हत्या करते हैं। अठारहवीं सदी में राष्ट्रीयता और देशप्रेम की इस भावना ने जड़ पकड़ी। फ़्रांसीसी दार्शनिकों ने इस क्रिया को बढ़ाया और फ़्रांस की महान् राज्यक्रान्ति ने इस भावना पर मुहर लगा दी।

इंग्लैण्ड बहुत तेज़ी के साथ दौलत में और महत्त्व में बढ़ रहा था। एलिज़ाबेथ के वक्त तक वह योरप के लिहाज़ से कोई महत्त्वपूर्ण देश न था और दुनिया के लिहाज़ से तो और भी कम था। उसकी आबादी थोड़ी थी; शायद उस वक्त वह साठ लाख से ज्यादा न थी, जो आज लन्दन की आबादी से भी बहुत कम है। लेकिन प्यूरिटन क्रान्ति और बादशाह पर पार्लमेण्ट की विजय के बाद इंग्लैण्ड ने अपने आपको नई परिस्थितियों के अनुकूल बना लिया और वह आगे बढ़ने लगा। स्पेन से पिंड छुड़ाने के बाद हालैण्ड ने भी ऐसा ही किया।

अठारहवीं सदी में अमरीका और एशिया में उपनिवेशों के लिए छीना-झपटी मची इसमें योरप की कई शक्तियों ने हिस्सा लिया, मगर ख़ास प्रतियोगिता सिर्फ़ इंग्लैण्ड और फ़्रांस, इन दोनों ही में रही। इस दौड़ में, अमरीका में भी और भारत में भी, इंग्लैण्ड बहुत आगे हो लिया था। पंद्रहवें लुई के अयोग्य शासन में होने के अलावा फ़्रांस योरप की राजनीति में बहुत ज्यादा उलझा हुआ था। सन् १७५६ से १७६३ ई० तक योरप, कनाडा और भारत में भी इन दोनों शक्तियों में तथा औरों में इस बात का निपटारा करने के लिए युद्ध हुए कि किसका प्रभुत्त्व हो। यह युद्ध 'सात साला युद्ध' कहलाता है। इसका एक हिस्सा हम भारत में देख चुके हैं जिसमें फ़्रांस की हार हुई थी। कनाडा में भी इंग्लैण्ड की विजय हुई।

इस सात वर्ष के युद्ध का नतीजा इंग्लैण्ड के लिए बहुत फायदे का रहा। भारत और कनाडा, दोनों ही देशों में उसका कोई भी योरपीय प्रतियोगी बाक़ी न रहा। समुद्रों पर भी उसकी नौ-सेना का दबदबा क़ायम हो गया। इस तरह इंग्लैण्ड की ऐसी स्थिति हो गई कि वह अपने साम्राज्य को जमाये और बढ़ाये और संसार की एक बड़ी शक्ति बन जाय। प्रशिया का भी महत्त्व बढ़ा।

इस लड़ाई-झगड़े से योरप फिर पस्त हो गया और सारे महाद्वीप में फिर पहले

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से ज्यादा शान्ति नज़र आने लगी। लेकिन यह शान्ति प्रशिया, आस्ट्रिया और रूस को पोलैण्ड की रियासत को हड़प जाने से न रोक सकी। पोलैण्ड की ऐसी हालत न थी कि इन शक्तियों से लड़ता, इसलिए ये तीनों भेड़िये उसपर टूट पड़े और इन्होंने बार-बार हिस्से बाँटकर पोलैण्ड के आज़ाद देश का अन्त कर दिया। सन् १७७२, १७९३ और १७९५ ई०, में तीन बार बँटवारे हुए। पहले बँटवारे के बाद पोलैण्ड के लोगों ने, जो पोल कहलाते हैं, अपने देश को सुधारने और मज़बूत बनाने के लिए ज़बरदस्त कोशिश की। उन्होंने एक पार्लमेण्ट क़ायम की और वहाँ कला और साहित्य का उद्धार हुआ। लेकिन पोलैण्ड के चारों तरफ़ के निरंकुश बादशाहों के मुँह ख़ून लग चुका था और वे रुकनेवाले न थे। इसलिए पोल लोगों के देशप्रेम और महान् योद्धा कोसियस्को के नेतृत्व में बहादुरी के साथ लड़ने पर भी, सन् १७९५ ई० में योरप के नक्शे पर पोलैण्ड का निशान बाक़ी न रहा। उस समय पोलैण्ड तो मिट गया, लेकिन पोल लोगों ने अपने देशप्रेम को जीवित रखा और वे आज़ादी का स्वप्न फिर भी देखते रहे। एक सौ तेईस साल बाद उनका सपना सच्चा हुआ और योरप के महायुद्ध (पहले) के बाद पोलैण्ड फिर एक स्वतन्त्र देश के रूप में प्रकट हुआ।

अठारहवीं सदी भर में योरप के राष्ट्र गुलामों का क्रूर और हृदयहीन व्यापार करते रहे। वैसे तो योरप में ग़ुलामी खतम हो चुकी थी लेकिन अमरीका की खोज के बाद ग़ुलामों का पुराना व्यापार अपने सबसे अधिक निर्दय रूप में फिर चेत गया। स्पेनियों और पुर्तगालियों ने इसकी इस तरह शुरुआत की कि वे अफ़रीक़ा के किनारों से हबशियों को पकड़-पकड़कर अमरीका ले जाने लगे और उनसे खेतों में काम लेने लगे। इस घृणित व्यापार में इंग्लैण्ड ने भी भरपूर हिस्सा लिया। उन्नीसवीं सदी में ग़ुलामी की प्रथा क़ानूनन मिटा दी गई और इंग्लैण्ड इस बात में अगुआ रहा। अमरीका में इस सवाल का निपटारा करने के लिए एक गृहयुद्ध हुआ। आज अमरीका के संयुक्त राज्य में बसनेवाले करोड़ों हबशी इन्हीं ग़ुलामों की सन्तान हैं।

: ७० :

औद्योगिक क्रान्ति और बड़ी मशीन

अब हम उसकी चर्चा करेंगे जो औद्योगिक क्रान्ति कहलाती है। इसकी शुरुआत इंग्लैण्ड में हुई, इसलिए इंग्लैण्ड में ही हम संक्षेप में इसपर ग़ौर करेंगे। मैं इसके लिए कोई ठीक सन् नहीं बतला सकता क्योंकि यह परिवर्त्तन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जादू की तरह किसी खास वर्ष में नहीं हुआ। लेकिन फिर भी वह काफ़ी तेज़ी के साथ आया और अठारहवीं सदी के बीच से लगाकर आगे के सौ वर्ष से कम समय में ही उसने ज़िंदगी की सूरत बदल दी। हमने दुनिया की शुरुआत से लगाकर हज़ारों वर्ष के इतिहास के क्रम का सिंहावलोकन किया है और बहुत से परिवर्त्तन हमारी निगाह में आये हैं। लेकिन ये सब परिवर्त्तन, जो कभी-कभी बहुत बड़े भी हुए, लोगों की ज़िन्दगी और रहन-सहन के ढंग को गहराई के साथ नहीं बदल सके। अगर सुकरात या अशोक या जूलियस सीज़र भारत में अकबर के दरबार में अचानक चले आते, या अठारहवीं सदी के शुरू में इंग्लैण्ड या फ़्रांस में पहुँच जाते, तो बहुत से परिवर्त्तन उनकी नज़र में आते। लेकिन सरसरी तौर पर, कम-से-कम बाहर से, वे दुनिया को पहचान लेते, क्योंकि विचारों में उन्हें बहुत फ़र्क़ नहीं मालूम होता।

लेकिन इन तीनों में से एक भी अगर हमारे ज़माने की दुनिया में आ जाय तो उसे बड़ा ज़बरदस्त अचम्भा होगा। और यह अचम्भा बहुत करके उसके लिए दर्दभरा भी हो सकता है। वह देखेगा कि आजकल लोग तेज़ घोड़े से भी ज्यादा तेज़ी के साथ, या शायद कमान से छूटे हुए तीर से भी ज्यादा तेज़ी के साथ सफ़र करते हैं। रेल, स्टीमर, मोटर और हवाई जहाज़ में वे अद्भुत तेज़ी के साथ सारी दुनिया में दौड़ते फिरते हैं। फिर उसकी दिलचस्पी तार, टेलीफ़ोन, बेतार के तार, छापेख़ानों से प्रकाशित होनेवाली अनगिनत किताबों, अख़बारों और सैकड़ों दूसरी चीज़ों में होगी जो सब अठारहवीं सदी और उसके बाद की औद्योगिक क्रान्ति के लाये हुए उद्योग के नये तरीक़ों के नतीजे हैं।

औद्योगिक क्रान्ति ने दुनिया को बड़ी मशीन दी। उसने मशीन-युग या यांत्रिक युग की शुरुआत की। पहले भी मशीनें ज़रूर थीं, लेकिन इतनी बड़ी नहीं, जितनी कि नई मशीनें। मशीन है क्या? यह इन्सान को उसके काम में मदद देनेवाला बड़ा औजार है। मशीन औज़ार का बढ़ा हुआ रूप है। औज़ार और मशीन ने मनुष्य को पशु-जगत से ऊपर उठा दिया। इन्होंने मनुष्य-समाज को प्रकृति की ग़ुलामी से छुड़ाया। औज़ार और मशीन की मदद से मनुष्य के लिए चीज़ें बनाना आसान हो गया। वह ज्यादा चीज़ें बनाने लगा और फिर भी उसे ज्यादा फ़ुरसत रहने लगी। और इसका नतीजा यह हुआ कि सभ्यता की, कलाओं की और विचारों तथा विज्ञान की उन्नति हुई।

लेकिन बड़ी मशीन और उसके सब साथी निरी बरकत ही नहीं साबित हुए। अगर इसने सभ्यता की बढ़ती में मदद दी है, तो लड़ाई और बरबादी के भयंकर हथियार ईजाद करके बर्बरता को बढ़ाने में भी मदद की है। अगर इसने चीजों की बहुतायत पैदा की है, तो यह बहुतायत जनता के लिए नहीं बल्कि कुछ थोड़े से लोगों के लिए हुई है। इसने तो दौलतमंदों के ऐश-आराम और ग़रीबों की ग़रीबी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के अन्तर को पहले से भी ज्यादा बढ़ा दिया है। यह मनुष्य का औज़ार और सेवक होने के बजाय उसका स्वामी बनने का दावा करने लगी है। एक तरफ़ तो इसने सहयोग, संगठन, समय की पाबन्दी वग़ैरा गुण सिखाये हैं; दूसरी तरफ़ लाखों की ज़िन्दगी को एक ऐसी नीरस दिनचर्या और ऐसा यान्त्रिक भार बना दिया है जिसमें ज़रा भी ख़ुशी और आज़ादी नहीं है।

लेकिन मशीन से जो बुराइयाँ पैदा हुई हैं उनके लिए हम उस बेचारी को क्यों दोष दें ? दोष तो मनुष्य का है, जिसने उसका दुरुपयोग किया है, और समाज का है, जिसने उससे पूरा फ़ायदा नहीं उठाया। चाहे जो हो, मशीन तो अब आ गई और बनी रहेगी। इसलिए हमारे सामने सवाल यही है कि उद्योगतंत्र की लाभकारी चीजों को रख लें और उसके साथ जो बुराइयाँ चिपक गई हैं, उनसे पिंड छुड़ायें। इससे पैदा होनेवाली दौलत से हमको फ़ायदा उठाना चाहिए, लेकिन इस बात का खयाल रखना चाहिए कि यह दौलत उन लोगों में समान रूप से बँट जाय जो उसे पैदा करते हैं।

मशीन और उद्योगतंत्र की विजय का मतलब था मशीन पर क़ब्ज़ा रखनेवाले वर्गों की विजय। शासन वही वर्ग करता है जो पैदावार के साधनों पर क़ब्ज़ा रखता है। पुराने ज़माने में उपज का मुख्य साधन सिर्फ़ ज़मीन थी, इसलिए जो लोग ज़मीन के मालिक यानी ज़मींदार थे, उन्हींका प्रभुत्व था। सामन्तशाही के ज़माने में भी यही हाल रहा। इसके बाद ज़मीन के अलावा दूसरी तरह का धन प्रकट हुआ और ज़मींदार वर्ग के लोगों की ताक़त पैदावार के नये साधनों के मालिकों में बँटनी शुरू हो गई। और अब बड़ी मशीन का आगमन होता है जिससे उसपर क़ब्ज़ा रखनेवाले वर्ग स्वाभाविक तौर पर आगे आ जाते हैं और मालिक बन बैठते हैं।

अब मैं कुछ यान्त्रिक आविष्कारों के बारे में बतलाना चाहता हूँ, जिनकी वजह से पैदावार के तरीक़ों में बड़ा ज़बरदस्त फ़र्क़ पड़ गया। आज जो हम उनको किसी मिल या कारख़ाने में देखते हैं तो वे बड़े सरल मालूम पड़ते हैं, लेकिन पहले-पहल उनका विचार करना और उनका आविष्कार करना बड़ी मुश्किल बात थी। सबसे पहला आविष्कार सन् १७३८ ई० में हुआ जबकि के नामक एक अंग्रेज़ ने कपड़ा बुनने की सरकवाँ ढरकी बनाई। इस आविष्कार से पहले बुनकर के हाथ की ढरकी का धागा लम्बे फैले हुए ताने के तारों में धीरे-धीरे पिरोया जाता था। सरकवाँ ढरकी के ज़रिये यह काम बहुत जल्दी होने लगा, जिससे बुनकर दूना माल तैयार करने लगे। इसका मतलब यह हुआ कि अब बुनकर पहले से बहुत ज्यादा सूत काम में ला सकता था। सूत की एक बढ़ती हुई माँग को पूरा करने में कतवारियों को बड़ी दिक्कत हुई और वे भी अपनी पैदावार बढ़ाने की कुछ तरकीब निकालने की कोशिश करने लगे। सन् १७६४ ई० में हारग्रीव्ज़ ने कातने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की 'स्पिनिंग जेनी' का आविष्कार करके इस समस्या को कुछ-कुछ हल कर दिया। इसके बाद रिचर्ड आर्कराइट और दूसरे लोगों ने और-और आविष्कार किये। शुरू में ये सब आविष्कार सूती कपड़े के उद्योग में काम में लाये गये और सूती कारखाने या मिलें धड़ा-धड़ खड़ी होने लगीं। इसके बाद नये तरीक़ों को उपयोग में लानेवाला ऊनी कपड़ों का उद्योग था।

इसी अरसे में सन् १७६५ ई० में जेम्स वाट ने भाप का इंजन बनाया। यह एक बड़ी भारी घटना थी और इसका नतीजा यह हुआ कि कारख़ानों को चलाने में भाप का उपयोग होने लगा। इन नये कारखानों के लिए कोयले की ज़रूरत पड़ी, इसलिए कोयले के उद्योग की तरक्क़ी हुई। कोयले के उपयोग से लोहा गलाने के, यानी कच्चे लोहे को गलाकर शुद्ध धातु अलग करने के, नये तरीक़े ईजाद हुए। इससे लोहे का उद्योग बड़ी तेज़ी से बढ़ने लगा। नये-नये कारख़ाने कोयले की खानों के पास बनाये जाने लगे क्योंकि वहाँ कोयला सस्ता पड़ता था।

इस तरह इंग्लैण्ड में तीन नये उद्योगों—कपड़ा, लोहा और कोयला—का विकास हुआ और कोयले के क्षेत्रों और दूसरी अनुकूल जगहों में कारख़ाने खड़े होने लगे। इंग्लैण्ड की काया ही पलट गई। हरे-हरे ख़ुशनुमा देहातों के बजाय अब बहुत-सी जगह पर ये नये कारख़ाने पैदा हो गये, जिनकी लम्बी-लम्बी चिमनियाँ धुआँ उगलकर आसपास अंधेरा करने लगीं।

शुरू-शुरू में इन नये उद्योगों ने हालत और भी ख़राब कर दी। खेती-बाड़ी को नुक्सान पहुँचा और बेकारी बढ़ने लगी। वास्तव में जैसे ही कोई नया आविष्कार होता, वैसे-ही उसका नतीजा यह होता कि हाथ के काम की जगह मशीनें ले लेतीं। उसका फल यह होता कि अक्सर मज़दूर नौकरी से निकाल दिये जाते थे, जिससे उनमें बहुत असन्तोष पैदा हो जाता था। इनमें से बहुत-से तो नई मशीनों से घृणा करने लगे और उनको तोड़ डालने की भी कोशिश करने लगे। ये लोग 'मशीन तोड़नेवाले' कहलाने लगे।

नये कारख़ाने बहुत-से घरेलू उद्योगों और घरू काम करनेवालों को खा गये। इन घरू काम करनेवालों के लिए मशीन से होड़ करना सम्भव न था, इसलिए या तो उनको अपने पुराने हुनरों और धंधों को छोड़कर उन्हीं कारखानों में मज़दूरी तलाश करनी पड़ती थी, जिनसे वे घृणा करते थे, या बेकारों में शामिल होना पड़ता था। घरेलू उद्योगों का विनाश एकदम तो नहीं हुआ, लेकिन हुआ काफ़ी तेज़ी के साथ। सदी के आखिर तक, यानी क़रीब १८०० ई० तक, बहुत-से बड़े-बड़े कारख़ाने नज़र आने लगे। तीस साल बाद इंग्लैण्ड में स्टीफेन्सन के 'रॉकेट' नामक प्रसिद्ध इंजन के साथ भाप से चलनेवाली रेलगाड़ियाँ शुरू हुईं। इस तरह सारे देश में और उद्योग धन्धों तथा जीवन के लगभग सारे कामों में मशीन दिन-पर-दिन आगे बढ़ती गई।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उद्योग-धन्धों का यह नया तरीक़ा बलवानों द्वारा निर्बलों के शोषण के लिए ख़ासतौर पर अनुकूल था। क़ानून के अनुसार ग़ुलामी नहीं थी, लेकिन सच तो यह है कि भूखों मरनेवाला मज़दूर, यानी कारख़ाने का मज़दूर ग़ुलाम, पुराने ज़माने के ग़ुलामों से किसी तरह अच्छी हालत में न था। क़ानून हमेशा मालिकों का ही साथ देता था। धर्म भी उन्हींके पक्ष में था, और ग़रीबों से कहता था कि इस जन्म में अपने फूटे भाग्य को बरदाश्त करो और अगले जन्म में स्वर्गीय मुआवज़े की आशा करो।

ताज्जुब है कि लोग अपने आपको और दूसरों को कितना धोखा देते हैं, अगर ऐसा करने में उनका हित-साधन होता हो। इसलिए हम अठारहवीं सदी और उसके बाद के अंग्रेज़ मालिकों को मज़दूरों की हालत सुधारने की सारी कोशिशों में अड़ंगा डालते हुए पाते हैं। उन्होंने कारखानों के बारे में क़ानून बनाये जाने और मज़दूरों के लिए अच्छे मकान बनाये जाने पर ऐतराज़ किया और यह मानने से इन्कार किया कि मुसीबत के इन कारणों को दूर करना समाज का कर्त्तव्य है। वे तो मज़दूरों को अपने-जैसा आदमी भी नहीं समझते थे। उन्होंने 'छेड़ो मत'[1] की एक नई फिलासफ़ी बनाई, यानी वे चाहते थे कि अपने व्यापार में वे जो मन में आवे सो करें और सरकार उसमें कोई दखल न दे। 'छेड़ो मत' के इस न्याय ने और नये पूंजीवाद ने मत्स्य-न्याय चालू कर दिया। कारलाइल ने इसे "शूकर-नीति" का नाम दिया है। जीवन और व्यापार का यह नया नियम किसने बनाया? मज़दूरों ने तो नहीं। उन बेचारों की तो सुनता ही कौन था! इसके बनानेवाले तो ऊँचे वर्ग के सफल मिल-मालिक थे, जो मूर्खतापूर्ण भावनाओं के नाम पर अपनी सफलता में किसी तरह का दखल नहीं चाहते थे।

बड़ी मशीन और उद्योगवाद के प्रचार का नतीजा यह हुआ कि कारखानों में माल तैयार करने के लिए बहुत ज्यादा रुपये की ज़रूरत पड़ने लगी। यह "औद्योगिक पूंजी" कहलाती है और पूंजीवाद शब्द आजकल उस आर्थिक व्यवस्था के लिए काम में लाया जाता है, जो औद्योगिक क्रांति के बाद पैदा हुई। इस व्यव था के अन्तर्गत पूंजीपति यानी पूंजी के मालिक, कारख़ानों का नियंत्रण करते हैं और मुनाफ़ा उठाते हैं। औद्योगीकरण के साथ-साथ पूंजीवाद सारी दुनिया में फैल गया—सिवाय सोवियत रूस और शायद कुछ अन्य देशों के। पूंजीवाद अपनी शुरुआत के दिनों से ही अमीर और ग़रीब के भेद पर जोर देता रहा है। उद्योग-धन्धों के यन्त्रीकरण से माल की उपज बहुत ज्यादा बढ़ गई और इसलिए धन भी ख़ूब पैदा होने लगा। लेकिन यह नया धन एक छोटी-सी जमात की ही जेब में जाता था—यानी नये उद्योगों के मालिकों की जेबों में। मज़दूर ग़रीब के ग़रीब ही बने रहे।

---

[1] *Laissez Faire*

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उन्नीसवीं सदी में उद्योगतंत्र सारी दुनिया में फैल गया और पूंजीवादी उद्योग का दूसरे देशों में भी विकास हुआ। पूंजीवाद ने लाज़मी तौर पर एक नये साम्राज्यवाद को जन्म दिया, क्योंकि हर जगह तैयार माल बनाने के लिए कच्चे माल की, और तैयार माल को खपाने के लिए मंडियों की माँग बढ़ने लगी। मंडियाँ और कच्चा माल प्राप्त करने का सबसे आसान तरीक़ा यही था कि उस देश पर क़ब्ज़ा कर लिया जाय। बस, अधिक शक्तिशाली देशों में नये उपनिवेशों के लिए आपस में ज़बरदस्त छीना-झपटी होने लगी। इस मामले में भी भारत पर क़ब्ज़ा होने और अपनी समुद्री ताक़त की वजह से इंग्लैण्ड फ़ायदे में था।

औद्योगिक-क्रान्ति के आगमन से अंग्रेज़ी दुनिया पर लंकाशायर के बड़े-बड़े कपड़ा बनानेवालों, और लोहे के मालिकों और खानों के मालिकों का प्रभुत्त्व दिन-पर-दिन बढ़ता गया।

: ७१ :

अमरीका का इंग्लैण्ड से विच्छेद

अब हम अठारहवीं सदी की दूसरी महान् क्रान्ति पर विचार करेंगे—यानी अमरीकी उपनिवेशों का इंग्लैण्ड से विद्रोह। अमरीका में होनेवाला यह राज-नैतिक परिवर्त्तन महत्त्वपूर्ण था और इससे बड़े-बड़े नतीजे निकलनेवाले थे। उस वक्त जो अमरीकी उपनिवेश स्वतन्त्र हो गये थे, वे आज बढ़कर दुनिया के सबसे शक्तिशाली, मालदार और औद्योगिक दृष्टि से सबसे ज्यादा उन्नतिशील देश बन गये हैं।

'मे-फ्लावर' नामक जहाज़ सन् १६२० ई० में थोड़े-से प्रोटेस्टेण्टों को इंग्लैण्ड से अमरीका ले गया था। वे जेम्स प्रथम की तानाशाही को नापसन्द करते थे और उसके धार्मिक विचारों को भी। इसलिए ये लोग, जो तबसे 'पिल्ग्रिम-फ़ादर्स' कहलाते हैं, इंग्लैण्ड की धरती को हमेशा के लिए सलाम करके अटलांटिक समुद्र के पार एक नये अजनबी देश चले गये। उनका इरादा यह था कि वहाँ ऐसा उपनिवेश क़ायम करें जिसमें उनको अधिक स्वतंत्रता रहे। वे उत्तर में उतरे और उस जगह का नाम उन्होंने न्यू-प्लाइमाउथ रखा। उत्तरी अमरीका के समुद्री किनारे के दूसरे हिस्सों में इनसे पहले भीं प्रवासी लोग जा बसे थे। इनके बाद बहुत-से और लोग भी जा पहुँचे और पूर्वी किनारे पर उत्तर से लगाकर दक्षिण तक बहुत से छोटे-छोटे उपनिवेश क़ायम हो गये। वहाँ कैथलिक उपनिवेश थे; इंग्लैण्ड

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से आये हुए 'कैवेलियर'[1] अमीरों के स्थापित किये हुए उपनिवेश थे; और 'क्वेकर'[2] उपनिवेश थे—पैनसिलवेनिया शहर का नाम पैन नाम के क्वेकर नेता के ऊपर ही पड़ा है। वहाँ डच भी बसते थे, जर्मन भी और डेनमार्क के निवासी भी, और कुछ फ़्रांसीसी भी। इनमें सभी देशों के निवासी मिले हुए थे, लेकिन सबसे ज्यादा संख्या अंग्रेज़ प्रवासियों की थी। डचों ने एक शहर बसाया और उसका नाम न्यू-एमस्टर्डम रखा। बाद में जब यह अंग्रेज़ों के हाथ में आया तो उन्होंने इसका नाम बदलकर न्यूयार्क कर दिया जो आजकल इतना मशहूर है।

अंग्रेज़ प्रवासी इंग्लैण्ड के बादशाह और पार्लमिण्ट को मानते रहे। दक्षिण के उपनिवेश, जिनमें कैवेलियर लोग और बादशाह के समर्थकों का ज़ोर था, इंग्लैण्ड से और भी ज्यादा चिपके हुए थे। ये सब उपनिवेश अपने-अपने हाल में मस्त थे और इनके हितों में कोई समानता न थी। अठारहवीं सदी तक पूर्वी किनारे पर तेरह उपनिवेश थे, और ये सब इंग्लैण्ड के मातहत थे। उत्तर में कनाडा था और दक्षिण में स्पेन का इलाक़ा। इन तेरहों उपनिवेशों में जितनी डचों या डेनमार्क-वालों की या दूसरी बस्तियाँ थीं वे सब भी इन्हींमें मिला ली गई थीं और अंग्रेज़ों के क़ब्ज़े में थीं। लेकिन ये सब उपनिवेश किनारे पर ही और किनारे के पास-ही कुछ भीतर की तरफ़ थे। इनके परे पश्चिम में प्रशान्त महासागर तक विशाल देश फैला हुआ था, जो आकार में इन तेरहों उपनिवेशों से क़रीब दस गुना बड़ा था। इन इलाक़ों में कोई योरपीय प्रवासी बसे हुए न थे। इनमें तो रेड-इण्डियनों के जुदे-जुदे क़बीले और जातियाँ बसती थीं और ये उन्हींके क़ब्ज़े में थे। इनमें मुख्य 'आइरोकोइस' थे।

अठारहवीं सदी के बीच में, इंग्लैण्ड और फ्रांस का संसारव्यापी संघर्ष हुआ। यह 'सात साला युद्ध' (सन् १७५६ से १७६३ ई० तक) कहलाता है, जो सिर्फ़ योरप में ही नहीं बल्कि भारत और कनाडा में भी लड़ा गया। इंग्लैण्ड की जीत हुई और फ़्रांस को कनाडा उसके हवाले करना पड़ा। इस तरह अमरीका से फ़्रांस का टिकट कट गया और उत्तरी अमरीका के सारे उपनिवेश इंग्लैण्ड के क़ब्ज़े में आ गये।

मैं गुलामों के उस व्यापार का ज़िक्र कर चुका हूँ जो योरप के देशों ने अफ़रीका

---

[1] कैवेलियर—इंग्लैण्ड के गृहयुद्ध में बादशाह (चार्ल्स प्रथम) की ओर से लड़नेवाले। क्रामवेल के शासन-काल में इनमें से कई इंग्लैण्ड छोड़कर अमरीका चले गये थे।

[2] क्वेकर—१६४९ ई० में विलियम फाक्स न एक 'सोसाइटी ऑफ फ्रेन्ड्स' (मित्र-मण्डली) कायम की थी जिसका उद्देश्य धर्म के ढकोसलों को छोड़ना और शान्ति स्थापित करना था। इन लोगों का मुंहबोला नाम 'क्वेकर' पड़ गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से हबशी मज़दूरों को पकड़-पकड़कर अमरीका लाने के लिए चला रखा था। यह बीभत्स और नृशंस व्यापार ज्यादातर स्पेनियों, पुर्तगालियों और अंग्रेज़ों के हाथ में था। अमरीका में मजदूरों की ज़रूरत थी, ख़ासकर दक्षिणी राज्यों में, जहाँ तमाखू की खेती खूब होने लगी थी। अमरीका के मूल निवासी—रेड इण्डियन कहलानेवाले लोग—खानाबदोश थे और एक जगह टिककर रहना पसन्द नहीं करते थे। इसके अलावा उन्होंने ग़ुलामों की हालत में काम करने से भी इन्कार किया। वे झुकनेवाले न थे; तबाह हो जाना उन्होंने बेहतर समझा, और बाद में वे तबाह हो भी गये। इन लोगों में से, जो किसी समय सारे महाद्वीप में बसे हुए थे, आज बहुत कम बाक़ी बचे हैं।

उत्तरी राज्यों में स्थिति इससे जुदी थी। 'मे-फ्लावर' जहाज़ में आये हुए 'पिल्ग्रिम फादर्स' की पुरानी कट्टर परम्पराएं अभीतक चल रही थीं। वहाँ छोटे-छोटे फ़ार्म थे, दक्षिण की तरह विशाल बाड़ियाँ न थीं। इन खेतों में ग़ुलामों की या मज़दूरों की अधिक संख्या की ज़रूरत न थी। चूंकि नई ज़मीन की कमी न थी, इसलिए हरएक आदमी की कोशिश यही रहती थी कि अपना निजी फार्म बनाकर खुद-मुख़्तार बना रहे। इसलिए इन बसनेवालों में समानता की भावना बढ़ने लगी।

इस तरह हम इन उपनिवेशों में दो आर्थिक प्रणालियों का विकास देखते हैं; एक तो उत्तर में, जो छोटे-छोटे फ़ार्मों और समानता के कुछ-कुछ भावों पर निर्भर थी, और दूसरी दक्षिण में, जिसका आधार बड़ी-बड़ी बाड़ियाँ और ग़ुलामी था। रेड-इण्डियनों के लिए इन दोनों में से किसीमें भी जगह न थी। इसलिए ये लोग, जो इस देश के मूल-निवासी थे, धीरे-धीरे पश्चिम की तरफ़ खदेड़ दिये गये।

इंग्लैण्ड के बादशाह और बहुत-से अंग्रेज़ ज़मींदारों का इन उपनिवेशों में, ख़ासकर दक्षिण में, बहुत रुपया फंसा हुआ था। वे इनसे जितना फ़ायदा हो सके उठाने की कोशिश करते थे। सात साल के युद्ध के बाद अमरीका के उपनिवेशों से रुपया वसूल करने के लिए ख़ासतौर पर कोशिश की गई। अंग्रेज़ी पार्लमेण्ट, जिसमें ज़मींदारों की ही तूती बोलती थी, उपनिवेशों के शोषण को तैयार बैठी थी और उसने बादशाह का साथ दिया। टैक्स लगा दिये और व्यापार पर पाबन्दियाँ लगा दी गईं।

प्रवासी लोगों ने इन पाबन्दियों और नये टैक्सों का विरोध किया, लेकिन सात साल के युद्ध में विजय के बाद ब्रिटिश सरकार को अपनी ताक़त का इतना भरोसा हो गया था कि उसने इनके विरोध की ज़रा भी परवाह न की। उधर इस सात साल के युद्ध से प्रवासियों ने भी बहुत-सी बातें सीख ली थीं। अलग-अलग उपनिवेशों या राज्यों के लोग आपसमें मिले और एक-दूसरे को जानने-पहचानने लगे। वे शिक्षित अंग्रेज़ी फौजों के साथ फ़्रांसीसी फौजों के विरुद्ध लड़ चुके थे और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस तरह लड़ने के तरीक़ों और युद्ध के बीभत्स खेल से परिचित हो गये थे। इसलिए अपनी तरफ़ से ये प्रवासी भी ऐसी बात को सीधी तरह मानने के लिए तैयार न थे जिसे वे अन्यायपूर्ण और अपने प्रति ज़्यादती समझते थे।

सन् १७७३ ई० में जब ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की चाय जबरन उनके सिर थोपनी चाही तो मामला क़ाबू से बाहर हो गया। सरकार ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को अमरीका चाय भेजने और वहाँ उसे बेचने की सहूलियत देकर उसके व्यापार को मदद पहुँचाने की कोशिश की। लेकिन इससे उपनिवेशों के चाय के स्थानीय व्यापार को धक्का पहुँचा और लोग बहुत नाराज़ हुए। इसलिए इस विदेशी चाय के बायकाट का निश्चय किया गया। दिसम्बर सन् १७७३ ई० में जब ईस्ट इण्डिया कंपनी की चाय बोस्टन पर उतारी जाने लगी, तो उसे रोका गया। कुछ प्रवासी रेड-इण्डियनों का भेष बनाकर माल के जहाज़ों पर चढ़ गये और उन्होंने चाय को समुद्र में फेंक दिया। यह काम खुल्लमखुल्ला सहानुभूति रखनेवाली एक भारी भीड़ के सामने किया गया।

डेढ़ साल बाद, सन् १७७५ ई० में, इंग्लैण्ड और उसके अमरीकी उपनिवेशों के बीच युद्ध ठन गया। उपनिवेश किस बात के लिए लड़ाई लड़ रहे थे? आज़ादी के लिए नहीं, न इंग्लैण्ड से अलहदा होने के लिए। यहाँतक कि जब लड़ाई शुरू हो गई, और दोनों तरफ़ खून बह चुका, तब भी प्रवासियों के नेता इंग्लैण्ड के जार्ज तृतीय को 'मोस्ट ग्रेशियस सॉवरिन' की उपाधि से संबोधित करते रहे और अपने-आपको उसकी वफ़ादार प्रजा मानते रहे!

सन् १७७४ ई० में, उपनिवेशों और इंग्लैण्ड के बीच युद्ध छिड़ने से कुछ-ही दिन पहले, वाशिंगटन ने कहा था कि उत्तरी अमरीका का कोई समझदार आदमी स्वतंत्रता नहीं चाहता। और यही वाशिंगटन अमरीका के गणराज्य का सबसे पहला राष्ट्रपति होनेवाला था। सन् १७७४ ई० में, युद्ध छिड़ जाने के बाद, औपनिवेशिक कांग्रेस के छियालीस प्रमुख सदस्यों ने वफ़ादार प्रजा की हैसियत से बादशाह जार्ज तृतीय के पास यह प्रार्थना-पत्र भेजा कि शान्ति स्थापित की जाय, ख़ून की नदी रोकी जाय। यह 'ओलिव-ब्रांच-पेटीशन'[1] कहलाई।

लेकिन दो साल भी न बीतने पाये थे कि इस प्रार्थना-पत्र पर हस्ताक्षर करने-वालों में से पच्चीस ने एक दूसरे ही ख़रीते पर दस्तख़त किये—यह था 'स्वाधीनता का घोषणा पत्र।'

ज़ाहिर है कि उपनिवेशों ने कोई स्वतंत्रता के लिए लड़ाई नहीं छेड़ी थी। उनकी शिकायतें तो टैक्सों और व्यापार पर पाबन्दियों के बारे में थीं। वे लोग

---

[1] 'ओलिव-ब्रांच' (जैतून के पेड़ की डाली)—योरप में जैतून का पेड़ शान्ति का चिह्न समझा जाता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपनी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ टैक्स लगाने के पार्लमिण्ट के अधिकार को मानने के लिए तैयार नहीं थे। उनका मशहूर नारा था—"बिना प्रतिनिधान के कोई कर नहीं लगाया जा सकता"[1] क्योंकि ब्रिटिश पार्लमिण्ट में उनका प्रतिनिधान न था।

इन प्रवासियों के पास कोई फ़ौज तो न थी, लेकिन एक विशाल देश ज़रूर था, जिसमें वे ज़रूरत पड़ने पर पीछे हटकर शरण ले सकते थे। उन्होंने एक फ़ौज तैयार की और आगे जाकर वाशिंगटन उनका प्रधान सेनापति हुआ। उनको कुछ सफलताएं भी मिलीं, और फ़्रांस भी अपने पुराने दुश्मन इंग्लैण्ड से बदला निकालने का अच्छा मौक़ा देखकर इन उपनिवेशों से मिल गया। स्पेन ने भी इंग्लैण्ड के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। अब इंग्लैण्ड का पासा हलका हो गया, लेकिन युद्ध वहुत वर्षों तक चलता रहा। सन् १७७६ ई० में उपनिवेशों का प्रसिद्ध 'स्वाधीनता का घोषणापत्र' आया। सन् १७८२ ई० में युद्ध खतम हो गया और सन् १७८३ ई० में सब युद्धरत देशों ने पेरिस के शान्तिपत्र पर हस्ताक्षर कर दिये।

इस तरह अमरीका के ये तेरह उपनिवेश एक स्वतन्त्र गणराज्य बन गये जिनको 'यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ़ अमेरिका' यानी संयुक्त राज्य अमरीका का नाम दिया गया। लेकिन बहुत दिनों तक इन राज्यों में आपसी फूट बनी रही और हरएक राज्य अपने-आपको क़रीब-क़रीब स्वाधीन मानता रहा। सबकी एक राष्ट्रीयता की भावना बहुत धीरे-धीरे पैदा हुई।

जॉर्ज वाशिंगटन संयुक्त राज्य का पहला राष्ट्रपति हुआ। यह वर्जिनिया राज्य का एक बड़ा ज़मींदार था। इस ज़माने के और महापुरुष, जो गणराज्य के संस्थापक माने जाते हैं, टॉमस पेन, बेंजामिन फ़्रैंकलिन, पैट्रिक हेनरी, टॉमस जैफ़रसन, जॉन ऐडम्स, और जेम्स मैडीसन हैं। बैंजामिन फ़्रैंकलिन तो विशेष रूप से नामी आदमी था और यह एक बड़ा वैज्ञानिक था। बच्चों की पतंगें उड़ाकर इसने यह सिद्ध कर दिया कि बादलों की कौंध और बिजली एक ही चीज़ है।

: ७२ :

बैस्तील का पतन और फ्रांस की राज्यक्रान्ति

फ़्रांस की राज्यक्रान्ति ज्वालामुखी की तरह फट पड़ी। लेकिन क्रान्तियाँ और ज्वालामुखी बिना कारण या बिना बहुत दिनों की तैयारी के एकाएक नहीं

---

[1] नो टैक्ज़ेशन विदाउट रिप्रेज़ेण्टेशन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फूट पड़ते। हम एकाएक होनेवाले विस्फोट को देखकर ताज्जुब करते हैं; लेकिन ज़मीन की सतह के नीचे युगों तक बहुत-सी ताक़तें आपस में टकराया करती हैं और आगें सुलगा करती हैं। आख़िर ऊपर की पपड़ी उनको ज्यादा देर दबाकर नहीं रख सकती और ये ज्वालाएं आकाश तक उठनेवाली विकट लपटों के साथ फूट पड़ती हैं और पिघला हुआ पत्थर पहाड़ से नीचे बहने लगता है। ठीक इसी तरह ये ताक़तें, जो अन्त में क्रान्ति की शकल में फूटती हैं, समाज की सतह के नीचे बरसों तक खेला करती हैं।

मैं बतला चुका हूँ कि सन् १७१५ ई० में लुई पन्द्रहवाँ अपने पड़-दादा लुई चौदहवें का उत्तराधिकारी हुआ और इसने उनसठ वर्ष राज किया। कहते हैं कि वह कहा करता था, "आप मरे जग प्रलय" और इसीके अनुसार वह वर्त्ताव भी करता था। बड़े मज़े के साथ वह अपने देश को गहरे गड्ढे में गिरा रहा था। उसने इंग्लैण्ड की क्रान्ति और वहाँ के बादशाह का सिर उड़ा दिये जाने की घटना से भी कुछ शिक्षा न ली। उसके बाद, सन् १७७४ ई० में उसका पोता सोलहवाँ लुई गद्दी पर बैठा, जो बड़ा बेवक़ूफ़ और बुद्धिहीन था। उसकी रानी मेरी एन्तोइनेत आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग सम्राट की बहन थी। यह भी बिल्कुल बेवक़ूफ़ थी; लेकिन उसमें एक तरह की ज़िद का बल था जिससे सोलहवाँ लुई पूरी तरह उसकी मुट्ठी में था। उसमें 'बादशाहों के दैवी अधिकार' की भावना लुई से भी ज्यादा भरी हुई थी, और वह आम लोगों से घृणा करती थी। पति और पत्नी दोनों ही ने मिलकर बादशाहत की भावना को लोगों के लिए घृणापूर्ण बनाने में कोई कसर नहीं रखी। राज्यक्रान्ति शुरू होने के बाद भी फ़्रांस के लोगों का बादशाहत के बारे में कोई स्पष्ट विचार न था, लेकिन लुई और मेरी एन्तोइनेत ने अपने कारनामों और बेवक़ूफ़ियों से गणराज्य को अनिवार्य कर दिया।

बादशाहत और तानाशाही को अक्सर सैनिक कीर्त्ति का सहारा रहता है। जब कभी देश में गड़बड़ पैदा होती है, तो बादशाह या सरकारी गुट्ट लोगों का ध्यान उस तरफ़ से हटाने के लिए बाहर के देशों पर फ़ौजी धावा मारने को ओर आकर्षित होते हैं। लेकिन फ़्रांस में इन फ़ौजी किस्मत-आज़माइशों का नतीजा अच्छा नहीं रहा था। सात साला युद्ध में फ़्रांस की पराजय हुई और इससे बादशाहत को धक्का पहुँचा। दिवालियापन की दिन-पर-दिन नौबत आ रही थी। अमरीका के स्वतन्त्रता-युद्ध में फ़्रांस ने जो हिस्सा लिया उसमें और धन खर्च हुआ। यह सब रुपया कहाँ से आता? अमीर-उमरा और पादरियों को विशेष अधिकार मिले हुए थे। वे बहुत-से टैक्सों से बरी थे और अपने विशेषाधिकारों को ज़रा भी नहीं छोड़ना चाहते थे। लेकिन न सिर्फ़ क़र्ज़ें चुकाने के लिए, बल्कि राज दरबार की फ़िज़ूलखर्ची के लिए भी रुपया तो वसूल होना ही चाहिए था। जनता की या आम लोगों की कौन परवाह करता था?

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सोलहवें लुई के राज में फ़्रांस की यही हालत थी। उसके शासन-काल के शुरू में ही भुक्खड़ों के उपद्रव हुए। ये कई साल तक जारी रहे। फिर कुछ दिन शान्ति रही और बाद में फिर किसानों के उपद्रव हुए। दिजों में भोजन की लूट के इसी तरह के एक दंगे के दौरान में वहाँ के गवर्नर ने भुखमरे लोगों से कहा, "घास उग आई है; खेतों में जाकर उसे चरो!" हज़ारों आदमी भीख माँगने का पेशा करने लगे। सरकारी तौर पर यह बतलाया गया था कि सन् १७७७ ई० में फ़्रांस में ग्यारह लाख भिखमंगे थे।

किसान लोग सिर्फ़ भोजन के ही भूखे न थे, जमीन के भी भूखे थे। सामन्त-प्रथा में अमीर लोग ज़मीन के मालिक थे और उनकी आमदनी का ज्यादातर हिस्सा उन्हींके पेट में जाता था। किसानों के कोई सुलझे हुए विचार न थे, न उनका कोई निश्चित लक्ष्य था, लेकिन वे अपनी ज़मीन पर खुदमुख़्तारी चाहते थे और अपनेको कुचलनेवाली इस सामन्त प्रथा से वे नफ़रत करते थे। सामन्तों, पादरियों और नमक-कर से, जो ख़ासतौर पर ग़रीबों पर पड़ता था. उन्हें बड़ी सख़्त नफ़रत थी।

किसान-वर्ग की यह हालत थी लेकिन फिर भी बादशाह और रानी रुपये के लिए शोर मचाते थे। सरकार के पास खर्च के लिए ही रुपया न था, इसलिए क़र्ज़े बढ़ते चले जा रहे थे। मेरी एन्तोइनेत का उपनाम "मादाम दैफ़िसित" यानी 'घाटा देवी' रख दिया गया। ज्यादा रुपया वसूल करने का कोई ढंग नज़र न आता था। आख़िर लाचार होकर सोलहवें लुई ने मई सन् १७८९ ई० में 'स्टेट्स जनरल' की बैठक बुलाई। इस सभा में अमीर, पादरी तथा सधारण लोग, इन तीन वर्गों या राज्य की जागीरों के प्रतिनिधि होते थे।

४ मई सन् १७८९ ई० को वर्साई में बादशाह ने 'स्टेट्स जनरल' का उद्घाटन किया। लेकिन शीघ्र ही बादशाह को पछतावा होने लगा कि उसने इन तीनों जागीरों के प्रतिनिधियों को इकट्ठा क्यों बुलाया। तीसरी जागीर यानी 'कामन्स' या मध्यम-वर्ग खुल्लम-खुल्ला विरोध करने लगा और इस बात पर ज़ोर देने लगा कि उनकी मरज़ी के बिना कोई टैक्स नहीं लिया जा सकता। उसके सामने इंग्लैण्ड का उदाहरण था, जहाँ कामन्स सभा ने अपना यह अधिकार प्रस्थापित कर लिया था। अमरीका का ताज़ा उदाहरण भी उनके सामने था।

बहरहाल तीसरी जागीर या 'कामन्स' ने जो कुछ भी ज़रा-सी हिम्मत दिखाई, वही बादशाह लुई के सहन से बाहर हो गई। उसने उनको सभा भवन से बाहर निकलवा दिया। डिप्टियों (सदस्यों) की चले जाने की मंशा नहीं थी। वे तुरन्त ही नज़दीक के एक टेनिस कोर्ट पर इकट्ठे हुए और उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि जबतक एक संविधान की स्थापना न कर लेंगे, तबतक न टलेंगे। यह 'टेनिस कोर्ट की शपथ' कहलाती है। इसके बाद वह खतरनाक घड़ी आई जब बादशाह ने ज़ोर-ज़बरदस्ती

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करनी चाही, और ख़ुद उसीके सिपाहियों ने उसकी आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया। क्रान्ति में हमेशा नाज़ुक घड़ी तभी आती है, जब फ़ौज, जो सरकार का ख़ास पाया होती है, भीड़ में अपने भाइयों पर गोलियाँ चलाने से इन्कार कर देती है। लुई ने घबराकर हार मान ली, और इसके बाद उसने अपनी स्वाभाविक बेवकूफ़ी से, विदेशी सैनिकों के साथ साज़िश की कि वे उसकी प्रजा पर गोलियाँ चलायें। जनता इसे सहन न कर सकी और १४ जुलाई सन् १७८९ ई० के स्मरणीय दिन उन्होंने बैस्तील के पुराने जेलखाने पर क़ब्ज़ा करके क़ैदियों को छोड़ दिया।

बैस्तील का पतन इतिहास की एक महान् घटना है। इसने क्रान्ति की शुरुआत की; यह सारे देश में जनता के उभार का एक आसार था; इसका अर्थ था फ़्रांस में पुरानी व्यवस्था—सामन्तशाही, भव्य बादशाही और विशेषाधिकार—का अन्त; यह योरप के तमाम बादशाहों और सम्राटों के लिए बड़ा भयानक और भयंकर अपशकुन था। चौदह जुलाई आज भी फ़्रांस का राष्ट्रीय त्यौहार है और यह हर साल सारे देश में मनाया जाता है।

इसी बीच में 'स्टेट्स जनरल' राष्ट्रीय सभा बन गई और यह मान लिया गया कि बादशाह एक वैधानिक या नियमित राजा है, यानी ऐसा राजा जो सभा के कहने के मुताबिक़ चलता है। लेकिन वह इस बात से नफ़रत करता था, और मेरी एन्तोइनेत तो और भी ज्यादा नफ़रत करती थी। पेरिस के लोग भी उनसे कोई खास प्रेम नहीं करते थे और उनपर तरह-तरह की साज़िशें करने का शक भी करते थे। वर्साई, जहाँ राजा और रानी दरबार करते थे, पेरिस से इतनी दूर था कि राजधानी के लोग उनपर निगाह नहीं रख सकते थे। वर्साई की दावतों और विलासिता के क़िस्सों और अफ़वाहों ने भी पेरिस के भूखे लोगों को उत्तेजित कर दिया। बस, राजा और रानी पेरिस के त्यूलरीज (पेरिस के शाही महल) में एक बहुत-ही अजीब जुलूस बनाकर ले जाये गये।

फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बारे में लिखने में मुझे जरा दिक्कत मालूम होती है। इसलिए नह कि मसाला कम है, बल्कि इसलिए कि मसाला बहुत ज्यादा है। यह क्रान्ति हैरत में डालनवाले और सदा बदलते रहनेवाले एक नाटक की तरह थी और ऐसी असाधारण घटनाओं से भरी हुई थी जो आज भी मोह लेती हैं सहमा देती हैं और थर्रा देती हैं।

क्रान्ति के शुरू के दिनों में बहुत-से दल और गिरोह प्रभुत्व के लिए लड़ रहे थे। एक तो बादशाह के हिमायती बादशाहवादी थे जो सोलहवें लुई को पूरा स्वेच्छाचारी बादशाह बनाये रखने की थोथी आशा लगा रहे थे; दूसरे मद्धिम विचारोंवाले नरम लोग थे, जो संविधान चाहते थे और बादशाहको एक नियंत्रित शासक बनाकर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रखने को तैयार थे; तीसरे मद्धिम विचारोंवाले गणतन्त्रवादी थे जिन्हें 'जिरोंदे[1] का दल' कहते थे; चौथे उग्र गणतन्त्रवादी थे जो जैकोबिन[2] कहलाते थे, क्योंकि वे जैकोबिन कान्वेण्ट के भवन में अपनी सभाएं किया करते थे। मुख्य दल ये ही थे और इन सबमें और इनके अलावा भी, बहुत-से हौसलेबाज़ थे। इन सब दलों और व्यक्तियों के पीछे थी फ़्रांस, की और ख़ासकर पेरिस की. जनता, जो अपने-ही में के कई गुमनाम नेताओं के इशारे पर चलती थी। विदेशों में, और ख़ासकर इंग्लैण्ड में, वे प्रवासी फ़्रेंच अमीर थे जो क्रान्ति से मुंह छिपाकर भाग गये थे और लगातार उसके खिलाफ़ साज़िशें कर रहे थे। योरप के सारे शक्तिशाली राज्य क्रान्तिकारी फ़्रांस के विरुद्ध एक हो रहे थे। पार्लमेण्टवाला लेकिन उच्चवर्ग की सत्तावाला इंग्लैण्ड, और योरप के बादशाह तथा सम्राट भी आम जनता के इस अद्भुत धड़ाके से बहुत डर गये थे और इसे कुचल डालने की कोशिश में थे।

बादशाहवादियों और बादशाह ने मिलकर साज़िश की, लेकिन इससे उन्होंने अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारी। नैशनल असेम्बली (राष्ट्रीय सभा) में शुरू-शुरू में जिस दल का ज़ोर था वह मद्धिम नरम लोगों का था, जो कुछ-कुछ इंग्लैण्ड या अमरीका की तरह का कोई संविधान चाहता था। उनका नेता मिराबू[3] था। लगभग दो वर्ष तक असेम्बली में इन्हींका ज़ोर रहा और क्रान्ति के शुरू दिनों की सफलताओं के जोश में इन्होंने कितनी ही साहसपूर्ण घोषणाएं कीं और कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन भी किये। बैस्तील के पतन के बीस दिन बाद, ४ अगस्त सन् १७८९ ई० को असेम्बली में एक ऐसी घटना हुई जिसका किसीको गुमान भी न था। असेम्बली में सामन्ती अधिकारों और रिआयतों के तोड़ दिये जाने के प्रश्न पर विचार हो रहा था। उस समय फ़्रांस की हवा में कुछ ऐसी तासीर थी, जो लोगों के दिमाग़ में चढ़ गई थी, यहाँतक कि सामन्ती सरदार भी कुछ देर के लिए स्वतन्त्रता की नई शराब के नशे में मतवाले हो गये थे। बड़े-बड़े अमीर और चर्च के नेता असेम्बली के भवन में उठ खड़े हुए और अपने सामन्ती अधिकारों और रिआयतों को छोड़ने में एक दूसरे से आगे बढ़ने लगे। यह एक हार्दिक और उदार प्रदर्शन था, हालांकि कुछ साल तक इसका ज़्यादा असर न हुआ। विशेषाधिकारी वर्ग के हृदय में ऐसी उदार भावनाएं कभी-कभी, लेकिन

---

[1] जिरोंदे (Gironde)—फ्रांस का एक प्रान्त। जिरोंदे-दल के ज्यादातर नेता इसी प्रान्त के निवासी थे।

[2] जैकाबिन (Jacobins)—फ़्रांस की राज्यक्रांति में भाग लेनेवाला एक शक्तिशाली राजनैतिक दल। इसकी स्थापना १७८९ ई० में वर्साई में हुई थी और रोबसपीयरी की हार के बाद इसका अन्त हो गया।

[3] मिराबू (Mirabeau)—बादशाहत विरोधी फ्रेंच राजनीतिज्ञ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बहुत-ही कम, उठती हैं, या शायद यह बात हो कि उसे महसूस होने लगता है कि विशेषाधिकारों का अन्त तो होनेवाला हैं ही, इसलिए बहती गंगा में हाथ धोने में ही भलाई है।

बस, क्रान्तिकारी फ़्रांस की नैशनल असेम्बली ने जोश में आकर कम-से-कम प्रस्ताव तो पास कर ही दिया कि किसानों की ग़ुलामी, विशेषाधिकार, सामन्ती कचहरियाँ, सामंतों और पादरियों को टैक्स की छूट और उपाधियाँ, ये सब मिटा दी जायें। यह अजीब बात है कि बादशाह तो बना रहा, लेकिन सामंत-वर्ग की सब उपाधियाँ छिन गईं।

तब असेम्बली ने आगे चलकर मानव-अधिकारों की एक घोषणा स्वीकार की। मानव-अधिकार वे अधिकार थे जो मनुष्य को समानता, स्वाधीनता और सुख प्राप्त करानेवाले माने गये थे। उस समय मानव अधिकारों की यह घोषणा बड़ी-ही वीरतापूर्ण मालूम होती थी और बाद के लगभग सौ वर्षों तक यह योरप के नर्म विचारवालों और लोकतंत्रवादियों का परवाना बनी रही।

जिस समय इसका ऐलान किया गया था, उस समय इससे सारे योरप में खुशी की लहर दौड़ गई थी और तमाम पीड़ितों तथा दलितों को इसमें अच्छे दिनों की सुन्दर आशा नज़र आने लगी थी। लेकिन बादशाह ने इसे पसंद नहीं किया; वह इस घोर बदतमीज़ी से हैरत में आगया और उसने इसपर मंजूरी देने से इन्कार कर दिया। वह अभी वर्साई में ही था। इसी समय यह हुआ कि पेरिस के लोगों की उपद्रवी भीड़, जिसके आगे स्त्रियाँ थीं, वर्साई के महलों पर चढ़ आई, और उसने बादशाह से न सिर्फ़ यह घोषणा ही मंजूर कराली, बल्कि उसे पेरिस चले जाने के लिए भी मजबूर कर दिया।

असेम्बली ने और भी बहुत-से उपयोगी सुधार किये। चर्च की बड़ी विशाल सम्पत्ति राज्य ने ज़ब्त कर ली। फ़्रांस का अस्सी इलाक़ों में नया बंटवारा किया गया, और मेरा खयाल है कि यह बंटवारा आजतक चालू है। पुरानी सामन्ती कचहरियों की जगह अच्छी क़ानूनी अदालतें क़ायम की गईं। यह सब अच्छे के लिए था, लेकिन इससे कुछ ज़्यादा मतलब हल नहीं हुआ। इससे न तो ज़मीन के भूखे काश्तकारों का ज़्यादा फ़ायदा हुआ और न शहरों के मामूली लोगों का, जो रोटी के भूखे थे। ऐसा मालूम होता था कि क्रान्ति की गति रोक दी गई। जन-साधारण, काश्तकारों और शहरों के आम लोगों का असेम्बली में बिल्कुल प्रतिनिधान न था। असेम्बली पर मध्यम-वर्ग का अधिकार था जिसका नेता मिराबू था, और ज्योंही उन्हें महसूस हुआ कि उनका मतलब पूरा हो गया है, त्योंही उन्होंने क्रान्ति को रोकने की भरसक कोशिश की। वे तो बादशाह लुई तक से साँठ-गाँठ करने लगे और सूबों के काश्तकारों को गोलियों से भूनने लगे। मिराबू तो वास्तव में बादशाह का गुप्त सलाहकार ही बन गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

असेम्बली में मात खाकर, क्रान्ति के केन्द्र पेरिस की जनता ने अपनी क्रान्तिकारी शक्ति के निकास का दूसरा रास्ता तलाश कर लिया। यह था पेरिस का 'कम्यून' या म्यूनिसिपैलिटी। कम्यून ही नहीं, बल्कि कम्यून को कई प्रतिनिधि भेजने वाले शहर के हरेक हल्के में एक ज़िन्दा संगठन था जो जनता से सीधा सम्पर्क रखता था। कम्यून, और ख़ासकर हल्के, क्रान्ति के झंडा-बरदार और नरम विचारों और मध्यम-वर्ग की असेम्बली के प्रतिद्वन्दी बन गये।

सन् १७९० और १७९१ ई० में क्रान्ति की ऐसी हालत थी। असेम्बली का सारा क्रान्तिकारी जोश ठंडा पड़ चुका था और वह सुधार करते-करते उकता गई थी; लेकिन पेरिस के लोग अभीतक क्रान्तिकारी जोश से खौल रहे थे, किसान-वर्ग अभीतक भूखों की तरह ज़मीन की तरफ़ ताक रहा था। यह हालत बहुत दिनों तक नहीं रह सकती थी; या तो क्रान्ति आगे बढ़ती या ख़तम हो जाती। मद्धिम नरम दल का नेता मिराबू सन् १७९१ ई० में मर गया। बादशाह से गुपचुप साज़िशें करते रहने पर भी वह लोकप्रिय था और उसने लोगों को रोक रखा था। २१ जून सन् १७९१ ई० को ऐसी घटना हुई जिसने क्रान्ति के भाग्य का निबटारा कर दिया। यह था बादशाह लुई और रानी मेरी एन्तोइनेत का भेष बदलकर भाग जाना। वे किसी तरह सरहद तक पहुँच भी गये। लेकिन वर्दून के पास वेरनीस के कुछ किसानों ने उन्हें पहचान लिया और उन्हें रोककर फिर पेरिस भेज दिया गया।

अब गणराज्य की भावना ख़ूब ज़ोर पकड़ने लगी। लेकिन फिर भी असेम्बली और उस समय की सरकार इतने नरम विचारोंवाली और जनता की भावनाओं से इतनी दूर थी, कि जो लोग लुई को राजगद्दी से उतारने की माँग करते थे, उनको वह गोलियों से भूनती रही। क्रांति के महान् नेता मारत के पीछे अधिकारी लोग बुरी तरह पड़ गये, क्योंकि उसने बादशाह को, भाग जाने के कारण, देशद्रोही कहकर उसकी निन्दा थी। उसे पेरिस की ज़मींदोज़ नालियों में छिपना पड़ा जिसके कारण उसे एक भयंकर चर्म रोग हो गया।

ताज्जुब है कि फिर भी एक साल से ज्यादा तक नाम के लिए लुई बादशाह माना जाता रहा। सितम्बर सन् १७९१ ई० में नेशनल असेम्बली का काल पूरा हो गया और उसकी जगह लेजिस्लेटिव असेम्बली (विधान सभा) ने ले ली। यह भी उसीकी तरह मद्धिम विचारोंवाली थी और सिर्फ़ उँचे वर्गों की ही प्रतिनिधि थी। यह फ़्रांस के बढ़ते हुए जोश की प्रतिनिधि न थी। क्रान्ति का यह बुख़ार जनता में फैल गया और उग्र गणराज्यवादी जैकोबिन लोगों की, जो जनता के ही लोग थे, ताक़त बढ़ने लगी।

उधर योरप के शक्तिशाली राष्ट्र इन अद्भुत घटनाओं को बड़े चौकन्ने होकर देख रहे थे। थोड़े दिनों तक तो प्रशिया और आस्ट्रिया और रूस दूसरी जगह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लूटमार में लगे रहे। वे पोलैण्ड के पुराने राज्य को खतम करने में लगे हुए थे; लेकिन फ़्रांस में घटनाएं बड़े ज़ोरों से आगे बढ़ रही थीं और उनका ध्यान खींच रही थीं। सन् १७९२ ई० में फ़्रांस का आस्ट्रिया और प्रशिया से युद्ध छिड़ गया। आस्ट्रिया इन दिनों निदरलैण्ड्स के बेल्जियमवाले हिस्से पर क़ब्ज़ा किये हुए था और उसकी सरहद फ़्रांस से लगी हुई थी। विदेशी फ़ौजें फ़्रांस के इलाके में घुस आईं और उन्होंने फ़्रांस की फ़ौजों को हरा दिया। लोगों की यह धारणा थी, और इसके लिए कारण भी था, कि बादशाह उनसे मिला हुआ है और सारे बादशाह-वादियों पर दग़ाबाज़ी का संदेह किया जाने लगा। जैसे-जैसे उनके चारों तरफ़ खतरे बढ़ने लगे, वैसे-ही-वैसे पेरिस के लोग ज्यादा-ज्यादा भड़कने और घबराने लगे। उन्हें चारों तरफ़ भेदिये और देशद्रोही नज़र आने लगे। पेरिस के क्रान्ति-कारी कम्यून ने इस संकट की घड़ी में आगे बढ़कर लाल झंडा फहरा दिया, और यह ज़ाहिर कर दिया कि राज-दरबार की बग़ावत के विरुद्ध जनता ने फ़ौजी क़ानून जारी कर दिया है। उसने १० अगस्त सन् १७९२ ई० को बादशाह के महल पर भी धावा बोल दिया। बादशाह ने अपने स्विस अंग-रक्षकों के हाथों जनता पर गोलियाँ चलवा दीं। लेकिन जीत आख़िर जनता ही की हुई और कम्यून ने असेम्बली को मजबूर किया कि बादशाह को गद्दी से उतारकर क़ैद करे।

बादशाह का गद्दी से उतारा जाना और क़ैद किया जाना काफ़ी न था। स्विस अंग-रक्षकों की उनपर गोलियां चलाने और बहुतों को मार डालने की कार्रवाई से भड़ककर और देश के दुश्मनों तथा भेदियों के प्रति भय और क्रोध से भरकर, पेरिस के लोग जिनपर सन्देह करते, उन्हींको पकड़-पकड़कर जेलों में ठूँसने लगे। गिरफ्तार किये गये लोगों में बहुत-से ज़रूर दोषी थे, लेकिन बहुत-से निर्दोष व्यक्तियों को भी गिरफ्तार करके जेलों में डाल दिया गया। कुछ दिन बाद लोगों पर एक भयंकर जुनून सवार हुआ। उन्होंने क़ैदियों को जेल से निकालकर उनपर झूठ-मूठ का मुक़दमा चलाया और उनमें से बहुतों को मौत के घाट उतार दिया। ये 'सितम्बर की हत्याएं' कहलाती हैं और इनमें एक हज़ार से ज्यादा आदमी मार डाले गये।

सितम्बर में ही फ़्रांस की फ़ौजों को आस्ट्रिया और प्रशिया की हमला करने-वाली फ़ौजों पर पहली विजय मिली। यह विजय वाल्मी की छोटी-सी लड़ाई में मिली, जो छोटी तो थी, लेकिन उसका नतीजा बहुत बड़ा निकला, क्योंकि उसने क्रांति को बचा लिया।

२१ सितम्बर सन् १७९२ ई० को नैशनल कन्वेन्शन बुलाया गया। यह असेम्बली का स्थान लेनेवाली नई संस्था थी। कन्वेन्शन ने पहला काम यह किया कि गणराज्य की घोषणा कर दी। इसके बाद ही सोलहवें लुई का मुक़दमा हुआ; उसे मौत की सज़ा दी गई और २१ जनवरी सन् १७९३ ई० को उसे बादशाहत के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पापों का बदला अपना सिर देकर चुकाना पड़ा। उसे गिलोतीन पर चढ़ा दिया गया, यानी गिलोतीन से उसका सिर उड़ा दिया गया। फ़्रांस की जनता अब अपना पीछे लौटने का मार्ग बन्द कर चुकी थी। उसने आखिरी क़दम बढ़ा दिया था और योरप के बादशाहों और सम्राटों को चुनौती दे दी थी। वे लोग अब पीछे नहीं लौट सकते थे। बादशाह के ख़ून से सनी हुई गिलोतीन की सीढ़ियों पर से ही क्रान्ति के महान् नेता दान्तन ने जमा हुई भीड़ के सामने बोलते हुए इन दूसरे बादशाहों को अपनी ललकार सुनाई। उसने पुकारकर कहा, "योरप के बादशाह हमको चुनौती देंगे; हम एक बादशाह का सिर उनके आगे फेंकते हैं!"

: ७३ :

क्रान्ति और प्रति-क्रान्ति

बादशाह लुई का अन्त हो चुका था, लेकिन उसकी मौत से पहले ही फ़्रांस में आश्चर्यजनक परिवर्त्तन हो चुका था। उसके निवासियों का ख़ून क्रान्ति की गर्मी से भभक रहा था; उनकी नसों में सनसनी दौड़ रही थी और उनपर धधकते हुए जोश का भूत सवार था। गणराज्यवादी फ़्रांस तलवार खींचे खड़ा था; बाक़ी का योरप—'बादशाही योरप'—उसके विरुद्ध था। गणराज्यवादी फ़्रांस इन निकम्मे बादशाहों और राजाओं को बतला देना चाहता था कि स्वतन्त्रता के सूरज की गरमी पाकर देशभक्त लोग किस तरह लड़ सकते हैं। वे लोग केवल अपनी नई मिली हुई स्वतन्त्रता के लिए ही नहीं, बल्कि बादशाहों और अमीरों के सताये हुए अन्य सब लोगों की स्वतन्त्रता के लिए भी लड़ने को तैयार थे। उनकी पितृभूमि[1] फ़्रांस स्वतन्त्रता की जननी बन गई, जिसकी वेदी पर बलिदान हो जाना आनन्द की बात थी। और इस ख़ूँख्वार जोश की घड़ी में उन्हें एक अद्भुत गीत मिल गया, जिसका स्वर उनके धधकते हुए भावों से मिला हुआ था और जिसने उनको ख़तरों की ज़रा भी परवाह न करते हुए और सब बाधाओं को पार करते हुए गाते-गाते रणक्षेत्र की ओर दौड़ने के लिए प्रेरित किया। यह रूजे दि लाइली का राइन की फ़ौजों के लिए रचा हुआ युद्ध-गीत था जो तब से 'मार्साइसी'[2] कहलाता है, और आज भी फ़्रांसीसियों का राष्ट्रीय गीत है। फ़्रांसीसी भाषा के इस गीत का भावार्थ यह है:

---

[1] योरप में मातृभूमि को सामान्यतः पितृभूमि कहते हैं।
[2] Marseillaise

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पितृभूमि के बच्चो, आओ!
गौरव का दिन आया है!
निष्ठुरता का खूनी झंडा,
अपने सिर पर छाया है!
सुनो, रक्त के प्यासे सैनिक,
चारों ओर दहाड़ रहे।
गोदी के लालों ललनाओं
की हत्या को उमड़ रहे।
सैन्य सजाओ! ऐ नागरिको!
कर में तलवारें खींचो!
इन सबके अपवित्र रक्त से,
अपने खेतों को सींचो!

वे लोग बादशाहों की दीर्घायु के निरर्थक गीत नहीं गाते थे। इसके बजाय वे पितृभूमि के पुनीत प्रेम और प्यारी स्वतन्त्रता के गाने गाते थे :—

ओ पितृभूमि के पुण्य प्रेम!
आगे बढ़ने की राह दिखा!
प्रतिहिंसा के प्यासे शस्त्रों
को तू रण में कर बल प्रदान!
प्रिय स्वतंत्रते! तू समर बीच
निज सेवक जन की कर रक्षा!

चीज़ों की बड़ी तंगी थी। न तो काफ़ी खाना था, न कपड़े, न जूते। यहाँ-तक कि हथियार भी न थे। कितनी-ही जगहों के नागरिकों से फ़ौज के लिए बूट और जूते दे देने को कहा गया; देशभक्तों ने बहुत तरह की ऐसी खाने की चीज़ों को छोड़ दिया जिनकी कमी पड़ गई थी, लेकिन जिनकी फ़ौज के लिए ज़रूरत थी। कुछ लोग तो अक्सर उपवास भी करने लगे। चमड़ा, रसोई के बरतन, कढ़ाइयाँ, बाल्टियाँ, वग़ैरा तरह-तरह की घरू काम की चीज़ें माँग ली गईं। पेरिस की गलियों में लुहारों की सैकड़ों भट्टियों पर हथौड़े चल रहे थे, क्योंकि सारे नागरिक पुरुष और स्त्रियाँ तक हथियार बनाने में मदद दे रहे थे। लोग बड़ी भारी तंगी उठा रहे थे, लेकिन इसकी क्या परवाह थी—जब उनकी पितृभूमि फ़्रांस, सुन्दर फ़्रांस, फटे-हाल मगर स्वाधीनता का मुकुट पहने, ख़तरे में थी और दुश्मन उसके दरवाज़े पर खड़ा था! बस, फ़्रांस के नौजवान उसकी रक्षा करने को दौड़े और भूख-प्यास की परवाह न करते हुए, विजय-यात्री हुए।

नये रंगरूटों की इन क्रान्तिकारी फ़ौजों ने, पूरी तरह फ़ौजी तालीम न मिलने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर भी, फ़्रांस की धरती से सब विदेशी फ़ौजों को मार भगाया और उसके बाद निदरलैण्ड्स के दक्षिणी हिस्से (बेल्जियम वग़ैरा) को भी आस्ट्रिया के चंगुल से छुड़ा दिया। हैप्सबर्गों ने हमेशा के लिए निदरलैण्ड्स को छोड़ दिया और वे फिर वापस न आये। योरप की शिक्षित और वेतनभोगी फ़ौजें इन क्रान्तिकारी रंगरूटों के मुक़ाबले में न ठहर सकीं।

युद्ध फैलने लगा। समुद्री फ़ौज के कारण इंग्लैण्ड एक ताक़तवर दुश्मन साबित हुआ। गणतांत्रिक फ़्रांस ने ख़ुश्की पर लड़ने के लिए बड़ी भारी फ़ौज बना ली थी, लेकिन समुद्र पर वह कमज़ोर था। इंग्लैण्ड ने फ़्रांस के सारे बन्दरगाहों की नाकाबन्दी शुरू कर दी। फ़्रांस से भागे हुए लोग इंग्लैण्ड से ही करोड़ों की संख्या में जाली 'असाइने' या फ़्रेंच गणराज्य के नोट धड़ा-धड़ फ़्रांस भेजने लगे। इस तरह उन्होंने फ़्रांस की मुद्रा-प्रणाली और आर्थिक व्यवस्था को नष्ट करने की कोशिश की।

घरू झगड़े भी साथ-साथ चल रहे थे। फ़्रांस के पश्चिम में वैन्दी में कुछ तो वहाँ के काश्तकारों के नई फ़ौजों में भरती होने से इन्कार करने के कारण, और कुछ बादशाहवादी नेताओं और फ़्रांस से भागे हुए लोगों की कोशिशों से, किसानों का ज़बरदस्त विद्रोह उठ खड़ा हुआ। क्रान्ति को संभालनेवाले और चलानेवाले तो असल में पेरिस के नगरवासी थे; किसान वर्ग राजधानी में तेज़ी से होनेवाले परिवर्तनों को और उनके महत्त्व को न समझ सकने के कारण पिछड़ गया। वैन्दी का विद्रोह बड़ी क्रूरता के साथ दबा दिया गया। लियों में क्रान्ति-विरोधी उपद्रव हुआ। इसे दबा दिया गया और किसीने यह प्रस्ताव किया कि सज़ा के तौर पर लियों के बड़े नगर को ही नष्ट कर दिया जाय! सौभाग्य से यह प्रस्ताव मंजूर नहीं किया गया, मगर फिर भी लियों को बड़ी मुसीबतें झेलनी पड़ीं।

इस अरसे में पेरिस में क्या हो रहा था? वहाँ किसका अधिकार था? नय चुने हुए कम्यून और उसके हलकों का शहर में अभी तक बोलबाला था। नैशनल कन्वेन्शन में अधिकार के लिए विभिन्न गिरोहों में कशमकश चल रही थी, जिनमें ख़ास थे ज़िरोंदिन यानी मद्धिम गणराज्यवादी और जैकोबिन यानी गरम गण-राज्यवादी। जैकोबिन दल की जीत हुई और जून सन् १७९३ ई० के शुरू म ही ज्यादातर ज़िरोंदिन डिप्टी लोग कन्वेन्शन से निकाल दिये गये। कन्वेन्शन ने अब सामन्तों के अधिकारों को हमेशा के लिए उठा देने की कार्रवाई की, और जो ज़मीनें सामन्ती सरदारों के क़ब्ज़े में थीं, वे स्थानीय कम्यूनों अर्थात् म्युनिसिपैलिटियों को दे दी गईं, यानी ये ज़मीनें आम जनता की सम्पत्ति हो गईं।

कन्वेन्शन ने, जिसमें अब जैकोबिन लोगों की तूती बोलती थी, दो कमेटियाँ नियुक्त कीं; एक तो सार्वजनिक हित की और दूसरी सार्वजनिक रक्षा की, और इनको लम्बे-चौड़े अधिकार दे दिये। सितम्बर सन् १७९३ ई० में कन्वेन्शन ने एक भयंकर क़ानून पास किया जो 'संदेह-भाजन लोगों का क़ानून' कहलाया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जिस किसी पर संदेह होता, उसकी खैर न थी, और संदेह किये जाने से कौन बच सकता था? एक महीने के बाद कन्वेन्शन के बाईस ज़िरोंदिन डिप्टियों पर क्रान्तिकारी अदालत के सामने मुक़दमा चलाया गया और उनको फ़ौरन मौत की सज़ा दे दी गई।

इस तरह आतंक की शुरुआत हुई। प्रतिदिन मौत की सज़ा पाये हुए लोगों की गिलोतीन को यात्राएं होती थीं; प्रतिदिन इन क़ुर्बानी के बकरों से भरी हुई गाड़ियाँ,जिन्हें 'तम्ब्रिल' कहते थे, पैरिस की गलियों के खड़ंजों पर चूँ-चूँ करती और खड़खड़ाती हुई जाती थीं और लोग इन अभागों को चिढ़ाते थे। कन्वेन्शन में भी अधिकारियों के गुट्ट के ख़िलाफ़ बोलना खतरनाक था, क्योंकि इससे संदेह पैदा होता था और संदेह का नतीजा था मुक़दमा और गिलोतीन। कन्वेन्शन की बागडोर सार्वजनिक हित और सार्वजनिक रक्षा की कमेटियों के हाथों में थी। ये कमेटियाँ, जिनके हाथों में जीवन और मरण का पूरा अधिकार था, अपने अधिकार दूसरों को नहीं बाँटना चाहती थीं। इन्होंने पेरिस के कम्यून पर भी ऐतराज़ किया। असल में जो इनकी हाँ-में-हाँ नहीं मिलाते थे, उन सब पर इनको ऐतराज़ था। अधिकार में लोगों को भ्रष्ट कर देने की असाधारण तासीर होती है। इसलिए इन कमेटियों ने उस कम्यून को कुचलना शुरू कर दिया,जो अपने हलक़ों के साथ क्रान्ति का आधार रहा था। पहले इन्होंने हलक़ों को कुचला, और इन सहारों को काटकर फिर कम्यून को कुचल डाला। पेरिस के हरेक हिस्से के ये हलक़े आम जनता को ऊँचे अधिकारियों से मिलानेवाली कड़ियाँ थे। ये वे नसें थीं जिनमें होकर क्रान्ति को बल और जीवन देनेवाला लाल खून बहता था। सन् १७९४ ई० के शुरू में हलकों और कम्यून के कुचल दिये जाने का अर्थ था इस जीवन देनेवाले खून का रोक दिया जाना। आगे से कन्वेन्शन और ये कमेटियाँ ऊँचे अधिकारियों का अंग बन गईं, जिनका जनता से कोई सजीव सम्पर्क न था और जो आतंक के द्वारा अपनी मर्ज़ी दूसरों पर लादती थीं—जैसाकि सब अधिकार-प्राप्त लोगों का रवैया हुआ करता है।

इन उथल-पुथल और परेशानी के दिनों में पेरिस और फ़्रांस के नेता कौन थे? बहुत-से नाम सामने आते हैं। कैमिली दीस्यूलाँ जो सन् १७८९ ई० में बैस्तील के हमले का नेता था और जिसने अन्य बहुत-से मौक़ों पर भी महत्त्वपूर्ण हिस्सा लिया था, आतंक के दिनों में दयालुता की नीति का समर्थन करते हुए यह खुद गिलोतीन का शिकार हुआ। कुछ ही दिन बाद इसकी युवा पत्नी लूसिली ने भी इसका अनुसरण किया और अपने पति के बिना जीवित रहने से मौत को बेहतर समझा। कवि फैब्रे दि इग्लैतीन; सरकारी वकील फोक्रिये तिनविली, जिससे सब घबराते थे; मारत—क्रान्ति का शायद सबसे महान् और योग्य आदमी—जिसे एक नौजवान लड़की शारलौती कॉरदे ने छुरा भोंककर मार डाला; दान्तन, जिसका ज़िक्र में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पहले भी कर चुका हूँ, जो वीर और शेरदिल था और बड़ा लोकप्रिय वक्ता था, लेकिन फिर भी उसका अन्त गिलोतीन पर हुआ; और इन सबसे ज्यादा मशहूर रोबसपीयरी, जैकोबिन दल का नेता और आतंक के दिनों में कन्वेन्शन का क़रीब-क़रीब डिक्टेटर। यह तो एक तरह से आतंक की मूर्त्ति ही बन गया था और लोग इसका नाम लेते हुए भी काँपते थे। लेकिन इस व्यक्ति की ईमानदारी और देशभक्ति के बारे में कोई अंगुली नहीं उठा सकता था।

यह न समझना कि कन्वेन्शन ने लड़ने-भिड़ने और गिलोतीन पर चढ़ाने के सिवा और कुछ न किया। सच्ची क्रान्ति से पैदा होनेवाली शक्ति हमेशा बहुत ज़ोरदार होती है। इसका बहुत-सा हिस्सा तो विदेशियों से युद्ध में खप गया था, लेकिन फिर भी बहुत-कुछ बच रहा था, और इसके द्वारा काफ़ी रचनात्मक काम किया गया। खासकर राष्ट्रीय शिक्षा का सारा तरीक़ा ही बदल दिया गया। मीटर-प्रणाली[१] जिसे आज स्कूल के सब बच्चे सीखते हैं, इसी समय जारी की गई थी। इसने तमाम तोलों को और लम्बाई तथा आयतन के तमाम नापों को सरल कर दिया। यह प्रणाली अब दुनिया के सारे सभ्य देशों में फैल गई है।

मीटर-प्रणाली के बाद यह भी होना था कि गणराज्य का एक नया कैलेंडर बने। यह २२ सितम्बर सन् १७९२ ई० से, यानी जिस दिन गणराज्य का ऐलान हुआ उस दिन से, शुरू किया गया। सात दिन के सप्ताह की जगह दस दिन का सप्ताह कर दिया गया और दसवां दिन छुट्टी का रखा गया। महीने तो बारह ही रहे मगर उनके नाम बदल दिये गये। कवि फैब्रे ने ऋतुओं के अनुसार महीनों को बड़े प्यारे नये नाम दिये। पर यह कैलेंडर गणराज्य के बाद ज्यादा दिन न चला।

पेरिस के हलक़ों और कम्यून के कुचले जाने के बाद हालत बड़ी तेज़ी से खराब हो रही थी। जैकोबिन लोग सर्वेसर्वा हो रहे थे; सरकार की बागडोर उनके हाथों में थी, लेकिन उनमें आपसी फूट फैल रही थी। हीबर्त और उसके समर्थकों का गिलोतीन पर चढ़ा दिया जाना जैकोबिन दल में फूट का पहला बड़ा कारण हुआ। इसके बाद फैब्रे दि इंग्लैंतीन का नम्बर आया; और जब १७९४ के शुरू में दान्तन, कैमिली, दीम्यूला वग़ैरा ने रोबसपीयरी द्वारा अनेक लोगों को

---

[१] मीटर-प्रणाली—नापों की इस प्रणाली में लम्बाई की इकाई मीटर (३९.३७ इंच) और वजन की इकाई ग्राम (करीब १/३० औंस) मानी गई है। इनसे ऊपर और नीचे के सब नाप दस-दस गुणक या भाग हैं। जैसे १० मीटर=१ डेकामीटर, १० डेकामीटर=हेक्टोमीटर, १० हेक्टोमीटर =१ किलोमीटर; १/१० मीटर=१ डेसीमीटर, १/१०० मीटर=१ सेंटीमीटर, १/१००० मीटर=१ मिलीमीटर। इसी तरह ग्राम के आगे डेका, हेक्टो, किलो इत्यादि उपसर्ग लगा दिये जाते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गिलोतीन पर चढ़ा दिये जाने का विरोध किया, तो इनको भी मौत के घाट उतार दिया गया। अप्रैल सन् १७९४ ई० में दान्तन को फ़ुर्ती के साथ कत्ल कर दिया गया कि कहीं लोग रुकावट न डाल दें। इससे पेरिस की और सूबों की जनता यह समझ गई कि क्रान्ति का अन्त हो चुका। क्रान्ति का एक शेर मारा गया और अब एक संकीर्ण गुट्ट का अधिकार हो गया। शत्रुओं से जो घिरा हुआ था और जनता से जिसका सम्पर्क टूट गया था, ऐसे इस गुट्ट को चारों तरफ़ दग़ाबाज़ी नज़र आने लगी और आतंक को गहरा करने के सिवा इसे अपने बचाव का कोई रास्ता न सूझा।

बस आतंक राज होने लगा और गिलोतीन की तरफ़ जानेवाली तम्ब्रिल गाड़ियों में इन मरनेवालों की संख्या पहले से भी ज्यादा हो गई। जून में एक नया क़ानून पास किया गया जो 'बाइसवीं प्रेरियल' का क़ानून कहलाता है और जिसमें झूठी ख़बरें उड़ाना, लोगों को लड़ाना या भड़काना, सदाचार की जड़ काटना और जनता के ईमान को बिगाड़ना, वग़ैरा जुर्मों के लिए मौत की सज़ा तजवीज़ की गई थी। जो कोई भी रोबसपीयरी और उसके ताबेदारों से मतभेद रखता, वही इस क़ानून के लम्बे-चौड़े जाल में फँसाया जा सकता था। झुंड-के-झुंड लोगों पर एक साथ मुक़दमे चलाये जाते थे और उन्हें सज़ा दे दी जाती थी।

इस नये आतंक का राज छियालिस दिन तक रहा। आखिर नवीं थर्मिदोर यानी २७ जुलाई सन् १७९४ ई० को दबी हुई बिल्ली ने झपट्टा मारा। कन्वेन्शन अचानक रोबसपीयरी और उनके समर्थकों के विरुद्ध हो गया और 'ज़ालिम मुर्दाबाद' के नारे लगाते हुए उन्होंने इन सबको गिरफ्तार कर लिया और रोबसपीयरी को तो बोलने तक नहीं दिया गया। दूसरे दिन तम्ब्रिल उसे भी उसी गिलोतीन पर ले गई जहाँ वह अनेकों को भेज चुका था। इस तरह का फ़्रांस की राज्यक्रांति का अन्त हो गया।

रोबसपीयरी की मृत्यु के बाद प्रति-क्रान्ति शुरू हुई। अब मद्धिम दलवाले आगे आये और इन लोगों ने जैकोबिन लोगों को सताना और उनपर आतंक जमाना शुरू किया। 'लाल आतंक' के बाद 'सफ़ेद आतंक' की बारी आई। पन्द्रह महीने बाद, अक्तूबर, सन् १७९५ ई० में, कन्वेन्शन टूट गया और पाँच सदस्यों की एक 'डायरेक्टरी' सरकार बन गई। यह निश्चय ही मध्यम-वर्ग की सरकार थी और इसने साधारण जनता को दबाकर रखने की कोशिश की। इस डायरेक्टरी ने फ़्रांस पर चार वर्ष से ज्यादा शासन किया और अन्दरूनी झगड़ों के होते हुए भी गणराज्य की इतनी धाक और ताक़त थी कि वह देश के बाहर भी युद्धों में जीतती रही। उसके विरुद्ध कुछ बग़ावतें भी हुईं, लेकिन वे सब दबा दी गईं। इसी तरह के एक विद्रोह को दबानेवाला गणराज्य की फ़ौज का नौजवान सेनानायक नैपोलियन बोनापार्त था जिसने पेरिस के लोगों की भीड़ पर गोलियाँ चलाने की हिम्मत की और बहुतों को मार डाला। यह घटना 'छर्रों का झोंका' करके मशहूर है। जब ख़ुद गणराज्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की पुरानी फ़ौज ही फ़्रांस की जनता को मारने के काम में लाई जा सकती थी, तो स्पष्ट है कि क्रान्ति की छाया तक भी बाक़ी न रही होगी।

क्रान्ति धराशायी हो गई लेकिन गणतांत्रिक भावना योरप भर में फैल गई और उसके साथ-ही उन सिद्धांतों का भी प्रचार हुआ जिनका ऐलान 'मानव-अधिकारों की घोषणा' में किया गया था।

: ७४ :

नैपोलियन

फ़्रांस की राज्यक्रान्ति में से नैपोलियन का उदय हुआ। जिस गणतांत्रिक फ़्रांस ने योरप के बादशाहों को चुनौती दी थी और उनसे लोहा लिया था, उसने इस छोटे-से कोर्सिका निवासी के आगे घुटने टेक दिये।

नैपोलियन बोनापार्ते का जन्म सन् १७६९ ई० में कोर्सिका टापू में हुआ था जो फ़्रांस के मातहत था। उसकी रगों में फ़्रांस, कोर्सिका और इटली का मिला हुआ ख़ून था। उसने फ़्रांस के एक फ़ौजी स्कूल में तालीम पाई थी और राज्यक्रान्ति के समय वह जैकोबिन क्लब का सदस्य था। लेकिन शायद वह जैकोबिन लोगों में अपना-ही उल्लू सीधा करने के लिए शामिल हुआ था, इसलिए नहीं कि वह उनकेआदर्शों में विश्वास करता था। सन् १७९३ ई० में तूलों में उसे पहली विजय प्राप्त हुई।

सन् १७९६ ई० में वह इटली की फ़ौज का सेनापति हो गया और इटली के उत्तरी हिस्से पर बड़ा चतुराईपूर्ण धावा करके उसने सारे योरप को चकित कर दिया। फ़्रांस की फ़ौजों में क्रान्ति का जोश अभी कुछ बाक़ी था। लेकिन वे फटेहाल थीं, और उनके पास न ठीक कपड़े थे, न जूते, न खाना और न रुपया। वह इस फटेहाल और पाँवों में छाले पड़े हुए गिरोह को आल्प्स पहाड़ों के ऊपर होकर ले गया और उनको आशा दिलाई कि इटली के उपजाऊ मैदानों में पहुँचकर उनको खाना और आराम की चीज़ें सब मिलेंगी। दूसरी तरफ़ इटली के निवासियों को उसने स्वतन्त्रता का आश्वासन दिया; वह उनको ज़ालिमों से छुड़ाने आ रहा था। इस तरह उसने फ़्रांस और इटली दोनों के निवासियों की भावनाओं से बड़ी चालाकी के साथ फ़ायदा उठाया। जैसे-जैसे उसे विजय मिलती गई, उसका रौब बढ़ने लगा और उसकी कीर्ति फैलने लगी। अपनी फ़ौज में भी वह बहुत-सी बातों में साधारण सैनिकों के साथ तकलीफ़ें उठाता था और ख़तरे में उनके साथ रहता था। धावे में जहाँ कहीं सबसे ज्यादा ख़तरा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होता, वहीं वह पहुँच जाता था। वह हमेशा सच्ची योग्यता की तलाश में रहता था और इसके लिए वह तुरन्त लड़ाई के मैदान ही में इनाम दे देता था।

तमाम उत्तरी इटली को विजय करके, और आस्ट्रिया को हराकर और वेनिस के पुराने गणराज्य का अन्त करके और वहाँ बड़ी भद्दी साम्राज्यशाही सुलह करके, वह एक महान् विजयी वीर बनकर पेरिस लौटा। फ्रांस में उसका दबदबा क़ायम होना शुरू हो ही गया था। लेकिन उसने सोचा कि शायद अभी सत्ता हथियाने का अनुकूल समय नहीं आया है, इसलिए उसने एक फ़ौज लेकर मिस्र जाने का प्रबंध किया। भूमध्यसागर में अंग्रेज़ी जहाज़ी बेड़े से किसी तरह बाल-बाल बचकर वह सिकन्दरिया जा पहुँचा।

मिस्र उन दिनों तुर्की के उस्मानी-साम्राज्य का हिस्सा था लेकिन इस साम्राज्य का पतन हो चुका था और दरअसल मिस्र में ममलूक[1] लोग राज कर रहे थे जो सिर्फ़ नाम के लिए तुर्की के सुल्तान के मातहत थे। क्रान्तियों और आविष्कारों ने योरप को भले-ही हिला डाला हो, लेकिन ये ममलूक अभीतक मध्य-युगों का ही ढंग अपनाये हुए थे। कहते हैं कि जब नैपोलियन क़ाहिरा पहुँचा, तो एक ममलूक सूरमा रेशम के भड़कीले कपड़े और दामिश्क का ज़िरह-बख़्तर पहने घोड़े पर सवार होकर फ़्रांस की फ़ौज के सामने आया और उसके नेता को द्वन्द-युद्ध के लिए ललकारा! उस बेचारे पर बड़ी बेजा तौर पर गोलियों की बौछार की गई। और जल्द ही नैपोलियन ने 'पिरैमिडों की लड़ाई' जीत ली।

नैपोलियन थल-युद्ध का उस्ताद था और वह जीतता ही गया। लेकिन समुद्र पर उसका बस न चला। वह जल-युद्ध लड़ना नहीं जानता था और शायद उसके पास योग्य समुद्री सेनानायक भी न थे। ठीक उन्हीं दिनों भूमध्यसागर में इंग्लैण्ड के जहाज़ी बेड़े का नायक एक असाधारण प्रतिभावाला व्यक्ति था। यह व्यक्ति होरेशियो नेल्सन था। नेल्सन बड़ी हिम्मत करके एक दिन ठेठ बन्दरगाह में घुस आया और नील नदी की लड़ाई में उसने फ़्रांस के जहाजी बेड़े को नष्ट कर दिया। इस तरह विदेश में नैपोलियन फ़्रांस से बिछुड़ गया। पर वह अकेला किसी तरह चुपचाप बचकर निकल भागा और फ़्रांस पहुँच गया। लेकिन ऐसा करके उसने अपनी 'पूर्व की फ़ौज' को बलि कर दिया।

मिस्र से जब नैपोलियन लौटा, तो फ़्रांस की हालत बहुत ख़राब हो रही थी।

---

[1]ममलूक—तुर्की के सुल्तान अयूब के शरीर-रक्षक गुलाम जो उसकी मृत्यु (१२५१) के बाद १५१७ ई० तक मिस्र में राज करते रहे। सुल्तान सलीम प्रथम ने इनको निकाल बाहर कर दिया था, लेकिन अठारहवीं सदी में इन्होंने फिर अधिकार प्राप्त कर लिया। १७९८ ई० में नैपोलियन ने इन्हें हराया और १८११ ई० में सुल्तान मुहम्मद अली ने इनका अन्त कर दिया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

डायरेक्टरी बदनाम और अप्रिय हो चुकी थी। इसलिए हरएक की आँखें नैपोलियन की तरफ़ लगी हुई थीं। वह तो सत्ता ग्रहण करने के लिए तैयार-ही बैठा था। नवंबर १७९९ में, अपनी वापसी के एक महीने बाद, नैपोलियन ने अपने भाई ल्यूशन की सहायता से असेम्बली को ज़बरदस्ती भंग कर दिया, और उस समय जिससे विधान के अनुसार डायरेक्टरी हुकूमत कर रही थी, उसका अन्त कर दिया। इस ज़बरदस्ती की राजनैतिक कार्रवाई से नैपोलियन ने परिस्थिति को क़ाबू में कर लिया। एक नये संविधान का मसविदा बनाया गया जिसमें तीन 'कौंसल' (यह शब्द प्राचीन रोम से लिया गया था) रखे गये थे, लेकिन इन तीनों में प्रधान नैपोलियन था, जिसे पूरे अधिकार थे। वह 'प्रथम कौंसल' कहलाया और दस वर्ष के लिए नियुक्त किया गया।

यह संविधान, जिसमें नैपोलियन को दस साल के लिए प्रथम कौंसल बनाया गया था, जनता की राय के लिए पेश किया गया, और तीस लाख से ज्यादा वोटरों ने उसे लगभग सर्वसम्मति से मान लिया। इस तरह फ़्रांस की जनता ने इस दुराशा में, कि उन्हें वह स्वतन्त्रता और सुख दिलायेगा, खुद-ही सारी सत्ता नैपोलियन की भेंट कर दी।

अधिकार के ज़ीने की दूसरी सीढ़ी तीन साल बाद सन् १८०२ ई० में आई, जब उसने अपने-आपको जीवन भर के लिए कौंसल बनवा लिया और उसके अधिकार बढ़ गये। गणराज्य का अन्त हो चुका था, और वह सब तरह से एकछत्र शासक बन गया था, शासक की उपाधि भले ही उसे न थी। और जब यह अनिवार्य हो गया तो उसने सन् १८०४ ई० में जनता की राय लेकर अपने-आपको सम्राट घोषित कर दिया। फ़्रांस में वह-ही सर्वेसर्वा था, लेकिन फिर भी उसमें और पुराने ज़माने के स्वेच्छाचारी राजाओं में बहुत अन्तर था। वह परम्परा और दैवी अधिकार को अपनी सत्ता का आधार नहीं बना सकता था। उसे तो अपनी सत्ता अपनी कार्यकुशलता और जनता में अपनी लोकप्रियता के आधार पर रखनी पड़ी थी।

दस वर्ष तक वह सम्राट रहा और इन वर्षों में वह प्रभावोत्पादक सैनिक कार्रवाइयाँ करता हुआ और स्मरणीय लड़ाइयाँ जीतता हुआ योरप के सारे महाद्वीप में दौड़ता फिरा। सारा योरप उसके नाम से थर्राता था, और उसका ऐसा दबदबा था जैसा उसके पहले और बाद में आजतक किसीका न हुआ। मारेंगो (यह लड़ाई सन् १८०० ई० में हुई जब उसने अपनी फ़ौज के साथ स्वीज़रलैण्ड की बरफ़ से ढकी हुई सेंट बर्नार्ड की घाटी को पार किया), उल्म, आस्तरलित्ज़, जैना, ईलू, फ़्रीडलैंड, वैग्रम, वग़ैरा उसकी जीती हुई खुश्की की मशहूर लड़ाइयों के नाम हैं। आस्ट्रिया, प्रशिया, रूस, आदि सब उसके सामने भरभरा कर गिर पड़े। स्पेन, इटली, निदरलैण्ड्स, राइन का कान्फ़ेडरेशन कहलानेवाला जर्मनी का बड़ा हिस्सा,

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पोलैण्ड, जो वारसा की डची कहलाता था, ये सब राज्य उसके मातहत हो गये। पुराना पवित्र रोमन-साम्राज्य, जो बहुत दिनों से नाम मात्र के लिए रह गया था, अब बिल्कुल ख़तम हो गया।

योरप की बड़ी शक्तियों में से सिर्फ़ इंग्लैण्ड ही आफ़त से बच गया। इंग्लैण्ड को उसी समुद्र ने बचाया जो नैपोलियन के लिए हमेशा एक रहस्य रहा। नैपोलियन की जीवन-यात्रा के शुरू में ही नेल्सन ने नील नदी की लड़ाई में उसके जहाज़ी बेड़े को नष्ट कर दिया था। २१ अक्तूबर, सन् १८०५ ई० को स्पेन के दक्षिणी किनारे पर ट्रैफलगर अन्तरीप के पास नेल्सन ने फ़्रांस और स्पेन के सम्मिलित जहाज़ी बेड़ों पर और भी ज़बरदस्त विजय प्राप्त की। नेल्सन तो विजय की घड़ी में मारा गया। लेकिन इस विजय ने, जिसे अंग्रेज़ लोग बड़े अभिमान से याद करते हैं और जिसका स्मारक लंदन के ट्रैफलगर स्क्वायर में नेल्सन स्तम्भ के रूप में बना हुआ है, नैपोलियन के इंग्लैण्ड पर धावा बोलने के स्वप्न को नष्ट कर दिया।

नैपोलियन ने योरप महाद्वीप के सारे बन्दरगाहों को इंग्लैण्ड के लिए बंद कर देने की आज्ञा निकालकर इसका बदला लिया। उससे किसी तरह के भी यातायात सम्बन्ध रखने की मनाही कर दी गई और 'बनियों के राष्ट्र' इंग्लैण्ड को इस तरह क़ाबू में लाने की सोची गई। उधर इंग्लैण्ड ने इन बन्दरगाहों की नाकाबन्दी कर दी और नैपोलियन के साम्राज्य तथा अमरीका वग़ैरा दूसरे देशों के बीच होनेवाले व्यापार को रोक दिया। योरप में लगातार साज़िशें करके और नैपोलियन के शत्रुओं तथा उदासीन राज्यों में दिल खोलकर सोना बाँटकर इंग्लैण्ड ने नैपोलियन से लड़ाई लड़ी।

इंग्लैण्ड ने नैपोलियन के विरुद्ध एक और भी तरीक़ा काम में लिया, जो प्रचार का था। संग्राम का यह नया ही ढंग था, लेकिन तबसे यह बहुत प्रचलित हो गया है। फ़्रांस के, और ख़ासकर नैपोलियन के विरुद्ध अख़बारों में आन्दोलन शुरू किया गया। तरह-तरह के लेख, पुस्तिकाएं, समाचार-पत्रिकाएं, नये सम्राट का मखौल उड़ानेवाले कार्टून, और झूठी बातों से भरे हुए नक़ली संस्मरण, लंदन से प्रकाशित होते थे और चोरी-छिपे फ़्रांस में दाख़िल कर दिये जाते थे।

: ७५ :

नैपोलियन का कुछ और हाल

नैपोलियन जहाँ कहीं गया, वहीं वह अपने साथ फ़्रांस की राज्यक्रांति की कुछ बातें लेता गया और जिन देशों को उसने जीता, वहाँ के लोग उसके आने से नाख़ुश

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नहीं हुए। वे लोग अपने निकम्मे और अर्द्ध-सामन्ती शासकों से तंग आ गये थे जो उनकी गरदन पर सवार थे। इससे नैपोलियन को बहुत सहायता मिली और जैसे-जैसे वह आगे बढ़ता गया, सामंतशाही उसके सामने टूटकर गिरने लगी। जर्मनी में तो ख़ासतौर पर सामंतशाही का सफ़ाया हो गया। स्पेन में उसने 'इनक्विज़िशन' का अन्त कर दिया। लेकिन जिस राष्ट्रीयता की भावना को उसने अनजान में उत्तेजित किया था वही उसके विरुद्ध उठ खड़ी हुई और अन्त में इसीने उसे परास्त कर दिया। वह पुराने बादशाहों और सम्राटों को नीचा दिखा सकता था, लेकिन अपने विरुद्ध भड़के हुए सारे राष्ट्र को नहीं। इस तरह स्पेन के लोग उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए और वर्षों तक उसकी शक्ति और उसके साधनों को निचोड़ते रहे। जर्मन लोग भी बैरन वॉन स्टीन नाम के एक महान् देशभक्त के नेतृत्व में संगठित हो गये। यह नैपोलियन का घोर शत्रु हो गया। जर्मनी में स्वाधीनता का संग्राम हुआ। इस तरह राष्ट्रीयता, जिसे ख़ुद नैपोलियन ने ही जगाया था, समुद्री शक्ति से मेल करके उसके पतन का कारण बन गई।

इस अद्भुत प्रतिभावाले व्यक्ति में कमज़ोरियां भी बहुत असाधारण थीं। उसने अपने भाई-बहनों को बड़े भद्दे तौर पर बढ़ाया, हालांकि वे बिल्कुल नालायक़ थे। ल्यूशन ही एक लायक भाई था जिसने सन् १७९९ ई० की राजनैतिक चालबाज़ी के दौरान में, एक संकट की घड़ी में, नैपोलियन की सहायता की थी, जो बाद में खटपट हो जाने के कारण इटली में जाकर बस गया। दूसरे भाइयों को, जो घमंडी और बेवकूफ़ थे, नैपोलियन ने कहीं का राजा और कहीं का शासक बना दिया। अपने कुटुम्ब को आगे बढ़ाने की उसमें एक अजीब और बेहूदी धुन थी। जब उसपर मुसीबत पड़ी तो इनमें से क़रीब-क़रीब सबने उसे धोखा दिया और उससे किनाराकशी की। नैपोलियन को अपना राजवंश स्थापित करने की भी बड़ी उत्कण्ठा थी। अपने जीवन के आरम्भ में, इटली पर चढ़ाई करने और प्रसिद्ध होने से भी पहले, उसने जोसेफाइन दी बूहार्नाइ नामक एक सुन्दर लेकिन चंचल औरत से विवाह कर लिया था। जब उससे कोई संतान न हुई तो नैपोलियन को बड़ी भारी निराशा हुई क्योंकि उसके दिल में तो राजवंश चलाने की लालसा थी। बस उसने जोसेफाइन को तलाक़ देकर दूसरी स्त्री से विवाह करने का इरादा कर लिया, हालाँकि वह जोसेफाइन से प्रेम करता था। उसकी इच्छा रूस की एक ग्रांड डचैस से विवाह करने की थी लेकिन ज़ार ने अनुमति नहीं दी। तब नैपोलियन ने किसी तरह आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग सम्राट को मजबूर किया कि वह अपनी पुत्री मेरी लुइसी का विवाह उसके साथ कर दे। उसकी कोख से एक लड़का पैदा हुआ, लेकिन वह मूढ़ और मूर्ख थी और उसे बिल्कुल नहीं चाहती थी। नैपोलियन के लिए वह बहुत बुरी पत्नी साबित हुई। जब नैपोलियन पर आफ़त आई तो वह उसे छोड़कर भाग गई और उसे बिल्कुल ही भूल गई।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सन् १८१२ ई० में एक ज़बरदस्त फ़ौज के साथ, वह रूस पर चढ़ाई करने के लिए रवाना होता है। वह रूसवालों को हरा देता है और बिना अधिक विरोध के आगे बढ़ता चला जाता है। रूस की फ़ौजें लगातार पीछे हटती चली जाती हैं और लड़ने के लिए सामने नहीं आतीं। नैपोलियन की 'ग्रान्ड आर्मी' उनकी असफल तलाश करती-करती अन्त में मॉस्को पहुँच जाती है। ज़ार तो घुटने टेकने के लिए तैयार हो जाता है, लेकिन दो व्यक्ति, एक तो फ़्रांसीसी बर्नादोत, नैपोलियन का पुराना सहयोगी और सेनानायक, तथा दूसरा जर्मन राष्ट्रवादियों का नेता वैरन वॉन स्टीन, जिसे नैपोलियन ने बाग़ी घोषित कर दिया था, ज़ार को ऐसा करने से रोक देते हैं। रूसी लोग दुश्मन को धुएँ से भगा देने के लिए अपने प्यारे मॉस्को नगर में ही आग लगा देते हैं।

शीतकाल का आरम्भ है। नैपोलियन जलते हुए मॉस्को को छोड़कर फ़्रांस लौटने का निश्चय करता है। 'ग्राण्ड आर्मी' बर्फ़ में होकर थकी-माँदी धीरे-धीरे वापस घिसटती है। उधर रूस के कज्ज़ाक लोग, जो बराबर उसके दोनों ओर तथा पीछे-पीछे लगे हुए हैं, उस पर हमले करते हैं और छापे मारते हैं और पिछड़ जानेवालों को मौत के घाट उतार देते हैं। कड़ी सरदी और कज्ज़ाक लोग, दोनों मिलकर हज़ारों जानें ले लेते हैं। और 'ग्राण्ड आर्मी' भूतों का-सा जुलूस बन जाती है जिसमें सब लोग पैदल-पैदल, फटेहाल, पाँवों में छाले पड़े हुए और ठंड से गले हुए, थकावट से लड़खड़ाते हुए चलते हैं। अपने गोलन्दाज़ों के साथ नैपोलियन को भी पैदल चलना पड़ता है। यह यात्रा बड़ी भयंकर और हृदय-विदारक साबित होती है, और वह ज़बरदस्त फ़ौज कम होती-होती अन्त में क़रीब-क़रीब खत्म हो जाती है। सिर्फ़ मुट्ठी-भर लोग वापस लौट पाते हैं।

रूस की यह चढ़ाई ज़बरदस्त चोट साबित हुई। इसने फ़्रांस की जन-शक्ति को ख़त्म कर दिया। और उससे भी ज्यादा यह हुआ कि इससे नैपोलियन पर बुढ़ापा-सा छा गया; वह चिन्ताग्रस्त हो गया और लड़ाई-झगड़ों से ऊब गया। तैलीरेंद की साज़िशें बढ़ने लगीं और नैपोलियन के कुछ विश्वासपात्र सेनाधीशतक भी उसके विरुद्ध हो गये। अन्त में उकताकर और तंग आकर नैपोलियन ने अप्रैल सन् १८१४ ई० में राजगद्दी छोड़ दी।

नैपोलियन के रास्ते से हटते ही योरप के शक्तिशाली राष्ट्रों की एक बड़ी कांग्रेस योरप का नया नक्शा तय करने के लिए वियेना में की गई। नैपोलियन को भूमध्य सागर के एक छोटे से टापू ऐल्बा में भेज दिया गया। बोर्बां राज-वंश का एक और लुई, जो गिलोतीन पर मारे गये लुई का भाई था, जहाँ कहीं छिपा पड़ा था, वहीं से निकाल कर लाया गया और अठारहवें लुई के नाम से फ़्रांस की राजगद्दी पर बैठाया गया। इस तरह बोर्बां लोग फिर वापस आ गये और उनके साथ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

योरप पर नैपोलियन की छाया

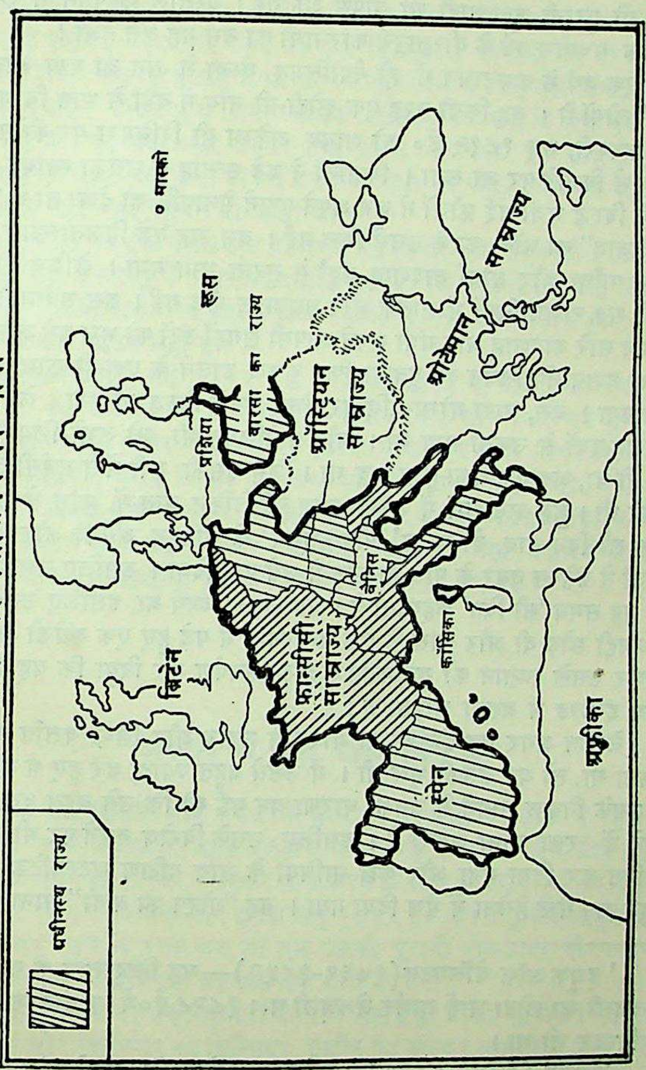

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बहुत-सी पुरानी जुल्मशाही भी वापस आ गई। बैस्तील के पतन से लगा कर अबतक पच्चीस वर्ष के वीरतापूर्ण कारनामों का बस यह अंत हुआ !

एक वर्ष से कम समय में ही नैपोलियन ऐल्बा से तंग आ गया और फ़्रांस बोर्बां लोगों से। वह किसी तरह एक छोटी-सी नाव में वहाँ से भाग निकला और २६ फ़रवरी, सन् १८१५ ई० को शायद अकेला ही रिवियरा पर कैनेस नामक जगह में किनारे पर आ लगा। किसानों ने बड़े उत्साह से उसका स्वागत किया। उसके विरुद्ध भेजी गई फ़ौजों ने जब अपने पुराने सेनापति को देखा तो वे "सम्राट ज़िन्दाबाद" का घोष करके उससे मिल गईं। बस, वह बड़े विजयोल्लास के साथ पैरिस पहुँचा और बोर्बां बादशाह वहाँ से तुरन्त भाग गया। लेकिन योरप की बाक़ी सब राजधानियों में आतंक और घबड़ाहट फैल गई। इस सर्वग्राही भय के कारण सारे बादशाह और मंत्री अपने आपसी झगड़ों-टंटों को भूल गये और उनका सारा ध्यान नैपोलियन को दुबारा फिर कुचल डालने के एक-ही काम की तरफ़ लग गया। बस, सारा योरप हथियार लेकर उसके विरुद्ध आ डटा। लेकिन फ़्रांस तो लड़ाइयों से उकता गया था। और नैपोलियन भी, जो अभी छियालीस वर्ष का ही था, अब एक थका हुआ वृद्ध था। जिसे उसकी स्त्री मेरी लुईसी तक छोड़ भागी थी। कुछ लड़ाइयों में उसकी जीत हुई लेकिन अन्त में, फ़्रांस में उतरने के ठीक सौ दिन बाद, वेलिंगटन[1] और ब्लूशर[2] के मातहत अंग्रेज़ी और प्रशियाई फ़ौजों ने ब्रसेल्स नगर के पास वाटरलू में उसे हरा दिया। इसलिए उसकी वापसी का यह समय 'सौ दिन' कहलाता है। अब लड़ना व्यर्थ था, इसलिए उसने दुबारा राजगद्दी छोड़ दी और फ़्रांस के एक बन्दरगाह में पड़े हुए एक अंग्रेज़ी जहाज़ पर जाकर उसके कप्तान को यह कहकर आत्म-समर्पण कर दिया कि वह शान्ति के साथ इंग्लैण्ड में बसना चाहता है।

लेकिन अगर वह इंग्लैण्ड या योरप से उदार और शिष्ट बर्त्ताव की आशा रखता था, तो यह उसकी भूल थी। ये उससे बहुत ज्यादा डरे हुए थे और ऐल्बा से उसके निकल भागने से उनकी धारणा बन गई थी कि उसे बहुत दूर और कड़े पहरे में रखा जाना जरूरी है। इसलिए, उसके विरोध करने पर भी उसे बन्दी घोषित कर दिया गया और कुछ साथियों के साथ दक्षिण अटलांटिक सागर के सुदूर टापू सेन्ट हेलेना में भेज दिया गया। वह "योरप का बन्दी" माना गया और

---

[1] ड्यूक ऑफ वेलिंगटन (१७६९-१८५२)—यह हिन्दुस्तान के गवर्नर लार्ड वेलज़ली का छोटा भाई आर्थर वेलज़ली था। १८२८ ई०में यह इंग्लैण्ड का प्राइम मिनिस्टर भी था।

[2] ब्लूशर (१७४२-१८१९)—प्रशिया का सेनापति। इसने फ़्रांस में कई बार नेपोलियन को हराया था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कई राष्ट्रों ने सेंट हेलेना में उसपर निगरानी रखने के लिए कमिश्नर भेजे। लेकिन वास्तव में उसपर निगरानी रखने की पूरी ज़िम्मेदारी इंग्लैण्ड पर थी। सारी दुनिया से अलग उस सुदूर टापू में भी उसपर पहरा देने के लिए एक अच्छी-खासी फ़ौज रखी गई। उसे टापू के सबसे अधिक अस्वास्थ्यकर भाग के एक बुरी तरह के मकान में रखा गया और उसपर तथा उसके साथियों पर तरह-तरह की अपमानजनक पाबन्दियाँ लगा दी गईं। पत्र-व्यवहार तो क्या, उसके पुत्र की खबर तक उसके पास नहीं पहुँचने दी जाती थी।

साढ़े पाँच वर्ष तक उसने सेन्ट हेलेना में यह ज़िन्दा मौत सहन की। छोटी-सी चट्टान सरीखे उस टापू में पिंजरा-बन्द होकर और रोज़ कमीनी ज़िल्लतें उठा कर इस असीम शक्तिवाले और महत्वाकांक्षी व्यक्ति ने जो कष्ट उठाये होंगे, उनकी कल्पना करना कठिन नहीं है।

नैपोलियन मई, सन् १८२१ ई० में मरा। मरने के बाद उसके लिए एक बहुत बुरी क़ब्र बनवाई गई। धीरे-धीरे, नैपोलियन के साथ किये गये दुर्व्यवहार और अत्याचार की ख़बर के योरप पहुँचने के साथ (उन दिनों ख़बरें बहुत देर में पहुँचा करती थीं) उसके विरोध में इंग्लैण्ड सहित बहुत-से देशों में शोर मच गया। इंग्लैण्ड का विदेश-मंत्री केसलरे, जो इस दुर्व्यवहार के लिए सबसे ज्यादा जिम्मेदार था, इस कारण तथा अपनी कठोर घरू नीति के कारण बहुत बदनाम हो गया। उसे इसका इतना पछतावा हुआ कि उसने आत्महत्या कर ली।

: ७६ :

भारत में युद्ध और विद्रोह

मैसूर के हैदरअली और अंग्रेज़ों के बीच हुए दो युद्धों का हाल मैं पहले बता चुका हूँ। इनमें हैदरअली बहुत हद तक सफल रहा। उसका पुत्र टीपू सुल्तान अंग्रेज़ों का कट्टर दुश्मन था। उसका अन्त करने के लिए दो और युद्ध हुए, एक सन् १७९० से १७९२ ई० तक और दूसरा सन् १७९९ ई० में। टीपू लड़ता हुआ मारा गया। मैसूर शहर के पास अब भी तुम उसकी पुरानी राजधानी श्रीरंगपट्टम के खण्डहर देख सकती हो जहाँ वह दफ़नाया गया था।

अब अंग्रेज़ों की सत्ता को चुनौती देनेवाले मराठे ही बाक़ी रह गये। पश्चिम में पेशवा था और ग्वालियर का सिन्धिया, इन्दौर का होल्कर तथा कुछ अन्य सरदार भी थे। लेकिन ग्वालियर का महादजी सिन्धिया, और पेशवा का मंत्री नाना फड़नवीस, इन दो महान् राजनीतिज्ञों की मृत्यु के बाद, जो क्रमशः सन् १७९४

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और सन् १८०० ई० में हुई, मराठों की ताक़त छिन्न-भिन्न हो गई। फिर भी मराठों ने बहुत-सी टक्करें लीं, और सन् १८१९ ई० में अपनी आख़िरी पराजय के पहले उन्होंने अंग्रेज़ों को कई बार हराया। मराठे सरदार एक-एक करके हराये गये; हरएक सरदार दूसरे को मदद न पहुँचाकर उसका पतन देखता रहा। सिन्धिया और होल्कर अंग्रेज़ों की मातहती स्वीकार करके अधीन शासक बन गये। बड़ौदा के गायकवाड़ ने तो पहले ही विदेशी सत्ता के साथ समझौता कर लिया था।

मराठों का वर्णन समाप्त करने से पहले मैं एक नाम का और ज़िक्र कर देना चाहता हूँ, जो मध्य भारत में काफ़ी प्रसिद्धि पा चुका है। यह नाम है अहल्याबाई का, जो सन् १७६५ से १७९५ ई० तक, यानी तीस वर्ष तक, इन्दौर की शासिका थी। जिस समय वह गद्दी पर बैठी, वह तीस वर्ष की नौजवान विधवा थी, और अपने राज्य के शासन में वह बड़ी ख़ूबी से सफल रही। उसने परदा कभी नहीं किया। मराठों ने कभी परदे को नहीं माना। वह ख़ुद राज्य का कारो-बार देखती थी, खुले दरबार में बैठती थी, और उसने इन्दौर को एक छोटे-से गाँव से बढ़ाकर समृद्ध शहर बना दिया। उसने युद्धों को टाला, शान्ति क़ायम रक्खी, और अपने राज्य को ऐसे समय में समृद्धिशाली बनाया जबकि भारत का ज्यादातर हिस्सा उथल-पुथल की हालत में था। इसलिए यह ताज्जुब की बात नहीं है कि आज भी वह मध्य-भारत में सन्त की तरह श्रद्धा की दृष्टि से देखी जाती है।

अन्तिम मराठा-युद्ध से कुछ-ही पहले, सन् १८१४ से १८१६ ई० तक, अंग्रेज़ों का नैपाल से एक युद्ध हुआ था। पहाड़ी इलाक़े में उन्हें बड़ी दिक्क़तें उठानी पड़ीं, लेकिन आख़िर उनकी जीत हुई और देहरादून का ज़िला, कुमायूँ और नैनीताल, अंग्रेज़ी हुक़ूमत में आ गये।

पूर्व में बर्मा ठेठ आसाम तक फैल गया था। इसलिए लगातार आगे बढ़ने वाले अंग्रेज़ों से उसकी मुठभेड़ होना लाज़िमी था। बर्मा से तीन युद्ध हुए, और हरबार अंग्रेज़ उसका कोई-न-कोई इलाक़ा अपने राज्य में मिलाते गये। सन् १८२४-२६ ई० में होनेवाले पहले युद्ध का नतीजा हुआ आसाम का अंग्रेज़ों की अधीनता में आना। सन् १८५२ ई० के दूसरे युद्ध में दक्षिणी बर्मा क़ब्ज़े में किया गया। उत्तरी बर्मा, माण्डले के पास की अपनी राजधानी आवा समेत, समुद्र से बिल्कुल अलग कर दिया गया और दूर ख़ुश्की पर अंग्रेज़ों के शिकंजे में फंस गया। सन् १८८५ ई० में बर्मा से तीसरा युद्ध हुआ, जिसमें इसका अन्त हो गया और सारे देश पर अंग्रेज़ों ने अपना क़ब्ज़ा करके उसे ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया।

पंजाब में रणजीतसिंह के मातहत एक शक्तिशाली सिक्ख राज्य क़ायम हो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गया था। सदी के प्रारम्भ में ही रणजीतसिंह अमृतसर का स्वामी हुआ, और सन् १८२७ ई० के क़रीब तमाम पंजाब और कश्मीर का मालिक बन गया। सन् १८३९ ई० में उसकी मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के बाद ही सिक्ख राज्य कमज़ोर हो गया और नष्ट होने लगा। सिक्खों और अंग्रेज़ों के बीच दो युद्ध हुए, पहला सन् १८४५-४६ ई० में, और दूसरा १८४८-४९ ई० में। दूसरी लड़ाई में चिलियां-वाला में अंग्रेज़ों की करारी हार हुई। लेकिन अन्त में अंग्रेज़ पूरी तौर से विजयी हुए और पंजाब अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया गया।

और भी कई छोटे-छोटे युद्ध हुए। इनमें से एक युद्ध, जो बहुत ही बे-ग़ैरत था, सन् १८४३ ई० में सिन्ध पर थोपा गया। वहाँ के ब्रिटिश एजेण्ट ने सिन्धियों को खूब धमकाया और झगड़ा मोल लेने के लिए उकसाया और फिर उन्हें कुचल कर प्रान्त को अपने राज्य में मिला लिया। और इस कारगुज़ारी के लिए अंग्रेज़ी अफ़सरों को ऊपरी मुनाफ़े के तौर पर इनाम का रुपयां भी बांटा गया। एजेण्ट (सर चार्ल्स नेपियर) के हिस्से की रकम थी करीब सात लाख रुपये! ऐसी हालत में यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि उस समय के भारत में सिद्धान्तहीन और दुस्साहसी अंग्रेज खिंचे चले आते थे।

सन् १८५६ ई० में अवध भी मिला लिया गया। इस समय अवध कु-शासन की भयंकर दशा में था। कुछ समय से यहाँ का शासन नवाब-वज़ीर कहे जानेवाले लोगों के हाथों में था। शुरू में दिल्ली के मुग़ल बादशाह ने नवाब--वज़ीर को अवध में अपना गवर्नर नियुक्त किया था। लेकिन मुग़ल-साम्राज्य के पतन के बाद अवध स्वाधीन हो गया। पर ज़्यादा दिन के लिए नहीं। पिछले नवाब--वज़ीर बिल्कुल अयोग्य और भ्रष्ट थे, और अगर वे कुछ भलाई करना भी चाहते थे, तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी की दस्तन्दाज़ी की वजह से कर नहीं सकते थे। उनके हाथ में कोई अधिकार बाक़ी नहीं रह गया था और अंग्रेज़ों को अवध के अन्दरूनी शासन में कोई दिलचस्पी न थी। बस, अवध बरबाद हुआ, और अंग्रेज़ी राज्य का हिस्सा बन गया।

लेकिन भारत में प्रचलित सामन्ती व्यवस्था ने उस वक्त, जबकि अंग्रेज़ लोग भारत में पैर पसार रहे थे, एक बार फिर अधिकार प्राप्त करने और विदेशियों को निकाल बाहर करने का अन्तिम प्रयत्न किया। यह था १८५७ का महान् विद्रोह। देश भर में अंग्रेज़ों के विरुद्ध बड़ा असन्तोष और रोष था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति रुपया बटोरना थी और इसके सिवा वह कुछ नहीं करती थी। उसकी इस नीति ने उसके अनेक अफ़सरों के अज्ञान और लुटेरेपन के साथ मिलकर चारों तरफ़ घोर तबाही मचा दी। यहाँतक कि अंग्रेज़ों की भारतीय फ़ौज पर भी इसका असर पड़ा और कई छोटी-मोटी बग़ावतें हुईं। कितने-ही सामन्ती सरदारों और उनके वंशजों का अपने इन नये स्वामियों से घोर विरोध स्वाभाविक था। इसलिए

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

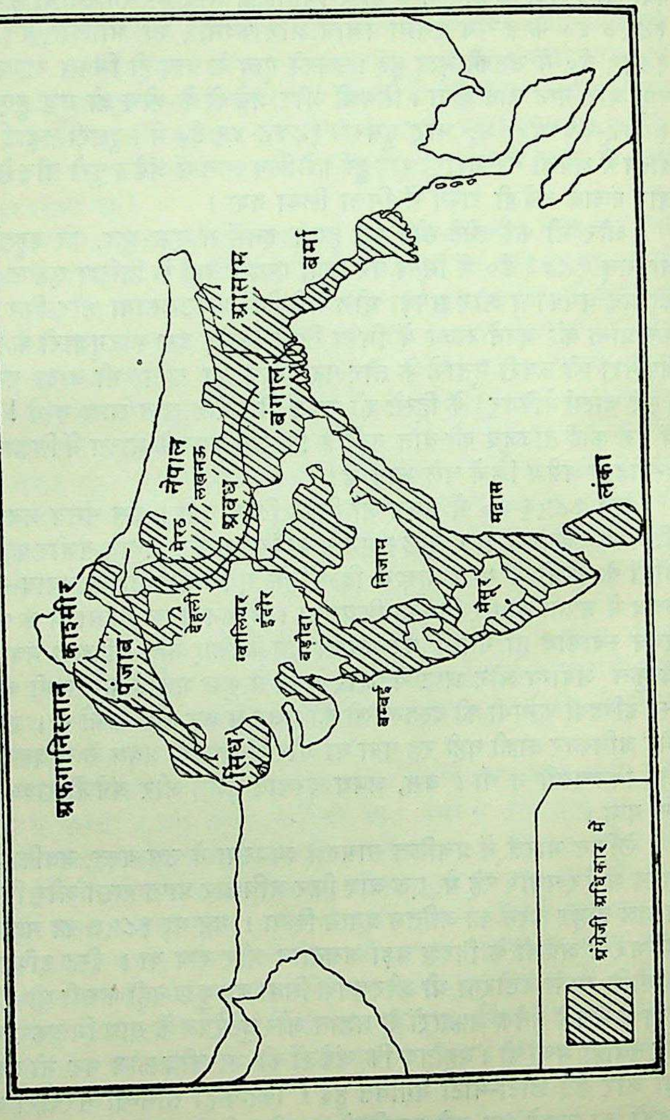

भारत १८५७ की क्रान्ति के समय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गुप्त रूप से एक ज़बरदस्त विद्रोह संगठित किया गया। यह संगठन खासतौर से उत्तर-प्रदेश के आस-पास और मध्य भारत में फैल गया; लेकिन भारत के अंग्रेज़ भारतवासियों के कार्यों और विचारों की ओर से इतने अन्धे रहते हैं कि सरकार को इसका गुमान तक नहीं हुआ। मालूम होता है कि कई जगहों पर एकही साथ विद्रोह शुरू करने की तारीख़ निश्चित की गई थी। लेकिन मेरठ की भारतीय फौज की कुछ टुकड़ियों ने बहुत जल्दबाज़ी करके १० मई सन् १८५७ ई० को विद्रोह कर दिया। इस अधपके विस्फोट ने विद्रोह के नेताओं के कार्यक्रम को अस्तव्यस्त कर दिया क्योंकि इससे सरकार चौकन्नी हो गई। फिर भी यह विद्रोह तमाम उत्तर-प्रदेश और दिल्ली में और मध्य भारत तथा बिहार के कुछ हिस्सों में फैल गया। यह सिर्फ़ फ़ौजी विद्रोह नहीं था, बल्कि इन प्रदेशों में अंग्रेज़ों के विरुद्ध एक व्यापक सार्वजनिक विप्लव था। महान् मुग़ल सम्राटों के अन्तिम वंशज कमज़ोर बूढ़े और कवि बहादुरशाह को कुछ लोगों ने सम्राट घोषित कर दिया। धार्मिक विद्वेष ने भी लोगों को उकसाया। इस युद्ध में हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों ने पूरा भाग लिया।

कई महीनों तक उत्तर और मध्य भारत में अंग्रेज़ी राज्य मानो कच्चे धागे के सहारे लटका रहा। लेकिन विद्रोह की क़िस्मत का फ़ैसला खुद भारतवासियों ने ही कर दिया। सिक्खों और गोरखों ने अंग्रेज़ों को मदद दी। दक्षिण में निज़ाम, उत्तर में सिन्धिया और अन्य कई रियासतें भी उनके साथ हो गईं। इन सबके अलावा भी खुद विद्रोह में ही असफलता के बीज मौजूद थे। एक पराजित पक्ष सामन्ती व्यवस्था के लिए लड़ रहा था; इसमें अच्छे नेताओं का अभाव था; इसका संगठन ठीक ढंग से नहीं हुआ था, और हर वक्त आपसी कलह होता रहता था। कुछ विद्रोहियों ने अंग्रेज़ों की निर्मम हत्याएं करके भी अपने पक्ष को कलंकित कर दिया। इस पाशविक बर्त्ताव ने स्वाभाविक रूप से भारत के अंग्रेज़ों को कमर कस-कर खड़ा कर दिया और उन्होंने उसी पाशविक ढंग से, बल्कि उससे भी सैंकड़ों हज़ारों गुना ज्यादा, बदला ले लिया।

दूर-दूर की कई जगहों पर अंग्रेज़ों को जनता की भीड़ों ने घेर लिया। ज़बरदस्त कठिनाइयाँ होते हुए भी वे खूब लड़े और बहादुरी से लड़े। अंग्रेज़ों के साहस और सहन-शक्ति का एक निराला उदाहरण लखनऊ का घेरा है जिसके साथ आउटरम और हेवलक के नाम जुड़े हुए हैं। सन् १८५७ ई० में दिल्ली के घेरे ने विद्रोह का पासा ही पलट दिया। इसके बाद कई महीनों तक अंग्रेज़ विद्रोह को कुचलते रहे। ऐसा करने में उन्होंने हर जगह आतंक फैला दिया। बहुत बड़ी संख्या में लोगों को नृशंसता पूर्वक गोली से उड़ा दिया गया, बहुत-से लोगों की तोप के मुंह धज्जियाँ बिखेर दी गईं और हज़ारों को सड़क के किनारे के दरख्तों पर फाँसी पर लटका दिया गया। कहा जाता है कि नील नामक एक अंग्रेज़ सेनापति इलाहाबाद

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से कानपुर तक रास्ते भर आदमियों को फाँसी लटकाता हुआ चला गया, यहाँतक कि सड़क के किनारों का एक भी पेड़ ऐसा न बचा जो फाँसी का झूला न बना दिया गया हो। हरे-भरे गाँव समूल नष्ट कर दिये गये। यह सब एक बहुत-ही भयानक और दर्दनाक क़िस्सा है और मुझमें इस सारे कटु सत्य का बयान करने की हिम्मत नहीं है।

इस विद्रोह की भीषणताओं और उसके दमन के बीच, काले परदे पर एक उज्ज्वल नाम चमक रहा है। यह नाम है एक बीस वर्ष की बाल-विधवा झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई का, जो मर्दों का बाना पहनकर अंग्रेज़ों के विरुद्ध अपनी प्रजा का नेतृत्व करने के लिए मैदान में निकल आई। उसके जोश, उसकी योग्यता और उसके अदम्य साहस की बहुत-सी कहानियाँ कही जाती हैं। यहाँतक कि जिस अंग्रेज़ सेनापति ने उसका मुक़ाबला किया था, उसने भी उसे बाग़ी नेताओं में "सबसे श्रेष्ठ और सबसे बहादुर" कहा है। वह लड़ती हुई युद्ध में काम आई।

सन् १८५७-५८ ई० की बगावत सामन्ती भारत की आखिरी टिमटिमाहट थी। इसने बहुत-सी बातों का अन्त कर दिया। इसने महान् मुग़ल-वंश का सिलसिला ख़तम कर दिया क्योंकि बहादुरशाह के दोनों पुत्रों और एक पोते को हडसन नामक एक अंग्रेज़ अफ़सर ने दिल्ली ले जाते समय, बिना किसी कारण या उत्तेजना के, नृशंसतापूर्वक गोली से उड़ा दिया।

विद्रोह ने भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन का भी अन्त कर दिया। शासन-सूत्र ब्रिटिश सरकार ने सीधा अपने हाथ में ले लिया और अंग्रेज़ी गवर्नर-जनरल अब "वाइसराय" के रूप में प्रकट हुआ। उन्नीस वर्ष बाद, सन् १८७७ ई० में इंग्लैण्ड की रानी ने 'क़ैसरे हिन्द' की उपाधि धारण की।

: ७७ :

भारतीय कारीगर की रोज़ी छिन जाती है

मैं बता चुका हूँ कि जब अंग्रेज़ भारत में आये, उस समय यहाँ की पुरानी सामन्ती व्यवस्था नष्ट हो रही थी। मुग़ल साम्राज्य के पतन ने भारत के कई हिस्सों में राजनैतिक अशान्ति और अराजकता पैदा कर दी थी। लेकिन फिर भी जैसाकि भारतीय अर्थशास्त्री रमेशचन्द्र दत्त ने लिखा है—"अठारहवीं सदी में भारत एक बड़ा उद्योग-प्रधान और साथ-ही बड़ा कृषि-प्रधान देश था, और भारतीय करघों का माल एशिया और योरप की मंडियों में बिकता था।" प्राचीन काल में विदेशी मंडियों पर भारत का क़ब्ज़ा था। मिस्र की चार हज़ार वर्ष पुरानी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मोमियाइयाँ बढ़िया भारतीय मलमल में लपेटी हुई मिली हैं। भारतीय कारीगरों की दस्तकारी पूर्व में और पश्चिम में मशहूर थी। देश का राजनैतिक पतन होने पर भी यहां के कारीगर अपने हाथ के हुनर को भूले नहीं थे। अंग्रेज़ और अन्य विदेशी व्यापारी, जो भारत में तिजारत की तलाश में आते थे, यहाँ पर विदेशी माल बेचने के लिए नहीं, बल्कि यहाँ की बनी हुई बढ़िया और नफ़ीस वस्तुएँ ख़रीदकर योरप में ख़ूब मुनाफ़े पर बेचने के लिए ले जाने को आते थे। इस तरह शुरू में अंग्रेज़ व्यापारी यहाँ के कच्चे माल से नहीं, बल्कि यहां के तैयार किये हुए सामान से आकर्षित होकर यहाँ आये थे। यहाँ हुकूमत प्राप्त करने से पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत के बने सूती, ऊनी, रेशमी और ज़री के माल का बड़ा लाभ-दायक व्यापार करती थी। कपड़े के उद्योग में, अर्थात् सूती, रेशमी और ऊनी माल बनाने में इस देश की कला विशेष रूप से ऊँचे दरजे को पहुँच गई थी।

क्लाइव ने बंगाल के शहर मुर्शिदाबाद का, सन् १७५७ ई० के समय का, वर्णन करते हुए लिखा है कि यह नगर लन्दन के समान विस्तृत, घना बसा हुआ और सम्पत्तिशाली है। लेकिन फ़र्क़ यह है कि इस शहर के लोग लन्दनवालों से अधिक अपार ऐश्वर्य के स्वामी हैं। यह प्लासी-युद्ध के साल की बात है जब अंग्रेज़ों के क़दम बंगाल में पूरी तरह जम पाये थे। राजनैतिक गिरावट के इस क्षण में भी बंगाल सम्पत्तिशाली और अनेक उद्योग-धन्धों से भरा-पूरा था और दुनिया के विभिन्न देशों को अपना बढ़िया कपड़ा भेजता रहता था। ढाका शहर अपनी नफ़ीस मलमलों के लिए खासतौर पर मशहूर था और इन मलमलों का विदेशी व्यापार बहुत बढ़ा-चढ़ा था।

शुरू-शुरू में तो ईस्ट-इण्डिया कम्पनी ने भारतीय उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन दिया क्योंकि इनसे वे पैसा पैदा करते थे। विदेशों में भारतीय माल की बिक्री से इंग्लैण्ड में सोना-चाँदी आता था। लेकिन इंग्लैण्ड के कारखानेदार इस प्रतियोगिता को पसन्द नहीं करते थे, इसलिए अठारहवीं सदी के शुरू में उन्होंने अपनी सरकार को इंग्लैण्ड में आनेवाले भारतीय माल पर चुंगी लगाने पर आमादा कर दिया। कुछ भारतीय चीज़ों का इंग्लैण्ड में आना बिल्कुल रोक दिया गया और मेरे ख़याल से भारत के एक तरह के कपड़े का सार्वजनिक रूप से पहनना जुर्म तक क़रार दे दिया गया था। भारतीय माल के बायकाट की इंग्लैण्ड की यह नीति इतने ही तक रहती तो भी ज्यादा नुकसान की बात न थी, क्योंकि भारत के लिए और भी बहुत-सी मंडियाँ थीं। लेकिन उस समय संयोग से ईस्ट इण्डिया कम्पनी की मारफ़त इंग्लैण्ड का भारत के बहुत बड़े हिस्से पर क़ब्ज़ा था, इसलिए उसने अब इरादा करके भारतीय उद्योगों का गला घोंटकर ब्रिटिश उद्योगों को आगे बढ़ाने की नीति शुरू की। अब अंग्रेज़ी माल बिना किसी चुंगी के भारत में आने लगा। यहां के दस्त-कारों और कारीगरों को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कारखानों में काम करने के लिए

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तरह-तरह से सताया और मजबूर किया गया। यहाँतक कि कितनी ही रवानगी चुँगियाँ, जो माल को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने पर चुकानी पड़ती थीं, लगाकर भारत के अन्दरूनी व्यापार के हाथ-पैर काट दिये गये।

भारत का कपड़े का उद्योग इतने अच्छे ढंग का था कि इंग्लैण्ड का बढ़ता हुआ मशीन उद्योग भी उससे बाज़ी न ले सका और उसकी रक्षा करने के लिए भारतीय माल पर अस्सी फ़ीसदी के क़रीब चुंगी लगानी पड़ी। शुरू उन्नीसवीं सदी में भारत के कुछ रेशमी और सूती कपड़े इंग्लैण्ड के बाज़ार में, वहाँ के बने माल से बहुत सस्ते दामों में बिका करते थे। लेकिन जब भारत में हुकूमत करनेवाली शक्ति—इंग्लैण्ड—भारतीय उद्योगों को कुचल डालने पर तुली हुई थी, तो यह हालत ज्यादा दिन नहीं रह सकती थी। फिर भारत के घरेलू उद्योगों से बना हुआ माल, उन्नति-शील मशीन के उद्योग से किसी भी हालत में ज्यादा दिन मुक़ाबला नहीं कर सकता था।

इस घातक हमले का सबसे पहला शिकार हुआ भारत का कपड़ा उद्योग और जैसे-जैसे इंग्लैण्ड में मशीनी उद्योग की तरक्क़ी होती गई, वैसे-वैसे भारत के अन्य उद्योग भी कपड़ा-उद्योग की राह जाने लगे। आम तौर पर किसी भी देश की सरकार का यह कर्त्तव्य होता है कि वह उस देश के उद्योगों की रक्षा करे और उन्हें प्रोत्साहन दे। मगर रक्षा और प्रोत्साहन तो दूर, ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने ब्रिटिश उद्योगों से टक्कर लेनेवाले हरएक भारतीय उद्योग को कुचल दिया। भारत में जहाज़ बनाने का काम चौपट हो गया, धातुकार लोग अपना कारोबार न चला सके और काँच और कागज़ बनाने का धन्धा भी धीरे-धीरे कम हो गया।

ब्रिटिश माल की, ख़ासकर कपड़े की, इस फैलती और पसरती प्रगति ने भारत के हाथ-उद्योगों की हत्या कर दी। लेकिन एक और पहलू इससे भी ज्यादा खतरनाक था। उन लाखों कारीगरों का क्या हुआ जो बेकार कर डाले गये? उन बहुसंख्यक जुलाहों और अन्य कारीगरों का क्या हुआ जो बेरोज़गार हो गये थे? इंग्लैण्ड में भी जब बड़े-बड़े कारख़ाने खुले तो कारीगर बेकार हो गये थे। लेकिन उनको नये कारख़ानों में काम मिल गया, और इस तरह उन्होंने अपने को नई परिस्थितियों के अनुकूल बना लिया। भारत में इस तरह का कोई दूसरा उपाय नहीं था। यहाँ काम करने के लिए कोई कारख़ाने न थे। इसलिए बेचारे ग़रीब, बेघर, बेरोज़गार और भूखों मरते कारीगरों को धरती की शरण लेनी पड़ी। किन्तु धरती ने भी उनका स्वागत नहीं किया; उसपर पहले से ही काफ़ी आदमी थे, और अब फालतू ज़मीन नहीं थी।

मुख्य उद्योगों के साथ-साथ उनके बहुत-से सहायक धन्धे भी ग़ायब होने लगे। धुनाई, रंगाई और छपाई के काम कम होते गये, हाथ-कताई बन्द हो गई और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लाखों घरों से चरखा उठ गया। इसका अर्थ यह हुआ कि किसान वर्ग की आय का अतिरिक्त साधन जाता रहा क्योंकि किसान परिवार के लोगों की कताई से खेती की आमदनी के अलावा ऊपर की आमदनी में मदद मिलती थी।

इस तरह बेरोज़गार कारीगरों और दूसरें लोगों की इतनी बड़ी संख्या का भार बेचारी अकेली खेती के सिर आ पड़ा। धरती पर भीषण बोझा पड़ गया, और फिर भी यह बराबर बढ़ता ही गया। भारत की ग़रीबी की समस्या की यही बुनियाद है और यही आधार है। हमारी अधिकतर तकलीफ़ें इसी नीति का परिणाम हैं। और जबतक यह बुनियादी समस्या हल नहीं हो जाती, तबतक भारतीय किसान-वर्ग की और गांवों के रहनेवालों की ग़रीबी और मुसीबतों का अन्त नहीं हो सकता।

: ७८ :

ब्रिटेन ने भारत पर शासन कैसे किया?

मैं बता चुका हूँ कि जिस समय अंग्रेज़ भारत में आये, यहाँ के घरेलू उद्योगों की अवस्था बहुत उन्नत थी। उत्पादन के तरीक़ों की स्वाभाविक प्रगति के साथ, अगर उसमें बाहरी हस्तक्षेप न होता, तो सम्भव था कि कभी-न-कभी भारत में भी मशीनों का उद्योग आ जाता। लोहा और कोयला इस देश में मौजूद था, और जैसा कि हम इंग्लैण्ड में देख चुके हैं, इन चीज़ों ने नये उद्योगवाद को बहुत मदद पहुँचाई और वास्तव में कुछ अंश में उसे जन्म दिया। अन्त में यही भारत में भी हुआ होता। राजनैतिक परिस्थितियों में गड़बड़ी के कारण सम्भव है कि इसमें कुछ देर लग जाती। लेकिन इसी बीच अंग्रेज़ों ने टांग अड़ा दी। ये लोग ऐसे देश और ऐसी जाति के प्रतिनिधि थे, जिसने अपने यहाँ के पुराने तरीक़े को बदलकर बड़ी मशीन के नये उत्पादन को अपना लिया था। लेकिन भारत में उन्होंने ऐसा कुछ नहीं किया। बल्कि उन्होंने वास्तव में इससे बिल्कुल उल्टा ही किया। भारत को अपना संभावित प्रतिद्वन्द्वी मानकर उन्होंने उसके उद्योगों को नष्ट कर डाला और मशीनों के उद्योग को हर तरह से निरुत्साहित किया।

अंग्रेज़ों ने भारत में इस तरह का व्यवहार क्यों किया, यह समझना मुश्किल नहीं है। पूंजीवाद की सारी बुनियाद गर्दन-तोड़ प्रतियोगिता और शोषण पर है, और साम्राज्यवाद इससे आगे बढ़ी हुई अवस्था का नाम है। इसलिए हाथ में सत्ता होने के कारण अंग्रेज़ों ने अपने असली प्रतिद्वन्द्वियों की हत्या कर डाली, और दूसरे प्रतिद्वन्द्वियों की बढ़ोतरी को जान-बूझकर रोक दिया। जनता से मेल बढ़ा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सकना उनके लिए सम्भव नहीं था, क्योंकि भारत में उनके रहने का सारा प्रयोजन ही जनता का शोषण करना था। शोषकों-शोषितों के हित कभी एक नहीं हो सकते। इसलिए उन्होंने—अंग्रेज़ों ने—भारत में अभीतक मौजूद सामन्तशाही के अवशेषों की आड़ ली।

अंग्रेज़ी हुकूमत ने धार्मिक कट्टरता को भी बढ़ावा दिया। यह बात कुछ अजीब-सी मालूम होती है, क्योंकि अंग्रेज़ लोग अपने को ईसाई-धर्म का अनुयायी मानते थे, फिर भी उनके आगमन ने भारत में हिन्दू-धर्म और इस्लाम को और भी कट्टर बना दिया। कुछ हदतक यह प्रतिक्रिया स्वाभाविक भी थी, क्योंकि विदेशी आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिए किसी देश के धर्म और संस्कृति कठोर रूप धारण करने लगते हैं। इसी तरह से मुसलमानों के हमलों के बाद हिन्दू धर्म में कट्टरपन आ गया, और जात-पांत का भेद बढ़ गया। अब हिन्दू और इस्लाम दोनों ही धर्मों में इस ढंग की प्रतिक्रिया हो गई।

कट्टरपन्थियों की नाराज़गी के इस डर से सुधारों के मामले में सरकार इन्हीं लोगों का पक्ष लेने लगी। इस तरह सुधार का काम रुक गया। विदेशी सरकार के लिए कोई समाजिक सुधार करना बहुत कठिन होता है; क्योंकि वह जो-कुछ भी परिवर्तन करना चाहेगी, उसीका लोग विरोध करेंगे। हिन्दू-धर्म और हिन्दू-कानून कई बातों में परिवर्त्तनशील और प्रगतिशील थे; यह बात दूसरी है कि पिछली सदियों में यह प्रगति बहुत धीमी रही। स्वयं हिन्दू-कानून अधिकांशमें रिवाज ही है, और रिवाज हमेशा बदलते और पैदा होते रहते हैं। हिन्दू-क़ानून का यह लचीलापन ब्रिटिश हुकूमत में ग़ायब हो गया और उसकी जगह घोर कट्टरपंथियों की सलाह से बनाये गये कठोर क़ानूनी ज़ाब्तों ने ले ली। इस तरह हिन्दू-समाज की वह धीमी प्रगति भी अब रुक गई। मुसलमानों ने तो नई परिस्थितियों का और भी ज्यादा विरोध किया। वे कूपमंडूक बन गये।

इस तरह अंग्रेज़ों ने देश के सब प्रतिगामी और दक़ियानूसी वर्गों के साथ गठबन्धन कर लिया और उन्होंने यह कोशिश की कि भारत उनके उद्योगों के लिए कच्चा माल पैदा करनेवाला बिल्कुल कृषि-प्रधान देश बन जाय। भारत में कारखाने तरक्क़ी न पा सकें, इसलिए उन्होंने यह किया कि भारत में मशीनों की आमद पर चुंगी लगा दी! मशीनों पर इस चुंगी के कारण, जो सन् १८६० ई० तक हटाई नहीं गई थी, भारत में कारख़ाना खोलने का ख़र्च, यहाँ पर मज़दूरी कहीं अधिक सस्ती होने पर भी, इंग्लैण्ड से चौगुना पड़ता था। बाधा डालने की यह नीति प्रगति में देर भले ही कर सकती थी, घटनाओं के लाज़िमी बहाव को नहीं रोक सकती थी। सदी के बीच के लगभग भारत में मशीन का उद्योग बढ़ने लगा। बंगाल में अंग्रेज़ी पूंजी से पटसन का उद्योग शुरू हुआ। रेलों के निकलने से उद्योग की वृद्धि में सहायता मिली और सन् १८८० ई० में बम्बई और अहमदाबाद में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कपड़े की मिलें खुलीं जिनमें ज्यादातर भारतीय पूंजी लगी थी। इसके बाद खनिज उद्योग की बारी आई। धीरे-धीरे होनेवाला यह औद्योगीकरण कपड़े की मिलों के सिवा, ज्यादातर अंग्रेज़ी पूंजी से हो रहा था।

इस तरह सरकार की अड़ंगा-नीति के बावजूद भी भारत में धीरे-धीरे आधुनिक उद्योग-धन्धों की उन्नति होती गई। भारत के धनिक वर्ग औद्योगिक विकास के लिए दिन-पर-दिन ज्यादा पुकार मचाते रहे। औद्योगिक स्थिति की इस उन्नति ने शहरों के कारखानों में काम करनेवाले औद्योगिक मज़दूरों का एक वर्ग पैदा कर दिया। ज़मीन पर पड़नेवाला दबाव, जिसकी चर्चा मैं कर चुका हूं, और देहाती इलाक़ों की अकालग्रस्त अवस्था, इन दोनों ने मिलकर गाँववालों को इन फ़ैक्टरियों में और बंगाल और आसाम में बढ़नेवाले नील के खेतों में ला पटका। इस दबाव के कारण बहुत-से लोग अन्य देशों का प्रवास करने को राज़ी हो गये, क्योंकि वहाँ उन्हें अधिक मज़दूरी मिलने की आशा दिलाई गई थी। ज्यादातर प्रवासी दक्षिण-अफ़रीका, फ़िजी, मॉरिशस और लंका को गये। लेकिन इस परिवर्त्तन से मज़दूरों का कोई फ़ायदा नहीं हुआ। कुछ देशों में इन प्रवासी भारतीयों के साथ बिल्कुल गुलामों का-सा बर्त्ताव किया गया। आसाम के चाय के बग़ीचों के मज़दूरों की हालत भी कुछ बहुत अच्छी न थी। बाद में निरुत्साहित और निराश होकर बहुतों ने चाय के बग़ीचे छोड़कर फिर अपने गाँवों को लौट जाना चाहा। लेकिन अपने गाँवों में भी उन्हें किसीने नहीं अपनाया, क्योंकि उनके लिए अब कोई ज़मीन बाक़ी नहीं रही थी।

: ७९ :

भारत का पुनर्जागरण

भारत में ब्रिटिश हुकूमत की नींव जिस तरह जमी और जिस नीति ने भारत की जनता में ग़रीबी और मुसीबत पैदा कर दी, यह मैं बतला चुका हूँ। देश में शान्ति ज़रूर आई और व्यवस्थित शासन भी आया। मुग़ल-साम्राज्य के टूटने से पैदा हुई गड़बड़ी के बाद ये दोनों ही बातें अच्छी हुईं। चोर-डाकुओं के संगठित दलों का दमन कर दिया गया। लेकिन खेतों और कारख़ानों में काम करने वाले किसानों और मजदूरों के लिए इस शान्ति और व्यवस्था का कोई मूल्य न था, क्योंकि अब वे नई हुकूमत की भारी चक्की में पीसे जा रहे थे। लेकिन किसी देश पर या जाति पर—इंग्लैण्ड पर या अंग्रेज़ों पर, नाराज़ होना ठीक नहीं है; क्योंकि वे भी हमारी ही तरह परिस्थितियों के शिकार थे। इतिहास के अनुशीलन ने हमें बताया है कि जीवन प्रायः बड़ा निर्दय और कठोर होता है। इसपर उत्तेजित होना या लोगों पर खाली दोष लगाना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बेवकूफ़ी है, और उससे कुछ नहीं बनता। बुद्धिमानी इसीमें है कि ग़रीबी, मुसीबत और शोषण के कारणों को समझने की और उन्हें दूर करने की कोशिश की जाय। अगर हम ऐसा नहीं करते हैं और घटना-चक्र की दौड़ में पिछड़ जाते हैं, तो लाज़िमी तौर पर मुसीबत भुगतनी पड़ती है। भारत इसी तरह पिछड़ गया। वह एक तरह से पथरा-सा गया, उसका समाज पुरानी लकीर का फ़क़ीर बन गया, और उसकी सामाजिक व्यवस्था निश्चेष्ट और निर्जीव होकर सड़ने लगी। ऐसी हालत में भारत को मुसीबतें झेलनी पड़ीं तो उसमें अचरज की बात नहीं है। संयोग से अंग्रेज इन मुसीबतों के निमित्त बन गये। अगर वे यहाँ न होते, तो शायद कोई दूसरे लोग इसी तरह का बर्त्ताव करते। इसलिए हमें अंग्रेज़ों को दोष देने की ज़रूरत नहीं।

लेकिन अंग्रेज़ों ने भारत को एक बड़ा फ़ायदा ज़रूर पहुँचाया। उनके नये और स्फूर्तिवाले जीवन की टक्कर ने ही भारत को हिला दिया और उसमें राजनैतिक एकता और राष्ट्रीयता की भावना पैदा कर दी। हालांकि यह धक्का कष्टदायक था, लेकिन हमारे इस प्राचीन देश और जाति में नवजीवन डालने के लिए शायद इसकी ज़रूरत भी थी। क्लर्क तैयार करने के इरादे से दी जानेवाली अंग्रेज़ी शिक्षा ने भारतवासियों को सामयिक पश्चिमी विचारों के सम्पर्क में भी ला दिया। इससे अब अंग्रेज़ी पढ़े-लिखों का एक नया वर्ग बनने लगा।

भारत में पश्चिमी विचारों की टक्कर का कुछ असर हिन्दू-धर्म पर भी पड़ा। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में ही बंगाल में हिन्दू-धर्म को पश्चिमी ढंग पर सुधारने का कुछ प्रयत्न किया गया। इसमें सन्देह नहीं कि पुराने ज़माने में हिन्दू-धर्म में अनगिनत सुधारक हो चुके हैं, जिनमें से कुछ का ज़िक्र तो मैं कर चुका हूँ। लेकिन इस नये प्रयत्न पर निश्चित रूप से ईसाइयत और पश्चिमी विचारों का असर था। इस प्रयत्न के करनेवाले थे एक महान् पुरुष और महान् विद्वान राजा राममोहन राय। उन्हें संस्कृत, अरबी और अन्य कई भाषाओं का अच्छा ज्ञान था, और उन्होंने विविध धर्मों का गम्भीर अध्ययन किया था। वे पूजा-पाठ आदि धार्मिक कर्म-काण्ड के विरुद्ध थे और सामाजिक सुधार और स्त्री-शिक्षा के प्रतिपादक थे। उन्होंने जो समाज स्थापित किया वह ब्राह्म-समाज कहलाया। जहाँतक संख्या का सम्बन्ध है, यह एक छोटी-सी संस्था थी, और अब भी वैसी ही है, और बंगाल के अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमित रही है। लेकिन बंगाल के जीवन पर इसका ज़बदरदस्त असर पड़ा है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का परिवार इसका अनुयायी बन गया और कविवर रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर बहुत वर्षों तक इस समाज के आधार और स्तम्भ रहे। इसके एक और प्रमुख सदस्य थे केशव-चन्द्र सेन।

इस सदी के पिछले हिस्से में एक और धार्मिक सुधार-आन्दोलन चला। यह पंजाब में शुरू हुआ और स्वामी दयानन्द सरस्वती इसके प्रवर्त्तक थे। उन्होंने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आर्य समाज नाम की एक दूसरी संस्था स्थापित की। इसने भी हिन्दू-धर्म में पीछे से पैदा हुई अनेक रूढ़ियों का खण्डन किया और जात-पांत के साथ युद्ध छेड़ा। हालांकि यह मुस्लिम और ईसाई विचारों से प्रभावित एक सुधारक आन्दोलन था, लेकिन तत्त्वतः यह एक उग्र आध्यात्मिक आक्रमण का आन्दोलन था। इसका विचित्र परिणाम यह हुआ कि आर्य समाज, जो शायद हिन्दुओं के अनेक सम्प्रदायों में सबसे ज्यादा इस्लाम के नज़दीक पहुँचता था, इस्लाम का प्रतिद्वन्द्वी और विरोधी बन गया। राष्ट्रीयता का रंग दे देने से इस आन्दोलन को कुछ बल मिल गया।

आर्य समाज ने शिक्षा-प्रचार का वहुत बड़ा काम किया है, और लड़के और लड़कियों दोनों ही के लिए स्कूल और कालेज खोले।

इस सदी के एक और असाधारण धार्मिक महापुरुष रामकृष्ण परमहंस हुए। लेकिन वे उन महापुरुषों से बहुत भिन्न थे जिनका मैंने ज़िक्र किया है। उन्होंने सुधार के लिए किसी उग्र समाज की स्थापना नहीं की। उन्होंने सेवा पर ज़ोर दिया, और 'रामकृष्ण सेवाश्रम' देश के अनेक भागों में दुर्बलों की तथा दरिद्रनारायण की सेवा की यह परम्परा आज भी चला रहे हैं। रामकृष्ण के एक प्रसिद्ध शिष्य स्वामी विवेकानन्द हुए जिन्होंने अत्यन्त धाराप्रवाही और जोशीले ढंग से राष्ट्रीयता के मन्त्र का प्रचार किया। यह राष्ट्रीयता किसी प्रकार भी मुस्लिम-विरोधी या अन्य धर्मों की विरोधी नहीं थी, न आर्य समाज की संकुचित राष्ट्रीयता की तरह की थी।

शहरों में धीरे-धीरे अंग्रेज़ी पढ़े-लिखों की जमात बढ़ गई, और साथ-ही-साथ वकीलों, डाक्टरों, तथा ऐसे ही पेशेवालों और सौदागरों तथा व्यापारियों का एक नया मध्यम वर्ग पैदा हो गया। इस वर्ग में थे देश के अंग्रेज़ी शासन-प्रबन्ध में सहायता देनेवाले छोटे-मोटे अहलकार; अदालतों की क़ानूनी कार्रवाइयों में मदद देनेवाले और मुक़दमेबाज़ी से मालदार बननेवाले वकील-बैरिस्टर; और ब्रिटिश व्यापार और उद्योग के दलाल सौदागर जो अपने मुनाफ़े या कमीशन के लिए ब्रिटिश माल बेचते थे।

इस नये मध्यम वर्ग के इन लोगों में ज्यादातर हिन्दू थे। इसका एक कारण तो यह था कि मुसलमानों की अपेक्षा इनकी आर्थिक हालत कुछ अच्छी थी, और दूसरा था इन लोगों का अंग्रेज़ी शिक्षा को अपनाना, जो सरकारी नौकरियों में और पेशों में घुसने का प्रवेश-पत्र थी। मुसलमान आमतौर पर ज्यादा ग़रीब थे। अंग्रेज़ों द्वारा यहाँ के उद्योग-धन्धों के नाश के कारण जिन जुलाहों की रोज़ी जाती रही थी उनमें ज्यादातर मुसलमान थे। ज़मींदार आमतौर पर हिन्दू थे, इसी तरह गाँव का बनिया भी हिन्दू होता था, जो लोगों को सूद पर रुपया उधार देता था और गांव का दूकानदार भी होता था। इस तरह ज़मींदार और महाजन दोनों ही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

काश्तकार को सताने और शोषण करने की स्थिति में थे और अपनी इस स्थिति का वे पूरा फ़ायदा उठाते थे। इस तथ्य को अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिए क्योंकि हिन्दू-मुस्लिम तनाज़े की जड़ इसीमें है।

इसी तरह उच्चवर्ण के हिन्दू, ख़ासकर दक्षिण में, दलित कही जानेवाली जातियों का, जो ज्यादातर खेतों पर काम करती थीं, शोषण करते थे। दलित जातियों की यह समस्या बहुत ज़ोरों से हमारे सामने है। छुआछूत पर आज चारों तरफ़ से हमले हो रहे हैं और सैकड़ों मन्दिर और दूसरे स्थान अछूतों के लिए खोल दिये गये हैं। लेकिन असली बुनियादी सवाल तो आर्थिक शोषण का है, और जबतक यह दूर नहीं होता, तबतक दलित जातियाँ दलित ही रहेंगी। अछूत लोग खेतिहर चाकर रहे हैं। उनको ज़मीन का मालिक नहीं बनने दिया जाता था। वे और भी कितने-ही अधिकारों से वंचित थे।

जितने ये मध्यम वर्गी लोग बढ़ते गये, उतनी ही उनकी हविस भी बढ़ती गई। उनकी इच्छा अब आगे-आगे बढ़ने की, ज्यादा रुपया पैदा करने की, सरकारी नौकरियों में ज्यादा जगहें पाने की और कारख़ाने खोलने के लिए अधिक सहूलियतें हासिल करने की होती गई। उन्होंने अंग्रेज़ों को अपने हर रास्ते में रुकावटें डालते हुए पाया। सब ऊँचे-ऊँचे ओहदों पर अंग्रेज़ों ने अपना एकाधिकार जमा रखा था और तमाम उद्योग-धन्धे उन्हींके फ़ायदे के लिए चलाये जा रहे थे। इसलिए उन्होंने हलचल मचाई और राष्ट्रीयता के नये आन्दोलन की यहींसे शुरुआत हुई।

लेकिन राष्ट्रीय भावनाएं जल्दी-ही फैलने लगीं और बंगाल इसमें सबसे आगे क़दम उठा रहा था। बंगाल में नई-नई पुस्तकें निकलने लगीं जिनका बंगला साहित्य पर और साथ-ही बंगाल में राष्ट्रीयता के विकास पर ज़बरदस्त असर पड़ा। हमारा प्रसिद्ध राष्ट्रीय गीत 'वन्देमातरम्' बंकिमचन्द्र चटर्जी की ऐसी-ही एक बंगला पुस्तक 'आनन्द मठ' से लिया गया है। 'नील दर्पण' नामक एक बंगला कविता ने भी बड़ी हलचल पैदा कर दी। इसमें नील की खेती की प्लाण्टेशन-पद्धति से बंगाल के किसानों की तबाही का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया गया था।

इसी बीच भारतीय पूंजीपतियों की शक्ति भी बढ़ रही थी, और वे हाथ-पैर फैलाने के लिए ज्यादा जगह माँग रहे थे। आख़िरकार सन् १८८५ ई० में नये मध्यम वर्ग के इन विविध तत्वों ने मिलकर अपने दावे का समर्थन करने के लिए एक संगठन बनाने का निश्चय किया। और इस तरह सन् १८८५ ई० में हमारी राष्ट्रीय महासभा, कांग्रेस, की नींव पड़ी। कांग्रेस जब पहले पहल स्थापित हुई, तब वह एक बहुतही नरम और फूंक-फूंक कर क़दम रखनेवाली संस्था थी, जो अंग्रेज़ों के प्रति अपनी राजभक्ति का इक़रार करती थी और छोटे-छोटे सुधारों के लिए बड़ी नम्र

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भाषा में माँग पेश करती थी। यह मुख्यतया अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे वर्गों के विचारों की प्रचारक थी, और इसकी सारी कार्रवाई हमारी सौतेली भाषा अंग्रेज़ी में होती थी। इसकी मांगें ज़मींदारों, भारतीय पूंजीपतियों और नौकरियों की तलाश में रहने वाले शिक्षित बेकारों की मांग होती थीं। इसने नौकरियों के 'भारतीयकरण' की, अर्थात् सरकारी नौकरियों में अंग्रेज़ों के बजाय भारतवासियों को ज्यादा जगह दी जाने की माँग की। कांग्रेस की अन्य शिकायतें फ़ौज और सिविल सर्विस के अंग्रेज़ी अफ़सरों के ज़बरदस्त खर्चों के बारे में और भारत से इंग्लैण्ड को जानेवाली सोने-चांदी की नदी के बारे में थीं।

शुरू में कांग्रेस कितनी नरम थी यह बताकर मैं उसकी आलोचना अथवा उसके महत्त्व को कम करने की कोशिश नहीं कर रहा हूँ। मेरा यह मतलब नहीं है, क्योंकि मेरा विश्वास है कि उन दिनों की कांग्रेस ने और उसके नेताओं ने बहुत बड़ा काम किया था। अपने शुरू के दिनों में वह जैसी थी उसके अलावा और कुछ हो भी नहीं सकती थी। उन दिनों इसके संस्थापकों को आगे क़दम बढ़ाने के लिए बड़े साहस की ज़रूरत थी। आज जब भीड़-की-भीड़ हमारे साथ है और इसके लिए हमारी तारीफ़ करती है, तब बहादुरी के साथ आज़ादी की बात करना बड़ा आसान है। लेकिन किसी महान उद्योग में मार्ग-दर्शक बनना बड़ा कठिन है।

पहली कांग्रेस सन् १८८५ ई० में बम्बई में हुई। बंगाल के उमेशचन्द्र बनर्जी इसके पहले अध्यक्ष थे। उन शुरू दिनों के अन्य प्रमुख व्यक्तियों के नाम हैं: सुरेन्द्र-नाथ बनर्जी, बदरुद्दीन तैयबजी, और फ़िरोज़शाह मेहता। लेकिन इन सबके ऊपर नज़र आनेवाला नाम है दादाभाई नौरोजी का, जो 'भारत के वृद्ध पितामह' कहलाये और जिन्होंने सबसे पहले भारत के लक्ष्य के लिए 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया।

इस तरह कांग्रेस साल-दर-साल आगे बढ़ती गई, और बल प्राप्त करती गई। इससे पहले के दिनों की हिन्दू राष्ट्रीयता की तरह इसका दृष्टिकोण संकुचित नहीं था। फिर भी यह मुख्यतया हिन्दू ही थी। कुछ प्रमुख मुसलमान इसमें शामिल हुए, और इसके अध्यक्ष तक बने, लेकिन सामूहिक रूप से मुसलमान इससे दूर ही रहे। उस समय के एक प्रसिद्ध मुस्लिम नेता सर सैयद अहमद खाँ थे। उन्होंने देखा कि शिक्षा की कमी ने, खासकर आधुनिक शिक्षा की कमी ने, मुसलमानों का बहुत नुकसान किया है, और उन्हें पिछड़ा हुआ रक्खा है। इसलिए उन्होंने यह निश्चय किया कि राजनीति में टांग अड़ाने से पहले मुसलमानों को इस शिक्षा के लिए रज़ामन्द करना चाहिए और अपनी सारी ताक़त इसीपर लगानी चाहिए। इसलिए उन्होंने मुसलमानों को कांग्रेस से अलग रहने की सलाह दी, सरकार के साथ सहयोग किया और अलीगढ़ में एक बढ़िया कालेज क़ायम किया जो अब विश्वविद्यालय बन गया है। बहुसंख्यक मुसलमानों ने सर सैयद की राय

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मानकर अपनेको कांग्रेस से अलग रखा। लेकिन उनकी अल्प-संख्या हमेशा कांग्रेस के साथ रही। राष्ट्रीयता के विचार, खासकर बंगाल और महाराष्ट्र में, बड़ी व्यापकता के साथ फैलने लगे। इसी समय एक घटना घटी, जिसने बंगाल को जड़ से हिला दिया और देश भर में हलचल मचा दी। सरकार ने बंगाल के बड़े प्रान्त को (जिसमें उस समय बिहार भी शामिल था) दो हिस्सों में बाँट दिया, जिनमें एक हिस्सा पूर्वी बंगाल था। बंगाल के मध्यम वर्ग की विकासशील राष्ट्रीयता ने इसपर रोष प्रकट किया। उसे डर था कि अंग्रेज़ बंगाल के इस तरह टुकड़े करके उसे कमज़ोर करना चाहते हैं। पूर्वी बंगाल में मुसलमानों की संख्या अधिक थी, इसलिए इस बंटवारे से हिन्दू-मुस्लिम सवाल भी उठ खड़ा हुआ। बंगाल भर में एक ज़बरदस्त ब्रिटिश-विरोधी आन्दोलन चल पड़ा। ज्यादातर ज़मींदार और भारतीय पूंजीपति इसमें शामिल हो गये। सबसे पहले उसी समय 'स्वदेशी' का नारा उठाया गया और इसके साथ-ही ब्रिटिश माल के बहिष्कार का भी, जिससे भारतीय उद्योग और पूंजी को निःसन्देह सहायता मिली। कुछ हदतक आम जनता में भी यह आन्दोलन फैल गया, और हिन्दू-धर्म से भी इसको कुछ प्रेरणा मिली। इसके साथ-साथ बंगाल में क्रान्तिकारी हिंसा की विचारधारा भी पैदा हुई और भारतीय राजनीति में पहली बार 'बम' का पदार्पण हुआ। बंगाल में आन्दोलन के एक ज्वलन्त नेता अरविन्द घोष थे।[1]

पश्चिमी भारत के महाराष्ट्र प्रदेश में भी इस समय भारी उत्तेजना फैली हुई थी, और हिन्दुत्व के ही रंग में रंगी हुई उग्र राष्ट्रीयता का उदय हो रहा था। वहाँ बाळ गंगाधर तिलक नाम के एक महान नेता हुए जो भारत भर में लोकमान्य के नाम से मशहूर हैं। तिलक एक महान् विद्वान थे; वह पूर्व की पुरातन परिपाटियों के भी उतने ही पारंगत थे जितने पश्चिम की नूतन परिपाटियों के; वह बड़े भारी राजनीतिज्ञ थे; लेकिन सबसे बड़ी बात यह कि एक वह महान् सार्वजनिक नेता थे। कांग्रेस के नेताओं की पहुँच अभी केवल अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों तक ही थी; आम जनता उन्हें नहीं जानती थी। लेकिन तिलक नव-भारत के पहले राजनैतिक नेता हुए जो जनता तक पहुँचे और जिन्होंने उससे बल प्राप्त किया। उनके वेगशाली व्यक्तित्व से, दृढ़ता तथा अदम्य साहस से एक नया बल पैदा हुआ जिसने बंगाल में राष्ट्रीयता की और बलिदान की नवीन भावना से मिलकर भारतीय राजनीति का स्वरूप ही बदल दिया।

कांग्रेस में अब दो दल हो गये—एक तिलक और कुछ बंगाली नेताओं के नेतृत्व में गरम दल, और दूसरा कांग्रेस के पुराने नेताओं का नरम दल। लेकिन नरम दल के सब से प्रमुख नेता एक नवयुवक श्री गोपाल कृष्ण गोखले थे, जो बड़े

---

[1] श्री अरविन्द की दिसंबर १९५० में, पांडिचेरी में, मृत्यु हो गई।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सुयोग्य व्यक्ति थे और जिन्होंने अपना जीवन सेवा के लिए अर्पण कर दिया था। गोखले भी महाराष्ट्रीय थे। अपने प्रतिद्वंद्वी दलों को लेकर तिलक और गोखले एक-दूसरे के सामने डटकर खड़े हो गये। इसका लाज़िमी नतीजा यह हुआ कि सन् १९०७ ई० में विच्छेद हो गया और कांग्रेस में फूट पड़ गई। नरम दलवालों का कांग्रेस पर अधिकार बना रहा, गरम दलवाले निकाल बाहर किये गये। नरम दलवाले जीत तो गये लेकिन अपनी लोकप्रियता खोकर, क्योंकि तिलक का दल ही जनता में बहुत अधिक लोकप्रिय था। कांग्रेस कमज़ोर हो गई, और कुछ वर्षों तक उसका प्रभाव नाम-मात्र को रह गया।

सरकार दमन पर उतर आई, उसने लोगों को जेलों में भरना शुरू किया, प्रेस-क़ानूनों द्वारा अख़बारों पर लगाम लगाई, और हरएक ऐसे व्यक्ति के पीछे, जिसे कि वह पसन्द नहीं करती थी, खुफ़िया पुलिस और जासूसों के दल लगा दिये। बंगाल के बहुत-से नेताओं को क़ैद की सज़ा दी गई। सबसे अधिक मार्के का मुक़दमा लोकमान्य तिलक का था, जिन्हें छः वर्ष की क़ैद की सज़ा दी गई थी, और जिन्होंने माण्डले जेल में अपनी क़ैद के दिनों में एक प्रसिद्ध ग्रन्थ (गीता-रहस्य) लिखा था। लाला लाजपतराय भी बर्मा निर्वासित कर दिये गये।

लेकिन दमन से बंगाल को कुचलने में सफलता नहीं मिली। इसलिए कम से कम कुछ लोगों को सन्तुष्ट करने के लिए झट-पट शासन-सुधार का क़दम उठाया गया। उस समय की नीति, जो बाद में भी रही, राष्ट्रवादी दलों में फूट डालने की थी—यानी नरम दलवालों को प्रोत्साहित करना और मिलाना, तथा गरम दल-वालों को कुचल देना। सन् १९०८ ई० में मार्ले-मिण्टो सुधारों के नाम से प्रसिद्ध नये सुधारों की घोषणा की गई। इनसे नरम दलवालों को मिलाने में सफलता हुई और वे इन सुधारों को पाकर खुश हो गये। नेताओं के जेल में होने के कारण गरम दलवालों के हौसले टूट गये और राष्ट्रीय आन्दोलन कमज़ोर पड़ गया। लेकिन बंगाल में बंग-भंग के विरुद्ध आन्दोलन जारी रहा, और अन्त में सफल हुआ। सन् १९११ ई० में ब्रिटिश सरकार ने बंग-भंग को फिर उलट दिया। इस विजय ने बंगालियों में नया साहस पैदा कर दिया। लेकिन सन् १९०७ ई० का आन्दोलन ठंडा पड़ चुका था, और भारत फिर राजनैतिक उदासीनता में जा पड़ा।

सन् १९११ ई० में ही यह घोषणा की गई कि दिल्ली भारत की नई राजधानी होगी। दिल्ली—बहुतेरे साम्राज्यों की राजधानी और बहुतेरे की क़ब्र!

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

: ८० :

ब्रिटेन का चीन पर ज़बरदस्ती अफ़ीम लादना

सन् १८१६ ई० में, एक दूसरा ब्रिटिश राजदूत-मंडल चीन भेजा गया। लेकिन दरबारी शिष्टाचार पूरा करने के बारे में कुछ कठिनाई आ पड़ने के कारण चीनी सम्राट ने ब्रिटिश राजदूत लार्ड एमहर्स्ट से मुलाक़ात करना नामंजूर कर दिया, और उसे वापस चले जाने का आदेश दिया। इस रस्म का नाम 'कोतो' था, जो एक तरह से ज़मीन पर लेटकर दण्डवत करने जैसी थी।

इसलिए यह बात यहीं खतम हो गई। इसी बीच एक नया व्यापार, यानी अफ़ीम का व्यापार, तेज़ी से बढ़ रहा था। इसे नया व्यापार कहना तो शायद ठीक न होगा, क्योंकि अफ़ीम पहले-पहल पन्द्रहवीं सदी में ही भारत से चीन पहुँच चुकी थी। लेकिन यह व्यापार बहुत सीमित था। उन्नीसवीं सदी में योरपीय लोगों के कारण, खासकर ब्रिटिश व्यापार का एकाधिकार प्राप्त ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कारण, यह बढ़ने लगा। कहा जाता है कि पूर्व में डच लोग मलेरिया से बचने के लिए तम्बाकू के साथ अफ़ीम मिलाकर पिया करते थे। इन्हींकी मार्फ़त चीन में भी तम्बाकू की तरह अफ़ीम पीने का रिवाज पहुँचा, लेकिन उससे भी ज़्यादा हानिकर रूप में, क्योंकि यहाँ केवल अफ़ीम ही पी जाने लगी। चीनी सरकार इस आदत को छुड़ाना चाहती थी, क्योंकि लोगों पर इसका बुरा असर पड़ रहा था और अफ़ीम का व्यापार देश का बहुत-सा धन बाहर खींचे ले जा रहा था।

सन् १८०० ई० में चीनी सरकार ने एक शाही फ़रमान जारी करके अपने देश में किसी भी काम के लिए अफ़ीम का आना रोक दिया। लेकिन इस व्यापार से विदेशियों को बड़ा फ़ायदा होता था। इसलिए वे चोरी-छिपे अफ़ीम लाते रहे और चीनी अहलकारों को रिश्वतें देकर अपना काम बनाते रहे।

आखिरकार चीन-सरकार ने इसे रोकने के लिए सख्त कार्रवाई करने का निश्चय किया। इस काम के लिए एक ईमानदार आदमी चुना गया। चोरी से आनेवाली इस अफ़ीम की रोक के लिए लिन-सी-हो को स्पेशल कमिश्नर नियुक्त किया गया और उसने फ़ौरन ही तेज़ी और मुस्तैदी के साथ कार्रवाई की। वह दक्षिण के केण्टन नगर पहुँचा, जो इस ग़ैर-क़ानूनी व्यापार का मुख्य केन्द्र था, और वहाँ के तमाम विदेशी व्यापारियों को हुक्म दिया कि जितनी भी अफ़ीम उनके पास हो, वह सब उसे सौंप दें। इस सख्ती और मुस्तैदी का नतीजा यह हुआ कि विदेशी व्यापारियों ने घुटने टेक दिये और अफ़ीम की बीस हज़ार पेटियाँ निकालकर उसके सामने धर दीं। अफ़ीम के इस भारी ढेर को, जो निश्चय ही चोरी से भेजने के लिए इकट्ठा किया गया था, लिन ने नष्ट करवा दिया। उसने विदेशी व्यापारियों से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह भी कह दिया कि जबतक जहाज़ का कप्तान अफ़ीम न लाने का वचन न दे देगा, तबतक कोई जहाज़ कैण्टन में घुसने न पायगा। कमिश्नर लिन ने जो अफ़ीम नष्ट करवा दी थी, उसमें सबसे ज्यादा अंग्रेज़ व्यापारियों की थी। इसलिए राष्ट्रीय आतमसम्मान के नाम पर अंग्रेज़ों ने सन् १८४० ई० में चीन से युद्ध छेड़ दिया। इस युद्ध को 'अफ़ीम का युद्ध' नाम दिया जाना ठीक ही है, क्योंकि यह चीन पर अफ़ीम लादने के अधिकार के लिए लड़ा और जीता गया था।

कैण्टन और अन्य जगहों की नाकाबन्दी कर देनेवाले ब्रिटिश जहाज़ी बेड़े के विरुद्ध चीन का कुछ बस न चल सका। दो वर्ष बाद उसे हार माननी पड़ी और सन् १८४२ ई० में नानकिंग की सन्धि हुई, जिसके अनुसार पाँच बन्दरगाह विदेशी व्यापार के लिए, जिसका उस समय मतलब था खासकर अफ़ीम का व्यापार, खोल दिये गये। कैण्टन के पास के हांग-कांग टापू पर भी अंग्रेज़ों ने क़ब्ज़ा कर लिया और, जो अफ़ीम नष्ट कर दी गई थी उसके हर्जाने के तौर पर, और चीन पर जो युद्ध ज़बर्दस्ती लदा गया था उसके खर्चे के रूप में, उन्होंने चीन से भारी रक़म ऐंठी।

पश्चिम की साम्राज्यवादी शक्तियों के साथ चीन के बखेड़ों की यह शुरूआत थी। उसकी अलहदगी का अन्त हो गया। उसे विदेशी व्यापार मंज़ूर करना पड़ा, और साथ-ही मंज़ूर करने पड़े ईसाई धर्म-प्रचारक। इन ईसाई प्रचारकों ने साम्राज्यवाद के अग्रदूत के रूप में चीन में बड़ा महत्त्वपूर्ण काम किया। बाद में चीन पर जो-जो मुसीबतें आईं उनका एक-न-एक कारण ये धर्म-प्रचारक लोग ही थे।

नानकिंग की सन्धि ने ब्रिटेन के लिए चीन के दरवाज़े खोल दिये। लेकिन यह नहीं हो सकता था कि सारे मोटे-मोटे बेर अकेला ब्रिटेन ही हज़म कर जाय। फ़्रांस और संयुक्त राज्य अमरीका भी आ धमके और उन्होंने भी चीन के साथ व्यापारिक सन्धियाँ कीं। चीन लाचार था और उस पर की जानेवाली यह ज़ोर-ज़बरदस्ती उसके दिल में विदेशियों के लिए कोई प्रेम और आदर पैदा न कर सकी। अपने यहाँ इन 'बर्बरों' की मौज़ूदगी पर ही उसे बहुत क्रोध था। इधर विदेशियों का सन्तुष्ट होना भी अभी बहुत दूर की बात थी। चीन के शोषण की उनकी भूख बढ़ रही थी। ब्रिटेन फिर इसमें अगुवा बना।

अंग्रेज़ युद्ध का कोई बहाना ढूँढ़ने लगे। सन् १८५६ ई० में कैण्टन के चीनी वाइसराय ने एक जहाज़ के चीनी मल्लाहों को समुद्री डकैती के अपराध में गिरफ्तार कर लिया। यह जहाज़ चीनियों का था और इस मामले से विदेशियों का कोई सरोकार न था। लेकिन हांग-कांग-सरकार के परवाने के अनुसार उसपर ब्रिटिश झण्डा फहराया हुआ था। संयोग की बात यह थी कि उस समय तक इस परवाने की मियाद भी खतम हो चुकी थी। लेकिन फिर भी नदी किनारे के मेमने और भेड़िये के क़िस्से की तरह ब्रिटिश सरकार ने इसीको युद्ध का बहाना बना लिया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इंग्लैण्ड से चीन को फ़ौजें भेजी गईं। ठीक इन्हीं दिनों भारत में सन् १८५७ ई० का विद्रोह शुरू हो गया, इसलिए इन सब फ़ौजों को भारत भेज दिया गया। विद्रोह के दबाये जाने तक चीन-युद्ध को इन्तज़ार करना पड़ा। सन् १८५८ ई० में यह दूसरा चीन-युद्ध शुरू हुआ। इसी बीच फ़्रांस ने भी इस युद्ध में शरीक होने का एक बहाना ढूँढ़ निकाला; क्योंकि चीन में किसी जगह कोई फ़्रांसीसी धर्म-प्रचारक मार डाला गया था। इस तरह अंग्रेज़ और फ़्रांसीसी चीनियों पर टूट पड़े। ब्रिटिश और फ़्रांसीसी सरकारों ने रूस और अमरीका को भी इस युद्ध में शामिल होने को उकसाया, लेकिन वे राज़ी न हुए। मगर लूट में हिस्सा बँटाने को वे बिल्कुल तैयार थे! असल में कोई लड़ाई हुई ही नहीं, और इन चारों शक्तियों ने चीन के साथ नई सन्धि करके ज्यादा-से-ज्यादा रिआयतें ऐंठ लीं। विदेशी व्यापार के लिए और ज्यादा बन्दरगाह खुल गये।

लेकिन चीन के इस दूसरे युद्ध का क़िस्सा अभी ख़तम नहीं हुआ है। जब सन्धियाँ की जाती हैं तो दस्तूर के मुताबिक़ उससे ताल्लुक़ रखनेवाली सरकारों को उन्हें पक्का या सही करना होता है। यह तय पाया था कि एक वर्ष के अन्दर पेकिंग शहर में इन नई सन्धियों को पक्का कर दिया जाय। जब इसका समय आया तो रूसी राजदूत तो ख़ुश्की के रास्ते सीधा पेकिंग पहुँच गया। बाक़ी तीनों समुद्री रास्ते से आये और उन्होंने अपनी नावों को पीहो नदी में होकर पेकिंग तक लाना चाहा। उन दिनों इस शहर को अन्दरूनी ख़तरा था और नदी पर क़िलेबन्दी की हुई थी। इसलिए चीन सरकार ने ब्रिटिश, फ़्रांस और अमरीका के राजदूतों से नदी के रास्ते न आकर ज़रा उत्तर की तरफ़ होकर ख़ुश्की के रास्ते आने की प्रार्थना की। यह प्रार्थना कुछ बेजा न थी। अमरीकी राजदूत तो इसपर राज़ी हो गया; लेकिन ब्रिटिश और फ़्रांसीसी राजदूत नहीं हुए। क़िलेबन्दी होते हुए भी उन्होंने ज़बरदस्ती नदी में होकर आने की कोशिश की। इसपर चीनियों ने उनपर गोलियाँ चला दीं और भारी नुक़सान के साथ उन्हें वापस लौटने को मजबूर किया।

मग़रूर और मदान्ध सरकारें, जो अपने सफ़र का रास्ता बदलने की चीन सरकार की प्रार्थना तक सुनने को तैयार न थीं, इसे सहन न कर सकीं। बदला लेने के लिए और अधिक फ़ौजें बुला भेजी गईं। सन् १८६० ई० में उन्होंने पेकिंग के प्राचीन नगर पर धावा बोल दिया, और अपना बदला बरबादी, लूट और नगर की सबसे अद्भुत इमारत को जलाने के रूप में निकाला। यह इमारत शाही ग्रीष्म महल, यून-मिंग-यून थी, जो शीयन-लुंग के शासन-काल में पूरी हुई थी। इस महल में चीन के रचित सुन्दरतम साहित्य और कला के अनमोल रत्न भरे हुए थे। जाहिल और हूश अंग्रेज़ और फ़्रांसीसी सिपाहियों ने इन बहुमूल्य वस्तुओं को लूटा और कई दिनों तक जलती रहनेवाली भयंकर होलियों में झोंक-कर ख़ाक कर दिया!

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: ८१ :

जापान तेज़ी से आगे दौड़ता है

मैंने बताया था कि सत्रहवीं सदी में जापान ने कैसे विचित्र ढंग से अपने आपको चारों तरफ़ से बन्द कर लिया था। सन् १६४१ ई० से ले कर २०० वर्ष से ऊपर तक जापानी लोग बाक़ी दुनिया से बिल्कुल अलग हो कर रहे। इन २०० वर्षों ने योरप, एशिया और अमरीका और अफ़रीका तक में बड़े-बड़े परिवर्त्तन देखे। लेकिन इस एकान्त-सेवी राष्ट्र में इन घटनाओं की कोई ख़बर नहीं पहुँची; जापान के पुरातन-युगी सामन्ती वातावरण को छेड़नेवाला कोई झोंका बाहरी दुनिया से न आया। ऐसा मालूम होता था मानो समय और परिवर्तन की चाल रोक दी गई हो और सत्रहवीं सदी बीच में ही बन्दी बना दी गई हो।

जापान से सम्पर्क स्थापित करने के लिए विदेशी शक्तियों ने बहुतेरी कोशिशें की थीं, लेकिन वे सब असफल रहीं। उन्नीसवीं सदी के लगभग बीच में संयुक्त राज्य अमरीका इसमें ख़ासतौर से दिलचस्पी लेने लगा। वह इन दिनों पश्चिम में कैलिफ़ोर्निया तक फैल गया था, और सानफ़्रांसिस्को एक महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह बनता जा रहा था। चीन से जो नया व्यापार खुला था वह बड़ा आकर्षक था, किन्तु प्रशान्त महासागर को पार करना एक लम्बी यात्रा थी। इसलिए अमरीकावाले चाहते थे कि इस लम्बी यात्रा में किसी जापानी बन्दरगाह पर ठहरकर रसद ले सकें। अमरीकावालों ने बार-बार जापान से सम्पर्क स्थापित करने की जो कोशिशें कीं, उसका यही कारण था।

सन् १८५३ ई० में एक अमरीकी जहाज़ी बेड़ा, अमरीका के राष्ट्रपति का पत्र लेकर जापान आया। जापानवालों ने सबसे पहले भाप से चलनेवाले इन्हीं जहाज़ों को देखा। साल भर बाद शोगन दो बन्दरगाह खोलने के लिए राज़ी हो गया। जब अंग्रेज़ों, रूसियों और डचों ने यह सुना तो उन्होंने भी आकर शोगन से इसी तरह सन्धियाँ कीं। इस तरह २१३ वर्ष बाद जापान फिर बाहरी दुनिया के लिए खुल गया।

लेकिन झगड़ा खड़ा होनेवाला था। विदेशी शक्तियों के आगे शोगन ने अपने-आपको सम्राट् ज़ाहिर किया था। पर अब वह लोकप्रिय नहीं रहा था और उसके और उसकी विदेशी सन्धियों के विरुद्ध ज़बरदस्त आन्दोलन खड़ा हो गया। कुछ विदेशी मारे भी गये और इसका नतीजा यह हुआ कि विदेशी शक्तियों ने समुद्री हमला कर दिया। परिस्थिति दिन-पर-दिन ख़राब होती गई; अन्त में सन् १८६७ ई० में शोगन को इस्तीफ़ा देने के लिए मजबूर किया गया। इस तरह तोकुगावा शोगनशाही का अन्त हुआ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नये सम्राट् ने अब अपना असली अधिकार प्राप्त किया। मुत्शीहितो के नाम से उसी समय सिंहासन पर बैठनेवाला यह सम्राट् सिर्फ़ चौदह साल का लड़का था। इसने सन् १८६७ से १९१२ ई० तक, यानी पैंतालीस वर्ष, राज्य किया। यह समय 'मेईजी', यानी ज्ञानवान शासन का युग कहलाता है। इसी सम्राट् के शासन काल में जापान ने तेज़ी से उन्नति की और वह पश्चिमी देशों की नक़ल करके बहुत बातों में उनकी बराबरी करने लगा। एक पीढ़ी में पैदा किया हुआ यह परिवर्तन निराला है और इतिहास में बिल्कुल अपूर्व है। जापान एक महान् औद्योगिक देश हो गया और पश्चिमी राष्ट्रों के ढंग का साम्राज्यवादी तथा लुटेरा राष्ट्र बन गया। उन्नति के तमाम बाहरी चिह्न उसमें मौजूद थे। उद्योग-धन्धों में तो वह अपने उस्तादों से भी आगे बढ़ गया। उसकी आबादी तेज़ी से बढ़ने लगी। उसके जहाज़ दुनिया का चक्कर लगाने लगे। वह एक महान् शक्ति बन गया जिसकी आवाज़ अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में इज्ज़त के साथ सुनी जाने लगी।

पुरानी सामन्ती दाइम्यो प्रथा उठा दी गई। सम्राट् की राजधानी क्योतो से बदलकर जेदो कर दी गई, जिसका नया नाम तोक्यो (टोकियो) रखा गया। एक नये संविधान की घोषणा की गई, जिसमें पार्लमेण्ट की दो सभाओं की योजना थी। नीचेवाली सभा का चुनाव होता था; ऊपरवाली के सदस्य नामज़द होते थे। शिक्षा, क़ानून, उद्योग, वग़ैरा क़रीब-क़रीब हरएक चीज़ में परिवर्तन हुए। कारखाने बने और आधुनिक ढंग की थल और जल सेनाएं तैयार की गईं। विदेशों से विशेषज्ञ लोग बुलवाये गये और जापानी विद्यार्थियों को योरप और अमरीका भेजा गया—जैसा भारतीय लोग पहले किया करते थे उस तरह बैरिस्टर वग़ैरा बनने के लिए नहीं, बल्कि वैज्ञानिक और उद्योग-धन्धों के विशेषज्ञ बनने के लिए।

जापान न सिर्फ़ औद्योगिक तरीक़ों में ही, बल्कि साम्राज्यवादी आक्रमण में भी योरप के क़दमों पर चला। वह योरपीय शक्तियों की लीक पर चलनेवाला चेला था; बल्कि उससे भी कुछ ज्यादा। उसने तो अक्सर उनके भी कान काट लिये। उसकी असली मुश्किल यही थी कि नया उद्योगवाद पुरानी सामन्तशाही के साथ मेल नहीं खाता था। दो घोड़ों पर सवारी करने की कोशिश में वह आर्थिक संतुलन क़ायम न रख सका। करों के भारी बोझ के नीचे लोगों के असन्तोष की आवाज़ सुनाई देने लगी। अन्दरूनी झगड़ा रोकने के लिए उसने वही पुरानी चाल चली—युद्धों तथा विदेशों में साम्राज्यवादी हरकतों के द्वारा लोगों का ध्यान बंटा दिया। उसके नये उद्योगों ने उसे कच्चे माल और मंडियों के लिए दूसरे देशों पर नज़र डालने के लिए मजबूर किया। खाने की चीज़ों और कच्चे माल की दिन-पर-दिन ज़रूरत होने लगी। ये सब उसे मिलें कहाँ से? उसके सबसे नज़दीकी पड़ौसी थे चीन और कोरिया। चीन में व्यापार की तो गुंजायश थी पर वह बहुत घना आबाद देश था। अलबत्ता, मंचूरिया में, जो चीनी साम्राज्य के उत्तर-पूर्वी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रान्तों का प्रदेश था, औद्योगिक विकास और उपनिवेश स्थापित करने के लिए काफ़ी जगह थी। इसलिए भूखे जापान की नज़र कोरिया और मंचूरिया पर पड़ी।

बाहरी दुनिया के लिए दरवाज़े खोले अभी बीस वर्ष भी न हुए थे कि जापान ने चीन के प्रति आक्रमणकारी होना शुरू कर दिया। कुछ मछुओं के बारे में एक छोटा-सा झगड़ा खड़ा हो गया। इन मछुओं का जहाज़ नष्ट हो गया था और वे मार डाले गये थे। बस जापान को चीन से हर्जाना मांगने का मौक़ा मिल गया। पहले तो चीन ने इन्कार किया, इसपर उसे लड़ाई की धमकी दी गई। और चूंकि वह अनाम में फ़्रांस के साथ युद्ध में उलझा हुआ था, उसे जापान के आगे झुकना पड़ा। यह सन् १८७४ ई० की बात है। जापान इस विजय से फूल उठा, और उसी दम इसी प्रकार की विजय और प्राप्त करने के लिए निगाह दौड़ाने लगा। कोरिया को देखकर उसके मुंह में पानी आ रहा था। बस एक तुच्छ बहाने को लेकर जापान ने झगड़ा खड़ा कर दिया तथा उस पर हमला बोल दिया और उसे कुछ धनराशि देने तथा जापानी व्यापार के लिए कुछ बन्दरगाह खोलने के लिए मजबूर किया।

कोरिया बहुत समय से चीन का एक मांडलिक राज्य था। उसको चीन की हिमायत की आशा थी, पर चीन मदद देने में असमर्थ था। जापान कहीं अपना प्रभाव बहुत ज्यादा न बढ़ा ले, इस डर से चीनी सरकार ने कोरिया को सलाह दी कि फिलहाल तो जापान के आगे झुक जाय तथा साथ-ही जापान को मात देने के लिए योरपीय शक्तियों से भी सन्धियाँ कर ले। इस तरह कोरिया का फाटक दुनिया के लिए सन् १८८२ ई० में खुल गया। लेकिन जापान इतने से ही संतुष्ट होनेवाला न था। चीन की कठिनाइयों का फ़ायदा उठाकर, उसने फिर कोरिया का सवाल खड़ा किया और कोरिया के ऊपर सम्मिलित प्रभुत्व के लिए चीन को मजबूर कर दिया। इसका मतलब यह हुआ कि बेचारा कोरिया चीन और जापान दोनों का मांडलिक राज्य बन गया। यह परिस्थिति तो हरएक के लिए स्पष्ट ही बहुत असन्तोषजनक थी। झगड़े की सूरत अनिवार्य थी। जापान तो झगड़ा करना ही चाहता था। बस उसने सन् १८९४ ई० में चीन पर युद्ध बोल दिया।

सन् १८९४-९५ई० का चीन-जापान युद्ध जापान के लिए तो एक खिलवाड़-सा था। उसकी थल तथा जल सेनाएं पूरे आधुनिक ढंग से सज्जित और शिक्षित थीं। चीनी लोग अभीतक पुराने ढंग के ढीले-ढाले थे। जापान की हर तरफ़ विजय हुई और उसने चीन को ऐसी सन्धि करने के लिए मजबूर किया जिसके मुताबिक़ वह भी चीन से सन्धि करनेवाली पश्चिमी शक्तियों का समकक्ष बन गया। कोरिया को स्वाधीन घोषित कर दिया गया, पर यह तो जापानी नियंत्रण के लिए सिर्फ़ एक परदा था। मंचूरिया, पोर्ट आर्थर के साथ लाओ तुंग प्रायद्वीप, फारमोसा और कई अन्य टापू भी चीन को जापान की नज़र करने पड़े।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जापान का उत्कर्ष

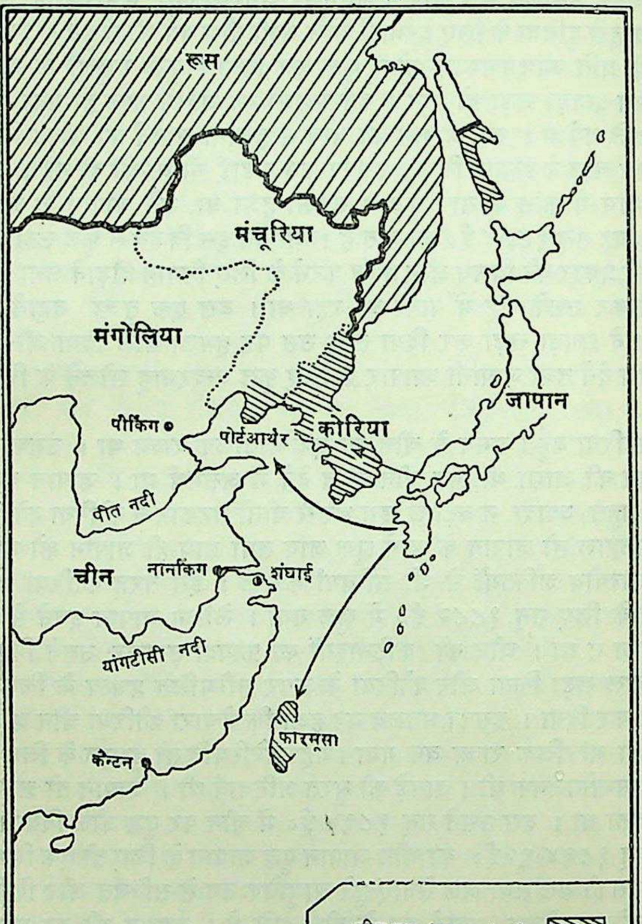

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

छोटे-से जापान द्वारा चीन की इस कड़ी पराजय ने दुनिया को अचम्भे में डाल दिया। सुदूरपूर्व में एक शक्तिशाली देश के इस उत्थान को देखकर पश्चिमी शक्तियों को तो नाखुश होना ही था। चीन-जापान युद्ध के दौरान में ही, जिस वक्त जापान जीतता हुआ मालूम होता था, इन शक्तियों ने उसे आगाह कर दिया था कि यदि उसने चीन के महादेश में किसी बन्दरगाह पर क़ब्ज़ा किया तो वे उसे न मानेंगे। इस सूचना के बावजूद भी जापान ने महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह पोर्ट आर्थर वाले लाओ-तुंग प्रायद्वीप को ले लिया। लेकिन इसे उसके क़ब्ज़े में नहीं रहने दिया गया। रूस, जर्मनी और फ़ान्स, इन तीनों बड़ी शक्तियों ने ज़ोर दिया कि वह इस प्रायद्वीप को वापिस दे दे और जापान को यह करना ही पड़ा; हालांकि यह उसे बहुत बुरा लगा और उसे ग़ुस्सा भी आया। अभी वह इन तीनों का सामना करने के लिए काफ़ी बलवान न था।

खास चीन में और विशेषतया पेकिंग के आसपास जब ये घटनाएं घट रही थीं, उसी समय रूसी सरकार ने इस व्यापक गड़बड़ी से फ़ायदा उठाकर साइबेरिया हो कर मंचूरिया में बहुत-सी फ़ौजें भेज दीं। चीन लाचार था; विरोध प्रकट करने के सिवा और कर ही क्या सकता था? लेकिन हुआ यह कि अन्य शक्तियों को रूसी सरकार का इस तरह देश के एक बड़े टुकड़े को हड़प जाना बहुत अखरा। इस नये गुल के खिलने से जापान को सब से ज्यादा चिन्ता और घबराहट हुई। बस, इन सब राष्ट्रों ने रूस को पीछे लौट जाने के लिए दबाया। रूस ने इन शक्तियों को आश्वासन दिया कि चीन की प्रभुता के अधिकारों में हाथ डालने का उसका लेशमात्र भी इरादा नहीं है; मंचूरिया में रूसी रेलमार्ग पर शान्ति होते ही वह अपनी फ़ौजें वहाँ से हटा लेगा। लेकिन फिर भी, रूसी फ़ौजें मंचूरिया में ही जमी रहीं, और ठेट कोरिया तक फैल गईं।

मंचूरिया में और कोरिया तक इस तरह रूस के बढ़ जाने पर जापानियों को बड़ा गुस्सा आया। चुपचाप, लेकिन सरगर्मी के साथ, वे युद्ध की तैयारी करने लगे। उन्हें याद था कि किस तरह तीन शक्तियों ने मिलकर सन् १८९५ ई० में चीन-युद्ध के बाद उन्हें पोर्ट आर्थर वापस करने के लिए मजबूर किया था। ऐसा फिर न हो सके, इसकी वे अब कोशिश करने लगे। संयोग से उन्हें इंग्लैण्ड एक ऐसी शक्ति मिल गई जिसे रूस के बढ़ने से अन्देशा था और जो उसे रोकना चाहती थी। इसलिए सन् १९०२ ई० में आंग्ल-जापानी गठबंधन हुआ जिसका उद्देश्य था राष्ट्रों के किसी गुट द्वारा सुदूरपूर्व में जापान या इंग्लैण्ड को दबाने के प्रयत्न को रोकना। जापान अब अपने-आपको सुरक्षित समझने लगा और उसने रूस की तरफ़ ज्यादा गर्म रुख इख़्तियार कर लिया। उसने माँग की कि रूसी फ़ौजें मंचूरिया से हटा ली जायं। लेकिन उस समय की मूर्ख ज़ारशाही सरकार जापान को तिरस्कार की दृष्टि से देखती थी और उसे यह भरोसा ही न था कि जापान लड़ने की हिम्मत करेगा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सन् १९०४ ई० के शुरू में दोनों देशों में युद्ध ठन गया। जापान इसके लिए बिल्कुल तैयार था। अपनी सरकार के प्रचार और सम्राट-पूजा के पंथ से वहके हुए जापानी लोग देशभक्ति के जोश से भर गये। दूसरी तरफ़ रूस बिल्कुल तैयार न था और उसकी एकतन्त्री सरकार बराबर अपनी प्रजा को दबा कर ही शासन चला सकती थी। डेढ़ साल तक युद्ध चलता रहा और तमाम एशिया, योरप और अमरीका ने जल और थल पर जापान की विजयों को देखा। उत्सर्ग के अद्भुत कारनामों और ज़बरदस्त मारकाट के बाद जापानियों के हाथ पोर्ट आर्थर लगा। योरप से रूस ने जंगी जहाज़ों का एक बड़ा बेड़ा लम्बे समुद्री रास्ते से सुदूर-पूर्व को भेजा। आधी दुनिया को पार करके, हज़ारों मील से सफ़र के थका-थकाया यह ज़बर्दस्त बेड़ा जापान के समुद्र में पहुँचा और वहाँ जापान और कोरिया के बीच के संकरे समुद्री रास्ते में इसे इसके जल-सेना-नायक सहित जापानियों ने डुबो दिया। इस दुर्घटना में क़रीब-क़रीब सारा-का-सारा जहाज़ी बेड़ा नष्ट हो गया।

सितम्बर, सन् १९०५ ई० की पोर्ट्समाउथ की संधि से रूस-जापान के युद्ध का अन्त हुआ। पोर्ट्समाउथ संयुक्त राज्य अमरीका में है। अमरीका के राष्ट्रपति ने दोनों पक्षों को यहां बुलाकर सन्धि-पत्र पर दस्तख़त कराये। इस सन्धि से अन्त में जापान को पोर्ट आर्थर और लाओ-तुंग प्रायद्वीप फिर मिल गये, जो चीन के युद्ध के बाद उसे वापस करने पड़े थे। रूसियों ने जो रेलमार्ग मंचूरिया में बनाया था, उसका भी एक बड़ा हिस्सा जापान को मिला। और जापान के उत्तर में जो साखालीन टापू है, उसका भी आधा हिस्सा मिल गया। इसके अलावा रूस ने कोरिया के ऊपर अपने तमाम दावों को छोड़ दिया।

बस, जापान जीत गया और महान् शक्तियों के सुरक्षित घेरे में जा घुसा। एक एशियाई देश—जापान—की विजय का एशिया के तमाम देशों पर बड़ा गहरा असर पड़ा। पूर्वी देशों में राष्ट्रीयता की लहर तेज़ी से फैलने लगी और "एशिया एशियावालों के लिए," यह नारा सुनाई देने लगा।

: ८२ :

चीन में गणराज्य की स्थापना

अपनी साम्राज्यवादी नीति पर चलने में जापान को कभी कोई हिचकिचाहट नहीं हुई। वह खुल्लम-खुल्ला हाथ मारता गया; अपनी मंशा को परदे में छिपाने तक की उसने परवाह नहीं की। चीन का युद्ध शुरू होने से पहले ही, सन् १८९४ ई० में कोरिया की राजधानी सिओल के राजमहल में ज़बरदस्ती घुसकर जापा-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नियों ने वहाँ की महारानी को गद्दी से उतारकर क़ैद कर लिया, क्योंकि वह उनके कहे मुताबिक़ चलने को तैयार न थी। सन् १९०५ ई० में रूसी युद्ध के बाद जापान की सरकार ने कोरिया के बादशाह को अपने देश की स्वाधीनता बेच देने और जापानी सत्ता को मानने के लिए मजबूर कर दिया। लेकिन यही काफ़ी न था। पाँच बरस के अन्दर ही यह अभागा बादशाह गद्दी से उतार दिया गया और कोरिया जापानी-साम्राज्य में मिला लिया गया। यह सन् १९१० ई० की बात है। तीन हज़ार वर्ष के लम्बे इतिहास के बाद कोरिया राज्य की अलग हस्ती मिट गई।

इधर चीन पूरी तरह ज़लील हो चुका था। वहाँ सुधारों का फिर प्रयत्न किया गया। बूढ़ी राजमाता तक सोचने लगी कि कुछ-न-कुछ किया ही जाना चाहिए। जापान की विजय ने चीन के सुधारकों के हाथ मज़बूत कर दिये। शिक्षा को नया रूप दिया गया। आधुनिक विज्ञानों के अध्ययन के लिए बहुत-से विद्यार्थी योरप, अमरीका और जापान भेजे गये। अफ़सरों की नियुक्ति के लिए साहित्यिक परीक्षाओं का पुराना तरीक़ा उठा दिया गया।

यों बूढ़ी राजमाता की मातहती में चीनी सरकार ने भी हारकर आगे क़दम बढ़ाया, लेकिन जनता इससे भी तेज़ी के साथ आगे बढ़ रही थी। सन् १८९४ ई० में ही, डा० सन यात सेन ने 'चीन-पुनरुद्धार समिति' स्थापित कर दी थी। चीन पर विदेशी शक्तियों ने जो अन्यायपूर्ण और एक-तरफ़ा सन्धियाँ ज़बर्दस्ती लादी थीं, उनके विरोध स्वरूप बहुत-से लोग इस समिति में शामिल हो गये। इन संधियों को चीनी लोग 'असमान संधियां' कहा करते थे। समिति बढ़ने लगी और देश के नवयुवक इसकी तरफ़ आकर्षित होने लगे। सन् १९११ ई० में इसका नाम बदलकर "कुओ-मिन-तांग" यानी "जनता का राष्ट्रीय दल" रखा गया और यह चीन की क्रांति का केन्द्र बन गया। इस आन्दोलन के प्राण डा० सन यात सेन संयुक्त राज्य अमरीका को आदर्श मानते थे। वह गणराज्य चाहते थे, न कि इंग्लैण्ड का-सा वैधानिक एकतन्त्र, और जापान की-सी सम्राट-पूजा तो हर्गिज़ भी नहीं। चीनियों ने अपने सम्राटों को पूजा की चीज़ कभी नहीं माना, फिर उनका तत्कालीन शासक राजवंश तो 'चीनी' भी नहीं था। यह राजवंश मंचू था और जनता में मंचू-विरोधी भावना ख़ूब फैली हुई थी। जनता की इस हलचल ने ही बूढ़ी राजमाता को प्रभावित किया था। लेकिन यह बूढ़ी महिला प्रस्तावित संविधान की घोषणा करने के थोड़े ही दिन बाद मर गई। एक अजीब बात यह हुई कि राजमाता और इसका भतीजा सम्राट, जिसे इसने गद्दी से उतारा था, दोनों नवम्बर, सन् १९०८ ई० में चौबीस घंटों के अन्दर ही मर गये। अब एक दुध-मुँहा बच्चा नाम के लिए सम्राट हुआ।

अब फिर पार्लमिण्ट को बुलाने की मांग बुलन्द होने लगी। जनता की मंचू-विरोधी और राजतन्त्र-विरोधी भावना ज़ोर पकड़ने लगी। क्रान्तिकारी भी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ज़ोर पकड़ने लगे। इस समय चीन के एक प्रान्त का वाइसराय युआन-शी-काई ही ऐसा मज़बूत आदमी था जो इनका मुक़ाबला कर सकता था। यह बूढ़ी लोमड़ी की तरह चालाक था और संयोग से चीन की एक मात्र आधुनिक तथा होशियार सेना, जिसका नाम "आदर्श सेना" था, उसीके हाथ में थी। मंचू-शासकों ने बेवक़ूफ़ी में आकर इसे चिढ़ा दिया और पद से हटा दिया। ऐसा करके उन्होंने एक ऐसे व्यक्ति को खो दिया जो उन्हें कुछ देर के लिए बचा सकता था। अक्तूबर, सन् १९११ ई० में, यांगसी की घाटी में क्रान्ति भड़क उठी और शीघ्र ही मध्य और दक्षिणी चीन के बड़े हिस्से में विद्रोह फैल गया। सन् १९१२ ई० की पहली जनवरी को इन प्रान्तों ने गणराज्य की घोषणा कर दी और नानकिंग को राजधानी बनाया। डा० सन यात सेन राष्ट्रपति चुने गये।

इधर युआन-शी-काई भी इस नाटक को देख रहा था कि ज्योंही अपने फ़ायदे का मौका मिले, हाथ मारे। रीजेन्ट ने (जो अपने पुत्र बालक सम्राट की जगह राज कर रहा था) युआन को बरख़ास्त करके बाद में दुबारा बुलाया, इसका क़िस्सा भी दिलचस्प है। पुराने चीन में हरेक बात बड़ी शिष्टता और नम्रता के साथ की जाती थी। जिस वक्त युआन को बरख़ास्त करना ज़रूरी था, तब यह घोषणा की गई थी कि उसकी टाँग में तकलीफ़ है। वास्तव में सबको अच्छी तरह मालूम था कि उसकी टाँग बिल्कुल मज़े में थी और उसे बरख़ास्त करने का यह सिर्फ़ औपचारिक ढंग था। लेकिन युआन ने भी अपना बदला ले लिया। दो साल बाद, सन् १९११ ई० में, जब सरकार के विरुद्ध विप्लव और विद्रोह उठ खड़ा हुआ, तब रीजेन्ट ने घबराकर युआन को बुलवाया। उसने रीजेन्ट को जो जवाब भेजा उसमें खेद के साथ कहा कि उसके लिए घर छोड़ना सम्भव नहीं, क्योंकि टाँग में तकलीफ़ होने के कारण वह यात्रा नहीं कर सकता! लेकिन एक महीने बाद जब उसकी शर्तें मंजूर कर ली गईं तो उसकी टाँग भी अद्भुत गति से चंगी हो गई।

लेकिन अब इतनी देर हो चुकी थी कि क्रान्ति नहीं रुक सकती थी। युआन भी इस क़दर चालाक था कि दोनों में से किसी पक्ष के साथ बंधकर अपनी स्थिति को ख़तरे में नहीं डालना चाहता था। आख़िरकार उसने मंचुओं को गद्दी छोड़ने की सलाह दी। इधर तो गणराज्य उनके मुक़ाबले में खड़ा था, और उधर उनके सेनापति ने उनका साथ छोड़ दिया था, इसलिए मंचू-शासकों के लिए कुछ चारा ही न था। १२ फरवरी, सन् १९१२ ई० को सिंहासन-त्याग का फ़रमान निकाल दिया गया। इस प्रकार ढाई सदी से ज्यादा के स्मरणीय शासन के बाद चीन के रंगमंच से मंचू राजवंश का प्रस्थान हुआ।

इसी १२ फ़रवरी के दिन नये गणराज्य की राजधानी नानकिंग में, जहाँ प्रथम मिंग बादशाह का मक़बरा बना हुआ था, एक अजीब रस्म पूरी की गई; ऐसी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रस्म जिसने पुरानी तथा नई बातों का भेद दर्शाते हुए उन्हें एक साथ ला दिया। गणराज्य के राष्ट्रपति सन यात सेन ने अपने मंत्रिमंडल के साथ मक़बरे पर जाकर पुराने तरीक़े से प्रसाद चढ़ाया।

मंचुओं ने तो राजगद्दी छोड़ दी लेकिन गणराज्य के रास्ते में युआन अभीतक अड़ा हुआ था। पता नहीं उसका क्या इरादा था। उत्तरी भाग उसके हाथ में था और दक्षिणी भाग गणराज्य के हाथ में। शान्ति की ख़ातिर और गृह-युद्ध बचाने के लिए डॉ० सेन ने अपने-को मिटाकर राष्ट्रपति का पद छोड़ दिया और युआन को राष्ट्रपति चुनवा दिया। लेकिन युआन कोई गणराज्यवादी नहीं था। वह तो अपनी बुलन्दी के लिए सत्ता हथियाने की फ़िराक़ में था। जिस गणराज्य ने उसे अपना राष्ट्रपति चुनकर सम्मानित किया था, उसीको कुचलने के लिए उसने विदेशी शक्तियों से रुपया उधार लिया। उसने पार्लामेण्ट को बरख़ास्त कर दिया और कुओ-मिन-तांग को तोड़ दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि दो दल हो गये और डॉ० सेन की अध्यक्षता में दक्षिण में एक प्रतिपक्षी सरकार की स्थापना हुई। जिस फूट को बचाने के लिए डॉ० सेन ने यथाशक्ति उद्योग किया था, वही पैदा हो गई, और जिस समय महायुद्ध शुरू हुआ, चीन में दो सरकारें थीं। युआन ने सम्राट बनने की कोशिश की, लेकिन वह सफल नहीं हुआ और थोड़े ही दिनों बाद मर गया।

: ८३ :

ईरान की पुरानी परम्परा

मैंने निनेवा के असीरियाई-साम्राज्य का ज़िक्र किया है। इस साम्राज्य में ईरान भी शामिल था। ईसा से पाँच-छः सौ बरस पहले ईरानियों ने, जो आर्य थे, निनेवा पर क़ब्ज़ा करके असीरियाई-साम्राज्य का अन्त कर दिया। फिर इन ईरानी-आर्यों ने सिन्ध नदी के किनारे से लेकर ठेठ मिस्र तक अपने एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। प्राचीन संसार पर उनका दबदबा था और यूनानी इतिहास में उनके शासक के लिए "महान् बादशाह" शब्द इस्तेमाल किया गया है। इन "महान् बादशाहों" में से कुछ के नाम साइरस, दारा और क्षयार्श हैं। तुम्हें याद होगा कि दारा और क्षयार्श ने यूनान को जीतने की कोशिश की और शिकस्त खाई। यह राजवंश अकामनी राजवंश कहलाता था और इसने २२० वर्ष तक एक विशाल साम्राज्य पर शासन किया। अन्त में मक़दूनिया के सिकन्दर महान् ने इसका अन्त कर दिया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सिकन्दर ने दारा महान् को हराकर अकामनी राजवंश का अन्त कर दिया। उसके बाद सिकन्दर के सेनापति सेल्यूकस और उसके उत्तराधिकारियों के अधीन कुछ दिनों तक यूनानियों का शासन रहा और फिर काफ़ी समय तक यूनानी प्रभाव-वाली अर्द्ध-विदेशी हुकूमत भी रही।

तीसरी सदी में ईरान में राष्ट्रीय जागृति हुई और एक नये राजवंश का अधिकार हुआ। यह सासानी राजवंश था जो उग्र राष्ट्रवादी था और पुराने अकामनी बादशाहों का उत्तराधिकारी होने का दावा करता था। जैसाकि अक्सर उग्र राष्ट्रवाद का क़ायदा होता है, यह वंश बहुत तंगदिल और असहिष्णु था। फिर भी यह राजवंश ४०० वर्ष से ज्यादा, यानी इस्लाम के ठेठ आगमन तक, किसी तरह चलता ही रहा। सासानियों के राज्य में ज़रथुस्त्रों के पुजारी वर्ग की तूती बोलती थी। शासन की बागडोर इन्हींके हाथों में थी और वे कोई विरोध बरदाश्त नहीं करते थे। कहा जाता है कि इसी ज़माने में उनकी धर्म-पुस्तक अवेस्ता का अन्तिम संस्करण तैयार हुआ।

अपने लम्बे शासन के अन्तिम दिनों में सासानी लोग कमज़ोर पड़ गये और ईरान का रंग-ढंग बिगड़ गया। बाईज़ैण्टाइन-साम्राज्य के साथ लम्बे युद्ध के कारण दोनों ही बिल्कुल पस्त हो गये। अपने नये मज़हब के जोश से भरी हुई अरबी फ़ौजों के लिए अब ईरान को जीत लेना मुश्किल न हुआ। सातवीं सदी के मध्य में, पैग़म्बर की मृत्यु के दस ही वर्षों के भीतर, ईरान खलीफ़ा की हुकूमत में आ गया। जैसे-जैसे अरब फ़ौजें मध्य-एशिया और उत्तर-अफ़रीका की तरफ़ फैलती गईं, वे अपने साथ सिर्फ़ एक नया मज़हब ही नहीं बल्कि एक नई और बढ़ती हुई सभ्यता भी लेती गईं। सीरिया, शाम, मिस्र सब अरबी संस्कृति में डूब गये। अरबी भाषा उनकी भाषा हो गई। यहां तक कि उनका तथा अरब लोगों का ख़ून भी मिल गया। बग़दाद, क़ाहिरा और दमिश्क अरबी सभ्यता के महान् केन्द्र बन गये और इस नई सभ्यता के प्रभाव से वहाँ अनेक भव्य इमारतें बनीं। आज भी यह देश अरबी देश कहलाते हैं और यद्यपि एक-दूसरे से अलग हैं, फिर भी वे एकता के स्वप्न देखा करते हैं।

इसी तरह अरबों ने ईरान को भी जीता, पर मिस्र या सीरिया के समान वे इस देश के निवासियों को न तो मिला सके और न हज़म कर सके। पुरानी आर्य नस्ल की ईरानी जाति सामी अरबों से बहुत दूर की थी। उसकी भाषा भी आर्य-भाषा थी। इसलिए यह जाति जुदा रही और उनकी भाषा भी पनपती रही। तेज़ी से फैलनेवाले इस्लाम ने ज़रथुस्त्र धर्म की जगह ले ली और इसे अन्त में भारत में आकर शरण लेनी पड़ी। लेकिन ईरानियों ने इस्लाम में भी अपना ही ढंग बनाये रखा। इस भेद के कारण इस्लाम में दो फ़िरक़े पैदा हो गये—शिया और सुन्नी। ईरान मुख्यतः

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शिया देश हो गया और आज भी है। बाक़ी इस्लामी दुनिया अधिकतर सुन्नी है।

नवीं सदी में बग़दाद का साम्राज्य छिन्न-भिन्न होकर कई छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया। ईरान स्वाधीन हो गया। पूर्व की तरफ़ तुर्की-कबीलों ने अनेक राज्य स्थापित कर लिये और अन्त में ख़ुद ईरान पर क़ब्ज़ा करके वे बग़दाद के नाम-मात्र के खलीफ़ा पर भी हावी हो गये। ग्यारहवीं सदी के शुरू में महमूद गज़नवी का उदय हुआ, जिसने भारत पर हमला किया, खलीफ़ा को दहला दिया और अपने लिए एक अल्पकालिक साम्राज्य भी बना लिया, जिसको सेलजूक नामी एक दूसरे तुर्की क़बीले ने ख़त्म कर दिया। सेलजूकों ने बहुत वर्षों तक, और सफलता के साथ, ईसाई जिहादियों से टक्कर ली और युद्ध किया; इनका साम्राज्य डेढ़ सौ वर्ष रहा। बारहवीं सदी के अन्त में एक और ही तुर्की कबीले ने सेलजूकों को ईरान से निकाल बाहर किया और ख़ारज़म या खीवा की सल्तनत क़ायम की।

तेरहवीं सदी में (सन् १२२० ई० के क़रीब) चंगेज़ ख़ाँ झपाटे के साथ आ पहुँचा और ख़ारज़म और ईरान को नष्ट कर गया। कुछ साल बाद हलाकू ख़ाँ ने बग़दाद को नष्ट कर दिया, और श्रेष्ठ संस्कृति के सदियों पुराने भंडार नष्ट हो गये। किसी पिछले पत्र में मैं लिख चुका हूँ कि किस तरह मंगोलों ने मध्य-एशिया को बियाबान बना डाला, किस तरह वहां के आलीशान शहर ख़ाली हो गये और वहाँ मनुष्य जीवन का नाम तक न रहा।

मध्य-एशिया इस आफ़त के बाद कभी पूरी तरह नहीं पनप पाया। चंगेज़ ख़ाँ के मरने के बाद उसका विशाल साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया। ईरान में और इसके आसपास का उसका भाग हलाकू ख़ाँ के हिस्से में आया। जी भरकर तबाही करने के बाद हलाकू एक शान्त और सहनशील शासक बनकर बैठ गया और इलखान राजवंश का संस्थापक हुआ। ये इलखान कुछ अरसे तक तो मंगोलों का पुराना आकाश-धर्म ही मानते रहे; बाद में मुसलमान बन गये। इस्लाम स्वीकार करने के पहले और बाद में भी वे अन्य धर्मों के प्रति पूरी तरह उदार थे। चीन में उनके भाईबन्द, यानी चीन का ख़ान महान् और उसका परिवार, बौद्ध-धर्म को मानते थे। इनके साथ इलख़ानों का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। यहांतक कि दुलहिनें भी वे ठेठ चीन से मंगवाया करते थे।

मंगोल इलख़ानों का शासन ज्यादा दिन न टिका। उनके रहे-सहे निशानों को अक्षु-पार-प्रदेश के समरकन्द के एक और महान् योद्धा तैमूर ने नेस्तनाबूद कर दिया। यह ख़ूँख्वार और अत्यंत क्रूर वहशी भी कलाओं का अच्छा रसिक था और एक विद्वान आदमी माना जाता है। मालूम होता है कि इसका कला-प्रेम मुख्यतया दिल्ली, शीराज़, बग़दाद और दमिश्क के बड़े शहरों को उजाड़ने में और लूट के माल से अपनी राजधानी समरकन्द को सजाने में ही भरा था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लेकिन समरकन्द की सबसे अद्भुत और आलीशान इमारत तैमूर का मक़बरा 'गोरे-अमीर' है। यह मक़बरा है भी इसके अनुकूल ही, क्योंकि इसकी श्रेष्ठ रूप-रेखा में तैमूर के रौबदार व्यक्तित्व की दृढ़ता की और ख़ूँख्वार प्रकृति की कुछ झलक है।

तैमूरी लोग तुर्क थे और उन्होंने ईरानी संस्कृति को अधिकांश में मंजूर कर लिया था। तुर्कों और मंगोलों का प्रभुत्व होते हुए भी ईरान ने अपने विजेताओं पर अपनी ही संस्कृति की छाप बैठा दी थी। साथ ही ईरान राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिए भी लड़ता रहा। धीरे-धीरे तैमूरी लोग दिन-पर-दिन पूर्व की ओर खदेड़ दिये गये, यहाँतक कि उनकी रियासत अक्षु-पार-प्रदेश के चारों ओर सिकुड़ती गई। सोलहवीं सदी के शुरू में ईरानी राष्ट्रीयता की विजय हुई और तैमूरी लोग हमेशा के लिए ईरान से निकाल बाहर किये गये। सफ़ावी नाम का एक राष्ट्रीय राजवंश ईरान के तख़्त पर बैठा। इसी राजवंश के दूसरे बादशाह तहमास्प प्रथम ने शेरशाह के डर से भारत छोड़ कर भागे हुए हुमायूं को शरण दी थी।

सफ़ावी-काल सन् १५०२ से १७२२ ई० तक, यानी दो सौ बीस वर्ष रहा। इसे ईरानी कला का स्वर्ण-युग कहा जाता है। राजधानी इस्फहान आलीशान इमारतों से भर गई; यह कला का प्रसिद्ध केन्द्र बन गई जो चित्रकारी के लिए ख़ासतौर पर मशहूर थी। शाह अब्बास, जिसने सन् १५८७ से १६२९ ई० तक राज्य किया, इस वंश का प्रमुख बादशाह हुआ है और ईरान के सबसे महान् शासकों में गिना जाता है। उसको एक तरफ़ से उज़बकों ने और दूसरी तरफ़ से उस्मानी तुर्कों ने आ दबाया। उसने दोनों को मार भगाया, एक सुदृढ़ राज्य का निर्माण किया, पश्चिम में तथा अन्यत्र दूरवर्ती राज्यों से सम्बन्ध स्थापित किये, और अपनी राजधानी को सुन्दर बनाने के काम में जुट गया। इस्फहान में शाह अब्बास की नगर-निर्माण योजना "उच्च श्रेणी की सादगी और रुचि की उत्कृष्ट कृति" मानी जाती है।

ईरान के सफ़ावी बहुत-कुछ भारत के महान् मुग़ल बादशाहों के समकालिक थे। भारत का पहला मुग़ल बादशाह बाबर समरकन्द के तैमूरी शहज़ादों में से था। जैसे-जैसे ईरानियों की ताक़त बढ़ती गई, वे तैमूरियों को पीछे हटाते गये। होते-होते (आक्षु) नदी के पार के प्रदेश और अफ़गानिस्तान के सिर्फ़ कुछ ही हिस्से तैमूरी शहज़ादों के हाथ में रह गये। इन छुट-पुट शहज़ादों से बाबर को बारह वर्ष की उम्र से ही लड़ना पड़ा था। वह सफल हुआ और पहले काबुल का शासक बनकर फिर भारत में आया। उस ज़माने की उच्च तैमूरी संस्कृति का अनुमान बाबर से लगाया जा सकता है, जिसके संस्मरणों के कुछ उद्धरण मैं पहले दे चुका हूँ। सफ़ावी शासकों में सबसे महान् शाह अब्बास था जो अकबर और जहाँगीर का समकालिक था। इन दोनों देशों में बराबर बड़ा घनिष्ठ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्बन्ध रहा होगा। अफ़ग़ानिस्तान भारतीय मुग़ल-साम्राज्य का एक हिस्सा था, इसलिए बहुत अरसे तक दोनों की सरहद एक ही थी।

: ८४ :

ईरान में साम्राज्यवाद और राष्ट्रीयता

जब भारत में मुग़ल शासन आखिरी सांसें ले रहा था, ठीक उसी समय, यानी सन् १७२५ ई० के आसपास, सफ़ावी राजवंश का अन्त हुआ। हस्ब मालूल इस राजवंश का भी खेल ख़तम हो गया। सामन्त-प्रथा धीरे-धीरे टूट रही थी। देश में आर्थिक परिवर्तन हो रहे थे और पुरानी व्यवस्था को उलट रहे थे। करों के भारी बोझ ने और भी बुरी हालत कर दी थी और जनता में असन्तोष फैल रहा था। अफ़ग़ानों ने, जो उस समय सफ़ावियों के अधीन थे, विद्रोह खड़ा कर दिया। वे न सिर्फ़ अपने ही देश में सफल हुए, बल्कि उन्होंने इस्फ़हान पर क़ब्ज़ा करके शाह को भी गद्दी से उतार दिया। परन्तु थोड़े ही दिनों बाद नादिरशाह नामक ईरानी सरदार ने अफ़ग़ानों को निकाल बाहर किया और वह ख़ुद ही बादशाह बन बैठा। इसी नादिरशाह ने बलहीन मुग़लों के अन्तिम दिनों में भारत पर हमला किया था; इसीने दिल्लीवालों को मौत के घाट उतारा था और यही शाहजहाँ का तख्त-ताऊस और बेशुमार दौलत लूट कर ले गया था।

उन्नीसवीं सदी के साथ नई आफ़तें भी आईं। योरप के बढ़ते हुए उग्र साम्राज्य-वाद की ईरान के साथ भी टक्कर शुरू हुई। उत्तर में रूस का लगातार दबाव पड़ रहा था और दक्षिण में ईरान की खाड़ी की ओर से अंग्रेज़ बढ़े चले आ रहे थे। ईरान भारत को जानेवाले सीधे ख़ुश्की के रास्ते में पड़ता था और भारत के समुद्री रास्ते से भी लगा हुआ था। अंग्रेज़ों की सारी नीति का आधार यह था कि उनका भारतीय-साम्राज्य और उसको जानेवाले सारे रास्ते सुरक्षित रहें। वे किसी हालत में यह बरदाश्त करने को तैयार न थे कि उनका ज़बरदस्त प्रतिद्वन्द्वी रूस रास्ता रोककर भारत पर घात लगाये बैठा रहे। इस कारण अंग्रेज़ों और रूसियों दोनों ने ईरान पर दांत लगा रखे थे और दोनों उस ग़रीब को तंग करते थे। वहाँ के शाह बिल्कुल नालायक़ और बेवकूफ़ थे। वे या तो उनसे बेमौक़े भिड़कर या अपनी ही रिआया से लड़कर सदा रूस और ब्रिटेन के हाथों में खेलते रहते।

बीसवीं सदी के शुरू में एक और कारण से भी ईरान प्रलोभन की चीज़ बन गया। वहाँ पेट्रोल मिल गया जो बहुत क़ीमती चीज़ थी। बूढ़े शाह को राज़ी करके साठ वर्ष के लम्बे समय के लिए ईरान के तेल के क्षेत्रों से तेल निकालने का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

डार्सी नामक अंग्रेज़ को वहुत रियायती शर्तों पर सन् १९०१ ई० में ठेका दिलाया गया। कुछ साल बाद इस काम के लिए ऐंग्लो-पर्शियन ऑयल कम्पनी नाम से एक ब्रिटिश कम्पनी बन गई। तबसे यही कम्पनी वहाँ काम कर रही है और इसने तेल के व्यवसाय से ज़बरदस्त मुनाफ़ा कमाया है। मुनाफ़े का थोड़ा-सा हिस्सा ईरानी सरकार को मिलता है, लेकिन उसका ज्यादा हिस्सा देश के बाहर कम्पनी के हिस्सेदारों की जेब में ही जाता है और सबसे बड़े हिस्सेदारों में ब्रिटिश सरकार भी एक है। ईरान की वर्त्तमान सरकार उग्र राष्ट्रवादी है। उसे इस बात पर बड़ा ऐतराज़ है कि विदेशी लोग ईरान से नाजायज फायदा उठायें।

जब साम्राज्यवाद ईरान के लिए ख़तरा बनने लगा और शाह दिन-दिन उसका औज़ार बनने लगा तो इसके फलस्वरूप राष्ट्रीयता का विकास लाज़िमी तौर पर होने लगा। एक राष्ट्रीय दल क़ायम हुआ। इस दल ने विदेशी हस्तक्षेप पर रोष प्रकट किया और शाह की निरंकुशता का भी उतने-ही ज़ोर से विरोध किया। उन्होंने लोकतन्त्री संविधान और आधुनिक सुधारों की माँग की। देश में कुशासन था और करों की भरमार थी। उधर रूसी और अंग्रेज बराबर दख़ल दे रहे थे। प्रतिगामी शाह को जितनी बेफ़िक्री इन विदेशी सरकारों के प्रति थी उतनी अपनी उस प्रजा के प्रति नहीं थी जो आज़ादी के कुछ अंश की माँग कर रही थी। लोक-तन्त्री संविधान की यह माँग ख़ासतौर पर नये मध्यम वर्ग के और पढ़े-लिखे लोग कर रहे थे। शाह पर इतने ज़ोर का दबाव पड़ा कि अनिच्छा होते हुए भी उसे सन् १९०६ ई० में लोकतन्त्री-विधान के लिए राज़ी होना पड़ा। "मजलिस" नामक राष्ट्रीय धारासभा स्थापित हुई और ऐसा दिखाई देने लगा कि ईरान की क्रान्ति सफल हो गई।

उसके बाद ही सन् १९१४ ई० में महायुद्ध छिड़ गया। इस लड़ाई में ईरान ने निष्पक्षता की घोषणा की, मगर कमज़ोरों की घोषणाओं का बलवानों पर कुछ असर नहीं होता। ईरान की निष्पक्षता की किसी भी पक्ष ने परवाह न की। अभागी ईरानी सरकार कुछ भी समझा करे, विदेशी फ़ौजें आ-आकर उसकी ज़मीन पर आपस में लड़ती रहीं। ईरान के चारों तरफ़ युद्ध में लड़नेवाले देश थे। एक तरफ़ इंग्लैण्ड और रूस आपस में दोस्त थे। दूसरी तरफ़ तुर्की, जिसके राज्य में उस समय इराक और अरबिस्तान शामिल थे, जर्मनी का साथी था। सन् १९१८ ई० में महायुद्ध समाप्त हुआ और इसमें इंग्लैण्ड, फ़्रांस और उनके साथियों की जीत हुई। उस वक्त सारे ईरान पर ब्रिटिश फ़ौजों का क़ब्ज़ा था। इंग्लैण्ड ईरान पर अपना संरक्षण घोषित करने ही वाला था, जो क़ब्ज़ा करने का मुलायम रूप था। साथ-ही भूमध्यसागर से लगाकर बलूचिस्तान और भारत तक एक विशाल मध्य-पूर्वीय साम्राज्य क़ायम करने के सपने भी देखे जा रहे थे। मगर ये सपने पूरे नहीं हुए। ब्रिटेन के दुर्भाग्य से रूस में ज़ारशाही का अन्त हो गया था और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसकी जगह सोवियत रूस बन चुका था। ब्रिटेन का यह भी दुर्भाग्य रहा कि तुर्की में उसकी चालें बेकार हुईं और कमालपाशा ने अपने देश को मित्र-राष्ट्रों की दाढ़ों में से बचाकर निकाल लिया।

इन सब घटनाओं से ईरानी राष्ट्रवादियों को मदद मिली और ईरान, नाममात्र के लिए, आज़ाद बना रहने में सफल हो गया। सन् १९२१ ई० में एक ईरानी सिपाही रिज़ाखाँ सैनिक चालबाज़ी से सामने आया। उसने सेना का नियंत्रण ले लिया और फिर प्रधान मंत्री बन गया। सन् १९२५ ई० में शाह गद्दी से उतार दिया गया और विधान-परिषद् की राय से रिज़ाखाँ नया शाह चुन लिया गया। उसने रिज़ाशाह पहलवी का नाम और उपाधि धारण की।

ईरान को पहले फ़ारस कहते थे, पर अब इसका सरकारी नाम ईरान कर दिया गया है। रिज़ाशाह ने आज्ञा निकाल दी है कि फ़ारस नाम का अब उपयोग नहीं किया जाय।

: ८५ :

स्वतंत्र और बलवान् इटली

नैपोलियन के समय से पहले इटली छोटी-छोटी रियासतों और छुटभैय्ये राजाओं की पैवन्दकारी-सा था। कुछ अरसे के लिए नैपोलियन ने उसे संयुक्त कर दिया था। नैपोलियन के बाद उसकी फिर पहले जैसी या उससे भी बुरी हालत हो गई। विजयी मित्र-राष्ट्रों ने सन् १८१५ ई० की वियेना-कांग्रेस में बड़े लिहाज़ से काम लेकर इस देश को आपसमें बांट लिया। आस्ट्रिया ने वेनिस और उसके चारों ओर का बड़ा-सा इलाक़ा ले लिया। आस्ट्रिया के कई राजाओं को बढ़िया-बढ़िया हिस्से दे दिये गये। पोप ने आकर रोम और उसके आसपास की रियासतों में पोप का राज्य बना लिया। नेपल्स और दक्षिण इटली को मिलाकर दोनों सिसलियों का एक राज्य एक बोर्बां राजा के मातहत कर दिया गया। फ़्रांस की सरहद के पास, उत्तर-पश्चिम में, पीडमॉण्ट और सार्डीनिया का एक बादशाह था। पीडमॉण्ट को छोड़कर बाक़ी के इन सब छोटे-छोटे बादशाहों तथा राजाओं ने बड़ा तानाशाही शासन किया और अपनी प्रजाओं को इतना सताया जितना कि नैपोलियन से पहले इन्होंने या और किसीने नहीं सताया था। लेकिन नैपोलियन के हमले ने देश को हिला दिया था, नवयुवकों में आज़ाद और संयुक्त इटली की भावनाएं भर दी थीं। शासकों के अत्याचारों के बावजूद या शायद उनके कारण, कई छोटे-मोटे विप्लव हुए और गुप्त समितियों का जाल बिछ गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शीघ्र ही एक सरगर्म नवयुवक आगे आया जो आज़ादी के आन्दोलन का नेता मान लिया गया। यह इटली की राष्ट्रीयता का पैग़म्बर ग्वीसेप मैज़िनी था। सन् १८३१ ई० में उसने 'नौजवान इटली' नामक समिति का संगठन किया जिसका उद्देश्य इटली का एक गणराज्य स्थापित करना था। उसने इस उद्देश्य के लिए वर्षों तक काम किया। उसे निर्वासित भी रहना पड़ा और अक्सर अपनी जान ज़ोखम में डालनी पड़ी। उसकी अनेक राष्ट्रीय रचनाएं साहित्य के रत्न बन गई हैं। सन् १८४८ ई० में जब उत्तरी इटली में जगह-जगह विद्रोहों की आग भड़क रही थी, मैज़िनी को मौक़ा मिल गया और वह रोम चला आया। पोप को निकाल बाहर किया गया और तीन आदमियों की समिति के मातहत गणराज्य का ऐलान कर दिया गया। इस त्रिमूर्ति को पुराने रोमन इतिहास के एक शब्द के अनुसार "त्रियमवीर" नाम दिया गया। इनमें एक मैज़िनी था। इस नवजात गणराज्य पर चारों तरफ़ से हमले होने लगे, आस्ट्रियावालों द्वारा, नेपल्सवालों द्वारा, और यहाँतक कि फ्रांसीसियों द्वारा भी, जो पोप को फिर से गद्दी पर बिठाने के लिए आये। रोम के गणराज्य की तरफ़ से लड़नेवालों का सरदार गैरीबाल्दी था। उसने आस्ट्रियावालों को रोक रखा, नेपल्सवालों को हरा दिया और फ्रांसवालों को भी आगे न बढ़ने दिया। यह सब, स्वयंसेवकों की मदद से किया गया और गणराज्य की रक्षा में रोम के अच्छे-से-अच्छे और बहादुर-से-बहादुर युवकों ने अपनी जानें दीं। पर अन्त में एक वीरतापूर्ण संघर्ष के बाद रोम का गणराज्य फ़्रांसीसियों से हार गया, और उन लोगों ने पोप को फिर से ला बिठाया।

इस तरह संघर्ष की पहली कला का अन्त हुआ। प्रचार तथा अगले बड़े प्रयत्न की तैयारी के रूप में मैज़िनी तथा गैरीबाल्दी अपना-अपना काम भिन्न-भिन्न तरीक़ों से करते रहे। वे एक-दूसरे से बहुत भिन्न थे। एक विचारक और आदर्शवादी था और दूसरा सिपाही, जिसमें छापामार युद्ध-कला की असाधारण प्रतिभा थी। दोनों में इटली की आज़ादी और एकता की ज़बरदस्त लगन थी। इसी समय इस बड़े खेल में एक तीसरा खिलाड़ी और प्रकट हुआ। यह पीडमॉण्ट के राजा विक्टर इमानुएल का प्रधान मंत्री कावूर था। उसका मुख्य लक्ष्य विक्टर इमानुएल को इटली का बादशाह बनाना था। चूंकि इसके लिए कई छोटे-छोटे राजाओं को दबाने और हटाने की ज़रूरत थी, इसलिए कावूर मैज़िनी और गैरीबाल्दी के कार्यों का फ़ायदा उठाने को पूरी तरह तैयार था। उसने फ़्रांसवालों से साजिश की और उन्हें अपने दुश्मन आस्ट्रियावालों के साथ लड़ाई में फँसा दिया। उस समय फ़्रांस का शासक नैपोलियन तृतीय था। यह सन् १८५९ ई० की बात है। फ़्रांसवालों के हाथों आस्ट्रियावालों की पराजय से गैरीबाल्दी ने फ़ायदा उठाया और नेपल्स तथा सिसली के बादशाह पर बिना किसीसे सलाह किये तथा अपने ही नेतृत्व में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

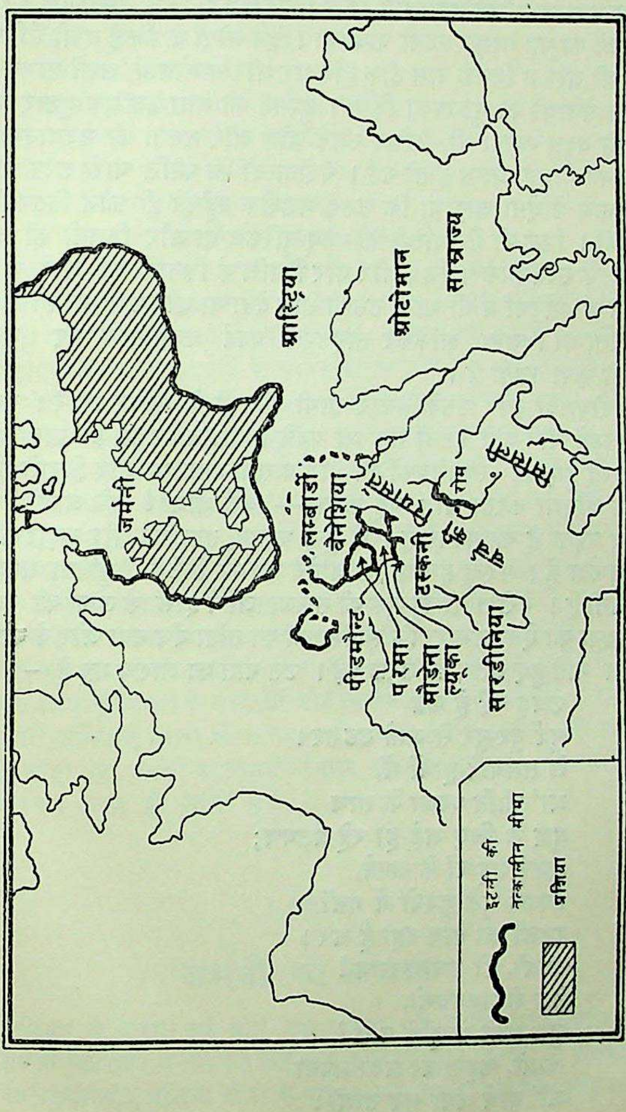

जर्मनी तथा इटली का उत्कर्ष

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक असाधारण फ़ौजी धावा कर दिया। गैरीबाल्दी और उसके एक हज़ार लाल कुर्तेवालों का यह मशहूर फ़ौजी धावा था। इन लोगों ने, जिन्हें न तो सैनिक शिक्षा मिली थी और न जिनके पास ठीक हथियार और सामान थे, अपने सामने डटी हुई शिक्षित सेनाओं का मुक़ाबला किया। दुश्मन की सेना इन एक हज़ार लाल कुर्ते वालों से बहुत ज्यादा थी, लेकिन उनके जोश और जनता की सद्भावना से उन्हें विजय-पर-विजय प्राप्त होती गई। गैरीबाल्दी की कीर्त्ति चारों तरफ़ फैल गई। उसके नाम में ऐसा जादू था कि उसके नज़दीक पहुँचते ही फ़ौजें तितर-बितर हो जाती थीं। फिर भी गैरीबाल्दी का काम मुश्किल था और कितनी ही बार वह तथा उसके स्वयंसेवक पराजय और घोर विपत्ति के किनारे पड़ जाते थे। किन्तु पराजय की घड़ियों में भी भाग्य उसका साथ देता था और पराजय को विजय में बदल देता था। जान झोंककर साहसपूर्ण कार्य करनेवालों पर भाग्य की ऐसी ही कृपा रहती है।

गैरीबाल्दी और उसके हज़ार साथी सिसली के तटपर उतरे। वहाँ से वे लड़ते-लड़ते धीरे-धीरे इटली तक जा पहुँचे। दक्षिण इटली के गांवों में होकर कूच करते हुए वह स्वयंसेवकों की माँग करता जाता था और निराले ही इनाम देने की घोषणा करता था। वह कहता—"चले आओ! चले आओ! जो घर में घुसा रहता है वह कायर है। मैं तुम्हें थकान, तकलीफ़ें और लड़ाइयाँ देने का वादा करता हूँ। परन्तु हम या,तो जीतेंगे या मर मिटेंगे।" दुनिया सफलता की क़द्र करती है। गैरीबाल्दी की शुरू की सफलताओं ने इटली के लोगों की राष्ट्रीयता की भावना को ऐसा उभारा कि स्वयंसेवकों का ताँता बँध गया और वे गैरीबाल्दी का गीत गाते हुए उत्तर की तरफ़ बढ़े। उस गीत का आशय यह है—

उघड़ गई हैं कब्रें
मुर्दे दूर-दूर से आते उठकर।
ले तलवारें हाथों में,
औ' कीर्ति ध्वजा के साथ
युद्ध के लिए खड़े हो रहे प्रेतगण;
अमर शहीदों के अपने,
जिनके मृत हृदयों में गर्मी
इटली का नाम रहा है भर।
आओ, दो उनका साथ!
देश के नवयुवको,
तुम चलो उन्हींके पीछे!
आओ, फहरा दो झंडा अपना
औ' बाजे जंगी अब साजो।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आ जाओ, सब लेकर ठंडी फौलादी तलवारें—
लेकिन हो आग हृदय में भरी हुई !
आ जाओ सब लेकर
इटली की आशाओं की ज्योति जली !
इटली से बाहर हो।
ओ परदेशी,
तू बाहर निकल
हमारे प्यारे वतन इटली से।

कावूर ने गैरीबाल्दी की सफलताओं से फ़ायदा उठाया। और इस सबका नतीजा यह हुआ कि सन् १८६१ ई० में पीडमॉण्ट का विक्टर इमानुएल इटली का बादशाह हो गया। रोम पर अभीतक फ़्रांसीसी सैनिकों का क़ब्ज़ा था और वेनिस पर आस्ट्रियावालों का। दस वर्ष के भीतर वेनिस और रोम बाक़ी इटली में मिल गये और रोम राजधानी बन गया। अंत में इटली एक संयुक्त राष्ट्र हो गया। लेकिन मैज़िनी को इससे खुशी नहीं हुई। उसने सारी उम्र गणराज्य के आदर्श के लिए जान लड़ाई थी और अब इटली सिर्फ़ पीडमॉण्ट के विक्टर इमानुऐल की रियासत बन गया। लेकिन यह सही है कि नया राज्य वैधानिक राज्य था और विक्टर इमानुऐल के राजा बनते ही तुरन्त टूरिन में इटली की पार्लमेण्ट कीबैठक हुई।

इस तरह इटली का राष्ट्र फिर से विदेशी शासन से मुक्त हो गया। यह तीन आदमियों की करामात थी—मैज़िनी, गैरीबाल्दी और कावूर । इन तीनों में से एक भी न होता तो शायद इस आज़ादी को आने में बहुत देर लगती।

इटली की आज़ादी की लड़ाई के दिनों में अंग्रेज़ जनता की सहानुभूति गैरीबाल्दी और उसके लाल-कुर्तेवालों के साथ थी और कितने ही अंग्रेज़ कवियों ने इस लड़ाई पर जोशीली कविताएँ लिखी थीं। यह अजीब बात है कि जहाँ अंग्रेज़ों का स्वार्थ आड़े नहीं आता वहाँ उनकी सहानुभूति अक्सर आज़ादी के लिए लड़नेवाले राष्ट्रों के साथ किस तरह हो जाती है!

: ८६ :

जर्मनी का उत्थान

नैपोलियन के पचास वर्ष बाद तक जर्मनी की छोटी-छोटी रियासतें बनी रहीं। उनकी फेडरेशन बनाने की कई बार कोशिशें हुईं, मगर वे असफल हुईं, क्योंकि आस्ट्रिया और प्रशिया दोनों के शासक और सरकारें इसके मुखिया बनना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चाहते थे। इस बीच में सभी उदार विचारों का खूब दमन हुआ। सन् १८३० और १८४८ ई० में विद्रोह हुए। मगर वे दबा दिये गये। जनता का मुँह बन्द करने के लिए कुछ छोटे-छोटे सुधार भी जारी किये गये ।

इंग्लैण्ड की तरह जर्मनी के कुछ हिस्सों में कोयले और कच्चे लोहे की खानें थीं। इससे वहाँ की स्थिति औद्योगिक विकास के लिए अनुकूल थी। जर्मनी भी अपने दार्शनिकों और वैज्ञानिकों और सिपाहियों के लिए मशहूर था। वहाँ कारखाने खड़े हो गये और औद्योगिक मज़दूरों का एक वर्ग पैदा हो गया।

इस स्थिति में, उन्नीसवीं सदी के मध्य के लगभग प्रशिया में एक आदमी उठा, जो आगे चलकर बहुत दिनों तक न सिर्फ़ जर्मनी पर, बल्कि योरप की राजनीति पर, हावी होने वाला था। यह आदमी प्रशिया का एक ज़मींदार था और इसका नाम था ओटो वान बिस्मार्क। वह वाटरलू की लड़ाई के साल (१८१५ ई०) पैदा हुआ था और उसने अलग-अलग दरबारों में कई वर्ष कूटनीतिक राजदूत का काम किया था। सन् १८६२ ई० में वह प्रशिया का प्रधान मंत्री बना और तुरन्त ही उसने अपना सिक्का जमाना शुरू कर दिया। प्रधान मंत्री बनने के एक सप्ताह के अन्दर उसने अपने एक भाषण के दौरान में कहा—"इस ज़माने की बड़ी समस्याएं भाषणों और बहुमत के प्रस्तावों से नहीं बल्कि लोहे और ख़ून से हल होंगी।"

बिस्मार्क के हाथ में जब बागडोर आई तब उसके दिमाग़ में साफ़-साफ़ विचार थे कि उसे क्या-क्या करना है, और उसके पास सावधानी से बनाई हुई योजना थी। वह दृढ़ता के साथ उस योजना पर डटा रहा और उसे अद्‌भुत सफलता मिली। वह जर्मनी का,और जर्मनी के ज़रिये प्रशिया का,योरप में प्रभुत्व क़ायम करना चाहता था। उस समय नैपोलियन तृतीय के मातहत फ़्रांस योरप में सबसे बलवान राष्ट्र समझा जाता था। आस्ट्रिया भी एक बड़ा प्रतिद्वन्द्वी था। पुराने ढंग की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और कूटनीति के एक पाठ की तरह यह देखकर चित्त मोहित हो जाता है कि बिस्मार्क दूसरी शक्तियों को किस तरह खेल खेलाता था और बारी-बारी से एक-एक करके उनसे कैसे निबटता था। सबसे पहली चीज़ जिसे करने का उसने बीड़ा उठाया था, यह थी जर्मनों के नेतृत्व का सवाल सदा के लिए हल कर दिया जाय। प्रशिया और आस्ट्रिया की पुरानी लाग-डाँट जारी नहीं रहने दी जा सकती थी। इस सवाल का अन्तिम निर्णय प्रशिया के पक्ष में होना चाहिए था और आस्ट्रिया को महसूस कर लेना चाहिए था कि उसका दर्जा दूसरा रहेगा। आस्ट्रिया के बाद फ़्रांस की बारी थी।

बस, बिस्मार्क ने अपनी फ़ौजी मशीन को चुपचाप मुकम्मिल कर लिया। इसी बीच में नैपोलियन तृतीय ने आस्ट्रिया पर हमला करके उसे हरा दिया। इस हार के फलस्वरूप गैरीबाल्दी की दक्षिण इटली में सैनिक कार्रवाई हुई जिसके

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिणाम में इटली सदा के लिए आज़ाद हो गया। ये सब बातें बिस्मार्क के अनुकूल थीं, क्योंकि इनसे आस्ट्रिया कमज़ोर पड़ गया। रूसी पोलैण्ड में जब राष्ट्रीय विद्रोह हुआ तो बिस्मार्क ने सचमुच ज़ार को यह प्रस्ताव भेजा कि यदि आवश्यकता हो तो वह पोलैण्डवालों को गोली से उड़ा देने में मदद देने को तैयार है। यह बड़ा कमीना प्रस्ताव था, मगर योरप की किसी भावी उलझन में ज़ार की सहानुभूति प्राप्त करने का उद्देश्य इससे पूरा हो गया। फिर आस्ट्रिया से मिलकर उसने डेनमार्क को हराया और फिर शीघ्र ही उसने आस्ट्रिया की तरफ़ मुँह किया। इसके लिए उसने होशियारी से फ़्रांस और इटली का समर्थन प्राप्त कर लिया था। सन् १८६६ ई० में कुछ ही समय में प्रशिया ने आस्ट्रिया को दबा दिया। जब उसने जर्मन-नेतृत्व का सवाल तय कर लिया और यह स्पष्ट कर दिया कि प्रशिया ही उसका नेता है तो फिर उसने बड़ी बुद्धिमानी से आस्ट्रिया के साथ उदारता का बर्त्ताव किया जिससे कोई कटुता बाक़ी न रहे। अब प्रशिया के नेतृत्व में एक उत्तर-जर्मन फ़ेडरेशन (संघ) बनाने का रास्ता साफ़ हो गया। (आस्ट्रिया उसमें नहीं था।) बिस्मार्क इस फ़ेडरेशन का चान्सलर बना। आजकल जहाँ हमारे कुछ राजनीति और क़ानून विशारद महीनों और वर्षों फ़ेडरेशनों और संविधानों के बारे में चर्चाएँ और दलीलें किया करते हैं, वहाँ ध्यान देने की दिलचस्प बात यह है कि बिस्मार्क ने उत्तर-जर्मन फ़ेडरेशन का नया संविधान पाँच घंटे में लिखवा दिया था। यही संविधान, इधर-उधर के कुछ संशोधनों के साथ, पचास वर्ष तक जर्मनी का संविधान बना रहा; यानी महायुद्ध के बाद सन् १९१८ ई० में जब गणराज्य स्थापित हुआ तबतक।

बिस्मार्क ने अपना पहला महान् उद्देश्य प्राप्त कर लिया था। दूसरा क़दम फ़्रांस को नीचा दिखाकर योरप में अपनी प्रभुता का दर्जा स्थापित करना था। इसकी तैयारी भी उसने चुपचाप और बिना शोरगुल मचाये की। जब वह युद्ध के लिए पूरी तरह तैयार हो गया तो उसने अपना खेल इतनी होशियारी के साथ खेला कि वास्तव में सन् १८७० ई० में नैपोलियन तृतीय ने ही प्रशिया के विरुद्ध लड़ाई की घोषणा की। योरप को ऐसा लगा मानो प्रशिया की सरकार ही आक्रमणकारी फ़्रांस की बेक़सूर शिकार हुई। पेरिस के लोग 'बर्लिन चलो! बर्लिन चलो!' चिल्लाने लगे और नैपोलियन तृतीय ने अपने मन में बड़े संतोष से समझ लिया कि वह शीघ्र ही अपनी विजयी फ़ौज के साथ सचमुच बर्लिन पहुँच जायगा। मगर हुआ कुछ और ही। बिस्मार्क का सधा हुआ सैनिक संगठन फ़्रांस की उत्तर-पूर्वी सरहद पर टूट पड़ा और उसके आगे फ़्रांस की फ़ौज छिन्न-भिन्न हो गई। कुछ ही सप्ताहों में सेदान नामक स्थान पर ख़ुद सम्राट नैपोलियन तृतीय और उसकी सेना को जर्मनों ने क़ैद कर लिया।

इस तरह फ्रांस का दूसरा नैपोलियनी साम्राज्य समाप्त हुआ और तुरन्त ही पेरिस में गणराज्य स्थापित हो गया। पेरिस में राष्ट्र-रक्षा की सरकार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बनी। उसने प्रशिया के सामने शान्ति का प्रस्ताव रक्खा, मगर बिस्मार्क की शर्तें इतनी अपमानजनक थीं कि लगभग सारी सेना का नाश हो जाने पर भी उन्हें लड़ाई जारी रखने का निर्णय करना पड़ा। जर्मन फ़ौजें बहुत समय तक वर्साई में और पेरिस के चारों तरफ़ घेरा डाले पड़ी रहीं। अन्त में पेरिस ने हथियार डाल दिये और नये गणराज्य ने हार मानकर बिस्मार्क की कठोर शर्तें मंजूर कर लीं। युद्ध के हर्जाने की भारी रक़म देना क़बूल किया गया; और जिस बात से फ़्रांस को सबसे ज्यादा चोट पहुँची, वह यह थी कि अलसेस तथा लॉरेन के प्रान्त दो सौ साल से अधिक फ़्रांस के हिस्से रहने के बाद जर्मनी के हवाले कर देने पड़े।

मगर पेरिस का घेरा उठने से पहले ही वर्साई में एक नये साम्राज्य का जन्म हो गया। सन् १८७० ई० के सितम्बर मास में तो नैपोलियन तृतीय के फ़्रांसीसी साम्राज्य का अन्त हुआ और सन् १८७१ ई० की जनवरी में वर्साई के सोलहवें लुई के राजमहल के भव्य दीवानख़ाने में संयुक्त जर्मनी की घोषणा हुई और प्रशिया का बादशाह क़ैसर के नाम से सम्राट् बना। जर्मनी के सब राजाओं और प्रतिनिधियों ने वहाँ एकत्र हो कर अपने नये सम्राट् क़ैसर को ताज़ीम दी। अब हॉयज़ॉलर्न का प्रशियन राजघराना एक शाही घराना बन गया और संयुक्त जर्मनी संसार की एक महान् शक्ति हो गया।

इधर वर्साई में हर्ष और उत्सव मनाया जा रहा था और उधर पास ही पेरिस में शोक और विपत्ति और पूरी ज़लालत छाई हुई थी। अनेक आफ़तों के कारण जनता हक्की-बक्की हो रही थी और कोई सुव्यवस्थित शासन नहीं था। राष्ट्रीय सभा (नेशनल असेम्बली) में राजतंत्रवादी बड़ी संख्या में चुन कर आ गये थे और ये लोग बादशाह को फिर से स्थापित करने की साज़िशें कर रहे थे। उन्होंने अपने रास्ते का कांटा दूर करने के लिए राष्ट्रीय रक्षक दल के हथियार छीनने का प्रयत्न किया, क्योंकि यह दल गणराज्यवादी समझा जाता था। नगर के सब लोकतंत्रवादी और क्रांतिकारी तत्त्वों को ऐसा लगा कि इसका अर्थ फिर से प्रतिगामिता और दमन है। इसलिए सन् १८७१ ई० के मार्च में विद्रोह उठ खड़ा हुआ और पेरिस के "कम्यून" यानी पंचायती राज्य की घोषणा की गई। यह एक तरह की म्युनिसिपैलिटी थी और इसे फ़्रांस की महान् राज्यक्रान्ति से प्रेरणा मिली थी। मगर इसमें इससे ज्यादा और भी बहुत-कुछ था। ज़रा अस्पष्ट रूप में ही सही, इसमें वे समाजवादी विचारधाराएं मूर्तिमान थीं जो उस समय पैदा हो चुकी थीं। एक तरह से यह रूस की सोवियत प्रणाली का पूर्वगामी था।

मगर सन् १८७१ ई० का यह पेरिस-कम्यून थोड़े ही दिन टिका। राजतंत्रवादियों और उच्च मध्यम वर्ग के लोगों ने आम जनता की इस बग़ावत से डरकर पेरिस के उस भाग पर घेरा डाल दिया जो कम्यून के अधिकार में था। पास ही वर्साई में और अन्य जगहों पर जर्मन सेनाएं यह सब चुपचाप देखती रहीं। जो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फ़्रांसीसी सिपाही जर्मनों की क़ैद से छूटकर पेरिस लौटे, वे अपने पुराने अफ़सरों के साथ हो गये और कम्यून के विरुद्ध लड़ने लगे। उन्होंने कम्यून के समर्थकों पर धावा बोल दिया और सन् १८७१ ई० की मई के अन्त में एक दिन उन्हें हराकर पेरिस की सड़कों पर तीस हज़ार स्त्री-पुरुषों को गोलियों से उड़ा दिया। बाद में कम्यून की फौज के अनेक पकड़े हुए लोगों को भी नृशंसता के साथ गोलियों से मार दिया गया। इस तरह पेरिस के कम्यून का अन्त हुआ।

यद्यपि कम्यून दबा दिया गया, तथापि फ़्रांस बादशाहत के और अधिक प्रयोगों से बच गया। कुछ समय में वह निश्चय ही गणतंत्रवाद पर जम गया और सन् १८७५ ई० की जनवरी में वहाँ एक नये संविधान के अन्तर्गत तीसरे गणराज्य की घोषणा की गई। यह गणराज्य उसी समय से चला आ रहा है और अब भी मौजूद है। फ़्रांस का गणराज्य उच्च मध्यमवर्गीय गणराज्य है और उसकी बागडोर सम्पन्न मध्यम वर्गों के हाथों में है।

फ़्रांस सन् १८७०—७१ ई० के जर्मन-युद्ध की मार से फिर पनप गया और उसने हर्जाने की भारी रक़म भी चुका दी, लेकिन फ़्रांस की जनता को जिस तरह ज़लील किया गया था, उससे लोगों के दिलों में ग़ुस्सा भरा हुआ था। वे स्वाभिमानी लोग हैं और बातों को बहुत दिन तक याद रखते हैं। इसलिए बदले की भावना उन्हें सताने लगी। अलसेस और लॉरेन के हाथ से चले जाने का उन्हें ख़ासतौर पर दुःख था। बिस्मार्क ने आस्ट्रिया को हराने के बाद उसके प्रति उदारता दिखाकर अक्लमंदी की थी; लेकिन फ़्रांस के साथ उसके कठोर बर्त्ताव में न तो उदारता थी और न बुद्धिमानी। एक स्वाभिमानी शत्रु को नीचा दिखाने की क़ीमत देकर उसने उन लोगों की सदा हरी रहनेवाली शत्रुता मोल ले ली।

बिस्मार्क की कूटनीतिक कुशलता ने अन्ततक उसका साथ नहीं छोड़ा और उसने अपने जमाने की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ज़बरदस्त खेल खेला। यह राजनीति उस समय भी, और आज भी साज़िश, जवाबी-साज़िश, धोखाधड़ी और मक्कारी का अजीब और पेचीदा जाल है और ये सब बातें छिपकर और परदे के पीछे की जाती हैं। अगर ये सब खुले तौर पर हों तो ज्यादा दिन नहीं टिक सकतीं। बिस्मार्क ने आस्ट्रिया और इटली को मिलाकर "त्रिदलीय गठ-बन्धन" बनाया, क्योंकि अब उसे फ़्रांसवालों के प्रतिशोध का भय होने लगा था। इस तरह दोनों पक्ष हथियार जमा करने, साजिशें करने और एक-दूसरे पर आँखें निकालने में लगे रहे।

सन् १८८८ ई० में सम्राट विल्हेल्म द्वितीय के नाम से एक युवक जर्मनी का क़ैसर हुआ। उसके दिमाग़ में यह ख़याल ख़ूब भर हुआ था कि वह ज़ोरदार आदमी है और बहुत जल्दी ही वह बिस्मार्क से लड़ पड़ा। इस लोह-पुरुष चान्सलर को बुढ़ापे में उसके पद से बरख़ास्त कर दिया गया। इसपर उसे बहुत ग़ुस्सा आया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आँसू पोंछने के लिए उसे 'प्रिंस' का ख़िताब दे दिया गया, मगर बादशाहों के बारे में उसका भ्रम दूर हो गया और ग्लानि के मारे वह अपनी जागीर में एकान्तवास करने लगा।

यह बदमिज़ाज बूढ़ा कुछ वर्ष और जिया और सन् १८९८ ई० में तिरासी वर्ष की उम्र में मरा। क़ैसर के हाथों बरख़ास्त होने और मौत के बाद भी उसकी छाया जर्मनी पर बनी रही और उसकी आत्मा उसके उत्तराधिकारियों को प्रेरित करती रही। मगर उसके बाद आनेवाले व्यक्ति उसकी तुलना में तुच्छ थे।

: ८७ :

लोकतंत्र की प्रगति : समाजवाद का आगमन

मैंने अठारहवीं सदी के फ़्रांस में विचारधाराओं के संघर्ष का हाल बताया था। उस समय के सबसे महान् विचारक और लेखक वाल्तेयर और अन्य फ़्रांसीसी महापुरुषों ने धर्म और समाज की कितनी ही पुरानी धाराओं को चुनौती दी थी और साहस के साथ नये मतों का प्रतिपादन किया था। ऐसी राजनैतिक विचार-शैली उस समय मुख्यतया फ़्रांस तक ही सीमित थी। जर्मनी में भी दार्शनिक थे, मगर उनकी दिलचस्पी तत्त्वज्ञान के दुस्तर प्रश्नों में ही ज्यादा थी। इंग्लैण्ड में व्यवसाय और व्यापार बढ़ रहे थे और ज्यादातर लोगों को परिस्थितियों से मजबूर हुए बिना सोच-विचार करने का शौक़ नहीं था। हाँ, अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैण्ड में एक मार्के की पुस्तक ज़रूर निकली। यह ऐडम स्मिथ की 'राष्ट्रों की सम्पत्ति' वैल्थ ऑफ नेशन्ज़ थी। यह पुस्तक राजनीति पर नहीं थी, बल्कि राजनैतिक अर्थशास्त्र पर थी। उस समय के अन्य सब विषयों की तरह यह विषय भी धर्म और नीति के साथ मिला हुआ था और इसलिए इसके बारे में बड़ा घपला था। ऐडम स्मिथ ने इस विषय का वैज्ञानिक ढंग से विवेचन किया और तमाम नैतिक उलझनों की उपेक्षा करके अर्थशास्त्र का संचालन करनेवाले प्राकृतिक नियमों का पता लगाने की कोशिश की। अर्थशास्त्र इस बात की विवेचना करता है कि लोगों की या किसी समूचे देश की आय और व्यय की व्यवस्था कैसे की जाती है, वे क्या पैदा करते हैं और क्या उपभोग करते हैं, और आपस में तथा दूसरे देशों और जातियों के साथ उनके क्या संबंध हैं। ऐडम स्मिथ का विश्वास था कि ये सारी विशेष जटिल प्रक्रियाएं कुछ निश्चित प्राकृतिक नियमों के अनुसार होती हैं और इन नियमों का उसने अपनी पुस्तक में उल्लेख किया।

अन्य देशों की तरह योरप में भी, तथा अन्य धर्मों की तरह ईसाई-धर्म में भी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुरानी धारणा यह थी कि पाप और दुख सभी मनुष्यों को अनिवार्य रूप से भोगने पड़ते हैं। धर्म ने मानो इस संसार में दरिद्रता तथा मुसीबत को एक स्थायी और यहांतक कि प्रतिष्ठित आसन दे दिया था। धर्म के प्रलोभन और पुरस्कार तमाम किसी परलोक के लिए थे; यहाँ तो हमें यही उपदेश दिया जाता था कि सन्तोष के साथ अपने भाग्य के भोगों को बरदाश्त करते रहें और किसी मौलिक परिवर्त्तन के पीछे न पड़ें। दान-पुण्य, यानी ग़रीबों को टुकड़े डालने की वृत्ति, को प्रोत्साहित किया जाता था, मगर ग़रीबी या ग़रीबी पैदा करनेवाली प्रणाली का नाश करने की कोई कल्पना नहीं थी। स्वाधीनता और समानता के विचार ही चर्च और समाज के अधिकारवादी दृष्टिकोण के विरोधी थे।

लोकतंत्रवाद का यह तो कभी कहना नहीं था कि सब मनुष्य यथार्थ में समान हैं। वह ऐसा कह भी नहीं सकता था, क्योंकि यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य-मनुष्य के बीच असमानताएं होती हैं; शारीरिक असमानताएं, जिनके कारण ही कुछ लोग दूसरों से बलवान होते हैं; मानसिक असमानताएं, जो कुछ लोगों के दूसरों से अधिक योग्य तथा बुद्धिमान होने में दिखाई देती हैं; और नैतिक असमानताएं जो कुछ-को स्वार्थी बनाती हैं और कुछको नहीं। यह बिल्कुल सम्भव है कि इनमें से बहुत सी असमानताएं भिन्न-भिन्न प्रकार के भरण-पोषण तथा शिक्षा के कारण अथवा अशिक्षा के कारण होती हों। भरण-पोषण, वातावरण, तालीम और शिक्षा मनुष्य में भारी भेद पैदा कर देते हैं और हो सकता है कि अगर सबको एक ही तरह की तालीम और सुविधाएं मिलें, तो असमानता आज से बहुत कम हो जाय। लेकिन जहाँतक लोकतंत्रवाद का सम्बन्ध है, वह मानता है कि यथार्थ में मनुष्य असमान होते हैं, और फिर भी वह कहता है कि हरएक मनुष्य के साथ ऐसा बर्त्ताव किया जाना चाहिए मानो उसका राजनैतिक और सामाजिक महत्त्व सबके बराबर है। इस सिद्धान्त से स्वाभाविक परिणाम यह निकला कि शासन-सभा या पार्लमेण्ट के लिए प्रतिनिधि के चुनाव में हर व्यक्ति को वोट देने का अधिकार होना चाहिये। वोट देने का अधिकार राजनैतिक सत्ता का प्रतीक है, और यह मान लिया गया है कि अगर हर आदमी को वोट का अधिकार हो, तो उसे राजनैतिक सत्ता में बराबर का हिस्सा मिल जायगा। इसलिए सारी उन्नीसवीं सदी में लोकतंत्रवाद की मुख्य मांग यह थी कि मताधिकार बढ़ाया जाय। बालिग़ मताधिकार का अर्थ यही है कि हर बालिग़ व्यक्ति को वोट देने का अधिकार हो।

मगर विचित्र बात यह हुई कि जब ज्यादातर लोगों को वोट का अधिकार मिल गया, तब उन्हें मालूम पड़ा कि इससे उनकी हालत में कोई बड़ा अन्तर नहीं हुआ। वोट का अधिकार मिल जाने पर भी राज्य में या तो उन्हें कुछ भी सत्ता नहीं मिली या बहुत ही थोड़ी मिली। भूखे आदमी को मताधिकार किस काम का? असली सत्ता तो उन लोगों के हाथों में रही जो उसकी भूख से फ़ायदा उठा सकते थे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और उसे मजबूर करके अपने फ़ायदे का कोई भी मनचाहा काम उससे करा लेते थे। वोट के अधिकार से जिस राजनैतिक सत्ता के मिलने का ख़याल था, वह आर्थिक सत्ता-रहित बिना असलियत की परछाईं साबित हुई और आरंभिक लोकतंत्रवादियों के वे रौनक़दार सपने, कि मताधिकार मिलते ही समानता आ जायगी, अकारथ हो गये।

जैसे-जैसे विज्ञान और लोकतंत्री विचारों के कारण पुरानी धार्मिक नीवें कमज़ोर होती जा रही थीं, पुराने धर्म की जगह बिठाने के लिए एक नया दर्शन रचने के प्रयत्न किये जा रहे थे। ऐसा ही एक प्रयत्न आगस्ते काम्ते नामक फ़्रांसीसी दार्शनिक ने किया था। इसका समय सन् १७९८ से १८५७ ई० तक है। काम्ते ने महसूस किया कि पुराने धर्म-दर्शन तथा कट्टरपन्थी धर्म का समय जाता रहा है; मगर उसे यह भी विश्वास हो गया कि समाज को किसी-न-किसी धर्म की आवश्यकता ज़रूर है। इसलिए उसने "मानव-धर्म"[१] सामने रखा और उसका नाम "धनात्मकवाद"[२] रखा। इसके आधार प्रेम, व्यवस्था और उन्नति रखे गये। इसमें कोई बात अलौकिक नहीं थी; इसका आधार विज्ञान था। उन्नीसवीं सदी की अन्य सब प्रचलित विचारधाराओं की तरह इस विचारधारा के पीछे भी मानव-जाति की तरक़्क़ी की कल्पना थी। काम्ते के धर्म पर कुछ गिने-चुने दिमाग़ी लोगों का ही विश्वास रहा, मगर योरप के विचारों पर उसका ख़ूब व्यापक असर पड़ा।

अंग्रेज़ दार्शनिक और अर्थशास्त्री जॉन स्टुअर्ट मिल (सन् १८०६-१८७३ ई०) काम्ते का समकालीन था, मगर वह काम्ते की मृत्यु के बहुत वर्ष बाद तक जीवित रहा। मिल पर काम्ते की विवेचना तथा समाजवादी विचारों का प्रभाव पड़ा था। ऐडम स्मिथ की विवेचनाओं को केन्द्र मानकर राजनैतिक अर्थशास्त्र का जो पन्थ इंग्लैण्ड में चल गया था, उसे मिल ने नई दिशा में ले जाने का प्रयत्न किया और उसने आर्थिक विचारों में कुछ समाजवादी सिद्धान्तों का प्रवेश कराया। मगर उसकी सबसे ज्यादा ख्याति "उपयोगितावाद"[३] के आचार्य के रूप में है। उपयोगितावाद एक नया सिद्धान्त था जो इंग्लैण्ड में प्रचलित तो कुछ समय पहले ही हो चुका था, मगर उसे अधिक महत्त्व दिया मिल ने। जैसाकि इसके नाम से पता चलता है, इसका निर्देशक दर्शन 'उपयोग' था। उपयोगितावादियों का मौलिक सिद्धान्त था "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख"[४]। भलाई-बुराई की केवल यही कसौटी

---

[१] रिलीजन ऑफ ह्यूमेनिटी
[२] पॉज़िटिविज़्म
[३] यूटीलिटेरियनिज़्म
[४] Greatest happiness of the greatest number.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थी। जो काम जितना ज्यादा सुख बढ़ानेवाला होता, वह उतना-ही अच्छा कहा जाता और जो जितना दु:ख बढ़ाता, वह उतना-ही बुरा माना जाता। समाज और सरकार का संगठन ज्यादा-से-ज्यादा लोगों के सुख में ज्यादा-से-ज्यादा वृद्धि करने की दृष्टि से होना उचित माना गया। यह दृष्टिकोण पहलेवाले "सबको बराबर अधिकार" के लोकतंत्रवादी सिद्धान्त से भिन्न था। ज्यादा-से-ज्यादा लोगों के ज्यादा-से-ज्यादा सुख के लिए थोड़े-से लोगों के बलिदान की या क्लेश की ज़रूरत हो सकती है। इस तरह लोकतंत्र का अर्थ "बहुमत का अधिकार" माना जाने लगा।

उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में ये लोकतंत्री विचार मुख्यतया बुद्धिजीवियों तक ही सीमित थे। साधारण जनता पर उद्योगवाद की बढ़ोतरी का ज़बरदस्त प्रभाव पड़ा था और लोग ज़मीनें छोड़-छोड़कर कारख़ानों में जाने को विवश हुए थे। औद्योगिक मज़दूरों का वर्ग बढ़ रहा था जो कारख़ानोंवाले भद्दे और गन्दे नगरों में भेड़-बकरियों की तरह रहता था। ये नगर ज्यादातर कोयले की खानों के आस-पास थे। ये मज़दूर बड़ी तेज़ी के साथ बदल रहे थे और उनके अन्दर एक नई मनोवृत्ति का विकास हो रहा था। जो ढेरों किसान और कारीगर भूख के मारे कारख़ानों में आ-आकर भरती हुए थे, उनसे ये मज़दूर बिल्कुल भिन्न थे। जैसे इन कारख़ानों के खोलने में इंग्लैण्ड सबसे आगे बढ़ा हुआ था, वैसे-ही औद्योगिक मज़दूरों का वर्ग भी पहले इंग्लैण्ड में ही बढ़ा। कारख़ानों के भीतर की हालत दिल दहलानेवाली थी और मज़दूरों के घरों या झोंपड़ों की उससे भी बदतर। उन्हें मुसीबतें भी बहुत थीं। छोटे-छोटे बच्चों और स्त्रियों को इतने घंटे काम करना पड़ता था कि आज उसपर यक़ीन नहीं होता। फिर भी इन कारख़ानों और घरों की हालत क़ानून के द्वारा सुधारने के सब प्रयत्नों का मालिकों ने डटकर विरोध किया। इंग्लैण्ड का शासक-वर्ग फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति से इतना डर गया था कि उसने "सम्मिलन क़ानून" (काम्बीनेशन एक्ट्स) नाम ; ऐसे नियम बना दिये कि बेचारे मज़दूर अपने दु:ख-सुख की चर्चा करने के लिए भी इकट्ठे न हो सकें।

लेकिन मज़दूरों को इकट्ठा होने से रोकनेवाले क़ानूनों से मज़दूरों की अवस्था सुधरी नहीं। उनसे वे उल्टे भड़क गये और सब आशाएँ छोड़ बैठे। उन्होंने गुप्त समितियाँ बनाईं, सब बातें गुप्त रखने की आपस में क़सम खाई और सुनसान जगहों में आधी रात गये सभाएँ करने लगे। किसी साथी की ग़द्दारी पर, या भेद खुल जाने पर षड्यंत्र के मुक़दमे चलते और भयंकर सज़ाएँ दी जातीं। कभी-कभी वे ग़ुस्से में आकर मशीनों को तोड़-फोड़ डालते, कारख़ानों में आग लगा देते और अपने कुछ मालिकों के ख़ून त क कर डालते थे। अन्त में सन् १८२५ ई० में मज़दूर-संगठनों पर से पाबन्दियाँ कुछ-कुछ हटा ली गईं और मज़दूर-संघ बनने लग गये। ये संघ अच्छी तनख्वाह पानेवाले कुशल मज़दूरों ने बनाये। अकुशल मज़दूर लम्बे अरसे तक असंगठित ही रहे। इस तरह मज़दूर-आन्दोलन की यह सूरत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हो गई कि मिलकर शर्तें तय करने के उपाय द्वारा मज़दूरों की अवस्था सुधारने के लिए मज़दूर-संघ बन गये। मज़दूरों के हाथ में कारगर हथियार तो सिर्फ़ हड़ताल करने के अधिकार का था, यानी काम बन्द कर देना और कारखानों का काम ठप्प कर देना। बेशक यह बड़ा हथियार था, मगर उनके मालिकों के हाथ में इससे भी ज्यादा शक्तिशाली हथियार यह था कि वे मज़दूरों को भूखों मार-कर अपने आगे झुका सकते थे। इस तरह मज़दूरों का संघर्ष जारी रहा, जिसमें उन्हें कुरबानियाँ तो बहुत करनी पड़ीं और लाभ धीरे-धीरे हुआ। पार्लमेण्ट पर उनका सीधा असर नहीं था, क्योंकि उन्हें वोट देने का भी अधिकार नहीं मिला था। सन् १८३२ ई० के जिस महान् 'सुधार बिल' का इतना कड़ा विरोध हुआ था, उससे सिर्फ़ सम्पन्न मध्यम-वर्गों के लोगों को वोट का हक़ मिला था। मज़दूर ही नहीं, वरन् निम्नमध्यम-वर्गों के लोगों को भी अभीतक वोट का अधिकार नहीं था।

इसी बीच मैन्चेस्टर के कारख़ानेदारों में ही एक मानवता-प्रेमी व्यक्ति पैदा हुआ जिसे मज़दूरों की दिल-दहलानेवाली हालत देखकर बहुत दुःख हुआ। उसका नाम रॉबर्ट ओवेन था। उसने अपने निजी कारख़ानों में बहुत-से सुधार किये और अपने मज़दूरों की हालत सुधारी। वह अपने-ही मालिक-वर्ग में आन्दोलन करता रहा और दलीलों द्वारा उन्हें मज़दूरों के साथ अच्छा बर्त्ताव करने के लिए मनाने के प्रयत्न करता रहा। कुछ उसके कारण, और कुछ दूसरी हालतों से मजबूर होकर, ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने मज़दूरों को मालिकों के लोभ और स्वार्थ-साधन से बचाने के लिए पहला क़ानून पास किया। यह सन् १८१९ ई० का 'कारख़ाना अधिनियम' (फ़ेक्टरी एक्ट) था। इस क़ानून में यह आदेश था कि नौ-नौ वर्ष के छोटे बच्चों से बारह घण्टे से ज्यादा काम न लिया जाय!

कहते हैं कि रॉबर्ट ओवेन ने ही सन् १८३० ई० के आसपास 'समाजवाद' शब्द का पहले-पहल प्रयोग किया। अलबत्ता ग़रीब-अमीर के भेद को काट-छाँट-कर एक स्तर पर लाने का, और सम्पत्ति के, जहाँतक हो सके, बराबर बँटवारे का विचार नया नहीं था। ओवेन का विचार यह था कि मज़दूरों की सहकारी-समितियाँ बनाई जायँ और मज़दूरों का कारख़ानों में हिस्सा हो जाय। उसने इंग्लैण्ड और अमरीका में नमूने के कारख़ाने और बस्तियाँ स्थापित कीं और उसे कमती-बढ़ती सफलता भी मिली। मगर वह अपनी मालिक-बिरादरी के या सरकार के विचारों को नहीं बदल सका। फिर भी अपने समय में उसका प्रभाव बहुत था और उसने 'समाजवाद' का एक-ही शब्द ऐसा चला दिया, जिसने उसी समय से करोड़ों के दिलों को मोह लिया है।

इस बीच पूंजीवादी उद्योग-धन्धे बराबर बढ़ते गये, और जैसे-जैसे इन्हें सफलता मिलती गई, वैसे-वैसे मज़दूरों की समस्या भी ज़ोर पकड़ती गई। पूंजीवाद का नतीजा यह हुआ कि उत्पादन बहुत बढ़ गया और उसकी वजह से आबादी भी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जबरदस्त गति से बढ़ी, क्योंकि अब पहले से ज्यादा आदमियों को परवरिश और ख़ूराक मिल सकती थी।

पूंजीवाद की सफलता ने लोगों की आँखें चौंधिया दीं, मगर फिर भी कुछ वामपक्षी या प्रगतिशील विचारोंवाले या मानवता-प्रेमी लोग ऐसे रह गये थे, जो पूंजीवाद की गला-घोंट प्रतियोगिता से, और देश की बढ़ती हुई दौलत के बावजूद उससे पैदा होनेवाले मज़दूरों के कष्टों से बहुत दुःखी थे। इंग्लैण्ड, फ़ान्स और जर्मनी में इस समस्या केअलग-अलग हल भी सुझाये गये। इन्हीं सबका सामूहिक नाम समाजवाद (सोशलिज़्म), समष्टिवाद (कलेक्टीविज़्म) या समाज-वादी लोकतंत्र (सोशल डेमोक्रेसी) है। इन सब शब्दों का अस्पष्ट-सा एक-ही अर्थ है। ये सब सुधारक समान रूप से इस बात पर सहमत थे कि झगड़े की जड़ उद्योगों पर वैयक्तिक स्वामित्व और नियंत्रण का होना है। इसके बजाय यदि उद्योगों का, या कम-से-कम ज़मीन और बड़े-बड़े उद्योगों जैसे उत्पादन के मुख्य साधनों का, मालिक राज्य ही बन जाय और वही उन्हें चलावे, तो मज़दूरों के शोषण का ख़तरा न रहे। इस तरह कुछ अनिश्चित रूप में, लोग पूंजीवादी व्यवस्था का कोई विकल्प ढूँढ़ने लगे। मगर पूंजीवादी व्यवस्था के ख़त्म हो जाने का कोई लक्षण नहीं था। वह तो दिन-पर-दिन मज़बूत होती जा रही थी।

: ८८ :

कार्ल मार्क्स और मज़दूर-संगठनों की वृद्धि

उन्नीसवीं सदी के बीच के आसपास योरप के मज़दूर और समाजवादी संसार में एक नये और चित्ताकर्षक व्यक्तित्ववाला आदमी प्रकट हुआ। यह व्यक्ति कार्ल मार्क्स था। वह एक जर्मन यहूदी था। उसका जन्म सन् १८१८ ई० में हुआ था। उसने क़ानून, इतिहास और दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया। एक अखबार निकालने के कारण उसका जर्मनी के अधिकारियों से झगड़ा हो गया। वह पेरिस चला आया, जहाँ वह नये-नये लोगों के सम्पर्क में आया, उसने समाजवाद और अराजकतावाद (एनार्किज़्म पर नई-नई किताबें पढ़ीं और वह समाजवादी विचारधारा का समर्थक बन गया। वहीं पेरिस में फ्रेडरिक ऐंगेल्स नामक एक और जर्मन से उसकी मुलाक़ात हुई, ज इंग्लैण्ड में जाकर बस गया था और वहाँ कपड़े के बढ़ते हुए उद्योग में एक धनवान कारख़ानेदार बन गया था। ऐंगेल्स भी वर्त्तमान सामाजिक स्थिति से दुःखी और असन्तुष्ट था और उसका दिमाग़

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चारों तरफ़ दीखनेवाली ग़रीबी और शोषण के इलाज की तलाश कर रहा था। रॉबर्ट ओवेन के सुधार-सम्बन्धी विचार और प्रयत्न उसे बहुत भाये, और वह ओवेन का अनुयायी बन गया। पेरिस की यात्रा ने, जिसके फलस्वरूप कार्ल मार्क्स से उसकी पहली भेंट हुई, उसके विचारों को भी बदल दिया। तबसे मार्क्स और ऐंगेल्स गहरे दोस्त और साथी हो गये। दोनों के एक-से विचार थे और दोनों एक-ही उद्देश्य के लिए दिलोजान से मिलकर काम करने लगे। आयु भी दोनों की लगभग समान थी। उनका सहयोग इतना गहरा था कि जो पुस्तकें उन्होंने प्रकाशित कीं, उनमें से ज्यादातर दोनों की सम्मिलित लिखी हुई थीं।

फ़्रान्स की तत्कालीन सरकार ने मार्क्स को पेरिस से निकाल दिया। यह लुई फ़िलिप का ज़माना था। मार्क्स लन्दन चला गया और वहाँ बहुत वर्ष तक रहा। वहाँ वह ब्रिटिश म्यूज़ियम की पुस्तकों के पढ़ने में डूबा रहता। उसने कठिन परिश्रम करके अपने सिद्धा तों को परिपुष्ट किया और फिर उनपर लिखने लगा। मगर वह कोरा अध्यापक या दार्शनिक नहीं था, जो बैठा-बैठा सिद्धान्त गढ़ा करता हो और दुनिया की बातों से सरोकार न रखता हो। जहाँ उसने समाजवादी आन्दोलन की अस्पष्ट विचारधारा का विकास किया और उसे स्पष्ट किया और उसके सामने निश्चित और साफ़-साफ़ विचार और ध्येय उपस्थित किये, वहाँ उसने योरप में मज़दूरों और उनके आन्दोलन को संगठित करने में भी क्रियात्मक और प्रमुख भाग लिया। सन् १८४८ ई० में, जो 'क्रान्तियों का वर्ष' कहलाता है, जो घटनाएँ हुईं, उनसे मार्क्स का हृदय स्वभावतः ही बहुत द्रवित हुआ। उसी साल उसने और ऐंगेल्स ने एक सम्मिलित घोषणा-पत्र प्रकाशित किया, जो बहुत प्रसिद्ध हो चुका है। यह 'साम्यवादी घोषणा-पत्र'[1] था, जिसमें उन्होंने उन विचारों की विवेचना की जो फ़ा स की महान् राज्यक्रान्ति की, और बाद में सन् १८३० ई० और सन् १८४८ ई० के विद्रोहों की, जड़ में थे। उन्होंने इस घोषणा-पत्र में यह भी बतलाया कि वे विचार न तो वा तविक परिस्थितियों के लिए काफ़ी थे और न उनसे मेल खाते थे। उन्होंने उस समय की स्वाधीनता, समानता और भ्रातृ-भाव की लोकतंत्री पुकारों की आलोचना की, और यह दिखाया कि जनता के लिए ये कोई अर्थ नहीं रखतीं, केवल बुर्जुआ राज्य पर पवित्रता का झूठा परदा चढ़ा देती हैं। आगे चलकर, उन्होंने संक्षेप में समाजवाद के अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। और घोषणा-पत्र के अन्त में उन्होंने सारे मज़दूरों से इन शब्दों में अपील की— "दुनिया के मज़दूरो, एक हो जाओ। तुम्हें खोना कुछ नहीं है सिवाय अपनी ग़ुलामी की ज़ंजीरों के, और पाने को तुम्हारे लिए संसार पड़ा है!"

सन् १८६४ ई० में मार्क्स लन्दन में एक सम्मेलन करने में सफल हुआ।

---

[1] कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसमें अनेक दलों के लोग, जो अपने को मोटे तौरपर समाजवादी कहते थे, इकट्ठे हुए। एक तरफ़ तो योरप के कई पराधीन देशों के लोकतंत्रवादी और देशभक्त थे, जो समाजवाद में श्रद्धा तो रखते थे, पर उसे बहुत दूर की चीज़ समझते थे। उनकी ज्यादा दिलचस्पी तो तुरन्त राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करने में थी। दूसरी तरफ़ अराजकतावादी लोग थे, जो तुरन्त लड़ाई मोल लेना चाहते थे। सभा में मार्क्स के अलावा दूसरा प्रभावशाली व्यक्ति अराजकतावादी नेता बाकुनिन था। वह कई साल साइबेरिया में क़ैद रहकर तीन साल पहले भागकर निकल आया था। बाकुनिन के अनुयायी खासतौर पर दक्षिण योरप के इटली और स्पेन वग़ैरा लातीनी देशों से आये थे। इन देशों में बड़े उद्योग-धन्धों का विकास नहीं हुआ था और वे इस दिशा में पिछड़े हुए थे। ये बेकार बुद्धिजीवी और तरह-तरह के अन्य क्रान्तिकारी अनासिर थे, जिनको तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में कोई जगह नहीं मिलती थी। मार्क्स के अनुयायी औद्योगिक देशों से, ख़ासकर जर्मनी से, आये थे, जहाँ मज़दूरों की हालत अच्छी थी। इस तरह मार्क्स तो बढ़ते हुए, संगठित और कुछ ख़ुशहाल मज़दूर-वर्ग का प्रतिनिधि था, और बाकुनिन ग़रीब और असंगठित मज़दूरों का, और बुद्धिजीवियों और असन्तुष्ट लोगों का। मार्क्स का कहना था कि जबतक कुछ कर गुज़रने की घड़ी न आवे, तबतक धीरज के साथ संगठन किया जाय और मज़दूरों को उसके समाजवादी सिद्धान्तों का ज्ञान कराया जाय। बाकुनिन और उसके अनुयायी तुरन्त-ही कार्रवाई करने के पक्ष में थे। सब बातों को देखते हुए जीत मार्क्स की हुई। "अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ' (इण्टरनेशनल वर्किंगमेन्ज़ एसोसिएशन) की स्थापना हुई। यह मज़दूरों का प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (वर्क्ज़ इण्टरनेशनल) था।

तीन साल बाद, यानी सन् १८६७ में, मार्क्स का महान् ग्रंथ "कैपिटल" अर्थात् 'पूंजी' जर्मन भाषा में प्रकाशित हुआ। लन्दन में उसने बहुत वर्षों तक जो मेहनत की थी, यह उसीका परिणाम था। इसमें उसने प्रचलित आर्थिक सिद्धान्तों का विश्लेषण करके उनकी आलोचना की और अपना समाजवादी सिद्धान्त विस्तार के साथ समझाया। यह शुद्ध वैज्ञानिक ग्रंथ था। उसने सारी अनिश्चित और आदर्शवाद की बातें छोड़कर निष्पक्ष और वैज्ञानिक ढंग से इतिहास और अर्थशास्त्र के विकास की विवेचना की। उसने खासतौर पर बड़ी मशीनों और औद्योगिक सभ्यता के विकास की चर्चा की, और क्रम-विकास, इतिहास तथा मानव-समाज में वर्गों के संघर्ष के बारे में कुछ दूर तक असर डालनेवाले नतीजे निकाले। मार्क्स का यह नया, पूर्ण स्पष्ट, और अकाट्य तर्कसम्मत समाजवाद इसीलिए "वैज्ञानिक समाजवाद" (साइण्टीफ़िक सोशलिज़्म) कहलाया।

सन् १७८१ ई० में पेरिस-कम्यून की दुःखद घटना हुई। इरादा करके किया गया शायद यह पहला समाजवादी विद्रोह था। इससे योरप की सरकारें भयभीत हो गईं और मज़दूर-आन्दोलन के प्रति उनका रुख और भी कड़ा हो गया। दूसरे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वर्ष मार्क्स के स्थापित किये हुए अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ की बैठक हुई और मार्क्स उसके प्रधान कार्यालय को न्यूयार्क ले जाने में सफल हुआ। मालूम होता है कि इसमें मार्क्स का उद्देश्य यही था कि बाकुनिन के अराजकतावादी अनुयायियों से पीछा छूटे; और शायद यह भी कि चूँकि पेरिस-कम्यून के कारण योरप की सरकारों को ग़ुस्सा आ रहा था, इसलिए उसने सोचा कि वहाँ की अपेक्षा न्यूयार्क में ज्यादा सुरक्षित आश्रय मिलेगा। मगर संघ के लिए अपने क्रियाशील केन्द्रों से इतनी दूर रह सकना सम्भव नहीं था। उसकी सारी ताक़त योरप में थी और योरप में भी मज़दूर-आन्दोलन के दिन बुरे बीत रहे थे। इसलिए प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संघ धीरे-धीरे खत्म हो गया।

कार्ल मार्क्स सन् १८८३ ई० में मरा। उस समय तक इंग्लैण्ड, जर्मनी और अन्य औद्योगिक देशों में ताक़तवर मज़दूर संघ बन गये थे। ब्रिटिश-उद्योगों के अच्छे दिन बीत चुके थे और जर्मनी और अमरीका की बढ़ती हुई प्रतियोगिता के मुक़ाबले में वे गिरते जा रहे थे। अमरीका के पास बड़े प्राकृतिक साधन थे, जिनसे वहाँ तेजी के साथ औद्योगिक विकास होने में मदद मिली। जर्मनी में राजनैतिक निरंकुशता और औद्योगिक प्रगति का अनोखा मेल था। इस निरंकुशता में कमज़ोर और अधिकारहीन पार्लामेण्ट का पुट भी लगा हुआ था। बिस्मार्क के शासन-काल में, और बाद में भी, जर्मन-सरकार ने उद्योग-धंधों की कई तरह से मदद की और मज़दूरों की हालत अच्छी करनेवाले सामाजिक सुधार के क़ानून बनाकर मज़दूर-वर्ग को ख़ुश करने की कोशिश की। इसी तरह इंग्लैण्ड में उदार दल ने कुछ सामाजिक क़ानून पास करके काम के घंटे घटा दिये और मज़दूरों की बुरी हालत कुछ अच्छी कर दी। जबतक ख़ुशहाली रही, तबतक इस उपाय से काम चल गया और अंग्रेज़ मज़दूर नरम और शान्त बने रहे और श्रद्धा के साथ उदार दल को वोट देते रहे। मगर सन् १८८० ई० के बाद अन्य देशों की प्रतियोगिता ने ख़ुशहाली के लम्बे दौर का अन्त कर दिया और इंग्लैण्ड में व्यापार की मन्दी शुरू हो गई और मज़दूरों की मजूरी की दर घट गई। इसलिए मज़दूरों में फिर जागृति हुई और वायुमण्डल में क्रान्ति की भावना भर गई। इंग्लैण्ड में बहुत-से लोगों का ध्यान मार्क्सवाद की तरफ़ जाने लगा।

सन् १८८९ ई० में अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ बनाने का एक और प्रयत्न किया गया। अनेक मज़दूर संघों और श्रमजीवी दलों के बल और साधन अब काफ़ी बढ़ गये थे और उनके बहुत-से वैतनिक कर्मचारी थे। सन् १८८९ ई० में बना हुआ यह संघ "द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ" (सेकेण्ड इण्टरनेशनल) कहलाता है। यह पच्चीस वर्ष तक चला। फिर महायुद्ध इसकी परीक्षा लेने को आ गया, मगर यह उस कसौटी पर खरा नहीं उतरा। इस संघ में बहुत लोग ऐसे भी थे जिन्होंने आगे चलकर अपने-अपने देशों में ऊँचे-ऊँचे पद स्वीकार कर लिये। कुछ ने मज़दूर-आन्दोलन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को अपने निजी स्वार्थ का साधन बनाया और फिर उससे मुँह मोड़ लिया। वे प्रधान मन्त्री, राष्ट्रपति, वग़ैरा बन-बनकर जीवन में सफलता-लाभ कर गये, मगर जिन लाखों आदमियों ने उन्हें आगे बढ़ाया और उनपर भरोसा किया, उन्हें इन लोगों ने मँझधार में छोड़ दिया। इन नेताओं में से वे तक भी, जो मार्क्स के नाम की दुहाई देते थे या उग्र समष्टिवादी थे, पार्लमिण्टों में घुस गये या मज़दूर संघों में अच्छी तनख़्वाहें पानेवाले मुखिया बन बैठे।

मज़दूर-आन्दोलन को ही क्या, स्वाधीनता के लगभग हर राष्ट्रीय आन्दोलन को नेताओं और मुख्य कार्यकर्त्ताओं की ऐसी ग़द्दारी से अक्सर नुक़सान उठाना पड़ा है। असफलता से ऊबकर वे कुछ समय बाद थक जाते हैं और शहादत का कोरा ताज उनके दिल को ज्यादा दिन नहीं लुभा पाता। वे शान्त हो जाते हैं और उनका उत्साह मन्द पड़ जाता है। कुछ लोग, जो ज्यादा महत्त्वाकांक्षी या ज्यादा बे-उसूले होते हैं, दूसरे पक्ष में जा मिलते हैं और जिन लोगों से कल तक टकराते और लड़ाई करते थे, उन्हींसे व्यक्तिगत समझौता कर लेते हैं।

सन् १८८९ ई० में स्थापित द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ के सदस्यों की संख्या और संघ की प्रतिष्ठा बढ़ने लगी। मगर जब सन् १९१४ ई० में युद्ध छिड़ ही गया, तो द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ का सारा ढाँचा तहस-नहस हो गया और हर देश के समाजवादी और मज़दूर दल ही नहीं, क्रोपाटकिन जैसे अराजकतावादी भी, अन्य लोगों की तरह कट्टर राष्ट्रवादी और अन्य देशों से द्वेष करनेवाले बन गये। केवल कुछ ही लोग युद्ध के विरोधमें खड़े हुए और इसके लिए उन्हें तरह-तरह की तकलीफ़ें और लम्बी-लम्बी सज़ाएँ दी गई।

युद्ध समाप्त होने पर लेनिन ने सन् १९१९ ई० में मास्को में एक नया अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ बनाया। यह शुद्ध साम्यवादी संगठन था और इसमें माने हुए साम्यवादी ही शामिल हो सकते थे। यह अब भी है और "तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ"[1] कहलाता है। पुराने द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ के बचे-खुचे लोग भी युद्ध के बाद धीरे-धीरे साथ इकट्ठे हो गये। कुछ लोग मास्को के नये संघ में मिल गये। मगर अधिकांश लोग मास्को और उसके सिद्धान्त से सख़्त नफ़रत करते थे और उसे पास तक नहीं फटकने देना चाहते थे। उन्होंने द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ को फिर से जिलाया। यह भी अभीतक मौजूद है। इस तरह आजकल दो अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ हैं और द्वितीय तथा तृतीय-संघों के नाम से मशहूर हैं। ताज्जुब की बात यह है कि दोनों-ही मार्क्स के अनुयायी होने का दावा करते हैं, मगर दोनों-ही

[1] तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ (थर्ड इण्टरनेशनल)—द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान में यह भंग कर दिया गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसके विचारों का अपना-अपना अर्थ करते हैं और अपने सामान्य शत्रु पूंजीवाद से भी कहीं अधिक घृणा आपस में रखते हैं।

: ८९ :

मार्क्सवाद

मार्क्सवाद इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, मानव-जीवन और मानव-इच्छाओं की व्याख्या करने का एक तरीक़ा है। यह काल्पनिक सिद्धान्त भी है और व्यावहारिक क्रिया के लिए आवाहन भी। यह एक ऐसा दर्शनशास्त्र है, जो मनुष्य-जीवन की अधिकांश प्रवृत्तियों के बारे में कुछ-न-कुछ बात बताता ही है। यह भूत, वर्तमान और भविष्य के मानव-इतिहास को एक बे-लचक तार्किक ढाँचे में बैठाने का प्रयत्न है, जिसमें भाग्य या क़िस्मत जैसी अटलता है। आख़िर, जीवन इतना तर्क-प्रधान है या नहीं; और बँधे-बँधाये कठोर नियमों और ढाँचों पर निर्भर है या नहीं, यह बहुत स्पष्ट नहीं दिखाई देता और बहुतों को इसमें सन्देह भी है। मगर मार्क्स ने एक वैज्ञानिक की दृष्टि से पिछले इतिहास का सिंहावलोकन किया और उससे कुछ परिणाम निकाले। उसने देखा कि मनुष्य अपने आदि-काल से ही जीविका उपार्जन के लिए संघर्ष करता रहा है—यह संघर्ष प्रकृति के साथ भी है और मनुष्य-मनुष्य में भी। आदमी को भोजन और अन्य जीवन-सामग्री जुटाने का प्रयत्न करना पड़ा। जैसे-जैसे समय बीता, वैसे-वैसे उसके तरीक़े धीरे-धीरे बदलते गये और पेचीदा तथा उन्नत होते गये। मार्क्स के मतानुसार जीविका-उपार्जन के ये तरीक़े मनुष्य के और समाज के जीवन में सभी युगों में सबसे महत्त्वपूर्ण चीज रहे हैं। इतिहास के हर एक युगांश में इन्हींकी प्रधानता रही और उस युगांश की सारी प्रवृत्तियों और सारे सामाजिक सम्बन्धों पर इन्हींका प्रभाव पड़ा। जैसे-जैसे ये बदले, वैसे-वैसे उनके कारण महान् ऐतिहासिक और सामाजिक परिवर्तन हुए। उदाहरण के लिए, जब पहले-पहल खेती शुरू हुई, तो उससे बड़ा भारी परिवर्तन हो गया। घुमक्कड़ खानाबदोश जातियाँ जगह-जगह गईं और गाँव और शहर पैदा हो गये। खेती से पैदावार बढ़ी, तो माल बच रहा और आबादी बढ़ी। और जब लोगों के पास धन और अवकाश हुआ, तो कलाएँ और दस्तकारियाँ पैदा हुईं। औद्योगिक क्रान्ति का एक और ऐसा-ही स्पष्ट उदाहरण है, जिसमें उत्पादन की बड़ी मशीनों के आविष्कार ने और भी जबरदस्त अन्तर पैदा कर दिया। इसी तरह के और भी बहुत-से उदाहरण दिये जा सकते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इतिहास के बारे में मार्क्स की यह भी धारणा थी कि वह विभिन्न वर्गों के आपसी संघर्ष का एक लेखा है। "सारे मानव-समाज का पिछला और मौजूदा इतिहास वर्ग-संघर्ष का ही इतिहास है।" जिस वर्ग के हाथ में उत्पादन के साधन होते हैं, उसीकी प्रधानता रहती है। वह दूसरे वर्गों की मेहनत का अनुचित उपयोग करके उससे फ़ायदा उठाता है। जो परिश्रम करते हैं, उन्हें अपनी मेहनत की पूरी क़ीमत नहीं मिलती। उन्हें जीवन की मामूली आवश्यकताओं के लिए भी मुश्किल से उसका जरा-सा हिस्सा मिलता है और बाकी का सारा फालतू हिस्सा शोषक-वर्ग के पास चला जाता है। इस तरह शोषक-वर्ग इस फालतू धन से और भी धनवान बनता जाता है। चूँकि उत्पादन पर नियंत्रण रखनेवाले इस वर्ग का राज्य या सरकार पर भी नियंत्रण रहता है, इसलिए इस शासक-वर्ग की रक्षा करना ही राज्य का मुख्य उद्देश्य हो जाता है।

मगर हज़ार कोशिशें करने पर भी सदा एक-ही वर्ग की प्रभुता नहीं बनी रह सकती। जिन उपादान-कारणों से उसे यह प्रभुता प्राप्त होती है, वे ही फिर उसके विरुद्ध काम करने लगते हैं। वह शासक और शोषक-वर्ग इसी कारण बना था कि उस समय उत्पादन के साधन उसके कब्ज़े में थे। अब, जब उत्पादन के नये तरीक़े पैदा होते हैं, तो उनपर नियंत्रण करनेवाले नये वर्ग आगे आ जाते हैं और वे शोषित बनकर नहीं रहना चाहते। नये-नये विचार मनुष्यों के दिलों में हलचल मचा देते हैं—जिसे विचार-क्रान्ति कहते हैं, वह होने लगती है,जो पुराने विचारों और रुढ़ियों की बेड़ियों को तोड़ डालती है। और फिर इस उठते हुए नये वर्ग और सत्ता से बुरी तरह चिपके रहनेवाले पुराने वर्ग के बीच में संघर्ष होता है। नये वर्ग के हाथ में आर्थिक सत्ता होती है, इसलिए उसकी जीत अनिवार्य होती है और पुराना वर्ग, इतिहास में अपना खेल पूरा करने के बाद, धीरे-धीरे लुप्त हो जाता है।

अब यह नया वर्ग अपने नीचे के वर्गों के लिए शोषक-वर्ग बन जाता है और फिर उन वर्गों में से कोई एक वर्ग उसे भी हटाकर उसकी जगह ले लेता है। इस तरह जबतक एक वर्ग दूसरे का शोषण करनेवाला रहेगा, तबतक यह संघर्ष चलता रहेगा, और अवश्य चलता रहेगा। इस संघर्ष का अन्त उसी समय होगा जब वर्गों का भेद लुप्त हो जायगा और सिर्फ़ एक-ही वर्ग रह जायगा, क्योंकि तब शोषण की गुंजाइश ही नहीं रहेगी।

इस तरह मार्क्स इतिहास को इस तरह देखता था कि वह अनिवार्य वर्ग-संघर्ष की एक महान् विकास-क्रिया है। इतिहास को इस दृष्टिकोण से देखने का तरीक़ा, जो मार्क्स ने समझाया, "इतिहास की भौतिक व्याख्या" कहलाता है।

मार्क्सवाद का सबसे महान् आधुनिक व्याख्याता लेनिन हुआ है। उसने इसका प्रतिपादन और इसकी व्याख्या ही नहीं की, बल्कि उसके अनुसार आचरण भी किया। फिर भी उसने हमें यह चतावनी दी है कि हम मार्क्सवाद को कोई ऐसा अकाट्य

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

सिद्धान्त न मान बैठें, जिसमें उलट-फेर की गुंजाइश न हो। उसे इसके तत्त्व की सचाई पर विश्वास था, मगर वह इसकी हर .क छोटी-छोटी बात को मानने और हर-कहीं बिना सोचे-समझे लागू करने को तैयार नहीं था।

: ६० :

इंग्लैण्ड दुनिया का साहूकार बन जाता है

उन्नीसवीं सदी वास्तव में इंग्लैण्ड की महानता की सदी थी। अठारहवीं सदी में उसने औद्योगिक क्रान्ति करके और दूसरे देशों से पहले नये कारखाने बनाकर जो अगुआई प्राप्त कर ली थी, उसे उसने उन्नीसवीं सदी के अधिकांश में भी बनाये रखा। मैं कह चुका हूँ कि वह दुनिया का कारख़ाना था और उसमें दूर-दूर के देशों से धन की नदी बहकर आ रही थी। भारत और अन्य उपनिवेशों की लूट से उसे धन का अटूट खज़ाना प्राप्त हो रहा था, जिससे उसकी प्रतिष्ठा बढ़ रही थी। जिस समय योरप के क़रीब-क़रीब सभी देशों में परिवर्तन हो रहे थे, इंग्लैण्ड बिना किसी तरह की क्रान्ति के चट्टान की तरह मजबूत और ठोस नजर आ रहा था। समय-समय पर संकट की स्थितियाँ जरूर आईं, मगर वे कुछ अधिक आदमियों को वोट देने का अधिकार देकर टाल दी गईं।

इस सदी के ज़्यादातर हिस्से में विक्टोरिया इंग्लैण्ड की महारानी थी। वह जर्मनी के हैनोवर घराने की थी। इस घराने ने अठारहवीं सदी में ब्रिटिश राज-सिंहासन को 'जॉर्ज' नाम के कई बादशाह दिये। विक्टोरिया सन् १८३७ ई० में गद्दी पर बैठी। उस समय वह १८ वर्ष की लड़की थी और उसने सदी के अन्त, यानी सन् १९०० ई०, तक तिरेसठ वर्ष राज्य किया। इंग्लैण्ड में इस लम्बे ज़माने को अक्सर विक्टोरिया-युग के नाम से पुकारते हैं। इसलिए महारानी विक्टोरिया ने योरप में, और अन्य देशों में, अनेक महान् परिवर्तन देखे और पुराने मार्ग-चिह्नों को मिटते हुए तथा नयों को उनकी जगह लेते हुआ देखा। उसने योरप की क्रान्तियाँ, फ़्रांस में परिवर्तन और इटली के राज्य तथा जर्मनी के साम्राज्य का उदय देखा। मृत्यु से पहले वह एक तरह से योरप की, और योरप के राजाओं की, दादी मानी जाने लगी थी।

अपने धन-वैभव और साम्राज्य के कारण इंग्लैण्ड एक प्रकार से सन्तुष्ट शक्ति था—बिल्कुल सन्तुष्ट तो नहीं था, क्योंकि साम्राज्यवादी प्रवृत्ति किसी सीमान्त से सन्तुष्ट नहीं होती और सदा विस्तृत होना चाहती है। फिर भी इंग्लैण्ड को मुख्य परेशानी यह नहीं थी कि और ज्यादा कैसे लिया जाय, बल्कि यह थी कि जो मिल गया

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है, उसकी रक्षा कैसे की जाय ? भारत तो उसके लिए ख़ासतौर पर सोने की चिड़िया थी, जिसपर वह आख़री दम तक अधिकार रखना चाहता था। उसकी सारी वैदेशिक नीति का आधार यह था कि भारत उसके क़ब्ज़े में रहे और पूर्व के समुद्री रास्ते सुरक्षित रहें। इसी कारण उसने मिस्र में टाँग अड़ाई और अन्त में उसपर अपना प्रभुत्त्व जमाया। इसी तरह उसने ईरान और अफ़ग़ानिस्तान में हस्तक्षेप किया। उसने बड़ी चालाकी से स्वेज़ नहर कम्पनी के हिस्से खरीदकर नहर पर अधिकार प्राप्त कर लिया।

ब्रिटेन की सरकार का रूप वह था जिसे संवैधानिक राजतन्त्र[1] या "ताजधारी गणराज्य"[2] कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि ताज धारण करनेवाले के हाथ में असली सत्ता कुछ न थी और वह पार्लमेण्ट के विश्वासपात्र मन्त्रियों का मात्र प्रवक्ता होता था। राजनैतिक दृष्टि से वह मन्त्रियों के हाथ की कठपुतली होता था और कहा जाता था कि वह "राजनीति से परे" है। असल बात यह है कि तेज़ बुद्धि या मजबूत इरादेवाला कोई भी आदमी सिर्फ़ कठपुतली बनकर नहीं रह सकता और अंग्रेज़ बादशाहों या बेगमों को सार्वजनिक मामलों में दखल देने के बहुत अवसर मिलते हैं। आमतौर पर यह चीज़ परदे के भीतर होती है, और जनता को या तो कुछ मालूम हो नहीं पाता, या होता भी है तो बहुत समय बाद। खुली दस्तन्दाज़ी पर बहुत असन्तोष फैल सकता है और बादशाहत खतरे में पड़ सकती है। संवैधानिक राजा में जो बड़ा गुण होना आवश्यक है वह है व्यवहार-कुशलता। अगर यह उसमें है, तो फिर उसका काम चल सकता है और वह कई तरह से अपना असर डाल सकता है।

ब्रिटिश-पार्लमेण्ट ने शासन और कानून बनाने का काम-काज करने के लिए एक अजीब प्रणाली का विकास किया। यह दो दलों की प्रणाली कहलाती है। इन दोनों दलों में कोई ज़्यादा फ़र्क़ नहीं था। उनके कोई परस्पर विरोधी सिद्धान्त न थे। दोनों धनवानों के दल थे और समय की सामाजिक व्यवस्था को मानते थे। एक दल में पुराने ज़मींदार वर्ग के आदमी ज़्यादा थे तो दूसरे में धनी कारख़ानेदारों की बहुतायत थी। मगर यह नागराज और साँपराज का ही भेद था। पहले वे 'टोरी' और 'व्हिग' कहलाते थे। बाद में उन्नीसवीं सदी में उनका नाम 'अनुदार दल'[3] और 'उदार दल'[4] पड़ गया।

उन्नीसवीं सदी में इंग्लैण्ड की समृद्धि का कारण उसके उद्योग-धन्धे और उप-

---

[1] कॉन्स्टीटच्यूशनल मोनार्की।
[2] क्राउन्ड रिपब्लिक।
[3] कन्ज़रवेटिव पार्टी।
[4] लिबरल पार्टी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निवेशों तथा अधीन देशों का शोषण था। खास करके उसकी बढ़ती हुई दौलत का आधार चार उद्योग थे। इन्हें "बुनियादी" उद्योग कह सकते हैं। ये रुई, कोयला, लोहा और जहाज़-निर्माण थे। इनके चारों ओर और इससे अलग भी बेशुमार अन्य उद्योग, भारी भी और हल्के भी, पैदा हो गये। बड़े-बड़े व्यवसाय और साहूकारी-प्रतिष्ठान खड़े हो गये। अंग्रेजों के व्यापारी जहाज़ दुनिया के लगभग हर हिस्से में पाये जाने लगे। ये सिर्फ़ ब्रिटिश माल ही नहीं ले जाते थे, बल्कि दूसरे उद्योग-प्रधान देशों के बने हुए माल भी लादते थे। ये संसार-भर में व्यापार-सामग्री को लाने-ले-जाने के मुख्य साधन बन गये। लन्दन में लायड का बीमे का बड़ा दफ़्तर दुनिया की जहाज़रानी का केन्द्र बन गया। पार्लमेण्ट पर इन उद्योगों और व्यवसायों के मालिकों का प्रभुत्त्व था।

इस तरह इंग्लैण्ड दुनिया का साहूकार बन गया और लन्दन दुनिया का सर्राफ़ा हो गया। लेकिन इसका यह अर्थ न समझ लेना कि जब रुपया उधार दिया जाता था तो कोई सोने, चाँदी या सिक्कों की बोरियाँ भर-भरकर इंग्लैण्ड से दूसरे देशों को भेजी जाती थीं। आधुनिक व्यापार इस तरीक़े से नहीं होता, वरना लेन-देन के लिए सोने-चाँदी की ही कमी पड़ जाय। मूर्ख लोग सोने-चाँदी को बहुत ज़्यादा महत्त्व देते हैं, मगर ये तो विनिमय के और माल को इधर-उधर पहुँचाने के साधन-मात्र हैं। इन्हें न तो कोई खा सकता है न पहन सकता है, और न किसी अन्य उपयोग में ला सकता है। इनके आभूषण अलबत्ता बन सकते हैं, मगर उनसे किसीको कोई फ़ायदा नहीं होता। सच्चा धन तो ऐसे माल का हाथ में होना है जिसका उपयोग हो सके। इसलिए जब इंग्लैण्ड या ब्रिटिश पूंजीपति लोग रुपया उधार देते थे, तो उसका अर्थ यह होता था कि वे किसी विदेशी उद्योग या रेल में कुछ पूंजी लगाते थे, और नक़द रुपये के बजाय ब्रिटिश माल भेजा जाता था। इस तरह ब्रिटिश मशीनें या रेलों का सामान दूसरे देशों को भेजा जाता था। इससे ब्रिटिश उद्योग-धन्धों को मदद मिलती थी और साथ-ही-साथ ब्रिटिश पूंजीपति-वर्ग को अपनी फालतू पूंजी बढ़िया मुनाफ़े पर लगाने के अवसर मिलते थे।

जिन देशों ने इस तरह इंग्लैण्ड से क़र्ज़ लिया था, वे सब उसका ब्याज या उसपर मुनाफ़ा किस तरह चुकाते थे? इसे भी वे सोना-चाँदी के रूप में नहीं भेज सकते थे। हर साल अदा करने को उनके पास काफ़ी सोना चाँदी था ही नहीं। इसलिए वे माल की शक्ल में अदा करते थे—पक्का माल तो इतना नहीं देते थे, क्योंकि खुद इंग्लैण्ड पक्का माल पैदा करनेवाले देशों में सबसे बढ़ा-चढ़ा था। पर वे खाद्य-पदार्थ और कच्चा माल भेजते थे। उनके यहाँ से इंग्लैण्ड की ओर गेहूँ, चाय, कहवा, मांस, फल, शराब, रुई, ऊन, वग़ैरा की धारा निरन्तर बहती रहती थी।

इंग्लैण्ड ने देख लिया कि साहूकारी का संसार-व्यापी धन्धा चलाने का सिर्फ़ यही उपाय सम्भव है कि ब्याज का भुगतान माल के रूप में लेना मंजूर किया जाय।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मैं बता चुका हूँ कि वह सोना लेने पर नहीं अड़ सकता था। इसके दो महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए। एक तो इंग्लैण्ड ने अपने निवासियों को खिलाने के लिए बाहर से खाद्य-पदार्थ आने की अनुमति दे दी और अपने यहाँ की खेती को नष्ट हो जाने दिया। उसने बाहर बेचने के लिए अपने उद्योगों द्वारा पक्का माल तैयार करने पर सारा ज़ोर लगा दिया और अपने किसानों की दुर्दशा पर ध्यान नहीं दिया। अगर उसे विदेशों से सस्ता भोजन मिल सकता था, तो घर में पैदा करने की झंझट की क्या ज़रूरत? और अगर उद्योगों से अधिक मुनाफ़ा बनाया जा सके, तो खेती की परेशानी क्यों उठाई जाय? बस, इंग्लैण्ड निरा उद्योग-प्रधान देश बन गया और अपने भोजन के लिए विदेशों पर निर्भर हो गया।

: ६१ :

अमरीका में गृह-युद्ध

समुद्र-तट के जिन तेरह राज्यों ने सन् १७७५ ई० में इंग्लैण्ड से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था, उनकी आबादी चालीस लाख से कम ही थी। आज अकेले न्यूयार्क शहर की आबादी उससे क़रीब दुगनी है और सारे संयुक्त-राज्य अमरीका की साढ़े बारह करोड़ है। इस संघ में अब पहले से बहुत ज्यादा राज्य हैं और वे इस महाद्वीप के एक छोर से दूसरे छोर तक -- ठेठ प्रशान्त महासागर तक -- फैले हुए हैं। उन्नीसवीं सदी में इस महान् देश के विस्तार और आबादी में ही नहीं, बल्कि इसके आधुनिक उद्योग और व्यवसाय, धन और प्रभाव में भी वृद्धि हुई। संयुक्त-राज्य को अनेक कठिनाइयों और झगड़ों का सामना करना पड़ा और योरपवालों के साथ युद्ध और उलझाव भी हुए, लेकिन इसपर पड़नेवाली सबसे बड़ी आफ़त थी उत्तर और दक्षिण के राज्यों के बीच भीषण तथा विनाशकारी गृह-युद्ध।

उत्तरी और दक्षिणी राज्यों के बीच शुरू से ही बड़ा भेद था। उत्तरी राज्य उद्योग-प्रधान थे और वहाँ बड़ी-बड़ी मशीनोंवाले नये-नये उद्योग तेज़ी से बढ़ रहे थे; दक्षिण में बड़ी-बड़ी बाड़ियाँ[1] थीं जिनमें ग़ुलाम लोग मजदूरी करते थे। ग़ुलामी की प्रथा क़ानूनन जायज़ थी, मगर उत्तर के लोग उसे पसन्द नहीं करते थे और वहाँ उसका कोई महत्त्व भी न था। दक्षिण तो पूरी तरह ग़ुलामों की मज़दूरी पर ही निर्भर था। ये ग़ुलाम अफ़रीका के हब्शी ही होते थे। गोरा एक भी ग़ुलाम नहीं था। स्वाधीनता की घोषणा में कहा गया था कि "सब मनुष्य

[1] प्लाण्टेशन्स—बड़े खेत।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जन्म से समान हैं", पर यह बात गोरों पर ही लागू होती थी, कालों पर नहीं।

इन हब्शियों को अफ़रीका से किस तरह लाया जाता था, यह कहानी बड़ी दर्दनाक है। ग़ुलामों का व्यापार सत्रहवीं सदी के शुरू में आरम्भ हुआ और सन् १८६३ ई० तक ग़ुलामों की आमद नियमित रूप से जारी रही। शुरू में तो अफ़रीका के पश्चिमी समुद्र-तट से गुज़रनेवाली मालवाहक नावें जब कभी आसानी से अफ़रीकी लोगों को पकड़ पातीं तो उन्हें अमरीका ले जातीं। इस समुद्र-तट का एक हिस्सा अब भी "ग़ुलामों का तट" कहलाता है। खुद अफ़रीका के निवासियों में ग़ुलामी का रिवाज बहुत कम था—वे केवल युद्धबन्दियों और क़र्ज़दारों के साथ ही ग़ुलामों का-सा बर्ताव करते थे। अफ़रीकी लोगों को अमरीका ले जाकर ग़ुलामों की तरह बेच देने का यह धन्धा बड़े मुनाफ़े का पाया गया। ग़ुलामों का व्यापार बढ़ा और इसमें मुख्यतया अंग्रेज़, स्पेनी और पुर्तगाली लोगों ने व्यापार की तरह पैसा लगाया। ग़ुलामों के व्यापार के लिए ख़ास तरह के जहाज़ बनाये जाते थे जिनकी छतों के बीच में दुछत्ते की कोठरियाँ होती थीं। उनमें ये अभागे हब्शी ज़ंजीरों से कसे हुए और दो-दो के पैरों में साथ बेड़ियाँ डालकर पड़े रहने को मजबूर किये जाते थे। एटलाण्टिक महासागर-पार के समुद्री सफ़र में कई हफ़्ते और कभी-कभी महीने लग जाते थे। इन तमाम हफ़्तों और महीनों में ये हब्शी इन तंग कोठरियों में ज़ंजीरों से बंधे पड़े रहते और हरएक को सिर्फ़ साढ़े पाँच फुट लम्बी और सोलह इंच चौड़ी जगह दी जाती थी!

उन्नीसवीं सदी के शुरू में या उसके आस-पास सभी बड़े-बड़े देशों ने इस व्यवसाय को ग़ैर-क़ानूनी कर दिया। संयुक्त-राज्य तक ने भी यही किया। हालाँकि इस तरह ग़ुलामों का व्यापार ग़ैर-क़ानूनी हो गया, मगर अमरीका में ख़ुद ग़ुलामी जायज़ मानी जाती रही, यानी वहाँ पुराने ग़ुलाम फिर भी ग़ुलाम ही बने रहे! और चूंकि ग़ुलामी जायज़ थी, इसलिए मनाई होने पर भी ग़ुलामों का व्यापार जारी रहा। जब इंग्लैण्ड ने भी ग़ुलामी-प्रथा उठा दी, तब ग़ुलामों के व्यापार के लिए न्यूयार्क मुख्य बन्दरगाह हो गया।

यद्यपि उन्नीसवीं सदी के बीच तक कितने-ही वर्ष न्यूयार्क इस व्यापार का बन्दरगाह रहा, फिर भी अमरीका के उत्तरी राज्य ग़ुलामी के विरुद्ध थे। इसके विपरीत, दक्षिणवालों को अपनी बाड़ियों में काम करने के लिए इन ग़ुलामों की जरूरत थी। कुछ राज्यों ने ग़ुलामी-प्रथा उठा दी और कुछ ने रहने दी। हब्शी लोग ग़ुलामीवाले राज्यों से भागकर बिना ग़ुलामी के राज्यों में चले जाते थे और उनके बारे में झगड़े होते थे।

उत्तर और दक्षिण के आर्थिक हित जुदा-जुदा थे और उनके बीच सन् १८३०ई० में ही तट-करों तथा चुंगी के महसूलों के मामले में कशमकश हो गई। संघ से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अलग हो जाने की धमकियाँ दी गईं। राज्य अपने-अपने अधिकारों के प्रति जागरूक थे और फेडरल-सरकार का बहुत ज़्यादा हस्तक्षेप पसन्द नहीं करते थे। देश में दो दल हो गये। एक राज्य की सत्ता का पक्षपाती था, दूसरा मज़बूत केन्द्रीय सरकार चाहता था। इन मतभेदों के कारण उत्तर और दक्षिण के बीच की खाई चौड़ी होती गई, और जहाँ-कहीं नये राज्य संघ में शामिल होते थे, वहीं यह सवाल उठता था कि वे किस पक्ष का समर्थन करेंगे ? बहुमत किधर होगा ? उत्तर की आबादी तेज़ी से बढ़ रही थी, क्योंकि योरप से लोग आ-आकर वहाँ बस रहे थे। इससे दक्षिण के लोगों को डर हुआ कि उत्तर की बढ़ी हुई संख्या उन्हें दबा लेगी और हर सवाल पर ज़्यादा वोट देकर उन्हें हरा देगी। इसलिए उत्तर और दक्षिण के बीच तनाव बढ़ता गया।

सन् १८६० ई० में अब्राहम लिंकन संयुक्त-राज्य का राष्ट्रपति चुना गया और उसका चुनाव, दक्षिणवालों के लिए विलग हो जाने का संकेत हो गया। लिंकन ग़ुलामी का विरोधी था, मगर फिर भी उसने स्पष्ट कर दिया था कि जहाँ ग़ुलामी पहले से मौजूद है, वहाँ उसे नहीं छेड़ा जायगा। पर वह इस बात के लिए तैयार नहीं था कि यह नये राज्यों में भी चालू की जाय या इसे क़ानूनी रूप दिया जाय। इस आश्वासन से दक्षिण को सन्तोष नहीं हुआ और एक-एक करके कई राज्य संघ से अलग हो गये। संयुक्त-राज्य छिन्न-भिन्न हुआ चाहता था। नये राष्ट्रपति के सामने ऐसी भयंकर स्थिति थी। उसने दक्षिण को राजी करने की और इस अंग-भंग को रोकने की एक और कोशिश की। उसने उन्हें सब तरह के आश्वासन दिये कि ग़ुलामी जारी रहने दी जायगी। उसने यहाँतक कह दिया कि वह ग़ुलामी को (जहाँ मौजूद है) संविधान में शामिल करके उसे स्थायी रूप देने को भी तैयार है। असल में वह शान्ति की ख़ातिर किसी भी हद तक जाने को राज़ी था, पर वह एक बात को मंजूर नहीं कर सकता था, और वह थी संघ का छिन्न-भिन्न होना। किसी राज्य का संघ से अलग होने का अधिकार वह क़तई मानने को तैयार नहीं था।

गृह-युद्ध को टालने की लिंकन की सारी कोशिशें असफल रहीं। दक्षिण ने अलग हो जाने का फ़ैसला कर लिया और ग्यारह राज्य अलग भी हो गये। उनके साथ कुछ अन्य सीमावर्ती राज्यों की भी सहानुभूति थी। अलग होनेवाले राज्य अपने को "संघ-बद्ध राज्य"[१] कहने लगे और उन्होंने जैफरसन डेविस को अपना अलग राष्ट्रपति चुन लिया। सन् १८६१ ई० के अप्रैल में गृह-युद्ध छिड़ गया और पूरे चार वर्ष तक घिसटता रहा। इस युद्ध में अनेक भाई भाइयों से और मित्र मित्रों से लड़े। जैसे-जैसे युद्ध चला, दोनों तरफ़ विशाल फ़ौजें खड़ी हो गईं। उत्तर

---

[१] कॉनफेडरेटेड स्टेट्स।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के पास कई सहूलियतें थीं, उसकी आबादी भी ज़्यादा थी और दौलत भी। वह पक्का माल तैयार करनेवाला और औद्योगिक क्षेत्र था, इसलिए उसके साधन बहुत ज़्यादा थे और उसके यहाँ रेलें भी अधिक थीं। लेकिन दक्षिण के पास उससे अच्छे सैनिक और सेनापति थे—जिनमें जनरल ली ख़ास था। इसलिए शुरू-शुरू में सारी विजयें दक्षिण के ही हाथ रहीं। लेकिन अन्त में दक्षिण लड़ते-लड़ते कमज़ोर हो गया। उत्तर की समुद्री फ़ौज ने दक्षिण का सम्बन्ध योरप में उसकी मण्डी से बिल्कुल काट दिया और कपास तथा तम्बाकू का निर्यात रोक दिया। इससे दक्षिण अपंग हो गया। लेकिन इसका लंकाशायर पर भी बहुत विनाशकारी असर हुआ। वहाँ कपास न पहुँचने से बहुत-सी मिलें बन्द हो गईं। लंकाशायर के मज़दूर बेकार हो गये और घोर विपत्ति में पड़ गये।

इस युद्ध के बारे में अंग्रेज़ी लोकमत की आमतौर पर दक्षिणवालों के साथ सहानुभूति थी, या कम-से-कम धनिक-वर्ग की राय दक्षिण के पक्ष में थी। वामपक्षी लोग उत्तर के हिमायती थे।

जब दक्षिणवाले पूरी तरह पस्त हो गये, तो सन् १८६५ ई० में गृह-युद्ध समाप्त हुआ। वैसे तो युद्ध कभी भी भयंकर चीज़ है, मगर गृह-युद्ध तो अक्सर और भी भयानक होता है। चार वर्ष के इस भीषण संघर्ष का बोझ सबसे ज़्यादा राष्ट्रपति लिंकन पर पड़ा, और उसका जो परिणाम निकला, वह भी बहुत-कुछ उसीकी दृढ़-निश्चयात्मकता के कारण था कि उसने सारी निराशाओं और आफ़तों के बावजूद भी हिम्मत नहीं हारी। उसे सिर्फ़ जीतने की ही धुन नहीं थी, बल्कि वह चाहता था कि यह यथासम्भव कम-से-कम कटुता के साथ हो, ताकि जिस संघ के ख़ातिर वह लड़ रहा था, वह हृदयों का सच्चा सम्मेलन हो और जबरदस्ती लादा हुआ मेल न हो। इसलिए युद्ध में विजयी होते ही उसने पराजित दक्षिण के साथ उदारता का बर्ताव शुरू कर दिया। लेकिन युद्ध के बाद कुछ-ही दिन बीते थे कि किसी सिर-फिरे ने उसे गोली से मार दिया।

अब्राहम लिंकन की गणना अमरीका के महानतम वीरों में है। उसका स्थान संसार के महान् पुरुषों में भी है। उसका जन्म बहुत ग़रीब घर में हुआ था; उसने पाठशाला में कोई शिक्षा नहीं पाई थी, जो-कुछ शिक्षा उसने प्राप्त की, वह ज़्यादातर अपनी ही मेहनत से प्राप्त की थी। फिर भी वह उन्नति करके एक महान् राज-नीतिज्ञ और वक्ता बन गया और उसने एक महान् संकट में से अपने देश की नाव को निकाल लिया।

लिंकन की मृत्यु के बाद अमरीका की कांग्रेस ने दक्षिणी गोरों के प्रति उतनी उदारता नहीं दिखाई, जितनी कि शायद लिंकन दिखाता। इन दक्षिणी गोरों को कई तरह की सज़ाएँ दी गईं और बहुतों का मताधिकार छीन लिया गया। उधर हब्शियों को नागरिकता के पूरे अधिकार देकर इस चीज़ को अमरीका के संविधान

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में शामिल कर दिया गया। यह नियम भी बना दिया गया कि कोई राज्य किसी व्यक्ति को उसकी जाति, वर्ण या पहले की ग़ुलामी के कारण मताधिकार से वंचित नहीं कर सकेगा।

हब्शी लोग अब क़ानूनी तौर पर आज़ाद हो गये और उन्हें वोट देने का अधिकार मिल गया। लेकिन इससे उन्हें कोई लाभ नहीं हुआ, क्योंकि उनकी आर्थिक स्थिति वैसी-की-वैसी ही रही। आज़ाद किये गये हब्शियों के पास कोई सम्पत्ति नहीं थी, और उनका क्या किया जाय, यह पता लगाना एक समस्या हो गई। उनमें से कुछ लोग उत्तर के शहरों में जा बसे, लेकिन ज्यादातर जहाँ थे, वहीं बने रहे, और वे दक्षिण में अपने पुराने गोरे दक्षिणी मालिकों की मुट्ठी में वैसे-के-वैसे ही रहे आये। वे पुरानी बाड़ियों में रोज़ाना मज़दूरों की तरह काम करते थे और जो मजूरी उनके गोरे मालिक दे देते, वही उन्हें लेनी पड़ती। दक्षिणी गोरों ने आतंक द्वारा हर तरह हब्शियों को दबाये रखने के लिए अपना संगठन भी कर लिया। उन्होंने "कू क्लक्स क्लान" नामक एक अजीब गुप्त-सी संस्था बना ली। इसके सदस्य बुर्क़े पहन-पहनकर हब्शियों को डराते फिरते थे और उन्हें चुनावों में वोट देने से भी रोकते थे।

पिछले पचास वर्षों में हब्शियों ने कुछ प्रगति की है। बहुतों के पास सम्पत्ति भी हो गई है और उनकी कई बढ़िया शिक्षण-संस्थाएँ हैं। फिर भी निश्चित रूप में वे पराधीन जाति हैं। संयुक्त-राज्य में उनकी संख्या एक करोड़ बीस लाख के क़रीब, यानी सारी आबादी का क़रीब दसवाँ हिस्सा, है। जहाँ-कहीं उनकी संख्या थोड़ी है, जैसाकि उत्तर के कुछ राज्यों में है, उन्हें बरदाश्त कर लिया जाता है। मगर ज्यों-ही उनकी संख्या बढ़ने लगती है, त्यों-ही उनकी मुसीबत आ जाती है और उन्हें यह महसूस करा दिया जाता है कि उनकी हालत पुराने ग़ुलामों से किसी भी तरह अच्छी नहीं है। होटलों, उपाहार-गृहों, गिरजों, कालेजों, बाग़ों, स्नान करने के समुद्री घाटों, ट्राम-गाड़ियों और दूकानों तक में, सभी जगह, उन्हें अछूतों की तरह गोरों से अलग रखा जाता है। रेलों में उन्हें ख़ास डिब्बों में बैठना पड़ता है जो "जिम-क्रो गाड़ियाँ" (जिम-क्रो कार) कहलाती हैं। गोरों और हब्शियों के बीच विवाह-सम्बन्ध क़ानूनन वर्जित हैं। वास्तव में तरह-तरह के विचित्र क़ानून हैं। अभी सन् १९२६ ई० में ही वर्जीनिया राज्य ने एक क़ानून बनाकर गोरों और कालों का एक आँगन में साथ-साथ बैठना भी रोक दिया है! [१]

कभी-कभी गोरों और हब्शियों में भयंकर जातिगत दंगे होते हैं। दक्षिण में अक्सर हब्शियों को "लिंच" करने की भीषण वारदातें होती रहती हैं—यानी किसी आदमी पर मुजरिम होने का सन्देह करके भीड़ उसे पकड़ लेती है और मार डालती है। इन्हीं वर्षों में ऐसी घटनाएँ भी हुई हैं कि गोरे लोगों की भीड़ ने

---

[१] अब इनमें से कई क़ानून खत्म या नरम कर दिये गये हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हब्शियों को खम्भे से बाँधकर ज़िन्दा जला दिया। दक्षिणी राज्यों में अभी भी हब्शियों के लिए कई मुसीबतें हैं। अक्सर जब मज़दूरों का मिलना कठिन हो जाता है, तो निरपराध हब्शियों को किसी बनावटी जुर्म में जेल भेज दिया जाता है और फिर उन क़ैदी मज़दूरों को ठेकेदारों को किराये पर दे दिया जाता है।

: ९२ :

अमरीका का अदृश्य साम्राज्य

गृह-युद्ध ने अमरीका के नौजवानों की जानों का भयंकर संहार किया और वह क़र्ज़ का भारी बोझ भी छोड़ गया। लेकिन उस समय यह देश जवान था और शक्ति से भरा था, इसलिए इसकी बढ़वार जारी रही। उसके पास जबरदस्त प्राकृतिक साधन थे और खनिज पदार्थों की विशेष प्रचुरता थी। कोयला, लोहा और पेट्रोल, जो तीन चीज़ें आधुनिक उद्योग और सभ्यता का आधार हैं, यहाँ विपुल परिमाण में थीं। देश में जल-शक्ति का भी भण्डार था, जिससे विद्युत-शक्ति पैदा की जा सकती थी। यह बहुत लम्बा-चौड़ा देश था, जिसकी आबादी अपेक्षाकृत कम थी और हरएक आदमी के लिए पैर पसारने की काफ़ी जगह थी। इसलिए एक महान् उत्पादक और औद्योगिक देश बन जाने की सारी सुविधाएँ इसे उपलब्ध थीं और वह इस रास्ते पर बहुत तेज़ी के साथ बढ़ने लगा। सन् १८८० ई० तक पहुँचते-पहुँचते अमरीका के उद्योग विदेशी मण्डियों में ब्रिटिश-उद्योगों का मुक़ाबला करने लग गये थे। इंग्लैण्ड ने वैदेशिक व्यापार पर सौ वर्ष से अपना जो प्रभुत्व आसानी के साथ जमा रखा था, उसे अमरीका और जर्मनी ने समाप्त कर दिया।

इस देश में बाहर से लोग धड़ाधड़ आकर बसने लगे। योरप से सब तरह के लोग आये; जैसे जर्मन, स्कैंडीनेवी, आयरिश, इटालवी, यहूदी, पोल, वग़ैरा। इनमें से बहुत-से तो अपने देशों में होनेवाले राजनैतिक आतंक से भागकर आये थे, और बहुत-से निर्वाह के अच्छे साधनों की तलाश में। अति घनी आबादीवाले योरप ने अपनी बेशी आबादी को अमरीका में भरना शुरू कर दिया। जातियों, क़ौमों, भाषाओं और धर्मों का यह एक असाधारण घाल-मेल था। योरप में ये सब अपनी-अपनी छोटी-सी दुनिया में अलग-अलग रहते थे और इनके दिल दूसरों के प्रति घृणाओं और विद्वेषों से भरे रहते थे; यहाँ वे एक-ही साथ एक नये वातावरण में आ पड़े, जहाँ पुरानी घृणाओं का कोई महत्त्व नज़र नहीं आता था। अनिवार्य शिक्षा की एक समान प्रणाली ने इनकी राष्ट्रीय विषमताओं को घिस डाला और विभिन्न जातियों की इस खिचड़ी में से अमरीकी नमूना पैदा होने लगा। पुराने ऐंग्लो-सेक्सन वंश के लोग अपने को कुलीन समझते थे; समाज के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ये ही अगुआ थे। इनके बाद, किन्तु इनके क़रीब, उन जातियों का स्थान था जो उत्तरी योरप से आई थीं। उत्तरी योरप के ये लोग दक्षिणी योरप से आये हुए लोगों को, खासकर इटलीवालों को, नीची नज़र से देखते थे और उन्हें "डेगो"[1] कहकर पुकारते थे। हब्शी लोग तो बिल्कुल अलग थे ही। वे तमाम जातियों से नीचे समझे जाते थे और किसी भी गोरी जाति से मिलते-जुलते नहीं थे। पश्चिमी-समुद्र के तट पर कुछ चीनी, जापानी और भारतीय आ बसेथे। ये लोग उस समय आये थे जब वहाँ मज़दूरों की माँग बहुत ज़्यादा थी। एशिया की ये जातियाँ भी औरों से अलग-थलग रहती थीं।

रेलों और तारों के जाल चारों ओर बिछ जाने से यह विशाल देश एक-सूत्र में बँध गया। अमरीका के संयुक्त-राज्य में रेलों और यातायात के अन्य साधनों तथा एक-समान शिक्षा-प्रणाली के कारण विभिन्न जातियों में समान दृष्टिकोण का विकास हो गया। ये अनेक जातियाँ धीरे-धीरे मिलकर एक परिवार बन गईं। यह प्रक्रिया अभीतक पूरी नहीं हुई है––इसका सिलसिला अभीतक जारी है। इतने बड़े पैमाने पर जाति-सम्मिश्रण का कोई दूसरा उदाहरण इतिहास में नहीं मिलता।

संयुक्त-राज्य ने योरप के झगड़े-टंटों और योरपीय शक्तियों के षड्यन्त्रों से दूर रहने की कोशिश की और वह यह चाहता था कि योरप भी उत्तरी और दक्षिणी, दोनों, अमरीकाओं से दूर रहे। जब कुछ योरपीय शक्तियों के "पवित्र गठ-बन्धन" ने दक्षिण अमरीका में स्पेन के साम्राज्य की रक्षा करने के लिए दख़ल देना चाहा, तब संयुक्त-राज्य के राष्ट्रपति मनरो ने "मनरो-सिद्धान्त" की घोषणा की थी। इस घोषणा में उसने कहा था कि संयुक्त-राज्य सारे अमरीका में किसी योरपीय शक्ति का फ़ौजी हस्तक्षेप बरदाश्त नहीं करेगा। इस घोषणा ने दक्षिणी अमरीका के कम-उम्र गणराज्यों को योरप के फन्दे से बचा लिया।

दक्षिणी अमरीका उत्तरी अमरीका से बिल्कुल भिन्न था और सौ वर्ष के समय में भी इस भिन्नता में कोई कमी नहीं हुई। उत्तर में कनाडा दिन-दिन संयुक्त-राज्य के समान बनता जा रहा है। लेकिन दक्षिणी अमरीका के गणराज्य वैसे नहीं बन रहे हैं। दक्षिणी अमरीका के ये गणराज्य––जिनमें मैक्सिको भी शामिल है, यद्यपि वह उत्तरी अमरीका में है––लातीनी गणराज्य कहलाते हैं। अमरीका और मैक्सिको की सरहद दो विभिन्न जातियों और संस्कृतियों को अलहदा करती है।

मनरो-सिद्धान्त के द्वारा संयुक्त-राज्य ने लातीनी अमरीका में योरप को टाँग अड़ाने से रोक दिया। लेकिन ज्यों-ज्यों संयुक्त-राज्य ख़ुद सम्पन्न होता गया, वह अपने विस्तार के लिए बाहर नये क्षेत्रों की तलाश करने लगा। स्वभावतः इसकी निगाह पहले लातीनी अमरीका पर पड़ी। लेकिन साम्राज्य-निर्माण के पुराने तरीक़े के

[1] डेगो––गेहुँआ वर्णवाले विदेशी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनुसार इसने इनमें से किसी देश पर जबरदस्ती क़ब्ज़ा करने का प्रयत्न नहीं किया। इन्होंने इन देशों में अपने देश का बना हुआ माल भेजा और इनकी मण्डियों पर क़ब्ज़ा कर लिया। इन्होंने दक्षिण में रेलों, खानों तथा अन्य धन्धों में भी अपनी पूंजी लगादी; सरकारों को, और कभी-कभी क्रान्तियों के समय आपस में लड़नेवाले दलों को, रुपया उधार दिया। 'इन्होंने' से मेरा मतलब अमरीका के पूंजीपतियों और साहूकारों से है, लेकिन इनकी मदद पर, और इनकी पीठ ठोकनेवाली अमरीका की सरकार थी। धीरे-धीरे ये साहूकार लोग उस रुपये के बल पर, जो इन्होंने उधार दे रखा था, या लगा रखा था, मध्य और दक्षिण अमरीका की अनेक छोटी-छोटी सरकारों पर नियन्त्रण करने लगे। ये साहूकार इन देशों के एक दल को धन या अस्त्र-शस्त्र ऋण-रूप में देकर, और दूसरे दल को न देकर, क्रान्तियाँ भी करा सकते थे। इन साहूकारों और पूंजीपतियों की पीठ पर संयुक्त-राज्य की जबरदस्त सरकार थी, फिर दक्षिणी अमरीका के छोटे और कमज़ोर देश इनका क्या बिगाड़ सकते थे? कभी-कभी तो संयुक्त-राज्य ने शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के बहाने किसी देश के एक दल की मदद के लिए सचमुच अपने सैनिक ही भेज दिये

इस तरह अमरीकी पूंजीपतियों ने दक्षिणी अमरीका के इन छोटे-छोटे देशों पर कारगर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया। उनके बैंक, रेलें, और खानें, सब इन पूंजीपतियों के हाथों में थीं और अपने लाभ के लिए वे इनका शोषण करते थे। लगी हुई पूंजियों और मुद्रा-नियन्त्रण के कारण लातीनी अमरीका के बड़े-बड़े देशों में भी इनका जबरदस्त प्रभाव था। इसका मतलब यह हुआ कि संयुक्त-राज्य ने इन देशों के धन पर या उसके बहुत बड़े हिस्से पर क़ब्ज़ा कर लिया था। यह ग़ौर करने की चीज़ है, क्योंकि यह नये क़िस्म का साम्राज्य है—आधुनिक नमूने का साम्राज्य है। यह साम्राज्य अदृश्य और आर्थिक है और बिना कोई स्पष्ट बाहरी चिह्नों के शोषण करता है और प्रभुत्त्व जमाता है। दक्षिणी अमरीका के गणराज्य राजनैतिक और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से आज़ाद और स्वाधीन हैं। नक़्शे पर ये बड़े विशाल देश दिखाई पड़ते हैं और इस बात का कोई भी निशान नहीं दिखाई देता कि ये किसी भी रूप में परतन्त्र हैं। लेकिन फिर भी इनमें से ज्यादातर देशों पर संयुक्त-राज्य का पूरा प्रभुत्त्व है।

संयुक्त-राज्य का दीखनेवाला साम्राज्य फिलीपाइन द्वीपों तक फैला हुआ है।[१] मैं बता चुका हूँ कि अमरीका ने इन टापुओं पर स्पेन से युद्ध के बाद किस तरह क़ब्ज़ा कर लिया था। सन १८९८ ई० में, एटलांटिक महासागर के क्यूबा नामक टापू

---

[१] द्वितीय विश्व-युद्ध के कुछ पहले अमरीका ने फिलीपाइन को प्रत्यक्ष स्वाधीनता प्रदान कर दी थी। लेकिन अमरीका के लातीनी गणराज्यों की तरह यह देश भी अमरीकी पूंजी के अदृश्य साम्राज्य के शिकंजों में कसा हुआ है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के मामले को लेकर यह युद्ध शुरू हुआ था। क्यूबा स्वाधीन हो गया, लेकिन नाम-मात्र को। क्यूबा और हैटी दोनों पर अमरीका का प्रभुत्त्व है।

पनामा नहर को खुले क़रीब बारह वर्ष हो गये। यह मध्य-अमरीका की एक तंग पट्टी में है, और प्रशान्त महासागर तथा एटलांटिक महासागर को मिलाती है। पचास वर्ष से ज्यादा हुए, स्वेज़ नहर को बनानेवाले फ़र्दिनांद दे लेसेप्स ने इसकी योजना बनाई थी। लेकिन वह बेचारा परेशानी में फँस गया और फिर अमरीका-वालों ने इस नहर को बनाया। इन लोगों को मलेरिया और पीतज्वर के कारण बहुत कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं; लेकिन इन लोगों ने वहाँ इन बीमारियों को मिटा देने का इरादा कर लिया और ये सफल हुए। जिन-जिन जगहों पर मलेरिया के मच्छर तथा रोगों के अन्य वाहक पैदा होते थे, उन सबको इन्होंने साफ़ कर दिया और नहर के क्षेत्र को बिल्कुल स्वास्थ्य-प्रद बना दिया। यह नहर पनामा के नन्हें-से गणराज्य के अन्दर है। लेकिन संयुक्त-राज्य का इस नहर पर भी नियन्त्रण है, और पनामा के छोटे-से गणराज्य पर भी। अमरीका के लिए यह नहर एक बड़ा वरदान है, वरना जहाज़ों को सारे दक्षिणी अमरीका का चक्कर लगाकर जाना पड़ता। फिर भी पनामा नहर का उतना बड़ा महत्त्व नहीं, जितना स्वेज़ नहर का है।

इस तरह संयुक्त-राज्य दिन-दिन बलशाली और धनवान होता गया और अन्य चीज़ों के अलावा करोड़पतियों को तथा गगनचुम्बी भवनों को पैदा करने लगा। वह बहुत-सी बातों में योरप के बराबर पहुँच गया और उससे आगे भी निकल गया। औद्योगिक दृष्टि से यह संसार का प्रमुख राष्ट्र हो गया और इसके मज़दूरों के रहन-सहन का स्तर अन्य देशों की अपेक्षा ऊँचा हो गया।

अमरीका की राजनीति में दो दल बन गये : एक 'रिपब्लिकन' (गणराज्य-वादी) और दूसरा 'डेमोक्रेटिक' (लोकतन्त्रवादी)। इंग्लैण्ड के समान, बल्कि उससे भी ज्यादा, यहाँ के ये दोनों दल धनिक-वर्ग के प्रतिनिधि थे। इनमें सिद्धान्तों का कोई विशेष भेद नहीं था।

: ६३ :

आयरलैण्ड का स्वाधीनता-संग्राम

नार्मनों ने विजेता विलियम के नेतृत्व में ग्यारहवीं सदी में इंग्लैण्ड को जीत लिया था। इन्हीं ऐंग्लो-नार्मनों ने सौ वर्ष बाद आयरलैण्ड पर धावा किया, और इन्होंने जिस भाग को जीता, उसका नाम 'पेल' पड़ गया। सन् ११६९ ई० के इस

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ऐंग्लो-नार्मन हमले ने गैलिक-सभ्यता को सख्त चोट पहुँचाई और इसी समय से आयरलैण्ड के कबीलों के साथ करीब-करीब निरन्तर युद्ध की शुरुआत होती है। ये युद्ध, जो सैकड़ों वर्ष चलते रहे, नितान्त बर्बरतापूर्ण और क्रूरतापूर्ण थे। ऐंग्लो-नार्मन लोग, जिन्हें अब अंग्रेज़ कहना चाहिए, आयरवासी लोगों की, एक अर्द्ध-सभ्य जाति के समान सदा अवज्ञा करते रहे। इन दोनों में जाति-भेद तो था ही—अंग्रेज़ लोग ऐंग्लो-सैक्सन जाति के थे और आयरवासो कैल्ट थे, बाद में इनमें धर्म का भी भेद पैदा हो गया—अंग्रेज़ और स्काच प्रोटेस्टेण्ट हो गये और आयरवासी रोमन कैथलिक धर्म के ही भक्त बने रहे। इसलिए अंग्रेज़ों और आयरवासियों के इन युद्धों में जातीय और धार्मिक युद्धों की भीषण कटुता रही। अंग्रेज़ों ने निश्चयपूर्वक दोनों जातियों के मिलाप को रोका। एक क़ानून भी इस सम्बन्ध में बना (किलकैनी का क़ानून), जिसके अनुसार अंग्रेज़ों और आयरवासियों के बीच अन्तरजातीय विवाह-सम्बन्ध वर्जित कर दिये गये।

आयरलैण्ड में एक-के-बाद-दूसरी बग़ावत होती रही और हरएक को बड़ी निर्दयता के साथ दबा दिया गया। आयरवासो अपने विदेशी शासकों और अत्याचारियों से स्वभावतः ही घृणा करते थे और जब कभी उन्हें मौका मिलता, या न भी मिलता, ये लोग बग़ावत खड़ी कर देते थे। राजनैतिक तथा धार्मिक, दोनों-ही कारणों से आयरलैण्ड अक्सर फ्रान्स और स्पेन जैसे इंग्लैण्ड के शत्रुओं का साथ देता था। इससे अंग्रेज़ों को बहुत क्रोध होता था और उन्हें ऐसा लगता था मानों किसी ने पीछे से कटार भोंक दी हो। इसलिए वे हर तरह के अत्याचारों के द्वारा बदला लेते थे।

महारानी एलिज़ाबेथ के समय (सोलहवीं सदी) में यह निश्चय किया गया कि आयरलैण्ड के सरकश निवासियों के विरोध की कमर तोड़ने के लिए इनके बीच अंग्रेज़ ज़मींदार जमा दिये जायँ, जो इन्हें दबाये रखें। इसलिए ज़मीनें ज़ब्त कर ली गईं और आयरलैण्ड के पुराने ज़मींदार-वर्ग की जगह विदेशी ज़मींदार बैठा दिये गये। इस तरह आयरलैण्ड हक़ीकत में कृषक-राष्ट्र बन गया, जिसके ज़मींदार विदेशी थे। और सैकड़ों वर्ष गुजर जाने पर भी ये ज़मींदार लोग आयरवासियों के लिए विदेशी ही बने रहे।

महारानी एलिज़ाबेथ के उत्तराधिकारी जेम्स प्रथम ने आयरवासियों का हौसला तोड़ने की कोशिश में एक कदम और आगे बढ़ाया। उसने निश्चय किया कि आयरलैण्ड में विदेशी प्रवासियों की एक बाक़ायदा बड़ी भारी बाड़ी बना दी जाय और इसलिए बादशाह ने उत्तरी आयरलैण्ड में अल्स्टर के छहों जिलों की लगभग सारी ज़मीन ज़ब्त कर ली। वहाँ ज़मीनें मुफ्त में मिलती थीं और मौकापरस्तों के झुण्ड-के-झुण्ड स्काटलैण्ड और इंग्लैण्ड से वहाँ पहुच गये। इंग्लैण्ड और स्काटलैण्ड से आये हुए ये लोग ज़मीनें लेकर यहीं बस गये और खेती करने लगे। उपनिवेश

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रचने की इस क्रिया को सफल बनाने के लिए लन्दन शहर से भी मदद माँगी गई, और उसने इस नई "अल्स्टर की बाड़ी" के लिए एक विशेष समिति ही बना डाली। इसी वजह से उत्तर का 'डैरी' नामक शहर 'लन्दनडैरी' कहलाने लगा।

इस तरह अल्स्टर आयरलैण्ड में इंग्लैण्ड का एक क़िता बन गया और इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि आयरवासियों ने इसपर घोर रोष प्रकट किया। इधर ये नये अल्स्टरी आयरवासियों से नफ़रत करते थे और उनकी अवज्ञा करते थे। आयरलैण्ड को दो विरोधी दलों में बाँटने की इंग्लैण्ड की यह साम्राज्यवादी कार्रवाई कितनी आश्चर्यजनक धूर्तता से भरी हुई थी! अल्स्टर की गुत्थी तीन सौ वर्ष गुज़र जाने पर भी अभीतक नहीं सुलझ पाई है।

अल टर की इस बाड़ी की स्थापना के कुछ-ही दिन बाद इंग्लैण्ड में चार्ल्स प्रथम और पार्लमेण्ट के बीच गृह-युद्ध हुआ। पार्लमेण्ट की तरफ़ प्रोटेस्टेण्ट और प्यूरिटन थे; कैथलिक आयरलैण्ड ने स्वभावतः बादशाह का साथ दिया, अल्स्टर ने पार्लमेण्ट को मदद दी। आयरवासियों को डर था, और डर की वजह भी थी, कि प्यूरिटन लोग कैथलिक धर्म को नष्ट कर देंगे। इसलिए सन् १६४१ ई० में इन लोगों ने एक बहुत बड़ा विद्रोह खड़ा कर दिया। यह विद्रोह और इसका दमन पहले की अपेक्षा भी अधिक खूँख्वार और बर्बरतापूर्ण थे। आयरवासी कैथलिकों ने प्रोटेस्टेण्टों की निर्दयता से हत्याएँ की थीं। क्रामवेल ने इसका भीषण बदला लिया। आयरवासियों के अनेक हत्याकाण्ड हुए, खासकर कैथलिक पादरियों के, और आयरलैण्ड में आजतक क्रामवेल को कसक के साथ याद किया जाता है।

इस आतंक और बेरहमी के होते हुए भी एक पीढ़ी बाद आयरलैण्ड में फिर विद्रोह और गृह-युद्ध हुआ, जिसकी दो घटनाएँ महत्वपूर्ण हैं--लन्दनडैरी और लिमरिक के मुहासरे। सन् १६८८ ई० में आयरवासी कैथलिकों ने अल्स्टर के प्रोटेस्टेण्ट नगर लन्दनडैरी को घेर लिया। प्रोटेस्टेण्टों ने बड़ी वीरता से इसकी रक्षा की, हालाँकि उनके पास खाने की सामग्री नहीं रही थी और वे भूखों मर रहे थे। आखिर चार महीने के घेरे और कष्टों के बाद अंग्रेजी जहाज़ खाना और सहायता लेकर पहुँचे।

सन् १६९० ई० में लिमरिक में बिल्कुल इसका उल्टा हुआ; वहाँ कैथलिक आयरवासियों को अंग्रेजों ने घेर लिया था। इस मुहासरे का वीर नायक पैट्रिक सार्सफील्ड था, जिसने अपने से बहुत अधिक बलशाली शत्रु के विरुद्ध बड़ी ख़ूबी के साथ लिमरिक की रक्षा की। इस मुहासरे में आयरलैण्ड की स्त्रियाँ भी लड़ीं और आयरलैण्ड के देहातों में आजतक सार्सफील्ड और उसके वीर जत्थे के गीत गैलिक भाषा में गाये जाते हैं। सार्सफील्ड ने अन्त में लिमरिक को छोड़ दिया, लेकिन अंग्रेज़ों के साथ सम्मानपूर्ण सन्धि के बाद। लिमरिक की इस सन्धि की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक धारा यह थी कि आयरवासी कैथलिकों को पूरी नागरिक और धार्मिक स्वतन्त्रता दी जायगी।

सन् १७७४ ई० में अमरीका का स्वाधीनता-संग्राम छिड़ गया और एटलांटिक के पार अंग्रेज़ी फ़ौजें भेजना ज़रूरी हो गया। इस परिवर्तन से आयरलैण्ड में ब्रिटिश फ़ौजें न रह गईं और उधर फ्रान्सीसी हमले की चर्चा होने लगी, क्योंकि फ्रान्स ने भी इंग्लैण्ड के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी थी। इसलिए आयरवासी कैथलिकों और प्रोटेस्टेण्टों, दोनों ने रक्षा के लिए स्वयंसेवक दल तैयार किया। कुछ अरसे के लिए ये लोग अपने पुराने विद्वेष भूल गये और आपसी सहयोग से इन्हें अपनी शक्ति का पता चल गया। एक दूसरे विद्रोह का ख़तरा इंग्लैण्ड के सामने खड़ा हो गया, और, इस डर से कि कहीं आयरलैण्ड भी अमरीका की तरह हाथ से न निकल जाय, इंग्लैण्ड ने आयरलैण्ड को स्वाधीन पार्लमेण्ट दे दी। इस तरह सैद्धान्तिक रूप में तो आयरलैण्ड इंग्लैण्ड के शासन में नहीं रहा, लेकिन रहा उसी बादशाह के अधीन। और आयरलैण्ड की पार्लमेण्ट वही पुरानी ज़मींदार-प्रधान संकीर्ण सभा बनी रही, जिसमें केवल प्रोटेस्टेण्ट शामिल थे और जिसने पिछले दिनों कैथलिकों पर इतने अत्याचार किये थे। कैथलिकों को अब भी अनेक प्रकार से तंग किया जाता था। सिर्फ़ इतना फ़र्क ज़रूर हो गया था कि अब प्रोटेस्टेण्टों और कैथलिकों के बीच अधिक सद्भावना काम करती मालूम देने लगी। इस पार्लमेण्ट का नेता हेनरी ग्रैटन, जो स्वयं प्रोटेस्टेण्ट था, यह चाहता था कि कैथलिक लोगों को कुछ अधिकार दे। लेकिन इसमें उसे सफलता नहीं मिली।

इसी बीच फ्रान्स में क्रान्ति हो गई, और आयरलैण्ड को उससे बहुत आशाएँ बँध गईं। अनोखी बात तो यह है कि इस क्रान्ति का स्वागत कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट दोनों ने किया, जो अब धीरे-धीरे एक-दूसरे के बहुत नज़दीक आते जा रहे थे। "संयुक्त-आयरनिवासी"[1] नामक एक संगठन स्थापित हुआ जिसका उद्देश्य यह था कि कैथलिकों और प्रोटेस्टेण्टों में मेल जोल पैदा कराया जाय और कैथलिक लोगों को मुक्ति दिलाई जाय। सरकार ने इस संगठन को पसन्द नहीं किया और उसे कुचल दिया। इसलिए समय-समय पर होनेवाला अनिवार्य विद्रोह सन् १७९८ ई० में फिर भड़क उठा। यह पहले के विद्रोहों की तरह अल्स्टर और देश के बाक़ी भाग के बीच धार्मिक लड़ाई नहीं थी। यह एक राष्ट्रीय विप्लव था, जिसमें कुछ हद तक कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट दोनों शामिल थे। इस विप्लव को भी अंग्रेज़ों ने कुचल दिया और इसके आयरवासी नायक वुल्फ टोन को, देशद्रोही होने के अपराध में, फाँसी पर लटका दिया गया।

इस तरह अब, यह स्पष्ट हो गया कि आयरलैण्ड में एक स्वाधीन पार्लमेण्ट बना

---

[1] यूनाइटेड आयरिशमैन।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देने से आयरवासियों की स्थिति में कोई फ़र्क़ नहीं आया। अंग्रेज़ी-पार्लामेण्ट भी उस समय एक संकीर्ण और भ्रष्ट चीज़ थी, जिसका चुनाव जेबी निर्वाचन-क्षेत्रों द्वारा होता था और जिसकी बागडोर मुट्ठी-भर ज़मींदार-वर्ग तथा कुछ धनिक व्यापारियों के हाथों में थी। आयरिश-पार्लामेण्ट में भी ये सब दोष तो थे ही, इसके अलावा वह कैथलिकों के देश में होते हुए भी मुट्ठी-भर प्रोटेस्टेण्टों के हाथों में थी। इतने पर भी ब्रिटिश-सरकार ने इस आयरिश-पार्लामेण्ट को तोड़ देने का और आयरलैण्ड को इंग्लैण्ड के साथ जोड़ देने का निश्चय किया। आयरलैण्ड में इस प्रस्ताव का ज़ोरों से विरोध किया गया, लेकिन डबलिन की पार्लामेण्ट के सदस्य भारी रिश्वतें खाकर अपनी-ही पार्लामेण्ट को ख़तम करने का वोट देने के लालच में आ गये। सन् १८०० ई० में "यूनियन का ऐक्ट" पास हुआ और इस तरह ग्रैटन की अल्पजीवी पार्लामेण्ट का अन्त हो गया। उसकी जगह पर अब कुछ निर्वाचित आयरिश सदस्य लन्दन की ब्रिटिश-पार्लामेण्ट में भेजे जाने लगे।

यूनियन के ऐक्ट को लोगों ने चुपचाप नहीं मान लिया; उसके विरोध में एक छोटा-सा विद्रोह हुआ। इस असफल विद्रोह का नेता राबर्ट ऐमेट नामक एक प्रतिभावान नवयुवक था, जिसका अन्त, इसके अनेक पूर्ववर्ती देशवासियों की भाँति फाँसी के तख़्ते पर हुआ।

आयरिश सदस्य ब्रिटिश-पार्लामेण्ट की कामन्स सभा में बैठते थे, लेकिन उसमें कोई कैथलिक नहीं जा सकता था। कैथलिकों को इंग्लैण्ड में या आयरलैण्ड में पार्लामेण्ट में बैठने का अधिकार नहीं था। ये प्रतिबन्ध सन् १८२९ ई० में हटा लिये गये और कैथलिक लोग ब्रिटिश-पार्लामेण्ट में बैठने के अधिकारी हो गये। ये प्रतिबन्ध आयरिश नेता डेनियल ओ'कोनेल के प्रयत्न से हटे थे, इसलिए उसे "उद्धारक" की पदवी दी गई। क्रम-क्रम से होनेवाला एक और परिवर्तन यह था कि मताधिकार बढ़ा दिया गया, जिससे अधिकाधिक व्यक्तियों को वोट का अधिकार मिलता गया। चूँकि आयरलैण्ड इंग्लैण्ड से मिला दिया गया था, इसलिए दोनों देशों पर समान क़ानून लागू होते थे। इस कारण सन् १८३२ ई० का महान् सुधार बिल इंग्लैण्ड के साथ-साथ आयरलैण्ड पर भी लागू हुआ। इसी प्रकार बाद का मताधिकार बिल भी लागू हुआ और इस तरह ब्रिटिश-कामन्स सभा में आयरिश सदस्य का स्वरूप बदलने लगा। ज़मींदारों का प्रतिनिधि होने के बजाय अब वह कैथलिक किसान-वर्ग का और आयरिश राष्ट्रीयता का पैरोकार हो गया।

ग़रीबी के कारण आयरलैण्ड के ज़मींदार-पीड़ित और लगान-शोषित किसान-वर्ग ने आलू को ही अपने खाने की मुख्य चीज़ बना लिया था। ये बेचारे एक तरह से आलू पर ही गुज़ारा करते थे और आजकल के भारतीय किसानों की तरह इनके पास भी कोई जमा-पूंजी नहीं थी; आड़े समय के लिए इनके पास कुछ नहीं था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ये मौत के दरवाज़े पर अपना जीवन बिताते थे। सन् १८६४ ई० में आलू की फ़सल नष्ट हो गई, जिसके कारण इस देश में जबरदस्त अकाल पड़ गया। लेकिन अकाल के बावजूद ज़मींदारों ने लगान न दे सकनेवाले अपने असामी किसानों को बेदखल कर दिया। आयर-निवासी बहुत बड़ी संख्या में अपना वतन छोड़कर अमरीका चले गये, और आयरलैण्ड क़रीब-क़रीब सुनसान हो गया। बहुत-से खेत बे-जुते पड़े रहे और चरागाह बन गये।

इतने सशस्त्र विद्रोहों के बाद और दुष्काल तथा अन्य आफ़तों की वजह से, आयरलैण्ड आज़ादी प्राप्त करने के इस ढंग से कुछ थक गया था। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में, जब ब्रिटिश-पार्लमेण्ट के लिए मताधिकार विस्तृत हुआ, तो अनेक राष्ट्रवादी आयरवासी कामन्स सभा के सदस्य चुने गये। जनता आशा करने लगी कि ये लोग शायद आयरलैण्ड की आज़ादी के लिए कुछ कर सकें—अब वह पुराने सशस्त्र विद्रोह के तरीके के बजाय वैध कार्रवाई में भरोसा करने लगी।

अब ब्रिटिश-पार्लमेण्ट में और आयरलैण्ड में दो नये शब्द प्रचलित हुए। ये दो शब्द थे "होम रूल" यानी स्वराज। आयरलैण्ड की माँग अब होमरूल की माँग बन गई। सात सौ वर्ष पुरानी स्वाधीनता की माँग से यह माँग बहुत कम और बहुत भिन्न थी। इसका मतलब यह था कि आयरलैण्ड की एक मातहत पार्लमेण्ट हो, जो स्थानीय मामलों का इन्तज़ाम करे और कुछेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर ब्रिटिश-पार्लमेण्ट का ही अधिकार चलता रहे। अनेक आयरवासी स्वाधीनता की पुरानी माँग के इस तरह घटा दिये जाने से सहमत नहीं थे। लेकिन देश बग़ावत और रगड़-झगड़ से तंग आगया था, इसलिए उसने बलवे के कई असफल प्रयत्नों में भाग लेने से इन्कार कर दिया।

ब्रिटिश कामन्स सभा के आयरिश सदस्यों में चार्ल्स स्टुअर्ट पारनेल भी एक था। यह महसूस करके, कि ब्रिटिश-पार्लमेण्ट के अनुदार और उदार, दोनों, दल आयरलैण्ड की तरफ़ ज़रा भी ध्यान नहीं देते, इसने निश्चय किया कि यह शिष्ट पार्लमेण्टरी खेल जारी रखना इनके लिए कठिन कर दिया जाय। इसलिए कुछ अन्य आयरिश सदस्यों की मदद से इसने लम्बे-लम्बे भाषणों तथा केवल विलम्ब करनेवाली अन्य तदबीरों से पार्लमेण्ट की कार्रवाई में अड़ंगा लगाना शुरू किया। अंग्रेज़ लोग इन चालों से बहुत झल्लाये। वे कहते थे कि ये बातें न तो पार्लमेण्ट के योग्य हैं और न शराफ़त के अनुकूल। लेकिन पारनेल के ऊपर इन आलोचनाओं का कोई असर नहीं हुआ। वह पार्लमेण्ट में अंग्रेज़ों के बनाये हुए क़ायदों के अनुसार शिष्टाचारभरा अंग्रेज़ी पार्लमेण्टरी खेल खेलने नहीं आया था। वह तो आयरलैण्ड की सेवा करने आया था, और अगर मामूली तरीक़ों से अपना काम नहीं कर सकता था, तो असाधारण तरीक़ों का सहारा लेना वह अपने लिए

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बिल्कुल न्यायोचित समझता था। कुछ भी हो, वह आयरलैण्ड की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करने में तो सफल हो ही गया।

पारनेल ब्रिटिश-कामन्स सभा में आयरिश-होमरूल दल का नेता हो गया, और यह दल दोनों पुराने ब्रिटिश दलों के लिए जी का जंजाल हो गया। जब कभी इन दोनों दलों का कमती-बढ़ती बराबरी का मुक़ाबला रहता था, तब ये आयरिश होमरूलवाले इधर या उधर मिलकर किसीका पलड़ा भारी कर सकते थे। इस तरह वे आयरलैण्ड के सवाल को हमेशा लोगों की निगाह के सामने रखते थे। आखिरकार ग्लैडस्टन आयरलैण्ड को होमरूल देने के लिए राज़ी हो गया और उसने सन् १८८६ ई० में कामन्स सभा में होमरूल-बिल पेश किया। स्वराज देने का यह क़ानून बहुत नरम था, फिर भी इसकी वजह से तूफ़ान मच गया। अनुदार दल के लोग तो इसके पूरे विरोधी थे ही; ग्लैडस्टन का दल, यानी उदार दल, भी इसे पसन्द नहीं करता था। यह दल इसी बात पर दो हिस्सों में बँट गया। एक हिस्सा तो सचमुच अनुदार दल में जा मिला और यह नया दल "एकतावादी"[1] कहलाने लगा, क्योंकि ये लोग आयरलैण्ड के साथ मेल चाहते थे। होमरूल-बिल पार्लमेण्ट में गिर गया और उसीके साथ ग्लैडस्टन का भी पतन हो गया।

इसके सात वर्ष बाद, सन् १८९३ ई० में, जब ग्लैडस्टन की उम्र चौरासी वर्ष की थी, वह फिर प्रधान मन्त्री बना। उसने दूसरी बार होमरूल-बिल पेश किया और यह कामन्स सभा में बहुत कम बहुमत से पास हुआ। लेकिन क़ानून बनने से पहले तमाम बिलों को लार्ड सभा में से भी गुज़रना पड़ता है, और लार्ड सभा अनुदार दलवालों और प्रगति-विरोधी लोगों से भरी थी। इस सभा ने होमरूल-बिल को, जिसे कामन्स सभा ने मंजूर कर लिया था, नामंजूर कर दिया।

उस समय आयरलैण्ड में यह भावना फैली हुई थी कि ताक़त अन्दर से आती है, बाहर से नहीं। पार्लमेण्ट के अन्दर की कोरी राजनैतिक प्रवृत्तियों के बारे में भ्रम दूर हो रहा था और इसलिए अधिक मज़बूत नींव पर राष्ट्र के निर्माण के प्रयत्न किये गये। बीसवीं सदी के शुरू का यह नया आयरलैण्ड पुराने आयरलैण्ड से बिल्कुल भिन्न था, इसलिए इस नई जागृति का असर अनेक दिशाओं में प्रगट होने लगा—साहित्यिक और सांस्कृतिक दिशाओं में, और आर्थिक दिशा में भी, जहाँ किसानों को सहकारिता के आधार पर संगठित करने के सफल प्रयत्न किये गये।

लेकिन इन सबके पीछे थी आज़ादी की उत्कट लालसा, और यद्यपि ऐसा मालूम होता था कि ब्रिटिश-पार्लमेण्ट के आयरिश राष्ट्रवादी दल में आयरिश जनता का विश्वास था, लेकिन यह विश्वास डिग रहा था। जनता समझने लग गई थी कि ये लोग कोरे राजनीतिज्ञ हैं, जिन्हें भाषण देने का शौक़ है लेकिन कुछ कर-

---

[1] यूनीयनिस्ट

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धर सकने की सामर्थ्य नहीं है। पुराने फेनियनों तथा स्वाधीनता में विश्वास करने-वाले अन्य लोगों का तो इन पार्लामेण्टरी लोगों में और इनके होमरूल में विश्वास था ही नहीं। अब नया और नौजवान आयरलैण्ड भी पार्लामेण्ट से अपना मुँह मोड़ने लगा। सशस्त्र विद्रोह के विचार लोगों के दिमाग़ों में फिर चक्कर काटने लगे। लेकिन अमली कार्रवाई की इस इच्छा को एक नया रूप दिया गया। आर्थर ग्रिफ़िथ नामक एक नौजवान आयरनिवासी ने एक नई नीति का प्रचार शुरू कर दिया, जो "शिन फेन" कहलाई। इसका अर्थ है "हम खुद"।

शिन फ़ेन के विचार धीरे-धीरे आयरलैण्ड के नौजवानों में फैलने लगे। इन विचारों की वजह से आयरलैण्ड में एकदम आग नहीं भड़क उठी। अब भी बहुत-से लोग ऐसे थे जिन्हें पार्लामेण्ट से आशाएँ थीं, खासकर इसलिए कि सन् १९०६ ई० के चुनावों में उदार दल का फिर भारी बहुमत हो गया था। कामन्स सभा में इस बहुमत के होते हुए भी उदार दल को लार्ड सभा के अनुदार तथा एकतावादी दलों के संयुक्त स्थायी बहुमत का मुक़ाबला करना पड़ता था। इसलिए इन दोनों सभाओं में बहुत जल्द संघर्ष पैदा हो गया। इस संघर्ष का नतीजा यह निकला कि लार्डों की शक्ति कम कर दी गई। इस तरह सन् १९११ ई० के पार्लामेण्टरी क़ानून के ज़रिये उदार दल ने लार्ड सभा के दाँत तोड़ दिये। फिर भी लार्डों के हाथ में बहुत काफ़ी ताक़त बनी रही, जिससे वे कामन्स सभा के काम को रोक सकते थे और उसमें अड़ंगा लगा सकते थे।

लार्डों के अनिवार्य विरोध की उचित व्यवस्था करके उदार दल ने फिर तीसरी बार होमरूल-बिल पेश किया और कामन्स सभा ने इसे सन् १९१३ ई० में पास कर दिया। जैसीकि उम्मीद थी, लार्डों ने इसको फिर नामंज़ूर कर दिया और फिर कामन्स सभा ने इसे लगातार तीन बार पास करने की परेशानी उठाई। इस प्रकार सन् १९१४ ई० में यह बिल क़ानून बन गया और सारे आयरलैण्ड पर, जिसमें अल्स्टर भी शामिल था, लागू हो गया।

ऐसा जान पड़ता था कि आयरलैण्ड को अन्त में होमरूल मिल ही गया, लेकिन इसमें बहुत-से अगर-मगर थे! जब सन् १९१२-१३ ई० में पार्लामेण्ट होमरूल के बारे में बहस कर रही थी, तब उत्तरी आयरलैण्ड में विचित्र घटनाएँ हो रही थीं। अल्स्टर के नेताओं ने घोषित कर दिया था कि वे होमरूल स्वीकार नहीं करेंगे, और अगर होमरूल का क़ानून पास भी हो गया, तो वे उसका विरोध करेंगे। वे बग़ावत की बातें करने लगे और उसकी तैयारी भी शुरू कर दी। यह भी कहा गया कि वे होमरूल के विरुद्ध लड़ने के लिए किसी विदेशी शक्ति की, तात्पर्य यह कि जर्मनी की, मदद माँगने में भी नहीं हिचकिचाएँगे! निस्सन्देह यह खुला और निर्लज्ज राजद्रोह था। इससे भी ज़्यादा मज़े की बात तो यह थी कि इंग्लैण्ड के अनुदार दल के नेताओं ने बग़ावत के इस आन्दोलन की सराहना की और बहुतों ने इसे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मदद दी। धनी अनुदार वर्ग की ओर से अल्स्टर में रुपया बरसने लगा। हथियार चोरी-छिपे आने लगे और स्वयंसेवकों को खुल्लमखुल्ला क़वायद सिखाई जाने लगी। अल्स्टर में एक कामचलाऊ सरकार भी बना दी गई, जो समय आने पर शासन की ज़िम्मेदारी संभाल ले।

इस तरह अल्स्टर हथियारों और स्वयंसेवकों के साथ बग़ावत की तैयारी करने लगा और सरकार चुपचाप देखती रही। इन तैयारियों के विरुद्ध कोई आर्डिनेन्स नहीं निकाले गये। कुछ समय बाद आयरलैण्ड के बाक़ी हिस्से ने अल्स्टर की नक़ल शुरू करदी, लेकिन होमरूल के पक्ष में, और ज़रूरत पड़ने पर अल्स्टर के विरुद्ध लड़ने के लिए "राष्ट्रीय स्वयंसेवकों" का संगठन शुरू कर दिया। इस तरह आयरलैण्ड में दो प्रतिद्वन्दी सेनाएँ तैयार हो गईं। विचित्र बात तो यह है कि जिन ब्रिटिश अधिकारियों ने अल्स्टर-विद्रोह के स्वयंसेवकों को सशस्त्र होते देखकर आँख मूंद ली थीं, वे ही राष्ट्रीय स्वयंसेवकों को दबाने में बहुत अधिक चैतन्य हो गये, हालाँकि ये लोग होमरूल बिल के विरुद्ध नहीं थे।

स्वयंसेवकों के इन दो संगठनों के बीच मुठभेड़ अनिवार्य मालूम होने लगी, और इसका अर्थ था गृह-युद्ध। उसी समय सन् १९१४ ई० के अगस्त में, एक बड़ा युद्ध, यानी पहला महायुद्ध, छिड़ गया और उसके सामने बाक़ी सब चीजें फीकी पड़ गईं। होमरूल का बिल क़ानून ज़रूर बन गया, लेकिन उसमें यह शर्त्त लगादी गई थी कि युद्ध के अन्त से पहले उसपर अमल नहीं किया जाय! इस तरह होमरूल पहले की तरह दूर की चीज़ बना रहा और युद्ध का अन्त होने के पहले आयरलैण्ड में बहुत-कुछ हो गया।

: ९४ :

इंग्लैण्ड का मिस्र पर क़ब्ज़ा

मिस्र की गणना प्राचीन राष्ट्रों में है और इसका इतिहास अन्य देशों के इतिहासों से पुराना है। इसके ज़माने छोटी-मोटी सदियों में नहीं, बल्कि हज़ारों वर्षों के हिसाब से गिने जाते हैं। अद्भुत और विस्मयकारक प्राचीन अवशेष इसके सुदूर अतीत की याद दिलाते हैं। पुरातत्व-सम्बन्धी खोजों के लिए मिस्र सबसे प्रथम और सबसे बड़ा क्षेत्र रहा है; और जैसे-जैसे बालू के नीचे से पत्थर, स्मारक तथा अन्य अवशेष खोदकर निकाले गये, उनसे बहुत दूर अतीत के उन दिनों की चित्ताकर्षक कहानी प्रगट होती है जबकि ये वस्तुएँ नई थीं। खुदाई और खोज का यह सिलसिला अभीतक जारी है और मिस्र के प्राचीन इतिहास में नई-नई बातें जोड़ता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाता है। फिर भी हम अभीतक यह नहीं कह सकते कि मिस्र का इतिहास कबसे और कैसे शुरू होता है। क़रीब सात हज़ार वर्ष पहले ही नील नदी की घाटी में सभ्य लोग रहा करते थे, जिनके पीछे सांस्कृतिक उन्नति का लम्बा इतिहास था। ये लोग अपनी चित्रलिपि में लिखा करते थे; वे मिट्टी के सुन्दर बर्तन और कलश और सोने तथा ताँबे के बर्तन और हाथीदाँत तथा सेलखड़ी की नक़्क़ाशीदार चीज़ें बनाते थे।

ईसा पूर्व छठी सदी में, यानी बुद्ध-काल के आस-पास, ईरानियों ने मिस्र को जीत लिया और इसे अपने विशाल साम्राज्य का एक प्रान्त बना दिया, जो नील नदी से सिन्ध नदी तक फैला हुआ था। ये लोग अकामनी वंश के बादशाह थे, जिनकी राजधानी परसीपोलिस थी। इन्होंने यूनान को भी अपने अधीन करने का प्रयत्न किया, पर असफल रहे और अन्त में सिकन्दर नें इन्हें हरा दिया। ईरानियों के कठोर शासन से मुक्त करनेवाले के रूप में मिस्रवालों ने सिकन्दर का स्वागत किया। सिकन्दरिया नगर के रूप में सिकन्दर यहाँ अपनी यादगार छोड़ गया, और यह नगर विद्या और यूनानी-संस्कृति का प्रसिद्ध केन्द्र बन गया।

सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य उसके सेनापतियों में बँट गया था और मिस्र बतलीमूसी[1] के हिस्से में आया था। बतलीमूसी लोग बहुत जल्द मिस्री-ढाँचे में ढल गये और ईरानियों के ढंग के विपरीत उन्होंने मिस्री दस्तूरों को अपना लिया। ये लोग मिस्रियों की तरह आचार-व्यवहार करने लगे और ऐसा मान लिया गया मानो वे फ़रऊनों की पुरानी वंश-परम्परा की ही कड़ी हैं। क्लियोपैट्रा बतलीमूसी-वंश की अन्तिम रानी थी। इसकी मृत्यु के बाद, ईसाई सन् शुरू होने के कुछ वर्ष पहले, मिस्र रोमन-साम्राज्य का एक प्रान्त हो गया।

मिस्र ने रोम से बहुत पहले ईसाई-धर्म ग्रहण कर लिया था। रोमनों ने इन मिस्री-ईसाइयों पर बहुत अत्याचार किया, जिससे इन्हें भागकर रेगिस्तान में छिपना पड़ा। रेगिस्तान में अनेक गुप्त मठ पैदा हो गये और इन मठों में रहनेवाले साधुओं द्वारा किये गये चमत्कारों की आश्चर्यजनक और रहस्यपूर्ण कहानियाँ उस ज़माने के ईसाई-जगत् में खूब प्रचलित थीं। बाद में जब सम्राट् कान्स्टेण्टाइन ने ईसाई-धर्म ग्रहण कर लिया, तब ईसाई-धर्म रोमन-साम्राज्य का राज्य-धर्म हो गया। तब इन मिस्री-ईसाइयों ने भी ग़ैर-ईसाइयों पर, यानी पुराने मिस्री धर्म के माननेवालों पर, क्रूरतापूर्ण अत्याचार करके बदला चुकाने की कोशिश की। सिकन्दरिया अब विद्या का एक मशहूर ईसाई केन्द्र हो गया, लेकिन राज्य-धर्म होने पर ईसाई-धर्म अनेक मत-मतान्तरों और दलों में बँट गया, जो आपस में झगड़ते रहते थे और प्रभुत्व के लिए लड़ते रहते थे। यह ख़ूनी कलह ऐसी जान को

---

[1] टालमी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वबाल बन गई कि आम लोग इन सारे ईसाई मत-मतान्तरों से पूरी तरह तंग आ गये। इसलिए सातवीं सदी में जब अरब लोग एक नया धर्म लेकर आये, तो जनता ने उनका स्वागत किया। मिस्र और उत्तरी अफ़रीका को अरब लोगों ने जो इतनी आसानी से फ़तह कर लिया, इसका एक कारण यह भी था। अब फिर ईसाइयों पर अत्याचार होने लगे और उनका बेरहमी से दमन होने लगा।

इस तरह मिस्र खलीफ़ा के साम्राज्य का एक प्रान्त बन गया। अरबी भाषा और अरबी-संस्कृति तेज़ी से फैल गई; यहाँतक कि पुरानी मिस्री भाषा का स्थान अरबी ने ले लिया। दो सौ वर्ष बाद, नवीं सदी में, जब बग़दाद की खिलाफ़त कमज़ोर हुई, तो मिस्र तुर्क-हाकिमों के अधीन एक अर्द्ध-स्वतन्त्र देश हो गया। तीन सौ वर्ष बाद क्रूसेड-युद्धों का मुस्लिम ीर सलादीन मिस्र का सुल्तान बन बैठा। सलादीन के कुछ-ही दिन बाद उसके एक उत्तराधिकारी ने काकेशस-क्षेत्र से बहुत-से तुर्क गुलाम लाकर उन्हें अपना सैनिक बनाया। ये गोरे गुलाम 'ममलूक' कहलाते थे। ममलूक का अर्थ है गुलाम। ये लोग फ़ौज के लिए बहुत सावधानी से चुने गये थे और बड़े सजीले जवान थे। कुछ-ही वर्षों के अन्दर ये ममलूक विद्रोह कर बैठे और इन्होंने अपने-ही एक आदमी को मिस्र का सुल्तान बना दिया। इस तरह मिस्र में ममलूकों का राज्य शुरू हुआ, जो ढाई सौ वर्ष रहा और अर्द्ध-स्वतन्त्र रूप में इसके बाद क़रीब तीन सौ वर्ष के और भी चला। इस तरह विदेशी गुलामों की इस जाति ने मिस्र पर पाँच सौ वर्ष से ज़्यादा राज किया। इतिहास में यह एक अद्वितीय और निराली घटना है।

सोलहवीं सदी के शुरू में क़ुस्तुन्तुनिया के तुर्की-उस्मानी सुल्तान ने मिस्र को फ़तह कर लिया और ममलूक सुल्तान को फाँसी पर लटका दिया। मिस्र उस्मानी साम्राज्य का एक प्रान्त बन गया। लेकिन ममलूक लोग फिर भी शासक रईस-वर्ग बने रहे। बाद में जब योरप में तुर्कों की ताक़त घट गई, तब कहने को तो मिस्र उस्मानी-साम्राज्य का हिस्सा बना रहा, लेकिन ममलूकों ने वहाँ खूब मनमानी की। अठारहवीं सदी के अन्त में जब नेपोलियन मिस्र पहुँचा, तो उसकी इन्हीं ममलूकों से मुठभेड़ हुई और उसने इन्हें पराजित किया।

अब हम उन्नीसवीं सदी तक आ गये। इस सदी के पूर्वार्द्ध में मिस्र पर मेहमत-अली का प्रभुत्त्व रहा। यह अल्बानियाई तुर्क था और मिस्र का गवर्नर बन गया था। ये तुर्क गवर्नर "खदीव" कहलाते थे। मेहमत अली आधुनिक मिस्र का संस्थापक माना जाता है। पहली बात तो उसने यह की कि ममलूकों को धोखे से तलवार के घाट उतारकर उनकी शक्ति का अन्त कर दिया। यह मिस्र में एक अंग्रेज़ी फ़ौज को भी हराकर इस देश का स्वामी बन बैठा और सिर्फ़ नाम-मात्र के लिए ही तुर्क-सुल्तान की सत्ता को स्वीकार करता रहा। इसने नई मिस्री फ़ौज तैयार की, जिसमें देशी किसानों की भरती की गई, ममलूकों की नहीं। इसने कई

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नहरें खुदवाईं और कपास की खेती को प्रोत्साहन दिया, जो भविष्य में मिस्र का मुख्य उद्योग हो गया। इसने यह धमकी भी दी थी कि वह क़ुस्तुन्तुनिया के नाम-मात्र के स्वामी को निकालकर उस नगर पर ही अधिकार कर लेगा। लेकिन उसने ऐसा किया नहीं और केवल शाम देश (सीरिया) को मिस्र में मिला लिया।

मेहमत अली सन् १८४९ ई० में अस्सी वर्ष की उम्र में मर गया। इसके उत्तराधिकारी पोच, फ़िज़ूलखर्च और निकम्मे आदमी थे। लेकिन अगर वे ऐसे न होकर अच्छे भी होते, तो भी उनके लिए अन्तर्राष्ट्रीय बौहरों के लालच और योरपीय साम्राज्यवाद की हविस का मुक़ाबला करना कठिन होता। विदेशियों ने, खासकर अंग्रेज़ और फ़्रान्सीसी बौहरों ने, खदीवों को ज्यादातर उनके निजी खर्च के लिए बेहद ऊँचे ब्याज पर रुपया उधार दिया और जब वक्त पर अदा न हो सका, तो जंगी जहाज़ उसे वसूल करने के लिए आ धमके!

इसी बीच स्वेज़ की नहर, जो जबरदस्ती बेगार लेकर और बड़े नृशंस तरीक़ों से बनवाई गई थी, सन् १८६९ ई० में खुल गई। (ईसा से १४०० वर्ष पूर्व, पुराने मिस्र के राजवंश के ज़माने में, इसी तरह की नहर लालसागर और भूमध्यसागर के बीच में थी!) इस नहर के खुल जाने से योरप, एशिया और आस्ट्रेलिया का सारा यातायात स्वेज़ से होकर गुज़रने लगा और इस कारण मिस्र का महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया। इंग्लैण्ड के लिए इस नहर पर और मिस्र पर प्रभुत्व रखना परम महत्त्व की चीज़ हो गया, क्योंकि भारत और पूर्वी देशों में उसका बहुत-ही गहरा स्वार्थ निहित था। सन् १८७५ ई० में इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री डिज़रायली ने दिवालिये खदीव के स्वेज़ नहर के हिस्सों को बहुत कम क़ीमत पर खरीदकर एक चालाकीपूर्ण राजनैतिक सौदेबाज़ी की। इन हिस्सों में पूंजी लगाना मुनाफ़े का कारोबार तो था ही, साथ-ही इसके फलस्वरूप ब्रिटिश-सरकार का नहर के ऊपर बहुत काफ़ी नियंत्रण हो गया। मिस्र के बचे हुए हिस्से फ्रान्सीसी बौहरों ने खरीद लिये, इसलिए मिस्र का नहर पर कुछ आर्थिक नियंत्रण बाक़ी नहीं रह गया।

यह अनिवार्य था कि ब्रिटिश-सरकार इस देश पर और ज्यादा काबू जमाने की कोशिश करती, और इसलिए सन् १८७९ ई० से इसने मिस्र के अन्दरूनी मामलों में बराबर दखल देना शुरू किया और अपने यहाँ के बौहरों के हाथ में अधिकार दे दिया। अनेक मिस्रियों का इसपर रोष करना स्वाभाविक था, और मिस्र को विदेशी हस्तक्षेप से मुक्त करने पर तुला हुआ एक राष्ट्रवादी दल पैदा होगया। इस दल का नेता एक नौजवान सैनिक अरबी पाशा था, जिसका जन्म एक ग़रीब मज़दूर परिवार में हुआ था और जो मिस्र की फ़ौज में मामूली सिपाही की तरह भरती हुआ था। धीरे-धीरे इसका प्रभाव बढ़ने लगा और यह मिस्र का युद्ध-मन्त्री हो गया। इस हैसियत से इसने फ़्रान्सीसी और ब्रिटिश अमलदारों के आदेश मानने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से इन्कार कर दिया। विदेशियों के तानाशाही हुक्म के आगे सिर न झुकाने का जवाब इंग्लैण्ड ने युद्ध से दिया और सन् १८८२ ई० में अंग्रेज़ी बेड़े ने सिकन्दरिया नगर पर गोलाबारी की और उसे जला दिया। इस तरह पश्चिमी सभ्यता की श्रेष्ठता घोषित करके और मिस्री सेनाओं को ख़ुश्की पर भी हराकर, अंग्रेज़ों ने अब मिस्र पर पूरा दख़ल जमा लिया।

इस तरह मिस्र पर ब्रिटिश-अधिकार की शुरुआत हुई।

मिस्र पर अंग्रेज़ों का यह अधिकार फ्रान्सीसियों को नहीं सुहाता था, क्योंकि इस लूट में उन्हें कोई हिस्सा नहीं मिला था। योरप की अन्य शक्तियाँ भी इसे पसन्द नहीं करती थीं, और यह कहने की तो ज़रूरत ही नहीं कि मिस्री लोग तो इसे बिल्कुल ही नहीं चाहते थे। ब्रिटिश-सरकार हरएक से यही कहती थी कि परेशानी की कोई बात नहीं—हम तो मिस्र में सिर्फ़ कुछ समय के लिए हैं और बहुत जल्द इस देश को छोड़कर चले जायँगे। ब्रिटिश-सरकार ने सरकारी तौर पर और बाक़ायदा बार-बार यह घोषणा की कि वे मिस्र को ख़ाली कर देंगे। यह गम्भीर घोषणा क़रीब पचास बार या इससे ज़्यादा बार की गई; यहाँतक कि इसकी गिनती याद रखना मुश्किल है। मगर फिर भी अंग्रेज़ लोग मिस्र में जमे रहे और अभीतक बने हुए हैं।[1]

सन् १९०४ ई० में अंग्रेज़ों ने झगड़े के बहुत-से मामलों में फ़्रान्सीसियों से समझौता कर लिया। अंग्रेज़ इस बात पर राज़ी हो गये कि फ्रान्सीसी लोग मोरक्को में जो-चाहें करें; इसके बदले में फ्रान्सीसी लोग मिस्र पर ब्रिटिश-आधिपत्य मानने के लिए राज़ी हो गये। लेन-देन का यह आपसी सौदा अच्छा हो गया, सिर्फ़ तुर्की से, जो अभीतक मिस्र का अधिपति माना जाता था, कोई सलाह नहीं ली गई; और मिस्र-निवासियों से तो पूछताछ करने का कोई सवाल ही नहीं था!

जब अगस्त, सन् १९१४ ई० में महायुद्ध शुरू हुआ, तब मिस्र की यही स्थिति थी। तीन महीने बाद इंग्लैण्ड, फ्रान्स और इनके मित्र-राष्ट्रों के विरुद्ध तुर्की जर्मनी से मिल गया। इसपर इंग्लैण्ड ने मिस्र को सचमुच ही ब्रिटिश-साम्राज्य में शामिल कर लेने का निश्चय कर लिया। लेकिन इसमें कुछ दिक़्क़तें पैदा हो गईं और इसके बजाय मिस्र पर इंग्लैण्ड की संरक्षता घोषित कर दी गई।

---

[1] अगस्त १९३६ में मिस्र की स्वाधीनता स्वीकार कर ली गई और स्वेज़-क्षेत्र के सिवाय अंग्रेज़ी फौजें वहां से बिल्कुल हटा ली गईं। सन् १९५५ में ब्रिटिश फौजों ने स्वेज़-क्षेत्र भी ख़ाली कर दिया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: ६५ :

"योरप का मरीज़" तुर्की

मिस्र से भूमध्यसागर पार करके तुर्की पहुँच जाना मानो एक छोटा और आसान क़दम है।

उन्नीसवीं सदी में योरप में उस्मानी-तुर्कों का साम्राज्य धीरे-धीरेटूटता चला गया। साम्राज्यों की दृष्टि से उस्मानी-साम्राज्य काफ़ी दिनों तक क़ायम रहा। एशिया-कोचक में बहुत दिन बना रहने के बाद सन् १३६१ ई० में इसकी बुनियाद योरप में पड़ी। हालाँकि क़ुस्तुन्तुनिया सन् १४५३ ई० तक तुर्कों के हाथ में नहीं आया, लेकिन आस-पास का सारा प्रदेश इसके बहुत पहले ही उनके अधीन हो गया था। पश्चिमी एशिया में तैमूर के अचानक भड़ाके ने, और सन् १४०२ ई० में उसके हाथों अंगोरा में तुर्क सुल्तान की बुरी तरह पराजय ने, क़ुस्तुन्तुनिया को कुछ दिनों के लिए तुर्कों से बचा दिया। लेकिन तुर्क फिर बहुत जल्दी ज़ोर पकड़ गये।

कई सौ वर्षों तक उस्मानी-सुल्तानों की मज़बूती "जाँनिसारियों" के कारण रही। यह तुर्क-सिपाहियों की एक फ़ौजी टुकड़ी थी, जिसमें ईसाई ग़ुलाम भरती किये जाते थे और उन्हें लड़कपन से ही बहुत सावधानी के साथ तालीम दी जाती थी। इन जाँनिसारियों से हमें मिस्र के ममलूकों की याद आ जाती है—लेकिन इन दोनों में फ़र्क था। यद्यपि ये लोग तुर्क-सेना के रत्न थे, लेकिन मिस्र के ममलूकों की तरह कभी शासन-अधिकारी नहीं हुए। ममलूकों की तरह इनकी कोई पुश्तैनी जाति भी नहीं बनी। ये लोग ग़ुलाम तो थे, लेकिन कृपा-भाजन समझे जाते थे, और इन्हें ऊँची जगहें और ऊँचे पद खासतौर पर दिये जाते थे। परन्तु इनके पुत्र आज़ाद मुसलमान बन गये और बहुत समय तक वे इस कृपा-भाजन सेना में नहीं रह सके, क्योंकि यह ग़ुलामों ही के लिए थी। इसमें केवल नये गोरे ईसाई ग़ुलाम ही भरती किये जाते थे। मुसलमान प्रजा के बच्चों को छीन लेना और उनको अपने माता-पिता से बिल्कुल अलग कर देना, या ग़ुलाम बना लेना, शायद आसान नहीं था। इसलिए ये लोग छोटे-छोटे ईसाई लड़कों को पकड़ लेते थे और उन्हें सुल्तान के महल के ग़ुलामों में भरती करके बिल्कुल पूर्णता के साथ तालीम देते थे। अलबत्ता ये छोटे लड़के बड़े होकर मुसलमान हो जाते थे।

तुर्की का पिछले दो सौ वर्षों का इतिहास निरन्तर बढ़े चले आनेवाले रूसियों के विरुद्ध और अधीन क़ौमों के विद्रोहों के विरुद्ध लड़ाइयों का इतिहास है। यूनान, रूमानिया, सर्बिया, बल्गारिया, माण्टेनिग्रो, बोसनिया, ये सब बलकानी देश थे और उस्मानी-साम्राज्य के अंग थे। इंग्लैण्ड, फ्रान्स और रूस की मदद से सन् १८२९

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ई० में यूनान उस्मानी-साम्राज्य से अलग हो गया। रूस स्लाव जाति का देश है, और बलकान में बल्गारिया और सर्बिया भी इसी जाति के हैं। ज़ारशाही रूस ने यह दिखाना चाहा कि वह इन बलकानी स्लावों का रक्षक और हिमायती है। लेकिन रूस का असली प्रलोभन क़ुस्तुन्तुनिया था, और उसकी कूटनीति का सारा लक्ष्य यही था कि अन्त में साम्राज्य की यह पुरानी राजधानी क़ब्ज़े में आ जाय, क्योंकि ज़ार अपने को बाईज़ैण्टाइन-सम्राटों का उत्तराधिकारी समझता था। सन् १७३० ई० में रूसी-तुर्की युद्धों का सिलसिला शुरू हुआ और ये युद्ध बीच-बीच में कुछ दिनों की शान्ति के अलावा, सन् १७६८, १७९२, १८०७, १८२८, १८५३, १८७७ ई० में और अन्त में १९१४ ई० में होते रहे। सन् १७७४ ई० में रूस ने तुर्की से क्रीमिया छीन लिया और वह काले सागर तक जा पहुँचा। लेकिन इससे कोई ज़्यादा फ़ायदा नहीं हुआ, क्योंकि काला सागर तो बोतल की तरह बन्द है, जिसके मुँह पर क़ुस्तुन्तुनिया की डाट लगी है। सन् १७९२ और १८०७ ई० में रूसी सीमान्त क़ुस्तुन्तुनिया की तरफ बढ़ता गया और तुर्की सीमान्त पीछे हटता गया। जब यूनान का स्वाधीनता-युद्ध चल रहा था और तुर्क लोग इधर फँसे हुए थे, तब ज़ार ने उनपर हमला करके इस स्थिति से लाभ उठाना चाहा। अगर इंग्लैण्ड और आस्ट्रिया बीच में न पड़ जाते, तो ज़ार ने क़ुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा कर लिया होता।

बेचारे तुर्की की बुरी हालत थी। इसके ये शक्तिशाली पड़ोसी इसी इन्तज़ार में थे कि तुर्की को कुछ हो जाय कि ये उसपर टूट पड़ें और उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालें। सन् १८५३ ई० में तुर्की का ज़िक्र करते हुए रूस के ज़ार ने ब्रिटिश राजदूत से कहा था—"हमारे हाथ में एक मरीज़ है—वह बहुत ज्यादा बीमार है।...... वह किसी भी समय अचानक हमारी गोद में मर सकता है।' यह फ़िक़रा मशहूर हो गया और तुर्की तबसे "योरप का मरीज़" कहा जाने लगा।

उसी साल, सन् १८५३ ई० में, ज़ार ने इसका सफ़ाया करने की दूसरी कोशिश की। इसके फलस्वरूप क्रीमिया का युद्ध हुआ जिसमें इंग्लैण्ड और फ्रान्स ने रूस को रोक दिया। इक्कीस वर्ष बाद, सन् १८७७ ई० में, ज़ार ने फिर तुर्की पर हमला किया और उसे हरा दिया, लेकिन फिर विदेशी हस्तक्षेप की वजह से तुर्की किसी हद तक बच गया—कम-से-कम क़ुस्तुन्तुनिया रूस के हाथ नहीं आया। तुर्की के भाग्य का निपटारा करने के लिए सन् १८७८ ई० में बर्लिन में एक मशहूर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इसमें बिस्मार्क शामिल था और डिज़रायली भी, और योरप के कितने ही प्रमुख राजनीतिज्ञ भी। इन लोगों ने एक-दूसरे को धमकियाँ दीं और एक-दूसरे के विरुद्ध साज़िशें कीं। इंग्लैण्ड तो रूस से युद्ध छेड़ने-ही-वाला मालूम होता था कि रूस ने घुटने टेक दिये। बर्लिन की सन्धि के फलस्वरूप बल्गारिया, सर्बिया, रूमानिया और माण्टेनिग्रो के बलकानी देश स्वाधीन हो गये। आस्ट्रिया ने बोसीना और हरज़ीगोविना पर क़ब्ज़ा कर लिया (कहने को ये तुर्की की सत्ता के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ही अधीन रहे)। और कुछ हद तक तुर्की का साथ देने के बदले में ब्रिटेन ने साइप्रस का टापू उससे कमीशन के तौर पर ले लिया

दूसरा रूसी-तुर्की युद्ध छत्तीस वर्ष बाद, सन् १९१४ ई० में, महायुद्ध के सिलसिले में हुआ।

इस बीच तुर्की में बहुत परिवर्तन हो रहे थे। सन् १७७४ ई० में रूस के हाथों पूरी पराजय से तुर्कों को पहला धक्का लगा और वे महसूस करने लगे कि बाक़ी का योरप उनसे आगे निकला जा रहा हैं। सैनिक राष्ट्र होने के नाते सबसे पहले इनका ध्यान फ़ौज को आधुनिक ढंग पर लाने की तरफ़ गया। कुछ हद तक यह काम हुआ, और सेना के नये अफसरों के ज़रिये ही तुर्की में पश्चिमी विचार घुस आये। सन् १८५३–५६ ई० के क्रीमियाई युद्ध के बाद तुर्की को पश्चिमी साँचे में ढालने का वास्तविक प्रयत्न किया गया। संवैधानिक ढंग की सरकार के लिए आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा (जिसका उद्देश्य यह था कि सुल्तान के निरंकुश शासन के बजाय लोकतन्त्री विधान सभा बने)। इस आन्दोलन का नेता मिदहत पाशा था। सन् १८-७६ ई० में क़ुस्तुन्तुनिया में संविधान की माँग के लिए दगे हुए, और सुल्तान ने इसे स्वीकार कर लिया। लेकिन तुरन्त-ही उसने उसे मंसूख कर दिया, क्योंकि बल्गारिया में विद्रोह हो गया और रूसियों के साथ युद्ध छिड़ गया।

बीसवीं सदी की शुरुआत में संविधान की माँग ने फिर ज़ोर पकड़ा। पहले की तरह सैनिक अफ़सरों का ही एक संगठित वर्ग था और इन्हींके अन्दर "नौजवान तुर्की दल" नामक नया दल तेज़ी से बढ़ा। "एकता और उन्नति" की गुप्त सभाएँ बनने लगीं और जब इन्होंने फ़ौज का बहुत ज़्यादा हिस्सा अपनी तरफ़ मिला लिया, तब सन् १९०८ ई० में सुल्तान को इस बात के लिए मजबूर कर दिया कि वह सन् १८७६ ई० का पुराना संविधान फिर जारी करे। बड़ी खुशियाँ मनाई गईं। तुर्क, आरमीनियाई और अन्य लोग, जो अभीतक एक-दूसरे का गला काटते थे, आपस में गले मिले और उन्होंने इस नये युग के उदय पर ख़ुशी के आँसू बहाये, जिसमें सबको बराबर माना जानेवाला था और पराधीन जातियों को पूरे अधिकार दिये जानेवाले थे। इस रक्तहीन क्रान्ति का मुख्य नायक, खूबसूरत और अभिमानी, लेकिन दिलेर और साहसी, अनवर बे था। मुस्तफा कमाल भी, जो आगे चलकर तुर्की का उद्धारक हुआ, एक प्रमुख नौजवान तुर्की नेता था; लेकिन अनवर बे के मुक़ाबले में यह पीछे था और ये दोनों एक-दूसरे को पसन्द भी नहीं करते थे।

नौजवान तुर्कों को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सुल्तान इन लोगों को परेशान करता रहता था। अन्त में रक्तपात हुआ ही, और सुल्तान गद्दी से उतार दिया गया और उसकी जगह दूसरा बैठाया गया। आर्थिक कठिनाइयाँ सामने आईं और विदेशी शक्तियों से भी झगड़े हुए। आस्ट्रिया ने तुर्की में फैली हुई इस गड़बड़ी से फ़ायदा उठाकर बोसीना और हरज़ीगोविना को अपने साम्राज्य में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मिलाने की घोषणा कर दी (इन प्रदेशों पर उसने बर्लिन की सन्धि के बाद सन् १८७८ ई० में क़ब्ज़ा किया था)। इटली ने उत्तरी अफ़रीका में ट्रिपोली पर जबरदस्ती क़ब्ज़ा कर लिया और युद्ध की घोषणा कर दी। तुर्क लोग कुछ कर-धर नहीं सके, क्योंकि इनके पास अच्छी जल-सेना नहीं थी और इसलिए उन्हें इटली की माँगें मंजूर करनी पड़ीं। यह होने की देर थी कि घर के पास ही एक और खतरा आ खड़ा हुआ। बल्गारिया, सर्बिया, यूनान और माण्टेनिग्रो, जो तुर्की को योरप से निकालने के लिए और लूट में हिस्सा बँटाने के लिए उत्सुक थे, अनुकूल अवसर देखकर संगठित हो गये और बलकान लीग बनाकर अक्तूबर सन् १९१२ ई० में तुर्की पर टूट पड़े। तुर्की पस्त और असंगठित था ही, और वहाँ संविधानवादियों तथा प्रतिगामियों के बीच सत्ता के लिए झगड़ा चल रहा था। बलकान लीग के सामने तुर्की बिल्कुल चारों खाने चित्त हो गया और इसे बहुत भारी नुक़सान उठाना पड़ा। इस तरह पहला बलकान-युद्ध कुछ-ही महीनों में खतम हो गया और तुर्की योरप से क़रीब-क़रीब पूरी तरह निकाल दिया गया--सिर्फ़ क़ुस्तुनतुनिया उसके पास रह गया। तुर्की का सबसे पुराना योरपीय शहर एड्रियानोपुल भी उसकी मर्ज़ी के खिलाफ़ उससे छीन लिया गया।

मगर बहुत शीघ्र लूट के बँटवारे पर विजेता देश आपस में लड़ पड़े और बल्गारिया ने अपने पुराने साथियों पर अचानक और दगाबाज़ी से हमला कर दिया। खूब आपसी मारकाट हुई, और गड़बड़ी से फ़ायदा उठाने के लिए रूमानिया, जो अभीतक अलग था, इसमें शामिल हो गया। नतीजा यह हुआ कि बल्गारिया ने जो-कुछ जीता था, खो दिया, और रूमानिया, यूनान और सर्बिया ने अपने राज्य-क्षेत्र बढ़ा लिये। तुर्की को भी एड्रियानोपुल वापस मिल गया।

इस तरह बलकान-युद्धों के बाद तुर्की बिल्कुल पस्त हो गया और योरप में उसे सिर्फ़ पैर रखने भर की जगह बाक़ी रह गई। उसके साम्राज्य का बाक़ी हिस्सा भी टूटता जा रहा था। मिस्र अलबत्ता नाममात्र के लिए उसका था--उसपर असली क़ब्ज़ा ब्रिटेन का था, जो उससे फ़ायदा उठा रहा था। लेकिन अन्य अरब देशों में भी राष्ट्रीय आन्दोलन के चिह्न प्रगट हो रहे थे। ऐसी स्थिति में तुर्की का हिम्मत हारना और उसकी आँखें खुल जाना आश्चर्य की बात नहीं थी। सन् १९०८ ई० के उसके सारे बड़े-बड़े मनसूबे मानो मिट्टी में मिल गये। उसी समय जर्मनी इसके साथ कुछ सहानुभूति दिखलाता मालूम हुआ। जर्मनी की निगाह पूरब की तरफ़ थी और वह सारे मध्य-पूर्व में अपने प्रभाव के सपने देख रहा था। तुर्की भी जर्मनी की तरफ़ मुड़ा और दोनों के सम्पर्क बढ़ने लगे। दूसरा बलकान-युद्ध समाप्त होने के साल-भर बाद, सन् १९१४ ई० में, जब महायुद्ध शुरू हुआ, तब यह स्थिति थी। तुर्की के भाग्य में आराम नहीं था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: ९६ :

ज़ारों का रूस : १९०५ की क्रान्ति

रूस आज सोवियत देश है और इसके शासन की बागडोर किसानों और मज़दूरों के प्रतिनिधियों के हाथों में है। कुछ बातों में यह दुनिया का सबसे प्रगतिशील देश है। वास्तविक परिस्थितियाँ कुछ भी हों, यहाँ के शासन और समाज का सारा ढाँचा सामाजिक समता के सिद्धान्त पर खड़ा है।

यह आजकल की बात है। लेकिन कुछ साल पहले, और सारी उन्नीसवीं सदी भर तथा उसके पहले, रूस योरप का सबसे ज़्यादा पिछड़ा हुआ औस सबसे प्रतिगामी देश था। यहाँ निरंकुशता और तानाशाही अपने विशुद्ध रूप में फूल-फल रही थी।

ज़ारशाही रूस ने हरएक सिर उठानेवाले को मार गिराया और आज़ादी के हर प्रयत्न को कुचल दिया। यहाँतक कि यात्राओं को भी मुश्किल बना दिया गया था, ताकि बाहर से उदार विचार न आने पावें। लेकिन आज़ादी का दमन किया जाता है तो वह सूद-दर-सूद जोड़ लेती है, और जब वह आगे बढ़ती है तो उसकी प्रगति छलाँगों में होती है, जिससे पुरानी गाड़ी उलट जाती है।

हमने एशिया और योरप के विभिन्न भागों की, यानी सुदूर-पूर्व, मध्य-एशिया, ईरान और तुर्की में ज़ारशाही रूस की नीतियों और प्रवृत्तियों की कुछ झलक देखी है। अब हमें इस तस्वीर को जरा पूरा करना चाहिए और इन विभिन्न प्रवृत्तियों को मुख्य-विषय के साथ जोड़ना चाहिए।

मैंने बताया है कि चंगेज़ खाँ का छोड़ा हुआ पुराना मंगोल-साम्राज्य किस तरह छिन्न-भिन्न हो गया और मास्को के राजकुमार के ने ृत्व में रूसी राजवंशियों ने सुनहरे कबीले के मंगोलों को आखिर रूस से किस तरह निकाल बाहर किया। यह सब चौदहवीं सदी के अन्त में हुआ। धीरे-धीरे मास्को के राजकुमार सारे देश के निरंकुश शासक बन बैठे और अपने को ज़ार (सीज़र) कहने लगे। इनका दृष्टि-कोण और इनके दस्तूर ज़्यादातर मंगोली ही बने रहे और पश्चिमी योरप में तथा इनमें समानता की कोई चीज़ नहीं थी। पश्चिमी योरप तो रूस को जंगली समझता था। सन् १६८९ ई० में ज़ार पीटर, जिसे पीटर महान् कहा जाता है, गद्दी पर बैठा। इसने रूस का रुख़ पश्चिम की ओर फेरने का निश्चय किया और योरपीय देशों की परिस्थितियों का अध्ययन करने के लिए वहाँ का लम्बा दौरा किया। जो-कुछ उसने देखा, उसमें से बहुत-सी बातों की उसने नक़ल की और अपने यहाँ के नाख़ुश और जाहिल अमीर-वर्ग पर पश्चिमीकरण के अपने विचार लाद दिये। जनता तो बहुत पिछड़ी और दबी हुई थी ही, इसलिए पीटर के सामने इस बात का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कोई सवाल ही नहीं था कि उसके सुधारों के बारे में लोगों के क्या विचार हैं। पीटर ने देखा कि उसके ज़माने के बड़े राष्ट्रों की समुद्री ताक़त बहुत बढ़ी-चढ़ी है और उसने समुद्री शक्ति का महत्त्व समझा। लेकिन इतना विशाल होने पर भी रूस के पास उस समय कोई समुद्री द्वार नहीं था, सिवाय आर्कटिक समुद्र के, जो क़रीब-क़रीब बेकार था। इसलिए पीटर उत्तर-पश्चिम में बाल्टिक की ओर, और दक्षिण में क्रीमिया की ओर बढ़ा। वह क्रीमिया तक नहीं पहुँच सका (उसके उत्तराधिकारी इसमें सफल हुए), पर वह स्वीडन को हराकर बाल्टिक तक ज़रूर पहुँच गया। बाल्टिक समुद्र से मिलनेवाली फिनलैण्ड की खाड़ी के तट के पास, निवा नदी के किनारे, उसने सेण्ट पीटर्सबर्ग नामक नया पश्चिमी ढंग का नगर स्थापित किया। इसे उसने अपनी राजधानी बनाया और इस तरह उन पुरानी परम्पराओं को तोड़ने का प्रयत्न किया जो मास्को के साथ चिपकी हुई थीं। सन् १७२५ ई० में पीटर की मृत्यु हो गई।

इसके पचास-साठ वर्ष बाद, सन् १७८२ ई० में, रूस के एक दूसरे शासक ने इस देश को पश्चिमी ढंग का बनाना चाहा। यह कैथरीन द्वितीय नामक महिला थी। यह भी 'महान्' कहलाती है। यह असाधारण स्त्री थी जो दृढ़, निर्दय और योग्य थी, पर जिसके व्यक्तिगत जीवन के बारे में बहुत गन्दी बातें मशहूर थीं। अपने पति ज़ार को हत्या द्वारा ठिकाने लगाकर यह समस्त रूस की स्वेच्छाचारी रानी बन बैठी और इसने चौदह वर्ष राज किया। इसने कुछ हद तक फ्रान्सीसी दरबार की नक़ल की और कुछ शिक्षा-सम्बन्धी सुधार भी किये। लेकिन ये सब बातें खाली ऊपर-ऊपर और दिखावे की थीं। संस्कृति की नक़ल एकदम से नहीं की जा सकती—उसकी जड़ तो जमते-जमते जमती है। पश्चिमी योरप की संस्कृति कुछ परिस्थितियों पर निर्भर थी। पीटर और कैथरीन ने ये परिस्थितियाँ पैदा करने की तो कोशिश की नहीं। नतीजा यह हुआ कि इन परिवर्तनों का बोझ जनता पर पड़ गया और किसानों की ग़ुलामी तथा ज़ार की निरंकुश सत्ता और भी मज़बूत हो गई।

क्रीमियाई-युद्ध में पराजय के बाद रूस में कुछ सुधार किये गये और १८६१ में किसानों की गुलामी (सर्फ़-प्रथा) का अन्त हुआ। किसानों के लिए यह बहुत बड़ी चीज़ थी, लेकिन इससे उन्हें कुछ अधिक राहत नहीं मिली, क्योंकि मुक्त ग़ुलाम-किसानों को उनके गुजारे लायक जमीनें नहीं दी गई थीं। इसी बीच बुद्धिजीवी लोगों में क्रान्ति के विचारों का फैलना और जार की सरकार द्वारा उनका दमन, साथ-साथ चल रहे थे। इन आगे बढ़े हुए बुद्धिजीवियों तथा किसान-वर्ग के बीच न तो कोई जोड़नेवाली कड़ी थी और न कोई ऐसी जगह, जहाँ दोनों मिल सकते। इसलिए सन् १८७० ई० के क़रीब समाजवादी झुकाववाले विद्यार्थियों ने (इनके विचार बिल्कुल अस्पष्ट और आदर्शवादी थे), यह निश्चय किया कि अपना प्रचार किसान-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वर्ग तक पहुँचाया जाय, और हज़ारों विद्यार्थी गाँवों में फैल गये। किसान लोग इन विद्यार्थियों को नहीं जानते थे। वे इनपर अविश्वास करते थे और शंका करते थे कि यह शायद किसानों की ग़ुलामी को फिर क़ायम करने का षड्यन्त्र है। इसलिए इन किसानों ने इन विद्यार्थियों में से बहुतों को, जो अपनी जान पर खेलकर आये थे, गिरफ्तार करके ज़ार की पुलिस के-ही हवाले कर दिया! जनता से सम्पर्क में आये बिना कोरी हवा में काम करने की कोशिश का यह एक अद्भुत उदाहरण है।

किसान-वर्ग के साथ सफलता के इस नितान्त अभाव ने इन विद्यार्थी-बुद्धिजीवियों को बड़ा सदमा पहुँचाया और तंग आकर तथा हताश होकर इन लोगों ने "आतंकवाद" की नीति का आश्रय लिया, यानी बम फेंकना और अधिकारियों को अन्य प्रकार से मारने की कोशिश करना। यहीं से रूस में आतंकवाद और 'बमपन्थ की शुरुआत हुई और इसीके साथ वि· वी प्रवृत्तियों ने एक नया रूप ले लिया। यह आतंकवाद, जिसे "निहलिज़्म" कहते थे, बढ़ने लगा, और, जैसाकि होना ही था, इसका मुक़ाबला ख़ूनी दमन से किया गया। राजनैतिक क़ैदियों का लम्बा ताँता साइबेरिया के मैदानों में पैदल घिसटने लगा और कितने-ही फाँसी पर चढ़ा दिये गये।

सन् १८८० ई० के लगभग एक नौजवान, जो बाद में सारी दुनिया में लेनिन के नाम से मशहूर हुआ, स्कूल का विद्यार्थी होते हुए भी क्रान्तिकारी कार्रवाइयों में हिस्सा लेता था। सन् १८८७ ई० में, जब उसकी उम्र सत्रह वर्ष की थी, उसे बड़ा भयंकर सदमा पहुँचा था। उसका बड़ा भाई अलेग्ज़ेण्डर, जिससे वह बहुत प्रेम करता था, आतंकवादी तरीक़े से ज़ार की हत्या की कोशिश में भाग लेने के कारण फाँसी पर लटका दिया गया। इतना बड़ा सदमा पहुँचने पर भी लेनिन ने कहा था कि आतंकवादी तरीक़ों से स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती; वह तो जनता की सामूहिक कार्रवाई से ही मिलेगी। बड़ी मजबूती और लगन के साथ यह नवयुवक अपनी पढ़ाई में लगा रहा; स्कूल की आख़िरी परीक्षा में बैठा और शान के साथ पास हुआ। तीस बरस बाद होनेवाली क्रान्ति का नेता और जन्मदाता ऐसी ही मिट्टी का बना हुआ था।

रूसी मार्क्सवादियों को, यानी समाजवादी लोकतान्त्रिक मज़दूर दल[1] को, सन् १९०३ ई० में एक संकट का सामना करना पड़ा। इस समय उन्हें एक ऐसे प्रश्न को सोचना और हल करना पड़ा जिसका हर ऐसे दल को, कभी-न-कभी मुक़ाबला करना और हल सोचना पड़ता है, जो कुछ सिद्धान्तों और निश्चित आदर्शों की बुनियाद पर क़ायम हो। सवाल यह था कि क्या वे अपने सिद्धान्तों पर पूरी तरह जमे रहें और श्रमिक-वर्ग की क्रान्ति की तैयारी करें, या तत्कालीन परिस्थिति के साथ कुछ

[1] सोशल डेमोक्रेटिक लेबर पार्टी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समझौता कर लें और फिर भावी क्रान्ति के लिए मैदान तैयार करें? यह सवाल पश्चिमी योरप के सब देशों में उठा था और इसके कारण हर जगह समाजवादी लोकतान्त्रिक अथवा अन्य ऐसे-ही दल कमती-बढ़ती कमज़ोर पड़ गये थे और उनमें अन्दरूनी झगड़े पैदा हो गये थे। जर्मनी में मार्क्सवादियों ने बहादुरी के साथ पूरी रोटी के क्रान्तिकारी सिद्धान्त की घोषणा कर दी थी, लेकिन व्यवहार में वे मुलायम पड़ गये और उनका रुख नर्म हो गया। फ्रान्स में कितने-ही प्रमुख समाजवादी अपने दलों को धता वताकर मन्त्रिमण्डल में मन्त्री बन गये। इटली, बेल्जियम और दूसरी जगहों में भी यही हुआ। इंग्लैण्ड में मार्क्सवाद कमज़ोर था और वहाँ यह सवाल उठा ही नहीं, पर वहाँ भी मज़दूर दल का एक सदस्य मन्त्री बन गया।

रूस की स्थिति भिन्न थी,क्योंकि वहाँ पार्लमेण्टरी कार्रवाईके लिए कोई गुंजाइश नहीं थी। वहाँ पार्लमेण्ट ही न थी। इतने पर भी वहाँ ज़ारशाही के विरुद्ध संघर्ष के "ग़ैर-क़ानूनी" कहे जानेवाले तरीक़ों को छोड़ दिये जाने की और कुछ समय तक चुपचाप सिद्धान्तों का प्रचार चालू रखे जाने की सम्भावना थी। लेकिन इस विषय में लेनिन के विचार स्पष्ट और निश्चित थे। वह किसी तरह की कमज़ोरी के लिए या समझौते के लिए तैयार नहीं था, क्योंकि उसे डर था कि ऐसा करने से उनके दल में अवसरवादी लोग धड़ा-धड़ आ घुसेंगे। वह पश्चिमी समाजवादी दलों द्वारा अपनाये गये तरीक़ों को देख चुका था और उनसे प्रभावित नहीं हुआ था। लेनिन ने इस बात की परवाह नहीं की कि उसके साथ कितने लोग हैं,बल्किएक बार तो उसने यहाँतक धमकी दी थी कि वह अकेला-ही लड़ेगा। लेकिन उसका आग्रह यह था कि दल में वे ही लोग लिये जायँ, जो पूरा साथ देनेवाले हों, जो क्रान्ति के लिए सब-कुछ न्यौछावर करने को तैयार हों, और जिन्हें जनता की वाह-वाही की भी परवाह न हो। वह क्रान्ति के विशेषज्ञों का एक संगठन तैयार करना चाहता था, जो आन्दोलन को कुशलता से आगे बढ़ा सके। मात्र सहानुभूति रखनेवालों और खुशहाली के दोस्तों की उसे ज़रूरत नहीं थी।

यह ढंग अपनाना कठिन था और वहुत लोग इसे नादानी समझते थे। बहरहाल कुल मिलाकर जीत लेनिन के हाथ रही। समाजवादी लोकतान्त्रिक दल के दो टुकड़े हो गये और 'बोल्शेविकी' तथा 'मेन्शेविकी' ये दो नये नाम पैदा हो गये जो तबसे मशहूर हो गये हैं। कुछ लोगों के लिए आजकल 'बोल्शेविक' शब्द बड़ा भयंकर हो गया है, लेकिन इसका अर्थ केवल बहुमत है। 'मेन्शेविक' का अर्थ अल्पमत है। सन् १९०३ ई० की इस फूट के बाद समाजवादी लोकतान्त्रिक दल में लेनिन के साथियों का बहुमत था, इसलिए यह बोल्शेविक, यानी बहुमत-दल कहलाया। यह बात याद रखने की है कि त्रात्स्की, जिसकी उम्र उस समय चौबीस वर्ष की थी, और जो सन् १९१७ ई० की क्रान्ति में लेनिन का दाहिना हाथ बननेवाला था, मेन्शेविकों की तरफ़ था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ये चर्चाएँ और वाद-विवाद रूस सें बहुत दूर लन्दन में होते थे। बैठक लन्दन में इसलिए करनी पड़ती थी कि ज़ारशाही रूस में उसके लिए स्थान नहीं था और उसके अधिकतर सदस्य निर्वासित थे या साइबेरिया से भागे हुए क़ैदी थे।

इसी बीच खुद रूस में ही आग सुलग रही थी। राजनैतिक हड़तालें इसकी प्रतीक थीं। मज़दूरों की राजनैतिक हड़ताल का अर्थ है वह हड़ताल जो आर्थिक लाभ के वास्ते, जैसे मजदूरी बढ़ाने के लिए नहीं, बल्कि सरकार की किसी राजनैतिक कार्रवाई का विरोध करने के लिए की गई हो। दक्षिण रूस में सन् १९०३ ई० में ही अनेक राजनैतिक हड़तालें अपने-आप हो गई थीं। यह जन-आन्दोलन बहुत बड़े पैमाने पर हुआ, परन्तु नेताओं के अभाव में शिथिल पड़ गया।

अगले साल सुदूर पूर्व में गड़बड़ी मची। उत्तरी एशिया के मैदानों में होकर ठेठ प्रशान्त महासागर तक साइबेरियन रेलवे के लम्बे रेल-मार्ग के निर्माण का, सन् १८९४ ई० के बाद से जापान के साथ मुठभेड़ों का, और सन् १९०४-५ ई० के रूसी-जापानी युद्ध का, मैं, ज़िक्र कर चुका हूँ। मैंने तुम्हें "खूनी रविवार" के बारे में भी बताया है, जो २२ जनवरी सन् १९०५ ई० को हुआ था, जबकि ज़ार की फ़ौज ने एक शान्त प्रदर्शन पर गोलियाँ चलाई थीं। ये प्रदर्शनकारी एक पादरी के नेतृत्व में "नन्हें पिता" ज़ार के पास रोटी माँगने गये थे। इससे सारे देश में नफ़रत की लहर फैल गई और अनेक राजनैतिक हड़तालें हुईं। सबसे आखीर में सारे रूस में व्यापक हड़ताल हो गई। नये ढंग की मार्क्सवादी क्रान्ति शुरू हो गई थी।

जिन श्रमिकों ने हड़तालें की थीं, खासकर पीटर्सबर्ग और मास्को जैसे बड़े केन्द्रों में, उन्होंने हरएक ऐसे केन्द्र में "सोवियत" नाम का नया संगठन बनाया। शुरू-शुरू में तो यह व्यापक हड़ताल का संचालन करनेवाली समिति मात्र थी। त्रात्स्की पीटर्सबर्ग की सोवियत का नेता बन गया। ज़ार की सरकार बिल्कुल हकबका गई और कुछ हद तक झुक भी गई और उसने संवैधानिक विधान सभा और लोकतन्त्री मताधिकार देने का वादा किया। ऐसा जान पड़ा मानों निरंकुशता का गढ़ टूट गया हो। किसानों के पिछले विद्रोह जिसमें असफल रहे, आतंकवादी अपने बम से जिसमें सफल नहीं हुए, संविधानवादी उदार विचारोंवाले नरम-दली लोग अपनी नपी-तुली दलीलों से जो नहीं कर सके, मज़दूरों ने वह अपनी व्यापक हड़ताल से करके दिखा दिया। ज़ारशाही को अपने इतिहास में पहली बार जनता के सामने सिर झुकाना पड़ा।

ज़ार ने एक संवैधानिक विधान सभा—'दूमा'—देने का वादा किया था। 'दूमा' का अर्थ है विचार करने की जगह—पार्लमेण्ट की तरह कोरी बातें बनाने की जगह नहीं (फ्रान्सीसी भाषा के 'पार्ले' से यह शब्द बना है)। इस वादे से मद्धिम नरम-दली लोगों का जोश ठण्डा पड़ गया। वे सन्तुष्ट हो गये। नरम दली हमेशा आसानी से सन्तुष्ट हो जाया करते हैं। ज़मीदार लोग क्रान्ति से डरकर कुछ सुधारों पर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राज़ी हो गये, जिससे खुशहाल किसानों को फ़ायदा पहुँचा। इसके बाद ज़ार की सरकार ने असली क्रान्तिकारियों का मुक़ाबला किया और उनकी कमज़ोरी समझकर उससे पूरा फ़ायदा उठाया। एक तरफ़ भूखे मज़दूर थे, जिन्हें राजनैतिक संविधानों में इतनी दिलचस्पी नहीं थी, जितनी कि रोटी और ज्यादा मज़दूरी में थी, और अधिक ग़रीब किसान थे, जो "हमें ज़मीन दो" का ख़तरनाक नारा उठा रहे थे। दूसरी तरफ़ क्रान्तिकारी लोग थे, जो मुख्यतया राजनैतिक पहलू को देखते थे और पश्चिमी योरपीय नमूने की पार्लामेण्ट पाने की आशा रखते थे और जनता की भावनाओं और असली माँगों के बारे में कुछ नहीं सोचते थे। बहुत-से ऊँचे दर्जे के कारीगर-मज़दूर, जो ट्रेड यूनियनों में संगठित थे, क्रान्ति में शामिल हो गये थे, क्योंकि वे राजनैतिक पहलू का मूल्य समझते थे। लेकिन आमतौर से शहरों और गाँवों की जनता उदासीन थी। इसपर ज़ार की सरकार ने और पुलिस ने सभी निरंकुश हुकूमतों द्वारा अपनाये जानेवाले उसी पुराने ढंग से काम किया। इन्होंने फूट पैदा कराई और इस भूखी जनता को कुछ क्रान्तिकारी दलों के विरुद्ध भड़का दिया। अभागे यहूदियों की रूसियों ने हत्या की और आरमीनियाई लोगों की तातारियों ने। क्रान्तिकारी विद्यार्थियों और अधिक ग़रीब मज़दूरों तक में भी मुठभेड़ें हुईं। देश के विभिन्न भागों में इस तरह क्रान्ति की कमर तोड़ देने के बाद सरकार ने क्रान्ति के दो तूफ़ानी केन्द्रों—पीटर्सबर्ग और मास्को—पर हमला किया। पीटर्सबर्ग की सोवियत आसानी से कुचल दी गई। मास्को में फ़ौज ने क्रान्तिकारियों की मदद की, और पाँच दिन की लड़ाई के बाद ही सोवियत पूरी तरह कुचली जा सकी। इसके बाद प्रतिशोध शुरू हुआ। कहा जाता है कि सरकार ने मास्को में बिना मुक़दमा चलाये एक हज़ार आदमियों को फाँसी दे दी और सत्तर हज़ार को जेल भेज दिया। सारे देश में इन विभिन्न बग़ावतों के फलस्वरूप क़रीब चौदह हज़ार आदमी मारे गये।

इस तरह पराजय और विनाश के साथ सन् १९०५ ई० की रूसी-क्रान्ति का अन्त हुआ। इसे सन् १९१७ ई० की सफल क्रान्ति की भूमिका कहा गया है। जनता की आन्तरिक चेतना जागृत हो सके और वह बड़े पैमाने पर कार्रवाई कर सके, इससे पहले उसे "बड़ी-बड़ी घटनाओं की शिक्षा मिलनी ज़रूरी है।" सन् १९०५ ई० की घटनाओं के रूप में बहुत भारी क़ीमत चुकाकर जनता को यह अनुभव मिला।

दूमा का चुनाव हुआ, और मई, सन् १९०६ ई० में इसकी बैठक हुई। दूमा क्रान्तिकारी जमात तो थी ही नहीं, लेकिन ज़ार की निगाह में उसके विचार बहुत ज़्यादा उदार थे, जिन्हें वह पसन्द नहीं करता था। इसलिए उसने ढाई महीने बाद इसे घर बैठा दिया। विद्रोह को कुचलने के बाद ज़ार को दूमा के क्रोध की कुछ परवाह नहीं रह गई थी। दूमा के बरखास्त किये हुए डिपुटी, जो मध्यम-वर्गी उदार संविधान-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वादी थे, फ़िनलैण्ड भाग गये। यह पीटर्सबर्ग के बहुत नज़दीक था और ज़ार की सत्ता के अधीन एक अर्द्ध-स्वाधीन देश था। इन्होंने रूसियों से अपील की कि वे दूमा के बरख़ास्त किये जाने के विरोध में टैक्स देने से इन्कार कर दें और जल तथा स्थल सेना की भर्ती को रोकें। लेकिन ये डिपुटी लोग जनता के सम्पर्क में बिल्कुल नहीं थे, इसलिए इनकी अपील का कोई असर नहीं हुआ।

दूसरे वर्ष, सन् १९०७ ई० में, दूसरी दूमा का चुनाव हुआ। पुलिस ने उग्र विचारों के उम्मीदवारों के रास्ते में हर तरह की कठिनाइयाँ पैदा करके, और कभी-कभी उन्हें गिरफ़्तार करने की सहज तदबीर से, यह कोशिश की कि वे चुने न जायँ। फिर भी दूमा ज़ार को पसन्द नहीं आई और उसने इसे भी तीन महीने बाद बरखास्त कर दिया। अब ज़ार की सरकार ने चुनाव के क़ानून में परिवर्तन करके तमाम अवांछनीय आदमियों का चुना जाना रोकने की कार्रवाई की। यह तरकीब सफल हुई और तीसरी दूमा बड़ी प्रतिष्ठित और दकियानूसी जमात बन गई और लम्बे समय तक चली।

१९०५ के बाद के ये वर्ष प्रतिगामिता के वर्ष थे। बोल्शेविक तथा अन्य क्रान्तिकारी तत्त्वों को पूरी तरह कुचला जा चुका था। विदेशों में लेनिन की तरह कुछ निर्वासित बोल्शेविक धीरज के साथ अपना काम कर रहे थे। वे मार्क्स के मत को बदलती परिस्थितियों के अनुसार ढालने की कोशिश करते थे। मेन्शेविकों तथा बोल्शेविकों के बीच की खाई बढ़ती ही जाती थी। इन वर्षों में मेन्शेविकवाद अधिक सामने आ गया। सन् १९१२ ई० से रूसी दुनिया में फिर एक नया परिवर्तन धीरे-धीरे आने लगा और क्रान्तिकारी प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगीं और साथ-साथ बोल्शेविकवाद भी बढ़ा। सन् १९१४ ई० के मध्य में पेट्रोग्राद का वातावरण क्रांति की चर्चा से भरा हुआ था और सन् १९०५ ई० की तरह बहुत-सी राजनैतिक हड़तालें हुईं। तुर्रा यह कि पीटर्सबर्ग की सात सदस्योंवाली बोल्शेविक-समिति के बारे में बाद में यह भेद खुला कि तीन सदस्य ज़ारशाही खुफ़िया विभाग में थे! क्रान्तियाँ भी कैसे मसाले की होती हैं! बोल्शेविकों की एक छोटी-सी जमात दूमा में भी थी और मालिनोवस्की इसका नेता था। बाद में पता चला कि यह भी पुलिस का गुर्गा था! और लेनिन इसपर भरोसा करता था!

अगस्त, सन् १९१४ ई० में महायुद्ध शुरू हुआ और इसकी वजह से लोगों का ध्यान लड़ाइय के मोर्चों की तरफ़ खिंच गया और लामबन्दी-क़ानून ने प्रधान कार्यकर्त्ताओं को सेना में खींच लिया और क्रान्तिकारी आन्दोलन ठण्डा पड़ गया। युद्ध के विरोध में आवाज़ उठानेवाले बोल्शेविकों की संख्या बहुत कम थी और वे अत्यन्त बदनाम हो गये थे।

जैसाकि बहुत लोग जानते हैं, ज़ारशाही रूस ने अनेक दोषों के होते हुए भी अपनी अद्भुत नृत्यकला को क़ायम रखा। रूस ने उन्नीसवीं सदी में सिद्धहस्त

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लेखकों की एक श्रेणी उत्पन्न की जिन्होंने महान् साहित्यिक परम्परा का निर्माण किया। लम्बे उपन्यासों और छोटी कहानियों, दोनों में इन लोगों ने आश्चर्यजनक विशेषता दिखाई। इस सदी के प्रारम्भ में पुश्किन हुआ, जो रूसी कवियों में सबसे महान् माना जाता है। उन्नीसवीं सदी के उपन्यास-लेखकों में गोगोल, तुर्गनेव, दोस्तोवस्की और चेख़ोव प्रसिद्ध हैं। फिर, शायद इन सबसे महान् लियो तोल्स्ताय है, जिसमें केवल उपन्यास लिखने की ही प्रतिभा नहीं थी, बल्कि जो एक धार्मिक और आध्यात्मिक नेता भी था और जिसका प्रभाव बहुत दूर तक फैला। यह प्रभाव सचमुच गाँधीजी तक भी जा पहुँचा, जो उस समय दक्षिण अफ़रीका में थे।

उन्नीसवीं सदी के महान् रूसी लेखकों में से एक अभीतक जीवित है। इसका नाम मैक्सिम गोर्की[1] है।

: ९७ :

महायुद्ध का प्रारम्भ

हम देख चुके हैं कि मण्डियों और कच्चे मालों की निरन्तर बढ़ती हुई माँग ने पूंजीवादी शक्तियों को किस तरह साम्राज्य के लिए दुनिया के चारों ओर दौड़ लगाने को मजबूर कर दिया था। उन्होंने एशिया और अफ़रीका में दौड़-भाग मचाई और जितने प्रदेश पर वे क़ब्ज़ा कर सकती थीं, उतने पर, उससे पूरा लाभ उठाने के लिए, क़ब्ज़ा कर लिया। जब ये साम्राज्यवादी शक्तियाँ सारी दुनिया पर छा गईं और पैर फैलाने को कोई जगह न रही, तो ये एक-दूसरी को भेड़ियों की तरह घूरने लगीं और एक-दूसरी के अधिकृत देशों पर लालायित होने लगीं। इनमें से कुछ शक्तियाँ अन्य शक्तियों से अच्छी स्थिति में थीं, और औद्योगिक अगुआई तथा विशाल साम्राज्यवाला इंग्लैण्ड इनमें सबसे अधिक सौभाग्यशाली नज़र आता था। लेकिन इंग्लैण्ड भी सन्तुष्ट नहीं था, क्योंकि जितना किसीको अधिक मिलता है, उतनी-ही उसकी चाह भी बढ़ जाती है। उद्योग में जर्मनी तथा संयुक्त-राज्य अमरीका की प्रतियोगिता भी इंग्लैण्ड को परेशान कर रही थी। ये देश पक्का माल इंग्लैण्ड से सस्ता तैयार कर रहे थे और इस प्रकार इंग्लैण्ड की मण्डियाँ उससे चुपचाप छीनते जा रहे थे।

जब सौभाग्यशाली इंग्लैण्ड ही सन्तुष्ट नहीं था, तो अन्य राष्ट्र तो और भी अधिक असन्तुष्ट थे। खासकर जर्मनी, जो बड़ी शक्तियों में बहुत देर में शामिल

---

[1] १९३६ ई० में गोर्की की मृत्यु हो गई।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

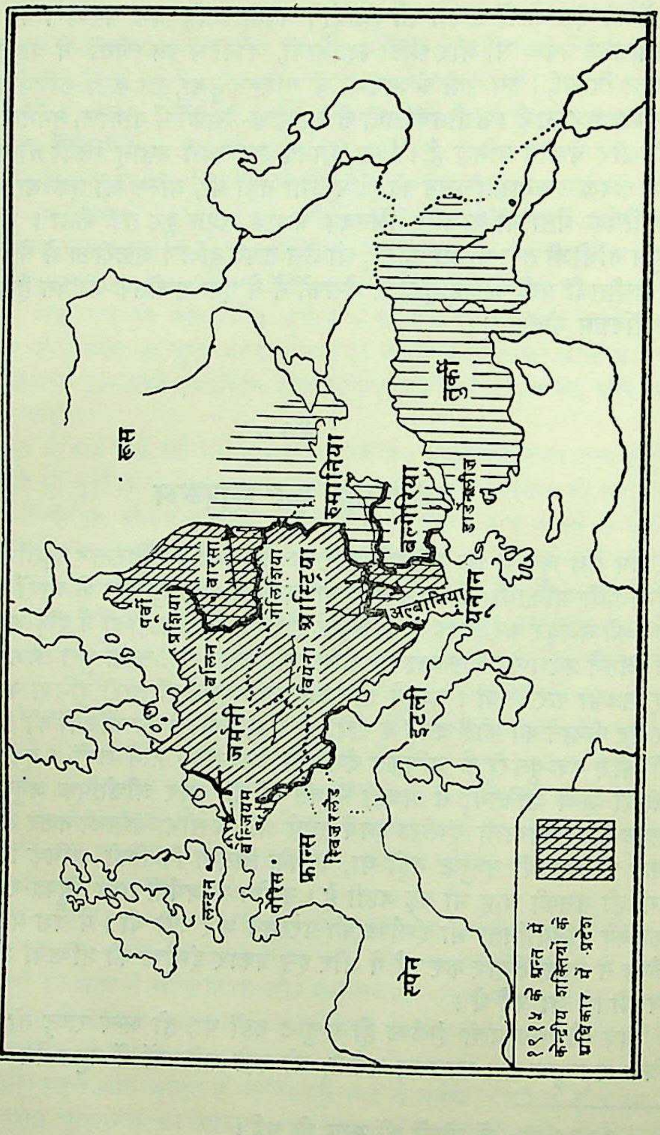

योरप — प्रथम विश्वयुद्ध के शुरू में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुआ था, और जिसने देखा कि सारे पके फल तो पहले ही लुट चुके हैं। इसने विज्ञान, शिक्षा तथा उद्योग में जबरदस्त प्रगति की थी और एक सुसज्जित सेना तैयार कर ली थी। अपने मज़दूरों के लिए सामाजिक-सुधार क़ानूनों में भी यह इंग्लैण्ड-सहित अन्य देशों से आगे था। जिस समय जर्मनी मैदान में आया, उस समय यद्यपि अधिकांश दुनिया पर अन्य साम्राज्यवादी शक्तियों ने क़ब्ज़ा कर लिया था, और दूसरों के शोषण से लाभ उठाने के मार्ग सीमित हो चुके थे, फिर भी केवल कठोर परिश्रम और आत्म-अनुशासन के द्वारा जर्मनी उस औद्योगिक पूंजीवाद के युग की सबसे बलवान और कार्यकुशल शक्ति बन गया। उसके व्यापारी जहाज़ हर बन्दरगाह में नज़र आने लगे और उसके बन्दरगाह हैम्बर्ग तथा ब्रैमन संसार के सबसे बड़े बन्दरगाहों में गिने जाने लगे। जर्मनी का व्यापारिक जहाज़ी बेड़ा केवल दूर देशों को जर्मनी का माल ही नहीं ले जाता था, बल्कि उसने अन्य देशों के माल ढोने के धन्धे पर भी क़ब्ज़ा कर लिया था।

जर्मन-साम्राज्य का नेता प्रशिया था, और प्रशियाई ज़मींदार तथा सैनिक-वर्ग को, जिसके हाथों में सत्ता थी, नम्रता के गुण के लिए कभी किसीने नहीं जाना। ये लोग सरकश थे और अपनी कठोर-हृदय सरकशी पर घमण्ड करते थे। हॉयन-ज़ोलर्न घराने के क़ैसर विल्हैल्म द्वितीय के रूप में उन्हें इस उद्धत और अकड़बाज़ स्वभाव का आदर्श नेता भी मिल गया था। क़ैसर चारों तरफ़ घोषणा करता फिरता था कि जर्मनी संसार का नेता बननेवाला है; कि वह पृथ्वी पर अपने लिए महत्त्व-पूर्ण स्थान चाहता है; कि उसका भविष्य समुद्र पर है; और यह कि अपनी संस्कृति दुनिया-भर में फैलाना उसके जीवन का उद्देश्य है।

क़ैसर की चुनौतियाँ और धमकियाँ तो काफ़ी बुरी थीं ही; इससे भी बुरी बात यह थी कि उसने इनके बाद सचमुच अपनी जल-सेना बढ़ा ली। इससे अंग्रेज़ों के मिज़ाज और औसान बिगड़ गये और वे भी अपनी जल-सेना बढ़ाने लगे। इस तरह दोनों के बीच समुद्री ताक़त की दौड़ शुरू हो गई और दोनों देशों के अखबारों ने लगातार चीख-पुकार मचा दी जिसमें अधिकाधिक जंगी जहाज़ों की माँग की गई और राष्ट्रीय विद्वेष को भड़काया गया।

धीरे-धीरे युद्ध का भय सारे योरप में फैल गया और शक्तियों ने आत्म-रक्षा के लिए गुट्ट बनाने चाहे। बड़ी शक्तियाँ दो गिरोहों में बँट गईं—एक तो जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली का तिहरा गुट्ट; और दूसरा इंग्लैण्ड, फ्रान्स और रूस का तिहरा मित्रतापूर्ण समझौता। इटली तिहरे गुट्ट का एक बहुत ढीला-ढाला सदस्य था और जब युद्ध हुआ, तो वह सचमुच अपना वचन भंग करके दूसरे पक्ष से जा मिला। आस्ट्रिया के साम्राज्य के सारे अंजर-पंजर हिल रहे थे—नक़्शे पर तो वह बड़ा दिखाई देता था, लेकिन परस्पर-विरोधी तत्त्वों से भरा था, और विज्ञान, संगीत तथा कला का महान् केन्द्र, सुन्दर वियेना नगर, उसकी राजधानी था। मतलब यह कि व्यवहार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में तिहरे गुट्ट का अर्थ था जर्मनी। हाँ, परीक्षा का समय आने से पहले कोई नहीं जानता था कि इटली और आस्ट्रिया का क्या रूप होगा।

बस, योरप में भय का राज्य हो रहा था और भय बड़ी भयंकर चीज़ है। हर देश युद्ध की तैयारी करता चला जा रहा था और अस्त्र-शस्त्र से खूब लैस हो रहा था। शस्त्रीकरण की दौड़ मची हुई थी। हथियार—यानी तोपें, जंगी जहाज़, गोला-बारूद तथा युद्ध का अन्य सब सामान, तैयार करनेवाली खानगी कम्पनियों ने सहज ही खूब मुनाफ़े लूटे और वे मोटी हो गईं। इससे भी अधिक उन्होंने यह किया कि सचमुच युद्ध का भय फैलाना शुरू कर दिया ताकि चकमे में आकर सारे देश उनसे खूब हथियार खरीदें। हथियार बनानेवाली ये कम्पनियाँ बड़ी मालदार और प्रभाव-वाली थीं, और इंग्लैण्ड, फ्रान्स, जर्मनी तथा अन्य देशों के अनेक उच्च पदाधिकारी और मन्त्रीगण इनके हिस्सेदार थे, और इसलिए इनकी श्री-वृद्धि में उनका स्वार्थ था।

इस प्रकार योरप के आकाश में बादलों की गरज तथा बिजली की कौंध के साथ बीसवीं सदी का आरम्भ हुआ, और जैसे-जैसे साल बीतते गये, मौसम अधिकाधिक तूफ़ानी होता गया। पेचीदगियाँ और उलझनें बढ़ती गईं और योरप का जीवन दिन-पर-दिन गाँठों में बँधता गया—जो गाँठें आखिर में युद्ध के ही द्वारा कटने-वाली थीं। सारी शक्तियाँ युद्ध की आशंका में थीं और उसके लिए सरगर्मी से तैया-रियाँ कर रही थीं, लेकिन शायद फिर भी युद्ध के लिए उत्सुक कोई न थी। कुछ हद तक सब उससे डरती थीं, क्योंकि निश्चय के साथ कोई भी यह भविष्यवाणी नहीं कर सकता था कि युद्ध का परिणाम क्या होगा। पर फिर भी केवल भय उन्हें युद्ध की ओर ढकेल रहा था।

बस, सन् १९१४ ई० में यही स्थिति थी। इस समय होमरूल-बिल के सवाल पर आयरलैण्ड में इंग्लैण्ड को बहुत परेशानी उठानी पड़ रही थी। अल्स्टर बग़ावत कर रहा था, उत्तर में और दक्षिण में स्वयंसेवक क़वायदें कर रहे थे, और आयरलैण्ड में गृह-युद्ध की चर्चा हो रही थी। बहुत सम्भव है, जर्मन-सरकार ने सोचा हो कि इंग्लैण्ड आयरलैण्ड के झगड़े में उलझा रहेगा और अगर योरपीय युद्ध छिड़ जाय, तो उसमें दखल नहीं देगा। लेकिन सही बात तो यह थी कि अंग्रेज़-सरकार गुप्त रूप से फ्रान्स को वचन दे चुकी थी कि युद्ध छिड़ने पर उसका साथ देगी, लेकिन सर्व-साधारण को यह मालूम न था।

२८ जून, सन् १९१४ ई०—यही वह तारीख थी जिस दिन आग लगानेवाली चिनगारी सुलगाई गई। आर्क-ड्यूक फ्रान्सिस फ़र्दिनान्द आस्ट्रिया की राजगद्दी का उत्तराधिकारी था। वह बलकान में बोस्निया की राजधानी सिराजिवो की यात्रा को गया था। जब आर्क-ड्यूक अपनी पत्नी के साथ खुली गाड़ी में बैठकर सिराजिवो के बाज़ार में से गुज़र रहा था, तब उसपर गोलियाँ चलाई गईं और वह तथा उसकी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पत्नी दोनों मारे गये। आस्ट्रिया की सरकार और जनता उबल पड़ी और उन्होंने सर्बिया की सरकार पर (सर्बिया बोस्निया का पड़ोसी था) यह इलज़ाम लगाया कि उसका इस हत्या में हाथ है। सर्बिया की सरकार को तो इससे इन्कार करना ही था। बहुत दिन बाद जो जाँच की गई, उससे यह पता लगा है कि यद्यपि सर्बिया की सरकार हत्या के लिए ज़िम्मेदार नहीं थी, पर हत्या के लिए जो तैयारियाँ की गई थीं, उनसे वह बिल्कुल अनभिज्ञ भी नहीं थी। वैसे इस हत्या की ज़िम्मेदारी अधिकतर सर्बिया के "काला हाथ" नामक संगठन पर ही डाली जानी चाहिए।

कुछ तो क्रोध के कारण, और ज़्यादातर अपनी नीति के कारण, आस्ट्रिया की सरकार ने सर्बिया के प्रति बड़ा कड़ा रुख धारण किया। स्पष्ट है कि उसने सर्बिया को सदा के लिए नीचा दिखाने का निश्चय कर लिया था और कोई बड़ा युद्ध छिड़ जाने पर उसे जर्मनी की ताक़तवर सहायता का भरोसा था। इसलिए सर्बिया की क्षमा-याचनाएँ स्वीकार नहीं की गईं, और २३ जुलाई, सन् १९१४ ई० को आस्ट्रिया ने सर्बिया को युद्ध का अन्तिम पैग़ाम भेज दिया। पाँच दिन बाद, २८ जुलाई को, आस्ट्रिया ने सर्बिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

दो दिन बाद, १ अगस्त को, जर्मनी ने भी रूस और फ्रान्स के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और तुरन्त ही बेल्जियम में होकर फ्रान्स जाने के लिए विशाल जर्मन-सेनाओं ने बेल्जियम पर धावा बोल दिया, क्योंकि यह रास्ता आसान पड़ता था। बेचारे बेल्जियम ने जर्मनी का कुछ नहीं बिगाड़ा था, लेकिन जब राष्ट्र जीवन और मरण के लिए लड़ते हैं, तो वे ऐसी तुच्छ बातों की, या दिये हुए वचनों की कोई परवाह नहीं करते। जर्मन-सरकार ने बेल्जियम में होकर अपनी सेनाएँ भेजने की अनुमति बेल्जियम से माँगी थी; इस प्रकार की अनुमति देने से कुदरती तौर पर और रोष के साथ इन्कार कर दिया गया।

बेल्जियम की तटस्थता के इस प्रकार भंग किये जाने के कारण इंग्लैण्ड में तथा अन्यत्र बड़ा हो-हल्ला मचा, और इंग्लैण्ड ने तो, ख़ुद जर्मनी के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करने का, इसे आधार बना लिया। सच तो यह है कि इंग्लैण्ड अपना रास्ता बहुत पहले ही चुन चुका था, और बेल्जियम का सवाल उसके लिए एक आसान बहाना बन गया। अब ऐसा लगता है कि युद्ध से पहले फ्रान्सीसी सेना ने भी आवश्यकता पड़ने पर जर्मनी पर आक्रमण करने के लिए बेल्जियम में होकर अपनी फ़ौजें ले जाने की योजनाएँ तैयार कर ली थीं। बहरहाल, जर्मनी के मुक़ाबले में, जिसपर यह दोष लगाया गया था कि उसने अपने शपथपूर्ण वादों को और सन्धियों को "रद्दी काग़ज़ के टुकड़े" मात्र समझा, इंग्लैण्ड ने न्याय तथा सत्य का महान् त्राता और छोटे राष्ट्रों का रक्षक बनने का ढोंग रचने की कोशिश की। ४ अगस्त को आधी रात के समय इंग्लैण्ड ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी, लेकिन उसने यह पेशबन्दी की कि किसी दुर्घटना को रोकने के ख़याल से, एक दिन पहले ही अपनी

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सेना, ब्रिटिश हमलावर फौजें, गुप्त रूप से चैनल-पार भेज दी। इसलिए, जबकि दुनिया तो इसी ख़याल में थी कि इंग्लैण्ड का युद्ध में शामिल होने या न होने का सवाल अधर लटका हुआ है, तब अंग्रेज़ सैनिक योरप में पदार्पण भी कर चुके थे।

अब आस्ट्रिया, रूस, जर्मनी, इंग्लैण्ड, फ्रान्स, वग़ैरा सब युद्ध में फँस गये थे और छोटा-सा सर्बिया तो, जो कुछ हद तक इस विस्फोट का तात्कालिक कारण था, फँसा हुआ था ही। जर्मनी और आस्ट्रिया के साथी इटली का क्या हाल था? इटली अलग रहा––इटली खड़ा-खड़ा यह देखता रहा कि कौनसा पक्ष जीत रहा है—इटली ने सौदेबाज़ी की—और अन्त में छः महीने बाद, इटली अपने पुराने साथियों के विरुद्ध फ्रान्सीसी-अंग्रेज़ी-रूसी पक्ष में निश्चय रूप से जा मिला।

: ९८ :

युद्ध की घड़ी से पहले भारत

हम उन्नीसवीं सदी में भारतीय जीवन के, तथा भारत में अंग्रेज़ी राज्य के कुछ पहलुओं की पहले ही जाँच कर चुके हैं। इस ज़माने का मुख्य पहलू यह नज़र आता है कि भारत पर अंग्रेज़ों का पंजा मज़बूत होता जाता है और उसके साथ-ही देश का शोषण होता है। भारत को तिहरी सेना ने काबिज़ कर दबोच रखा था—सैनिक, असैनिक (मुल्की) और व्यवसायी। अंग्रेज़ी सशस्त्र सेनाएँ और अंग्रेज़ अफ़सरों के मातहत भारतीय वेतन-भोगी सेना एक विदेशी काबिज़ फौज के रूप में काफ़ी स्पष्ट नज़र आती थी। लेकिन इससे भी अधिक मज़बूत पंजा असैनिक सेवा[1] का था, जो एक ग़ैर-ज़िम्मेदार और अत्यन्त केन्द्रीभूत नौकरशाही थी। और तीसरी, यानी व्यवसायी सेना, को इन दोनों का सहारा था और यह सबसे ज़्यादा ख़तरनाक थी, क्योंकि अधिकतर शोषण इसीके द्वारा या इसके नाम पर किया जाता था और देश के शोषण का इसका ढंग इतना प्रत्यक्ष नहीं था, जितना कि पहली दोनों सेनाओं के थे। वास्तव में बहुत समय तक, और कुछ हद तक आज भी, प्रमुख भारतवासी पहली दोनों पर बहुत अधिक आपत्ति करते थे और मालूम होता है कि तीसरी को उतना महत्त्व नहीं देते थे।

हम देख चुके हैं कि भारत में अंग्रेज़ों की औद्योगिक नीति के फलस्वरुप देहातीकरण हो गया, यानी धन्धों के अभाव में दिन-पर-दिन ज़्यादा लोग शहर छोड़-छोड़कर गाँवों को वापस जाने लगे। खेतिहर धरती पर दबाव बढ़ गया और किसानों के

---

[1] सिविल सर्विस।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पट्टे, यानी उनके खेतों और फार्मों के क्षेत्रफल, दिन-पर-दिन छोटे होने लगे। ज़्यादातर पट्टे "अनार्थिक" हो गये, अर्थात् वे इतने बड़े नहीं थे कि किसान को कम-से-कम इतना मुनाफ़ा भी दे सकें जो उसके गुज़ारे-भर के लिए भी काफ़ी हो। लेकिन उसे कोई दूसरा चारा नहीं था—सिवा इसके, कि अपनी गाड़ी इसी तरह चलाता रहे और दिन-पर-दिन ज़्यादा क़र्ज़दार होता जाय। ब्रिटिश-सरकार की बन्दोबस्त की नीति ने हालत और भी खराब कर दी, ख़ासकर ताल्लुकेदारी और बड़ी ज़मींदारी के इलाक़ों में। इन इलाक़ों में, और उन इलाक़ों में जहाँ ज़मीन का मालिक किसान होता था, दोनों जगह सरकार को मालगुज़ारी अदा न करने पर, या ज़मींदार को लगान न देने पर, किसानों को उनके पट्टों से बेदख़ल कर दिया जाता था। इसके फलस्वरूप, और धरती पर नये आनेवालों के निरन्तर दबाव के कारण, देहाती इलाक़ों में धरतीहीन मज़दूरों का एक बड़ा वर्ग पैदा हो गया, और, जैसाकि मैं बतला चुका हूँ, अनेक भीषण अकाल पड़ गये।

बेदख़लों का यह बड़ा वर्ग जोतने के लिए धरती का भूखा था, लेकिन धरती इतनी नहीं थी कि सबको मिल सके। ज़मींदारी इलाक़ों में ज़मींदारों ने लगान बढ़ाकर धरती की इस बढ़ती हुई माँग से फ़ायदा उठाया। काश्तकार को राहत देने के लिए कुछ काश्तकारी-क़ानून बनाये गये, जिनके द्वारा लगानों के एक निश्चित अनुपात से ज़्यादा एकदम बढ़ाये जाने पर रोक लगा दी गई। लेकिन पाबन्दियों से बचने के विभिन्न रास्ते निकाल लिये गये और तरह-तरह के ग़ैरक़ानूनी 'हक़' या अबवाब वसूल किये जाने लगे। बेचारे किसान ये तरह-तरह की लागें किस तरह अदा कर सकते हैं? ये तो वे गाँव के बौहरे-बनिये से उधार लेकर ही अदा कर सकते हैं।

अपनी ज़मीन का मालिक किसान और असामी काश्तकार, दोनों ही, और बहुत-से धरतीहीन मजदूर भी, बनिये के शिकार बन जाते हैं। वे क़र्ज़ से कभी पिंड नहीं छुड़ा सकते। जो भी वे कमाते हैं, बनिये को दे देते हैं, लेकिन यह सब सूद में समा जाता है और पुराना क़र्ज़ ज्यों-का-त्यों बना रहता है। बनिये द्वारा इनकी मुँड़ाई पर बहुत कम बन्दिश हैं। इसके परिणामस्वरूप वे अर्द्ध-गुलाम की तरह हमेशा के लिए उससे बँध जाते हैं। बेचारा असामी काश्तकार तो एक तरह से दोहरा चाकर होता है—ज़मींदार का भी और बनिये का भी।

धरतीहीन मज़दूरों के बड़े बेदख़ल वर्ग के अस्तित्व ने बड़े-बड़े नये कारख़ाने डालना आसान कर दिया। ऐसे कारख़ाने तभी चल सकते हैं जब इस तरह के लोग काफ़ी (वास्तव में काफ़ी से भी ज्यादा) संख्या में हों, जो उजरत पर काम करने के लिए तैयार हों। जिस आदमी के पास धरती का छोटा-सा भी टुकड़ा है, वह उसे छोड़ना नहीं चाहता। इसलिए कारख़ाना-प्रणाली के लिए धरतीहीन बेकारों की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारी संख्या आवश्यक है। और ये लोग जितने-ही ज्यादा हों, उतना-ही कारखानेदारों के लिए मजूरी घटाना और इनपर काबू रखना आसान हो जाता हैं।

शुरू-शुरू के भारतीय उद्योगपतियों में सबसे बड़ा जमशेदजी नसरवानजी ताता था। इसने अनेक उद्योग शुरू किये। इनमें सबसे बड़ी बिहार प्रान्त के साकची में ताता आयरन एण्ड स्टील कम्पनी थी। यह कम्पनी सन् १९०७ ई० में शुरू हुई और सन् १९१२ ई० में काम करने लगी। लोहे का उद्योग उन उद्योगों में गिना जाता है जो "बुनियादी उद्योग" कहलाते हैं। आजकल लोहे पर इतनी चीज़ें निर्भर हैं कि जिस देश में लोहे का उद्योग नहीं होता, उसे बहुत-कुछ दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। ताता का लोहे का कारखाना बहुत बड़ा कारोबार है। साकची गाँव अब जमशेदपुर शहर हो गया है और यहाँ से थोड़ी दूर पर रेल का स्टेशन तातानगर कहलाता है।

भारतीय कारख़ानों में काम करनेवाले मज़दूरों की दशा बहुत बुरी थी। यह दशा उसी तरह की थी, जैसी उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में इंग्लैण्ड के कारख़ानों में थी। बेकार धरतीहीन लोगों की बहुत बड़ी संख्या के कारण मजूरी की दरें बहुत कम थीं और काम के घंटे बहुत ज्यादा थे। सन् १९११ ई० में सबसे पहला भारतीय कारख़ाना अधिनियम (इण्डियन फैक्टरी ऐक्ट) पास हुआ। इस अधिनियम में भी पुरुषों के लिए दिन में काम के बारह घंटे और बच्चों के लिए छः घंटे निश्चित किये गये थे।

ग़रीबी के मारे हुए क़रीब बीस लाख भारतीय मज़दूर विदेशों को प्रवास कर गये। इनमें से ज़्यादातर लंका और मलाया की बाड़ियों में गये। बहुत-से मारीशस द्वीप-समूह (मैडागास्कर के पास हिन्द महासागर में), ट्रिनिडाड (दक्षिण अमरीका के उत्तरी सिरे पर), फ़िजी (आस्ट्रेलिया के पास), दक्षिणी अफ़रीका और पूर्वी अफ़रीका तथा ब्रिटिश गायना (दक्षिणी अमरीका में) भी चले गये। इनमें से अनेक स्थानों को वे "गिरमिटिये" मजदूर बनकर गये, जिसका अर्थ था कि व्यावहारिक रूप में वे अर्द्ध-ग़ुलाम थे। गिरमिट (अंग्रेज़ी ऐग्रीमेण्ट का अपभ्रंश) वह दस्तावेज होता था, जिसमें इन मज़दूरों के साथ किया गया शर्तनामा होता था और जिसके मातहत वे अपने मालिकों के ग़ुलाम होते थे। इस गिरमिट-प्रथा के अनेक रोमांचकारी वर्णन भारत पहुँचे, ख़ासकर फ़िजी से, जिसके कारण यहाँ हलचल मची और यह प्रथा बन्द कर दी गई।

यहाँतक तो किसान-वर्ग, मजदूर-वर्ग और प्रवासियों का वर्णन हुआ। यह भारत की दीन, मूक और बहुत दिनों से दुःखी जनता थी। हल्ला मचानेवाला तो असल में नया मध्यम-वर्ग था, जो एक तरह से अंग्रेज़ों के संसर्ग से पैदा हुआ था, लेकिन फिर भी जो उनकी आलोचना करने लगा। यह बढ़ने लगा और इसके साथ-ही राष्ट्रीय आन्दोलन भी बढ़ा। यह आन्दोलन सन् १९०७-८ ई० में बड़ा ज़ोर पकड़ गया था जबकि एक जन आन्दोलन ने बंगाल को हिला दिया था और कांग्रेस, गरम तथा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नरम, दो दलों में बँट गई थी। अंग्रेज़ों ने प्रगतिशील दल को कुचलने की ओर कुछ मामूली सुधारों द्वारा नरम दल को मिलाने का प्रयत्न करने की अपनी सदा की नीति बरती।

उस समय तो ब्रिटिश-सरकार अपनी नीति में सफल हो गई। लोकमान्य तिलक जेल में थे और उनका दल दबाया जा चुका था। नरम दल ने शासन में कुछ सुधारों का, जिनसे भारतवासियों को कोई अधिकार नहीं मिलता था, हार्दिक स्वागत किया (तत्कालीन वायसराय तथा भारत-सचिव के नाम पर ये सुधार मिण्टो-मार्ले सुधार कहलाये)। कुछ समय बाद बंग-भंग की मंसूख़ी ने बंगालियों की भावना को सन्तुष्ट कर दिया। सन् १९०७ ई० तथा उसके बाद का राजनैतिक आन्दोलन एक बार फिर आरामकुर्सी पर बैठकर चर्चा करनेवाले लोगों का मशग़ला बन गया। इसलिए, जब सन् १९१४ ई० में युद्ध शुरू हुआ, तब देश में सक्रिय राजनैतिक जीवन नहीं के बराबर था। कांग्रेस, जो केवल नरम-दलियों की प्रतिनिधि रह गई थी, हर साल अधिवेशन करती थी और कुछेक काग़ज़ी प्रस्ताव पास करने के सिवा कुछ नहीं करती थी। राष्ट्रीयता की धारा बहुत मन्द पड़ गई थी।

पश्चिम के संसर्ग से राजनैतिक क्षेत्र के अलावा अन्य प्रतिक्रियाएँ भी हुईं। नये मध्यम-वर्गों के (जनता के नहीं) धार्मिक विचारों पर भी प्रभाव पड़ा; ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज आदि नये आन्दोलन पैदा हुए और जात-पाँत की प्रथा ढीली होने लगी। सांस्कृतिक जागृति भी हुई, ख़ासकर बंगाल में। बंगाली लेखकों ने बंगला भाषा को भारत की आधुनिक भाषाओं में सबसे अधिक सम्पन्न बना दिया और बंगाल ने इस युग के सबसे महान् भारतवासियों में गिने जानेवाले कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर को जन्म दिया।[1] बंगाल ने सर जगदीशचन्द्र बसु और सर प्रफुल्लचन्द्र राय जैसे महान् वैज्ञानिकों को भी जन्म दिया। रामानुजम् और सर चन्द्रशेखर वेंकट रमन दो अन्य महान् भारतीय वैज्ञानिक हैं, जिनके नामों का ज़िक्र मैं यहाँ कर दूँ। इस प्रकार भारत विज्ञान में भी श्रेष्ठता प्राप्त कर रहा था और यह वह चीज़ थी जो योरप की महानता की बुनियाद थी।

एक और नाम का यहाँ ज़िक्र कर दूँ। यह नाम सर मोहम्मद इक़बाल[2] का है, जो उर्दू के और ख़ासकर फ़ारसी के प्रतिभाशाली कवि हैं। इन्होंने राष्ट्रीयता पर कुछ सुन्दर कविताएँ लिखी हैं। दुर्भाग्य से उन्होंने अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में कविता लिखना छोड़ दिया और अन्य कामों में लग गये।

जबकि युद्ध के पहले के वर्षों में राजनैतिक दृष्टि से भारत शान्त अवस्था में था, तब एक दूर देश में भारत की इज्जत के लिए एक वीरतापूर्ण तथा अपूर्व संघर्ष हुआ।

---

[1] रवीन्द्रनाथ ठाकुर की मृत्यु सन् १९४१ ई० में हो गई।
[2] १९३८ में इक़बाल की मृत्यु हो गई।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह दक्षिण अफ़रीका था, जहाँ भारी संख्या में भारतीय मज़दूर और कुछ भारतीय व्यापारी प्रवास करके बस गये थे। अनेकों तरीक़ों से इन्हें अपमानित किया जाता था और इनकी दुर्गति की जाती थी, क्योंकि वहाँ वर्ण के अहंकार का बोलबाला था। संयोग से एक नौजवान भारतीय बैरिस्टर को एक मुक़दमे की पैरवी के लिए दक्षिण अफ़रीका बुलाया गया। उसने अपने देशवासियों की हालत देखी, जिससे वह बहुत अपमानित और दुखित हुआ। उसने यथाशक्ति उनकी सहायता करने का निश्चय किया। वर्षों तक वह चुपचाप मेहनत करता रहा; उसने अपना पेशा और घरबार छोड़ दिये,और जिस मामले को उसने उठाया था, उसमें वह पूरी लगन के साथ जुट गया। यह व्यक्ति मोहनदास करमचन्द गाँधी था। आज भारत का बच्चा-बच्चा इन्हें जानता है और इनसे प्रेम करता है. लेकिन उस समय दक्षिण अफ़रीका के बाहर इन्हें कोई नहीं जानता था। एकाएक इनका नाम समुद्र-पार से बिजली की तरह भारत में आया और लोग इनके बारे में तथा इनकी बहादुराना लड़ाई के बारे में आश्चर्य और प्रशंसा और अभिमान के साथ चर्चा करने लगे। दक्षिण अफ़रीका की सरकार ने वहाँ के प्रवासी भारतीयों को और भी अधिक अपमानित करने की चेष्टा की, लेकिन गाँधीजी के नेतृत्व में उन्होंने सिर झुकाने से इन्कार कर दिया। यह काफ़ी अचम्भे की बात थी कि अपने वतन से दूर, ग़रीब, पद-दलित और अशिक्षित मज़दूरों की एक बिरादरी ने और छोटे-छोटे व्यापारियों के एक समुदाय ने ऐसा बहादुराना रुख इख़्तियार किया। और इससे भी ज्यादा अचम्भे की चीज़ वह तरीक़ा था जो उन्होंने अपनाया, क्योंकि राजनैतिक हथियार की दृष्टि से संसार के इतिहास में यह एक नवीन हथियार था। तबसे इसके बारे में हम अक्सर सुना करते हैं। वह था गाँधीजी का सत्याग्रह, जिसका अर्थ है सत्य पर अड़े रहना। इसे कभी-कभी निष्क्रिय प्रतिरोध भी कहते हैं, पर यह पर्याय ठीक नहीं है, क्योंकि सत्याग्रह तो काफ़ी सक्रिय होता है। यह केवल अ-प्रतिरोध भी नहीं है, हालाँकि अहिंसा इसका आवश्यक अंग है। इस अहिंसात्मक युद्ध-कला से गाँधीजी ने भारत और दक्षिण अफ़रीका को हैरत में डाल दिया, और जब भारत के लोगों ने यह सुना कि दक्षिण-अफ़रीका में हमारे देशवासी हज़ारों नर-नारी ख़ुशी-ख़ुशी जेल चले गये, तो वे अभिमान और हर्ष से पुलकित हो उठे। अपने-ही देश में अपनी पराधीनता और शक्तिहीनता पर हम मन-ही-मन लज्जित हो गये, और अपने-ही देशवासियों द्वारा दी गई इस वीरतापूर्ण चुनौती के उदाहरण ने हमारे आत्माभिमान को बढ़ा दिया। इस मुद्दे पर भारत में एकदम राजनैतिक जागृति पैदा हो गई और दक्षिण अफ़रीका को ढेरों रुपया भेजा जाने लगा। गाँधीजी तथा दक्षिण अफ़रीका की सरकार के बीच समझौता होने पर यह लड़ाई बन्द कर दी गई। यद्यपि उस समय भारतीय मसले की यह असन्दिग्ध विजय थी, पर भारतीयों पर अभीतक अनेक पाबन्दियाँ चली आ रही हैं और कहा जाता है कि दक्षिण अफ़रीका

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की सरकार पुराने क़रारनामे का पालन नहीं कर रही । प्रवासी भारतीयों का मसला अभीतक हमारे सामने हैं ।

: ६६ :

सन् १६१४-१८ का महायुद्ध

मैंने इस युद्ध के कुछ कारणों की जाँच करने की कोशिश की है : किस तरह पूंजीवादी उद्योग-प्रधान देशों की लालची-वृत्ति और साम्राज्यवादी शक्तियों की प्रतिद्वन्दिताएँ टकराईं और उनके कारण संघर्ष लाज़िमी हो गया ; इनमें से हर देश के उद्योगपति फ़ायदा उठाने के लिए किस तरह अधिकाधिक अवसर और क्षेत्र चाहते थे; किस तरह साहूकार लोग खूब रुपया बनाने की धुन में थे; किस तरह युद्ध-सामग्री बनानेवाले लम्बे-चौड़े मुनाफ़े कमाना चाहते थे । बस, ये लोग युद्ध में कूद पड़े, और इनके तथा इनके वर्ग का प्रतिनिधान करनेवाले बुज़ुर्ग राजनीतिज्ञों के इशारे पर राष्ट्रों के नवयुवक एक-दूसरे की गरदनें काटने के लिए दौड़ पड़े । इनमें से बहुत अधिक नवयुवक, और तमाम सम्बन्धित देशों के आम लोग, युद्ध के परिणामी कारणों के बारे में कुछ नहीं जानते थे । असल में इनका तो युद्ध से कोई सरोकार ही नहीं था—जय हो या पराजय—इनका तो इससे नुक़सान ही होना था । यह तो धनवानों का खेल था, जो लोगों के जीवन से खेला गया था । लेकिन जबतक आम लोग लड़ने के लिए तैयार न हों, युद्ध नहीं हो सकता था । इस-लिए सारे युद्ध-रत राष्ट्रों में लोगों के जोश और देशप्रेम को मार-मार कर जगाने के लिए खूब व्यवस्थित प्रयत्न किये गये । हर पक्ष दूसरे को "आक्रान्ता" कहता था और केवल आत्म-रक्षा के लिए लड़ने का बहाना करता था । जर्मनी कहता था कि उसके चारों ओर शत्रुओं ने घेरा डाल रखा है, जो उसका गला घोंटने की कोशिश कर रहे हैं । उसने रूस और फ्रान्स पर यह लांछन लगाया कि इन्होंने उसपर धावा बोलने में पहल की । इंग्लैण्ड ने छोटे-से बेल्जियम की न्यायोचित रक्षा को अपनी कार्रवाई का आधार बनाया, क्योंकि इसकी तटस्थता को जर्मनी ने बड़ी बेशर्मी से नष्ट कर दिया था । युद्ध में उलझे हुए तमाम देशों ने अपने-आपको भला समझने का रुख अपनाया और सारा दोष शत्रु के सिर मढ़ दिया । हर राष्ट्र के लोगों को यह यक़ीन दिलाया गया कि उनकी आज़ादी ख़तरे में है और उसकी रक्षा के लिए उन्हें लड़ना ज़रूरी है । हर जगह युद्ध का यह वातावरण तैयार करने में अखबारों ने ख़ासतौर पर जबरदस्त हिस्सा लिया । परिणाम के लिहाज़ से इस वातावरण का अर्थ था शत्रु-देशों की जनता के प्रति घोर विद्वेष की भावना ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्षणिक पागलपन की यह लहर इतनी ज़ोरदार थी कि यह हर चीज़ को बहाती चली गई। भीड़ में जनता के मनोविकारों को उभाड़ना काफ़ी आसान था; लेकिन युद्ध में उलझे हुए तमाम देशों के पढ़े-लिखे और समझ-बूझवाले लोग, वे नर और नारी, जो शान्त और स्थिर स्वभाववाले माने जाते थे, विचारक, लेखक, अध्यापक, वैज्ञानिक—सब-के-सब, अपना संतुलन खो बैठे और रक्त-लिप्सा से तथा शत्रु-राष्ट्रों के लोगों के प्रति विद्वेष से भर गये। पादरी लोग, धर्मपरायण लोग, जो शान्ति चाहनेवाले लोग माने जाते हैं, सभी दूसरों के समान, बल्कि उनसे भी ज्यादा, खून के प्यासे हो रहे थे। यहाँतक कि शान्तिवादी और समाजवादी भी पागल बन गये और अपने सिद्धान्तों को भूल गये। सभी—केवल कुछको छोड़कर। हर देश में ऐसे अल्पमतवालों की बहुत छोटी संख्या भी थी, जिन्होंने क्षणिक पागलपन का शिकार बनने से इन्कार कर दिया और अपने-आपको इस युद्ध-ज्वर से आक्रान्त नहीं होने दिया। उनपर ताने कसे जाते थे और उन्हें कायर कहकर पुकारा जाता था। बहुतों को तो युद्ध में भाग लेने से इन्कार करने के कारण जेलों तक में डाल दिया गया। इनमें कुछ तो समाजवादी थे, कुछ क्वेकरों की तरह धर्मपरायण लोग थे, जो अन्तःकरण से युद्ध-विरोधी होते हैं। यह सच ही कहा गया है कि आजकल जब युद्ध छिड़ जाता है, तो उसमें फँसे हुए लोग पागल हो जाते हैं।

ज्यों-ज्यों युद्ध मास-प्रति-मास और वर्ष-प्रति-वर्ष चलता गया, त्यों-त्यों अधिकाधिक देश इसमें खिंचते गये। दोनों पक्ष तटस्थों को गुप्त रूप से रिश्वतों का लोभ देकर अपनी-अपनी ओर मिलाने की कोशिशें करते थे—खुले तौर पर रिश्वतों के प्रस्ताव किये जाते, तो उन उच्च आदर्शों पर और लच्छेदार वाक्यों पर पानी फिर जाता जिनका शोर चिल्ला-चिल्लाकर किया जाता था। इंग्लैण्ड और फ्रान्स की रिश्वत देने की सामर्थ्य जर्मनी से बढ़ी-चढ़ी थी, इसलिए युद्ध में शरीक होनेवाले अधिकतर तटस्थ देश अंग्रेज़ी-फ्रान्सीसी-रूसी पक्ष में आ मिले। जर्मनी के पुराने साथी इटली के साथ मित्र-राष्ट्रों ने एक गुप्त सन्धि कर ली, जिसमें उसे एशिया-कोचक में तथा अन्यत्र प्रदेश देने का वादा किया गया, और, इस तरह इन्होंने उसे अपनी ओर मिला लिया। एक अन्य गुप्त सन्धि द्वारा रूस को .कुस्तुन्तुनिया देने का वादा किया गया।

निदान एक दर्जन से कुछ ऊपर देश मित्र-राष्ट्रों के साथ हुए (अंग्रेजी-फ्रान्सीसी पक्ष को मैं संक्षेप के लिए मित्र-राष्ट्र कहूँगा)। ये थे इंग्लैण्ड और उसका साम्राज्य फ्रान्स, रूस, इटली, संयुक्त-राज्य अमरीका, बेल्जियम, सर्बिया, जापान, चीन, रूमानिया, यूनान और पुर्तगाल। (दो एक और भी, जिनके नाम मुझे याद नहीं)।

जर्मन-पक्ष में जर्मनी, आस्ट्रिया, तुर्की और बल्गारिया थे। संयुक्त-राज्य अमरीका तीसरे वर्ष युद्ध में शामिल हुआ। अगर अभी हम अपनी गिनती में इसे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

छोड़ भी दें, तो भी यह स्पष्ट है कि मित्र-राष्ट्रों के साधन जर्मन-पक्ष के साधनों से बहुत बढ़े-चढ़े थे। इनके पास ज्यादा सैनिक थे, बहुत ज्यादा रुपया था, अस्त्र-शस्त्र और गोला-बारूद बनाने के ज्यादा कारखाने थे, और, इन सबके ऊपर, इनका समुद्रों पर अधिकार था, जिसके कारण तटस्थ देशों के साधनों का उपयोग करना इनके लिए आसान था। इसलिए इस समुद्री ताक़त के फलस्वरूप वे अमरीका से युद्ध का सामान या खाने का सामान या क़र्ज़ा प्राप्त कर सकते थे। जर्मनी और उसके साथी चारों ओर अपने शत्रुओं से घिरे हुए और किनारी-वन्द थे; और जर्मनी के साथी देश कमज़ोर थे, जो ज्यादा मदद नहीं पहुँचा सकते थे। वे तो बहुत करके जर्मनी के बल को खर्च करनेवाले थे और उसे उनको सहारा देना पड़ता था। इसलिए सूरत यह थी कि एक तरफ़ तो संसार के अधिकतर देश लड़ रहे थे, दूसरी तरफ़ उनके मुक़ाबले में अकेला जर्मनी था। हर पहलू से यह जोड़ बहुत-ही बे-बराबरी का था। लेकिन फिर भी जर्मनी चार वर्ष तक दुनिया के मुक़ाबले में डटा रहा और कई बार तो विजयी होते-होते रह गया। हर साल यही मालूम होता था कि विजय अधर लटकी हुई है। अकेले एक राष्ट्र के लिए यह प्रयास अद्भुत था और यह उस शानदार सैनिक संगठन के कारण सम्भव हुआ था जो जर्मनी ने तैयार किया था। अन्त तक, जबकि जर्मनी और उसके साथी पूरी तरह परास्त किये जा चुके थे, जर्मन-सेना का संगठन वैसा-का-वैसा बना हुआ था और उसका बड़ा भाग विदेशी ज़मीन पर था।

मित्र-राष्ट्रों की तरफ़ लड़ाई की सबसे ज्यादा झोंक फ्रान्स को उठानी पड़ी और फ्रान्सीसियों ने ही अपने नवयुवकों के जीवन की जबरदस्त भेंट चढ़ाकर जर्मन सैनिक-संगठन से लोहा लिया। इंग्लैण्ड द्वारा दी गई सबसे बड़ी सहायता थी जल-सेना और समुद्री बल, और साथ-ही कूटनीति और प्रचार भी। अपनी सेना के घमण्ड में भरा हुआ जर्मनी तटस्थ देशों के साथ कूटनीति में और प्रचार के अपने ढंगों में अपूर्व भोंडापन बरत रहा था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि झूठी बातों के और तोड़े-मरोड़े हुए तथ्यों के अपने प्रचार की होशियारी और कमालियत में इंग्लैण्ड इस युद्ध में तमाम देशों से बाज़ी ले गया।

युद्ध के प्रारम्भिक महीनों में इंग्लैण्ड और अमरीका के बीच जबरदस्त तनाव था और दोनों के बीच युद्ध ठन जाने की भी चर्चा थी। यह तनाज़ा समुद्रों पर अमरीका की जहाज़रानी में इंग्लैण्ड की दस्तन्दाजी से पैदा हुआ था, क्योंकि इंग्लैण्ड को शंका थी कि अमरीका के जहाज़ जर्मनी को माल ले जाते हैं। लेकिन तुरन्त-ही इंग्लैण्ड के प्रचार का संचालन करनेवाली व्यवस्था ज़ोरों से काम करने लगी और अमरीका को अपनी ओर मिलाने का विशेष यत्न करने लगी। सबसे पहले अत्याचार सम्बन्धी प्रचार को हाथ में लिया गया और जर्मन-सेना ने बेल्जियम में जो-कुछ किया, उसके भीषण क़िस्से प्रचारित किये गये। इनमें से कुछेक क़िस्सों की कुछ बुनियाद भी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थी, मसलन लूवें[1] के विश्वविद्यालय और पुस्तकालय का नष्ट किया जाना, लेकिन अधिकतर क़िस्से कोरे मन-गढ़न्त थे।

इस प्रचार ने, और जर्मनी की पनडुब्बियों की कार्रवाइयों ने, अमरीका को मित्र-राष्ट्रों की ओर लाने में बड़ा भारी काम किया। लेकिन आख़िरी निर्णयात्मक कारण तो रुपया था।

युद्ध एक ख़र्चीला धन्धा है--भयंकर रूप से ख़र्चीला। यह मूल्यवान सामग्री के पहाड़-के-पहाड़ हड़प कर जाता है और एवज में केवल बरबादी सामने रखता है। शुरू-शुरू में मित्र-राष्ट्रों के पक्षवालों में केवल इंग्लैण्ड और फ्रान्स ही आसूदा समझे जा सकते थे। ये युद्ध-व्यय का केवल अपना ही हिस्सा नहीं देते थे, बल्कि रुपया और सामान उधार देकर अपने साथियों का भी हिस्सा अदा करते थे। कुछ समय बाद पेरिस चीं बोल गया--उसके आर्थिक साधन ख़तम हो गये। तब अकेले लन्दन ने युद्ध में मित्र-राष्ट्रों के पक्ष को धन की सहायता दी। युद्ध के दूसरे वर्ष के ख़तम होते-न-होते लन्दन भी चीं बोल गया। इसलिए सन् १९१६ ई० के अन्त तक फ्रान्स और इंग्लैण्ड दोनों की साख ख़तम हो गई। तब आर्थिक सहायता माँगने के लिए प्रमुख राजनीतिज्ञों का एक ब्रिटिश-शिष्टमण्डल अमरीका गया। अमरीका रुपया उधार देने को राज़ी हो गया, और फिर तो मित्र-राष्ट्रों के पक्ष की ओर से युद्ध को चलानेवाला यह अमरीकी रुपया ही था। मित्र-राष्ट्रों पर अमरीका का क़र्ज़ दिन दूना रात चौगुना बढ़ते-बढ़ते विस्मयजनक राशि तक जा पहुँचा; और ज्यों-ज्यों यह बढ़ता गया, त्यों-त्यों रुपया उधार देनेवाले अमरीकी बड़े बैंक और साहूकार मित्र-राष्ट्रों की विजय में अधिकाधिक स्वार्थ-रत हो गये। अगर जर्मनी मित्र-राष्ट्रों को पराजित कर दे, तो अमरीका ने उन्हें जो भारी रक़में उधार दी थीं, उनका क्या होगा ? अमरीकी बौहरे की जेब पर असर पड़ने लगा था और उसने इसीके मुताबिक ढंग अपनाया। युद्ध में अमरीका के मित्र राष्ट्रों में शामिल होने के पक्ष में भावना बलवान होने लगी, और निदान अमरीका शामिल हो ही गया।

जब, सन् १९१४ ई० के अगस्त महीने के शुरू में, युद्ध प्रारम्भ हुआ, तब सारी दुनिया की नज़र बेल्जियम पर, और फ्रान्स की उत्तरी सरहद पर थी। विशाल जर्मन-सेनाएँ आगे बढ़ती चली जा रही थीं और अपने रास्ते में आनेवाली तमाम रुकावटों का सफ़ाया कर रही थीं। छोटे-से बेल्जियम ने कुछ देर के लिए उन्हें आगे बढ़ने से रोक दिया, और इसपर क्रोधित होकर उन्होंने आतंक पैदा करनेवाली कार्रवाइयों से बेल्जियमवासियों को भयभीत करना चाहा। इन्हीं कार्रवाइयों को मित्र-राष्ट्रों ने अपने अत्याचारवाले क़िस्सों का आधार बनाया। ये सेनाएँ

---

[1] बेल्जियम का एक नगर।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पेरिस की ओर बढ़ीं, और फ्रान्सीसी सेना का तो मानों उनके सामने बिस्तर गोल हो गया और छोटी-सी ब्रिटिश सेना मार भगाई गई। युद्ध छिड़ने के एक-ही महीने के भीतर पेरिस का तो फ़ैसला होता हुआ नज़र आने लगा और फ्रान्सीसी-सरकार तो सचमुच अपने दफ्तर और मूल्यवान वस्तुएँ दक्षिण में बोर्दो[1] ले जाने की तैयारी करने लगी। कुछ जर्मनों ने तो समझा कि उन्होंने युद्ध क़रीब-क़रीब जीत लिया।

इसी दरमियान रूसी फ़ौजें पूर्वी प्रशिया पर धावा बोल रही थीं और यह प्रयत्न किया जा रहा था कि किसी तरह पश्चिमी मोर्चे से जर्मनी का ध्यान बँट जाय। फ्रान्स और इंग्लैण्ड में उस तथाकथित रूसी "सड़क कूट-इंजन" पर बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँधी जा रही थीं जो बर्लिन की तरफ़ बढ़ रहा था। लेकिन रूसी सिपाहियों के पास अच्छे और पूरे हथियार नहीं थे और उनके अफ़सर बिल्कुल अयोग्य थे और उनके पीछे ज़ार की भ्रष्ट सरकार थी। जर्मन लोग यकायक उनपर लौट पड़े और उन्होंने पूर्वी प्रशिया की झीलों और दलदलों में भीमकाय रूसी सेना को फाँसकर उसे बिल्कुल नष्ट कर दिया। इस जबरदस्त जर्मन विजय को टैननबर्ग का संग्राम कहा जाता है। इसमें भाग लेनेवाले मुख्य सेनापतियों में वॉन हिण्डनबर्ग था, जो बाद में जर्मन-गणराज्य का राष्ट्रपति बना।

यह महान् विजय थी, लेकिन परोक्ष रूप में इससे जर्मन-सेनाओं की भारी क्षति हुई। इसे प्राप्त करने के लिए, और पूर्व में रूसी प्रगति से कुछ डरकर, जर्मनों ने अपनी कुछ सेनाएँ फ्रान्सीसी मोर्चे से हटाकर रूसी मोर्चे पर भेज दी थीं। इससे पश्चिमी मोर्चे पर पड़ा हुआ दबाव कुछ कम हो गया था और फ्रान्सीसी-सेना ने धावा मारकर जर्मनों को पीछे ढकेलने का एक जबरदस्त प्रयत्न किया। सितम्बर, सन् १९१४ ई० के शुरू में, मार्न के संग्राम में, वह जर्मनों को क़रीब पचास मील पीछे हटाने में सफल हो गई। पेरिस बच गया और फ्रान्सीसियों तथा अंग्रेज़ों को दम लेने का कुछ समय मिल गया।

जर्मनों ने इस रक्षा-पंक्ति को तोड़कर आगे बढ़ने का एक और प्रयत्न किया और वे क़रीब-क़रीब सफल भी हो गये थे, लेकिन उन्हें ोक दिया गया। तब दोनों ओर की सेनाएँ खन्दकें खोदकर उनमें जम गईं और एक नई क़िस्म की लड़ाई, यानी खन्दक युद्ध-प्रणाली, शुरू हो गई। यह एक तरह की जिच थी, और तीन वर्ष से ऊपर, और कुछ हद तक युद्ध की लगभग समाप्ति तक, पश्चिमी मोर्चे पर यह खन्दक युद्ध-प्रणाली जारी रही और बड़ी भारी-भारी सेनाएं छछून्दरों की तरह जमीन खोदकर पड़ी रहीं और एक-दूसरी को बेदम करने का प्रयत्न करती रहीं। इस मोर्चे पर जर्मन और फ्रान्सीसी-सेनाओं की संख्या शुरू से ही बीसियों लाख तक

---

[1] फ्रान्स के दक्षिण में एक मशहूर बन्दरगाह।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पहुंच गई थी। इसी मोर्चे पर छोटी-सी ब्रिटिश सेना भी तेज़ी से बढ़ गई, यहाँतक कि उसकी संख्या भी लाखों में गिनी जा सकती थी।

पूर्वी या रूसी मोर्चे पर इससे ज्यादा हलचल थी। रूसी फ़ौजों ने आस्ट्रिया की फ़ौजों को बार-बार हराया, लेकिन ख़ुद उन्हें जर्मनों ने हराया। इस मोर्चे पर मरनेवलों की तादाद बहुत-ही बड़ी थी। यह मत समझ लेना कि खाइयों की लड़ाई की वजह से पच्छिमी मोर्चे पर मरनेवालों की तादाद किसी कदर कम थी। आदमियों की ज़िन्दगी के साथ एक अजीब बेपरवाही का सलूक़ किया जाता था और ख़न्दकी मुक़ामों पर बार-बार हमलों में लाखों को मौत के मुँह में झोंक दिया जाता था। और नतीजा कुछ नहीं निकलता था।

युद्ध के और भी अनेक रण-क्षेत्र थे। तुर्कों ने स्वेज़ नहर पर आक्रमण करने का प्रयत्न किया पर उन्हें पीछे हटा दिया गया। जैसाकि मैं पहले बतला चुका हूँ, मिस्र को दिसम्बर, सन् १९१४ ई० में ब्रिटिश-संरक्षित घोषित कर दिया गया था। तुरन्त-ही इंग्लैण्ड ने वहाँ की नई विधान सभा को स्थगित कर दिया और जिन लोगों पर सन्देह था उन्हें जेलों में भर दिया। राष्ट्रीयता-पोषक अख़बार बन्द कर दिये गये और पाँच से अधिक व्यक्तियों के एक जगह मिलने पर रोक लगा दी गई। वहाँ जो सेन्सर-प्रणाली[१] जारी की गई थी, उसे लन्दन के 'टाइम्स' अख़बार ने "बर्बरतापूर्ण क्रूर" बतलाया था। तमाम युद्ध-काल में यह देश वास्तव में फौजी क़ानून के मातहत रखा गया।

इंग्लैण्ड ने तुर्की पर, उसके जीर्ण-शीर्ण साम्राज्य के अनेक कमज़ोर मुक़ामों में हमला कर दिया—ईराक़ में, और, कुछ दिन बाद, फ़िलिस्तीन में और सीरिया में। अरब देश में अंग्रेज़ों ने अरब लोगों की राष्ट्रीय भावना से फ़ायदा उठाया और रुपये तथा सामान की खुले हाथ रिश्वतों की सहायता से तुर्की के विरुद्ध अरब-विद्रोह का संगठन किया। अरबस्तान में अंग्रेज़ों के एजेण्ट कर्नल टी० ई० लारेंस का इस विद्रोह में बहुत बड़ा हाथ था। बाद में इसने एक रहस्यपूर्ण व्यक्ति के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर ली, और एशिया के अनेक आन्दोलनों में परदे के पीछे से काम किया।

लेकिन तुर्की के मर्म-स्थान पर सीधा आक्रमण फ़रवरी १९१५ में हुआ, जब ब्रिटिश जहाज़ी बेड़े ने दर्रे दानियाल में जबरदस्ती घुसने की, और इस तरह क़ुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा करने की, कोशश की। यदि वे इसमें सफल हो गये होते, तो उन्होंने युद्ध में न केवल तुर्की का ही अन्त कर दिया होता, बल्कि पश्चिमी एशिया से सारे जर्मन-प्रभाव को विलग कर दिया होता। लेकिन वे असफल हुए। तुर्कों ने बड़ी वीरता से मुक़ाबला किया, और, ध्यान में रखने की दिलचस्प बात यह है कि

---

[१] **अख़बारों पर ख़बरें आदि छापने का प्रतिबन्ध।**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कमाल पाशा का इसमें बहुत बड़ा हाथ था। क़रीब एक साल तक अंग्रेज़ लोग गैलीपोली में इस प्रयत्न को चलाते रहे; भारी क्षति उठाने के बाद वे वापस लौट गये।

इटली कई महीनों तक युद्ध की गति को ध्यान से देखता रहा और यह पता लगाने की कोशिश करता रहा कि कौनसा पक्ष जीतेगा। निदान यह निश्चय करके कि जीत मित्र-राष्ट्रों को ही मिलेगी, उसने उनकी प्रस्तावित रिश्वतें स्वीकार कर लीं और एक गुप्त क़रारनामा तय पाया गया। मई १९१५ में इटली युद्ध में मित्र-राष्ट्रों के साथ बाक़ायदा शामिल हो गया। दो साल तक इटली और आस्ट्रिया की फ़ौजें एक दूसरी को हराने की सख्त मेहनत करती रहीं, पर कोई नतीजा नहीं निकला। तब जर्मन-फ़ौजें आस्ट्रिया की फ़ौजों की मदद को आ पहुंचीं और उनके सामने इटली की फ़ौजें ढेर हो गईं। आस्ट्रिया-जर्मनी की सेना लगभग वेनिस तक पहुँच गई।

अक्तूबर, सन् १९१५ ई० में, बल्गारिया जर्मनी के साथ आ मिला। इसके कुछ-ही दिन बाद आस्ट्रिया-जर्मनी की सेना ने बल्गारिया के सहयोग से सर्बिया को बिल्कुल कुचल दिया। सर्बिया के शासक को अपनी बची-खुची सेना के साथ देश छोड़कर भागना पड़ा और मित्र-राष्ट्रों के जहाज़ों में शरण लेनी पड़ी और सर्बिया जर्मन-शासन के अधीन हो गया।

बलकानी-युद्धों में अपने आचरण के बाद रूमानिया अवसरवादिता के लिए खासतौर पर मशहूर हो गया था। यह भी दो वर्ष तक महायुद्ध की गति-विधि को ताकता रहा और अन्त में अगस्त सन् १९१६ ई० में इसने अपना भाग्य मित्र-राष्ट्रों के साथ जोड़ दिया। इसकी सज़ा भी उसे बहुत जल्दी मिल गई। जर्मन सेना उस-पर टूट पड़ी, और उसने सारे मुक़ाबले को कुचल डाला। रूमानिया भी आस्ट्रिया-जर्मनी की फ़ौजों के अधिकार में आ गया।

इस प्रकार केन्द्रीय-शक्तियों का उत्तर-पूर्व में बेल्जियम पर और फ्रान्स के कुछ भाग पर तथा पोलैण्ड, सर्बिया और रूमानिया पर क़ब्ज़ा हो गया। युद्ध के अनेक छोटे-छोटे रण-क्षेत्रों में विजय इनके हाथ रही। लेकिन संघर्ष का मर्म-स्थल पश्चिमी मोर्चे पर, और समुद्रों पर था, और वहाँ इन्हें कोई सफलता नहीं मिल रही थी। उस मोर्चे पर प्रतिद्वन्दी सेनाएँ मृत्यु के आलिंगन में गुथी हुई पड़ी थीं। समुद्रों पर मित्र-राष्ट्रों का एकाधिकार था। युद्ध के प्रारम्भिक दिनों में कुछ जर्मन-क्रूज़र इधर-उधर घूमते फिरते थे और मित्र-राष्ट्रों की जहाज़रानी में बाधा पहुँचाते थे। इनमें से एक मशहूर जहाज़ 'ऐमडन' था, जिसने मद्रास तक पर बमबारी की थी। लेकिन यह तो एक तुच्छ नोक-झोंक थी, जिससे इस वास्तविकता में कोई फ़र्क नहीं पड़ता था कि समुद्री-रास्तों पर मित्र-राष्ट्रों का अधिकार था। और इस अधिकार की सहायता से उन्होंने मध्य-योरपीय शक्तियों (केन्द्रीय शक्तियों) को बाहर से मिलनेवाली तमाम भोजन-सामग्री और अन्य सामान से वंचित करने का प्रयत्न

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किया। जर्मनी और आस्ट्रिया की यह नाकेबन्दी उनके लिए भयंकर संकट हो गई, क्योंकि भोजन-सामग्री की बहुत कमी पड़ गई और सारी आबादी के भूखों मरने की नौबत आ गई।

उधर जर्मनी ने पनडुब्बियों के द्वारा मित्र-राष्ट्रों के जहाज़ों को डुबोना शुरू कर दिया। यह पनडुब्बी युद्ध-प्रणाली इतनी कारगर हुई कि इंग्लैण्ड पहुँचनेवाली भोजन सामग्री कम पड़ गई और अकाल का ख़तरा पैदा हो गया। मई, सन् १९१५ ई० में एक जर्मन पनडुब्बी ने एटलांटिक महासागर में चलनेवाले बड़े यात्री-जहाज़ 'लुसिटैनिया' को डुबो दिया और इसमें बहुत लोग डूब गये। इसमें अनेक अमरीकी यात्री भी डूब मरे और इसके कारण अमरीका में बड़ा रोष फैला।

जर्मनी ने हवा के रास्ते भी इंग्लैण्ड पर आक्रमण किया। विशालकाय ज़ैपलिन वायु-पोत चाँदनी रातों में लन्दन पर और गोला-बारूद के कारख़ानों-वाले स्थानों पर बम गिराने के लिए आते थे। बाद में बम गिराने का यह काम वायुयान करने लगे; और वायुयानों की भरभराहट का सुनाई देना, हवामार तोपों का छूटना, और बचाव के लिए लोगों का तहख़ानों में और ज़मीन्दोज़ मुक़ामों में दौड़ना, ये सब मामूली बातें हो गईं।

बस, यों महीने-दर-महीने युद्ध चलता रहा और उसमें मनुष्यों के प्राण इस तरह होम होने लगे जैसे दावानल में टीड़ी-दल भस्म होते हैं। और ज्यों-ज्यों यह आगे बढ़ता गया, त्यों-त्यों अधिक विनाशकारी और बर्बरतापूर्ण होता गया। जर्मनों ने ज़हरीली गैस चलाई और शीघ्र-ही दोनों पक्ष इसका उपयोग करने लगे। बमबारी के लिए वायुयानों का अधिक उपयोग होने लगा और फिर, सबसे पहले ब्रिटिश-पक्ष की ओर से, "टैंकों" का उपयोग शुरू हुआ। टैंक विशालकाय यान्त्रिक दानव होते हैं, जो कीड़ों की तरह रेंगते हुए हर चीज़ पर चढ़ जाते हैं। मोर्चों पर लाखों आदमी मौत के मुँह में चले गये और उनके पीछे उनके वतनों में स्त्रियाँ और बच्चे भुखमरी और वस्तुओं के अभाव की यातनाएँ सहने लगे। नाकेबन्दी के कारण ख़ासकर जर्मनी और आस्ट्रिया में, भयंकर भुखमरी फैल गई।

सन् १९१६ ई० के अन्तिम दिनों में मित्र-राष्ट्रों का पलड़ा भारी मालूम पड़ने लगा। उनके नये टैंकों ने पश्चिमी मोर्चे पर पहल उनके हाथ में दे दी थी; इंग्लैण्ड पर छापे मारनेवाले ज़ैपलिन वायु-पोतों पर आफ़तें आ रही थीं; जर्मन पन-डुब्बियों के बावजूद तटस्थ जहाज़ों पर काफ़ी भोजन सामग्री इंग्लैण्ड पहुँच पा रही थी। मई, सन् १९१६ ई० में उत्तरी सागर में एक जलसेना-संग्राम (जटलैण्ड का संग्राम) हुआ, जिसमें कुल मिलाकर अंग्रेज़ों की सफलता रही। इसी बीच जर्मनी की नाकेबन्दी से आस्ट्रिया-जर्मनी के लोगों को भुखमरी के आसार नज़र आने लगे थे। समय मानो मध्य-योरपीय शक्तियों (केन्द्रीय शक्तियों) के ख़िलाफ़ था, इसलिए चट-पट कार्रवाई की आवश्यकता महसूस की जाने लगी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसपर जर्मन नेताओं ने अपना पनडुब्बी-युद्ध घमासान बनाने का निश्चय किया, ताकि इंग्लैण्ड भूखा मरकर घुटने टेक दे। जनवरी, सन् १९१७ ई० में उन्होंने ऐलान किया कि वे कुछ समुद्रों में तटस्थ जहाज़ों को भी डुबो देंगे। इस घोषणा ने अमरीका को बहुत नाराज़ कर दिया— वह अपने जहाज़ों का इस प्रकार डुबोया जाना बरदाश्त नहीं कर सकता था। इससे उसका युद्ध में शामिल होना अनिवार्य हो गया। वास्तव में जब जर्मन-सरकार ने बिना रोक-टोक सब जहाज़ों को डुबोने के बारे में निश्चय किया, तो उसे यह बात मालूम रही होगी। जो भी हो, संयुक्त-राज्य अमरीका ने अप्रैल, सन् १९१७ ई० में युद्ध की घोषणा कर दी।

लेकिन अमरीका के युद्ध में शामिल होने से पहले ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एक और घटना घट चुकी थी। १५ मार्च, सन् १९१७ ई० को प्रथम रूसी-क्रान्ति के फलस्वरूप ज़ार को गद्दी छोड़नी पड़ गई थी। इस क्रान्ति के कारण युद्ध की गति-विधि में जबरदस्त फ़र्क़ पड़ गया। यह स्पष्ट हो गया कि रूस अब अगर चाहता, तो भी जर्मन शक्तियों के विरुद्ध ज्यादा नहीं लड़ सकता था। इसका अर्थ यह हुआ कि जर्मनी पूर्वी मोर्चे की चिन्ता से बिल्कुल बरी हो गया। अब वह अपनी तमाम या अधिकांश पूर्वी सेनाओं को वहाँ से हटाकर पश्चिमी मोर्चे पर भेज सकता था और उन्हें फ्रान्सीसियों और अंग्रेज़ों पर धावा बोलने के काम में ला सकता था।

रूसी-क्रान्ति ने मानो जर्मनी को सहायता पहुँचाई। लेकिन इसपर भी यह अन्दरूनी कमज़ोरी का एक बड़ा भारी कारण बन गई। पहली क्रान्ति को आठ महीने भी न बीते थे, कि दूसरी क्रान्ति हो गई, जिसके फलस्वरूप सोवियतों और बोल्शेविकों के हाथ में सत्ता आ गई, जिनका नारा था शान्ति। उन्होंने तमाम युद्ध-रत देशों के मज़दूरों और सिपाहियों को पुकारा और शान्ति के लिए अपील की। उन्होंने बतलाया कि यह पूंजीपतियों का युद्ध है और यह कि मज़दूरों को चाहिए कि वे साम्राज्यवादी ध्येयों की पूर्ति के लिए अपने-आप को तोपों का निवाला न बनने दें। इनमें से कुछ आवाजें मोर्चों पर लड़नेवाले अन्य राष्ट्रों के सिपाहियों के कानों में पहुँचीं और इन्होंने उनके दिलों पर बहुत असर किया। फ्रान्सीसी सेना में बग़ावतें हुईं, जिन्हें अधिकारी लोग किसी तरह सिर्फ़ दबा-ही पाये। जर्मन-सिपाहियों के दिलों पर तो और भी ज्यादा असर हुआ, क्योंकि कितनी-ही पलटनों ने तो क्रान्ति के बाद रूसी सेना से सचमुच भाईचारा स्थापित कर लिया था। जब इन पलटनों की बदली पश्चिमी मोर्चे पर की गई, तो वे यह सन्देश अपने साथ ले गईं और इसे अन्य पलटनों में फैलाने लगीं। जर्मनी युद्ध से ऊब चुका था और उसकी हिम्मत बिल्कुल टूट गई थी, इसलिए रूस के ये बीज ऐसी ज़मीन पर पड़े जो उनके लिए पहले ही तैयार थी। इस तरह रूसी-क्रान्ति ने अन्दरूनी तौर पर जर्मनी को कमज़ोर कर दिया।

लेकिन जर्मन-सैनिक-अधिकारी इन अशुभ-लक्षणों को देख नहीं रहे थे, और मार्च, सन् १९१८ ई० में उन्होंने सोवियत रूस को एक दबा मारनेवाली और अप-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

योरप — प्रथम विश्वयुद्ध के बाद में

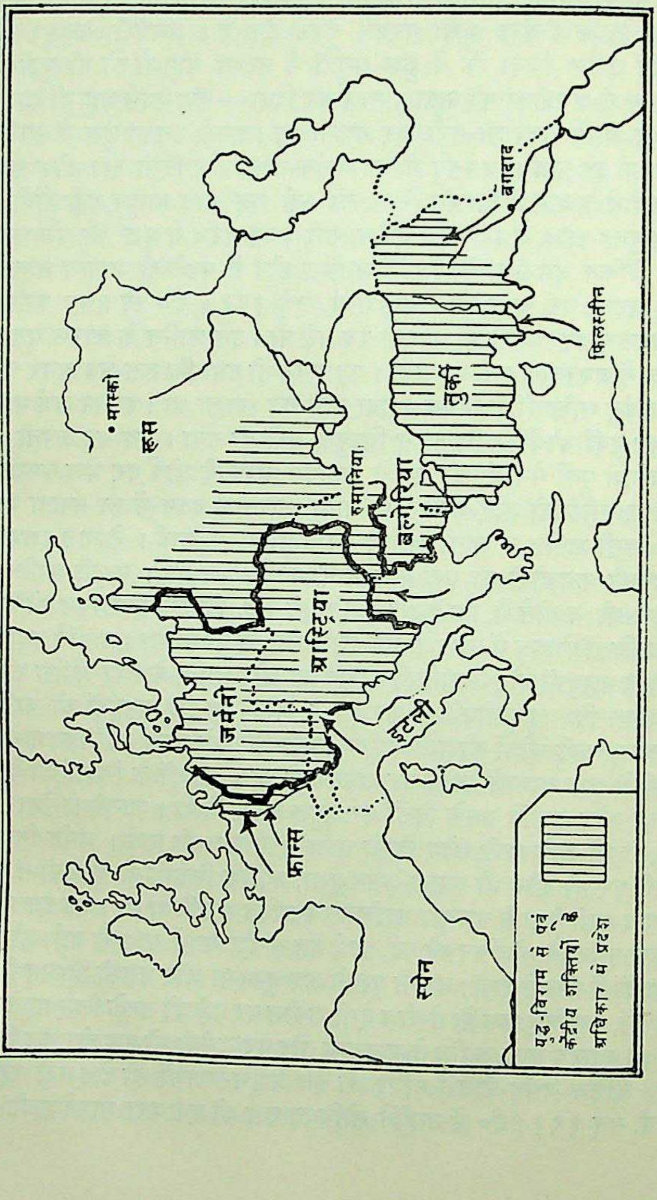

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मानपूर्ण सन्धि स्वीकार करने को विवश कर दिया। सोवियतों को इसे इसलिए स्वीकार करना पड़ा कि उनके सामने दूसरा कोई चारा नहीं था और वे किसी भी क़ीमत पर सुलह चाहते थे। मार्च, सन् १९१८ ई० में ही जर्मनों ने पश्चिमी मोर्चे पर अपना अन्तिम जबरदस्त हमला किया। जर्मन लोग अंग्रेज़ी-फ्रांसीसी रक्षा-पंक्ति को तोड़कर, और इस धावे में सेनाओं को नष्ट करते हुए, आगे बढ़ गये और फिर उसी मार्न नदी तक जा पहुँचे, जहाँ से साढ़े तीन वर्ष पहले उन्हें पीछे ढकेल दिया गया था। यह भागीरथ प्रयत्न था, लेकिन यह आखिरी था, और जर्मनी का सारा बल खतम हो गया। इसी दरमियान एटलाण्टिक महासागर पार करके अमरीकी सेनाएँ आ गईं और पिछले कटु अनुभव से लाभ उठाकर अब पश्चिमी मोर्चे पर सारे मित्र-राष्ट्रों की सेनाएँ—ब्रिटिश, अमरीकी, फ्रान्सीसी—एक सर्वोपरि सेनापति के अधीन कर दी गईं, ताकि सबके बीच पूरा-पूरा सहयोग हो सके और मिलकर प्रयत्न किया जा सके। पश्चिम में सारी मित्र-राष्ट्रीय सेना का सर्वोपरि सेनापति फ्रान्स के मार्शल फोश को बनाया गया। सन् १९१८ ई० के मध्य तक निश्चय रूप से हवा का रुख बदल गया—पहल और हमला-आवरी, दोनों मित्र-राष्ट्रों के हाथ में आ गईं और ये जर्मनों को पीछे ढकेलते हुए आगे बढ़ने लगे। अक्तूबर तक युद्ध का अन्त नज़दीक नज़र आने लगा और विराम-सन्धि की चर्चा होने लगी।

४ नवम्बर को कील में जर्मन नौ-सेना में बग़ावत हो गई और पाँच दिन बाद बर्लिन में जर्मन-गणराज्य की घोषणा कर दी गई। उसी दिन, यानी ९ नवम्बर को, क़ैसर विल्हैल्म द्वितीय अशोभनीय और बेग़ैरत ढंग से जर्मनी छोड़कर हालैण्ड भाग गया और इसके साथ ही हायनज़ॉलर्न घराने का अन्त हो गया।

११ नवम्बर, सन् १९१८ ई०, को विराम सन्धि पर हस्ताक्षर हो गये और युद्ध का अन्त हो गया। इस विराम-सन्धि का आधार वे "चौदह शर्तें" थीं जो अमरीका के राष्ट्रपति विल्सन ने रची थीं। ये शर्तें इन बातों को ध्यान में रखकर रची गई थीं—सम्बन्धित छोटे-छोटे राष्ट्रों के आत्म-निर्णय का सिद्धान्त, निरस्त्रीकरण, गुप्त कूटनीति से बचना, शक्तियों द्वारा रूस की सहायता, और राष्ट्र-संघ।

युद्ध के लम्बे वर्षों ने युद्ध-संलग्न देशों को पशु बना दिया था। इन्होंने बहुत-से लोगों की नैतिक भावना नष्ट कर दी थी और बहुत-से होश-हवासवाले व्यक्तियों को अर्ध-अपराधी बना दिया था। लोग हिंसा के और सच्ची बातों की जान-बूझकर तोड़-मरोड़ के आदी हो गये थे और उनके हृदयों में भी विद्वेष और प्रतिशोध की भावना भर गई थी।

युद्ध में मृतकों और आहतों की कुल संख्या का हिसाब आगे लिखे मुताबिक़ लगाया गया है :

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ज्ञात मृतक सिपाही	१,००,००,०००
मृतक माने गये सिपाही	३०,००,०००
मृतक नागरिक	१,३०,००,०००
घायल	२,००,००,०००
बन्दी	३०,००,०००
युद्ध-अनाथ	९०,००,०००
युद्ध-विधवाएँ	५०,००,०००
शरणार्थी	१,००,००,०००

: १०० :

ज़ारशाही का ख़ात्मा : अक्तूबर-क्रान्ति

महायुद्ध के अपने वर्णन में मैंने रूसी-क्रान्ति का और युद्ध पर उसके असर का ज़िक्र किया था। युद्ध पर इस असर के अलावा यह क्रान्ति ख़ुद भी एक जबरदस्त घटना थी, जो संसार के इतिहास में बेजोड़ है। हालाँकि अपने ढंग की यह पहली-ही क्रान्ति थी, मगर यह अन्य देशों के लिए एक चुनौती और संसार-भर के क्रान्तिकारियों के लिए उदाहरण बन गई है। इसलिए यह बारीकी से अध्ययन करने योग्य है। निस्सन्देह यह युद्ध का सबसे बड़ा परिणाम थी; फिर भी युद्ध में कूदनेवाली किसी भी सरकार या राजनीतिज्ञ को न तो इसका ज़रा भी गुमान था और न वे इसे ज़रा भी चाहते थे। यह कहना ज़्यादा सही होगा कि इसका जन्म रूस की उन तत्कालीन ऐतिहासिक और आर्थिक परिस्थितियों से हुआ, जो युद्ध-जनित विशाल जन-हानि और कष्टों के कारण तेजी से चरम सीमा पर पहुँच गई थीं और जिनका लेनिन-सरीखे उत्कृष्ट दिमाग़वाले और क्रान्ति के ऋषि ने लाभ उठाया।

असल में तो सन् १९१७ ई० में रूस में दो क्रान्तियाँ हुईं—एक मार्च में और दूसरी नवम्बर में। या इस पूरे काल को क्रान्ति की एक धारावाही प्रक्रिया माना जा सकता है जिसमें दो बार बाढ़ आई।

रूस के बारे में मैंने सन् १९०५ ई० की क्रान्ति का ज़िक्र किया है। यह पाशविकता से दबा दी गई थी और ज़ार की हुकूमत अबाध निरंकुशता के अपने निश्चित मार्ग पर चलती रही। मार्क्सवादियों को, और ख़ासकर बोल्शेविकों को, कुचल दिया गया और उनके सब प्रधान नर और नारियाँ या तो साइबेरिया की ताजीरी-बस्तियों में थे, या विदेशों में निर्वासित थे। लेकिन विदेशवासी इन मुट्ठी-भर लोगों ने भी लेनिन के नेतृत्व में अपना प्रचार और अध्ययन जारी रखा। ये सब-के-सब

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पक्के मार्क्सवादी थे। लेनिन ने मार्क्सवाद की बुनियादी बातों को रूस के अनुकूल ढालना शुरू किया। इस विषय पर उसने बहुत अधिक लिखा। अगर क्रान्ति का प्रयत्न किया जानेवाला था, तो लेनिन की राय थी कि लोगों को इस काम के लिए पूरी तरह तैयार किया जाना भी ज़रूरी था, ताकि जब कार्रवाई का समय आवे, तो वे साफ़ तौर से सोच सकें कि उन्हें क्या करना है।

सन् १९१४ ई० में ही रूस का शहरी मज़दूर-वर्ग जागृत होने लगा था और दुबारा क्रान्तिकारी बन रहा था। बहुत-सी राजनैतिक हड़तालें हुईं। तभी युद्ध शुरू हो गया और इसने लोगों का सारा ध्यान खींच लिया और सबसे ज्यादा प्रगतिशील मज़दूर सिपाही बनाकर मोर्चों पर भेज दिये गये। लेनिन और उसकी जमात ने शुरू से ही युद्ध का विरोध किया (अधिकतर नेता रूस से बाहर निर्वासित थे)। उन्होंने इसे पूंजीपतियों का युद्ध बतलाया, जिससे मज़दूर-वर्ग का कोई सरोकार नहीं था; अगर था तो केवल उसी हद तक, जहाँतक कि वे अपनी आज़ादी प्राप्त करने के लिए उसका फ़ायदा उठा सकें।

ज़ार निकोलस बड़ा मूर्ख आदमी था जो अपनी पत्नी ज़ारीना के बहुत ज्यादा असर में था और वह भी उतनी-ही मूर्ख, पर उससे ज्यादा दृढ़ थी। इन दोनों ने अपने चारों ओर लफंगों और मूर्खों को जमा कर रखा था और किसीकी मजाल नहीं थी कि इनकी आलोचना करे। मामला यहाँतक पहुँचा कि ग्रिगोरी रासपुटीन नामक एक घृणित गुण्डा ज़ारीना का मुख्य कृपापात्र बन गया और ज़ारीना के ज़रिये से ज़ार का भी (रासपुटीन का अर्थ है "गन्दा कुत्ता")। रासपुटीन एक गरीब किसान था, जो घोड़ों की चोरी के मामले में झमेले में पड़ गया था। इसने पवित्रता का बाना धारण करने का और फ़क़ीरी का लाभदायक पेशा इख़्तियार करने का निश्चय किया। भारत की तरह रूस में भी पैसा कमाने का यह आसान तरीक़ा था। उसने अपने बाल बढ़ाने शुरू किये और बालों के साथ उसकी प्रसिद्धि भी बढ़ी, यहाँतक कि वह शाही-दरबार में जा पहुँचा। ज़ार और ज़ारीना का इकलौता पुत्र रोग के कारण कुछ अशक्त था, और रासपुटीन ने किसी तरह ज़ारीना को यह विश्वास दिला दिया कि वह उसे चंगा कर देगा। बस, उसकी क़िस्मत खुल गई और कुछ-ही समय में वह ज़ार और ज़ारीना पर हावी हो गया और ऊँचो-से-ऊंचो नियुक्तयाँ उसीकी सलाह पर की जाने लगी। उसका जीवन बड़ा-ही दुराचारपूर्ण था और वह भारी-भारी रिश्वतें लेता था, लेकिन फिर भी उसने वर्षों तक अपना प्रभुत्त्व जमाये रखा।

इससे सबके दिलों में नफ़रत पैदा हो गई। यहाँतक कि उदार दली और अमीर-वर्ग के लोग भी बड़बड़ाने लगे और प्रासाद-क्रान्ति[1] की—यानी ज़ार को

---

[1] पेलेस रिवोल्यूशन।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जबरदस्ती बदल डालने की—चर्चा चलने लगी। इसी बीच ज़ार निकोलस ने अपने-आपको अपनी सेना का प्रधान सेनापति बना लिया था और वह हर चीज़ को चौपट कर रहा था। सन् १९१६ ई० के अन्त से कुछ दिन पहले ज़ार के कुटुम्ब के एक व्यक्ति ने रासपुटिन की हत्या कर डाली। उसे भोजन के लिए निमन्त्रित किया गया और कहा गया कि वह अपने गोली मार ले; लेकिन जब उसने ऐसा करने से इन्कार किया, तो उसे गोली मार दी गई। इसकी हत्या का लोगों ने एक बला से छुटकारा पाने के रूप में स्वागत किया, लेकिन इसके परिणामस्वरूप ज़ार की खुफ़िया पुलिस का अत्याचार और भी बढ़ गया।

संकट गहरा हो गया। अन्न का अकाल पड़ गया और पेट्रोग्राद में भोजन के लिए दगे हो गये। और फिर, मार्च के प्रारम्भ में, मज़दूरों की घोर पीड़ा में से अप्रत्याशित और अपने-आप क्रान्ति पैदा हो गई। मार्च की ८ तारीख से लगाकर १२ तारीख तक के पाँच दिनों में इस क्रान्ति की शानदार विजय हो गई। यह कोई महली मसला नहीं था, न कोई संगठित क्रान्ति ही थी, जिसकी योजना चोटी के नेताओं ने होशियारी से बनाई हो। यह तो मानों नीचे से उठी थी, सबसे अधिक पद-दलित मज़दूरों में से उठी थी, और बिना किसी ज़ाहिरा योजना या नेतृत्व के अन्धे की तरह टटोलती हुई आगे बढ़ी थी। जनता ने ख़ुद ही पहले क़दम उठाया। इन क्रान्तिकारी जन-समूहों को विनाश पर उतारू अव्यवस्थित भीड़ समझने की ग़लती नहीं करनी चाहिए, जैसेकि पहले अक्सर किसानों के दंगे हुए थे। मार्च की इस क्रान्ति के बारे में महत्त्वपूर्ण तथ्य यह था कि इसमें, इतिहास में पहली बार, कारखानों के मज़दूर-वर्ग ने, जिसे "सर्वहारा वर्ग" कहा गया है, नेतृत्त्व किया था, और यद्यपि इन मज़दूरों के साथ उस समय कोई ऊँचे दर्जे के नेता नहीं थे (लेनिन और अन्य नेता या तो क़ैदी थे या निर्वासित), फिर भी इनमें लेनिन की जमात द्वारा तैयार किये हुए कितने-ही अज्ञात कार्यकर्ता थे। बीसियों कारख़ानों के इन अज्ञात मज़दूरों ने सारे आन्दोलन को सहारा लगाकर बल दिया और उसे निश्चित मार्गों पर चलाया।

८ मार्च १९१७ ई० को क्रान्ति की पहली गड़गड़ाहट सुनाई देती है। नारियाँ नेतृत्व करती हैं और कपड़े के कारख़ानों की मज़दूरनियाँ बाहर निकल आती हैं और बाज़ारों में प्रदर्शन करती हैं। दूसरे दिन हड़तालों का ज़ोर बढ़ जाता है; अनेक मज़दूर भी बाहर निकल आते हैं; रोटी की पुकार मचाई जाती है और "निरंकुशता का नाश हो" के नारे लगाये जाते हैं। अधिकारी लोग प्रदर्शनकारी मज़दूरों को कुचलने के लिए क़ज़्ज़ाकों को भेजते हैं, जो पहले भी सदा ज़ारशाही के मुख्य पुश्ते रहे थे। क़ज़्ज़ाक़ लोग भीड़ को धक्के मारकर तितर-बितर करते हैं, पर गोलियाँ नहीं चलाते। और मज़दूर बड़ी प्रसन्नता के साथ देखते हैं कि अपनी सरकारी वरदियों के बावजूद क़ज़्ज़ाक़ लोग असल में उनके प्रति मैत्री-भाव रखते

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हैं : तुरन्त-ही लोगों का उत्साह बढ़ जाता है और वे क़ज़्ज़ाक़ों से भाईचारा बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन पुलिस से घृणा की जाती है और उसपर पत्थर फेंके जाते हैं। तीसरे दिन, १० मार्च को, क़ज़्ज़ाक़ों के साथ भाईचारे की भावना बढ़ती हुई नज़र आती है। यहाँतक कि यह अफ़वाह फैल जाती है कि लोगों पर गोलियाँ चलानेवाली पुलिस पर क़ज़्ज़ाकों ने गोलियाँ चलाई। पुलिस बाज़ारों से हट जाती है। मज़दूर नारियाँ सिपाहियों के पास जाती हैं और उनसे मार्मिक अपील करती हैं—सिपाहियों की संगीनें आकाश की ओर उठ जाती हैं।

अगला दिन, ११ मार्च, इतवार होता है। मज़दूर लोग शहर के बीच में जमा होते हैं और पुलिस उनपर छिपे स्थानों से गोलियाँ चलाती है। कुछ सिपाही भी लोगों पर गोलियाँ चलाते हैं; इसपर वे उस पलटन की बारकों में जाकर सख्त शिकायत करते हैं। पलटन का दिल पिघल जाता है और वह अपने ग़ैर-कमीशनी अफ़सरों की मातहती में जनता की रक्षा के निए निकल पड़ती है—वह पुलिस पर गोलियाँ चलाती है। पलटन को गिरफ्तार किया जाता है, पर अब मामला हाथ से निकल चुका होता है। १२ मार्च को विद्रोह अन्य पलटनों में फैल जाता है और वे अपनी रायफलें और मशीन-गनें लेकर निकल पड़ती हैं। बाज़ारों में ख़ूब गोलियाँ चलती हैं; लेकिन यह कहना मुश्किल था कि कौन किसपर गोलियाँ चला रहा है। फिर सिपाही और मज़दूर जाकर कुछ मन्त्रियों को (बाक़ी भाग चुके हैं), पुलिसवालों को और ख़ुफ़िया विभाग के कर्मचारियों को गिरफ्तार कर लेते हैं। वे जेलों में पड़े हुए पुराने राजनैतिक बन्दियों को रिहा कर देते हैं।

पेट्रोग्राद में क्रान्ति की शानदार विजय हो चुकी थी। शीघ्र ही मास्को ने भी उसका अनुकरण किया। गाँवों के लोग इन घटनाओं को ग़ौर से देख रहे थे। धीरे-धीरे किसान-वर्ग ने नई व्यवस्था को स्वीकार कर लिया, पर बिना उत्साह के। उनके लिए तो दो ही महत्त्वपूर्ण सवाल थे, धरती के स्वामी बनना और शान्ति के साथ रहना।

ज़ार का क्या हुआ? इन घटनापूर्ण दिनों में उसपर क्या बीत रही थी? वह पेट्रोग्राद में नहीं था—वह वहाँ से बहुत दूर एक छोटे-से नगर में था, जहाँ से प्रधान सेनापति की हैसियत से वह सेनाओं का संचालन कर रहा था, ऐसा समझा जाता था। जब ज़ार ने पेट्रोग्राद में मज़दूरों की हड़ताल का और दंगों का हाल सुना, तो उसने फ़ौजी-क़ानून की घोषणा की आज्ञा दी। कमान करनेवाले सेनापति ने इसे बाक़ायदा घोषित तो कर दिया, पर यह घोषणा न तो शहर में प्रचारित की गई और न चिपकाई गई, क्योंकि इस काम को करनेवाला ही कोई न मिला! सरकारी व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। ज़ार ने अब भी इन सब घटनाओं की ओर से आँखें मूँदकर पेट्रोग्राद वापस जाना चाहा। रेल के मज़दूरों ने रास्ते में उसकी गाड़ी रोक ली। ज़ारीना ने, जो उस समय पेट्रोग्राद के बाहर की एक बस्ती में थी, ज़ार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को एक तार भेजा। तार-घर ने उसपर पेन्सिल से यह लिखकर उसे लौटा दिया : "पानेवाले का पता ठिकाना नामालूम" !

मोर्चे पर लड़नेवाले सेनापतियों ने और पेट्रोग्राद में रहनेवाले उदारदली नेताओं ने इन घटनाओं से भयभीत होकर, और इस टूट-फूट में से जो-कुछ बच सके बचाने की आशा करके, ज़ार से राजगद्दी छोड़ देने की प्रार्थना की। ज़ार ने ऐसा-ही किया और अपने एक कुटुम्बी को अपना उत्तराधिकारी नामज़द कर दिया। लेकिन अब कोई ज़ार नहीं होनेवाले था—रोमानोफ़ का घराना, तीन सौ वर्षों के निरंकुश शासन के बाद, रूसी रंगमंच से सदा के लिए प्रस्थान कर गया।

इसी दरमियान सोवियत का रूप बनने लगा। मज़दूरों के प्रतिनिधियों के अलावा सिपाहियों के प्रतिनिधि भी इसमें शामिल कर दिये गये और नई सोवियत ने विशाल तौरीद प्रासाद के एक हिस्से पर अधिकार कर लिया जिसका कुछ भाग दूमा ने घेर रखा था। मज़दूरों और सिपाहियों में अपनी विजय के कारण उत्साह भरा हुआ था। पर अब सवाल यह पैदा हुआ : इस विजय का वे क्या करें? उन्होंने सत्ता प्राप्त कर ली थी; उसका प्रयोग कौन करे? उन्हें यह नहीं सूझा कि खुद सोवियत ही यह काम कर सकती है; उन्होंने यह मान लिया कि मध्यम-वर्ग को ही सत्ता ग्रहण करनी चाहिए। इसलिए सोवियत का एक शिष्टमण्डल पैर घसीटता दूमा के पास यह कहने के लिए गया कि वह शासन का कार्य सम्हाले। दूमा के अध्यक्ष और सदस्यों ने समझा कि ये लोग उन्हें गिरफ्तार करने आये हैं। वे नहीं चाहते थे कि सत्ता का भार उनपर डाला जाय—वे इससे पैदा होनेवाले ख़तरों से डरते थे। लेकिन वे करते भी तो क्या? सोवियत शिष्टमण्डल ने आग्रह किया और इन लोगों को इन्कार करने में भी डर लगा। इसलिए बड़ी अनिच्छापूर्वक और परिणामों से डरते हुए, दूमा की एक कमेटी ने सत्ता स्वीकार कर ली।

दूमा की कमेटी ने जो काम-चलाऊ सरकार नियुक्त की, वह बहुत-ही कट्टरपन्थी जमात थी और उसका प्रधान मन्त्री एक राजवंशी था। उसी इमारत के दूसरे हिस्से में सोवियत की बैठकें होती थीं और यह काम चलाऊ सरकार के काम में निरन्तर हस्तक्षेप करती रहती थी। लेकिन खुद सोवियत भी शुरू में मद्धिम विचारों की थी और उसमें बोल्शेविकों की संख्या मुट्ठी-भर थी। इस तरह एक प्रकार की दोहरी हुकूमत चल रही थी—यानी काम-चलाऊ सरकार और सोवियत : और इन दोनों के पीछे वे क्रान्तिकारी जन-समूह थे जिन्होंने क्रान्ति को सफल बनाया था और उससे बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँध रखी थीं। नई सरकार से भूखी और युद्ध-थकित जनता को जो एक मात्र मार्ग-दर्शन मिला, वह यह था कि जबतक जर्मनों को परास्त न कर दिया जाय, तबतक उन्हें युद्ध को चलाते रहना चाहिए। उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि क्या इसी चीज़ के लिए उन्होंने क्रान्ति की मुसीबतें झेलीं थीं और ज़ार को निकाल बाहर किया था!

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ठीक इसी समय, १७ अप्रैल को, लेनिन मौके पर पहुँचा। युद्ध के शुरू से आखीर तक वह स्वीज़रलैण्ड में रहा था, और जैसे ही उसने क्रान्ति का समाचार सुना, वह रूस आने के लिए छटपटाने लगा। पर वह आता कैसे? अंग्रेज़ और फ़्रान्सीसी उसे अपने-अपने प्रदेशों में होकर गुज़रने की अनुमति नहीं देते थे, और न जर्मन तथा आस्ट्रियावासी ही। आख़िरकार जर्मन-सरकार ख़ुद अपने-ही मतलब से इस बात पर राज़ी हो गई कि वह एक बन्द रेलगाड़ी में बैठकर स्वीज़र-लैण्ड की सरहद से रूसी सरहद तक जर्मनी में होकर निकल जाय। उन्हें आशा थी, और इसके लिए कारण भी जरूर था, कि लेनिन के रूस पहुँचने से काम-चलाऊ सरकार और युद्ध-समर्थक दल कमजोर पड़ जायँगे, क्योंकि लेनिन युद्ध-विरोधी था और वे इसका फ़ायदा उठाना चाहते थे। उन्हें यह कल्पना नहीं हुई कि यह अज्ञात-सा क्रान्तिकारी अन्त में सारे योरप को और सारी दुनिया को हिला डालेगा।

लेनिन के दिमाग में न तो कोई शंका थी और न अस्पष्टता। उसकी तीक्ष्ण नज़रें जनता के भाव-परिवर्तनों को पकड़ लेती थीं; उसका सुलझा हुआ दिमाग़ सुविचारपूर्ण सिद्धान्तों को परिवर्तनशील परिस्थितियों में प्रयोग कर सकता था और ढाल सकता था; उसकी अनमनीय इच्छा-शक्ति तात्कालिक परिणामों की परवाह न करती हुई उसके सोचे हुए मार्ग को पकड़े रहती थी। जिस दिन वह पहुँचा, उसी दिन उसने बोल्शेविक दल को ज़ोर से झंझोड़ डाला, उनकी अकर्मण्यता की निन्दा की, और जोश-भरे वाक्यों में उन्हें बतलाया कि उनका कर्त्तव्य क्या था। उसका भाषण बिजली की धारा थी जो दर्द भी पहुँचाती है और साथ-ही जान भी डालती है। उसने कहा—"हम लोग पाखंडी नहीं हैं, हमें अपना आधार केवल जनता की चेतना को ही बनाना चाहिए। अगर अल्पमत में रहना आवश्यक हो, तो हम यही करेंगे। कुछ समय के लिए नेतृत्व का स्थान ग्रहण नहीं करना अच्छा है; हमें अल्प-मत में रहने से डरना नहीं चाहिए।" बस, वह अपने सिद्धान्तों पर अटल रहा और उन्हें ख़तरे में डालने के लिए कभी राज़ी नहीं हुआ। जो क्रान्ति अभीतक नेतृत्वहीन और बिना मार्ग-दर्शन के अनिश्चित दिशा में चली जा रही थी, उसे आख़िर अपना नेता प्राप्त हो गया। उपयुक्त अवसर ने उपयुक्त व्यक्ति पैदा कर दिया था।

लेनिन के आते-ही यह सब बदल गया। उसने तुरन्त-ही स्थिति पहचान ली। ग़रीब किसान-वर्ग के सहयोग से मज़दूर-वर्ग का शासन कायम करने के लिए अब पूंजीवाद के विरुद्ध लड़ाई छेड़ी जानेवाली थी। बोल्शेविकों के तीन तात्कालिक नारे थे—(१) लोकतन्त्री गणराज्य; (२) जमींदारी-जागीरों की ज़ब्ती; और (३) मज़दूरों के लिए दिन में आठ घण्टे काम। इन नारों ने तुरन्त-ही किसान और मज़दूर-वर्गों के लिए संघर्ष में वास्तविकता पैदा कर दी।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

लेनिन की नीति यह थी कि बोल्शेविक लोग मज़दूरों के बहुमत को अपनी ओर मिला लें और इस प्रकार सोवियत पर कब्ज़ा कर लें; और फिर सोवियत काम-चलाऊ सरकार से सत्ता छीन ले। वह तुरन्त-ही दूसरी क्रान्ति के पक्ष में नहीं था। उसका आग्रह था कि काम-चलाऊ सरकार को उखाड़ फेंकने का समय आने से पहले मज़दूरों और सोवियत के बहुमत को अपनी ओर मिला लेना जरूरी है। जो लोग सरकार के साथ सहयोग करना चाहते थे, उनके प्रति उसका रुख कठोर था; उसका कहना था कि यह क्रान्ति के साथ विश्वासघात करना है। इतना-ही कठोर रुख उसका उनके प्रति था, जो उपयुक्त अवसर आने से पहले ही दौड़कर इस सरकार को उलट देना चाहते थे।

दोनों पक्षों के समझौतापरस्त लोगों ने काम-चलाऊ सरकार और सोवियत के बीच के झगड़े को टालने की चाहे जितनी कोशिशें की हों, परन्तु यह झगड़ा अनिवार्य था। सरकार मित्र-राष्ट्रों को युद्ध जारी रखकर और रूस के सम्पत्तिवानवर्ग को, जहाँतक हो सके, उनकी मिल्कियतों की रक्षा करके, राज़ी रखना चाहती थी। जनता से अधिक सम्पर्क में होने के कारण सोवियत ने सुलह की तथा किसानों के लिए धरती की माँग की, और दिन में आठ घंटे काम वग़ैरा की मज़दूरों की अनेकों माँगों को, अनुभव कर लिया। इस तरह हुआ यह कि सरकार को तो सोवियत ने बेकार कर दिया और खुद सोवियत जनता द्वारा बेकार कर दी गई, क्योंकि जनता वास्तव में दलों और नेताओं से कहीं अधिक क्रान्तिकारी थी।

यह प्रयत्न किया गया कि सरकार सोवियत के साथ ज्यादा मिलकर चले और केरेन्स्की नामक एक वामपक्षी वकील और प्रभावशाली वक्ता सरकार का प्रमुख सदस्य बनाया गया। वह एक सर्वदली सरकार बनाने में सफल हुआ और सोवियत के बहुसंख्यक मेन्शेविक दल के भी कुछ प्रतिनिधि इसमें सम्मिलित हुए। इसने जर्मनी के विरुद्ध एक ज़ोरदार हमला शुरू करके इंग्लैण्ड और फ़्रान्स को ख़ुश करने का भी ज़ी-तोड़ प्रयत्न किया। परन्तु यह धावा असफल रहा, क्योंकि सेना और जनता अब अधिक युद्ध बिल्कुल नहीं चाहते थे।

इसी समय पेट्रोग्राद में अखिल रूसी सोवियत कांग्रेसों के अधिवेशन हो रहे थे और हर अधिवेशन अपने पूर्ववर्ती अधिवेशन से अधिक उग्र होता जा रहा था। इनमें दिन-पर-दिन अधिक बोल्शेविक चुनकर जाने लगे और दोनों महत्त्वपूर्ण दलों, यानी मेन्शेविकों और सामाजिक क्रान्तिवादियों (एक कृषक दल), का बहुमत कम होता गया। बोल्शेविकों का प्रभाव बढ़ गया, खासकर पेट्राग्राद के मज़दूरों में। सारे देश में सोवियतें स्थापित हो गईं और जबतक सरकारी आज्ञाओं पर सोवियत की दस्तखती मंजूरी न हो जाती, तबतक वे उन्हें नहीं मानती थीं।

लेनिन के आगमन के ठीक एक महीने बाद एक और प्रमुख निर्वासित व्यक्ति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पेट्रोग्राद लौट आया। यह त्रात्स्की[1] था जो न्यूयार्क से वापस आया था। रास्ते में अंग्रेज़ों ने इसे रोक लिया था। त्रात्स्की न तो पुराना बोल्शेविक था और न अब वह मेन्शेविक था। लेकिन वह बहुत जल्दी लेनिन का सहयोगी बन गया और उसने पेट्रोग्राद की सोवियत के एक अगुआ का स्थान प्राप्त कर लिया। वह महान् वक्ता था, ऊँचे दर्जे का लेखक था, और मानों शक्ति से परिपूर्ण बिजली की बैटरी था। लेनिन के दल को इसने सबसे अधिक सहायता पहुँचाई।

कारख़ानों में और सोवियतों में बोल्शेविकों की ताक़त और उनका प्रभाव दिन-पर-दिन बढ़ रहे थे। इससे चौकन्ना होकर केरेन्स्की ने उन्हें दबा देने का निश्चय किया। पहले तो लेनिन को बदनाम करने का जबरदस्त आन्दोलन हुआ और कहा गया कि वह जर्मनों का एजेण्ट है जो रूस को मुसीबत में फँसाने के लिए भेजा गया है। क्या वह जर्मन अधिकारियों की गुप्त रज़ामन्दी से जर्मनी से होकर स्वीज़रलैण्ड से नहीं आया? इससे मध्यम-वर्गों में लेनिन बहुत अधिक बदनाम हो गया और वे उसे देशद्रोही समझने लगे। केरेन्स्की ने लेनिन की गिरफ्तारी के लिए वारण्ट निकाला, इसलिए नहीं कि वह क्रान्तिकारी था, बल्कि इसलिए कि वह देशद्रोही था। खुद लेनिन तो इस आरोप को ग़लत साबित करने के लिए अदालत के सामने जाने को उत्सुक था; लेकिन उसके साथी राज़ी नहीं हुए और उन्होंने उसे रूहपोश हो जाने के लिए मजबूर किया। त्रात्स्की भी गिरफ्तार कर लिया गया, लेकिन पेट्रोग्राद की सोवियत के आग्रह पर छोड़ दिया गया। बहुत-से अन्य बोल्शेविक भी गिरफ्तार कर लिये गये; उनके अख़बार बन्द कर दिये गये; जिन मज़दूरों को उनका समर्थक समझा जाता था, उनके हथियार छीन लिये गये। काम-चलाऊ सरकार के प्रति इन मज़दूरों का रुख़ दिन-पर-दिन अधिक उग्र और डरावना होता जा रहा था और उसके विरुद्ध बार-बार जबरदस्त प्रदर्शन किये जाते थे।

जब प्रति-क्रान्ति ने सिर उठाया तो इस नाटक में एक नया दृश्य सामने आया। कोर्निलोव नामक एक पुराना सेनापति काम-चलाऊ सरकार-सहित सारी क्रान्ति को पीस डालने के लिए एक सेना लेकर राजधानी पर चढ़ आया। जैसे-ही वह राजधानी के नज़दीक पहुँचा, उसकी सेना नौ-दो-ग्यारह हो गई! वह क्रान्ति के पक्ष में जा मिली थी!

लेनिन पेट्रोग्राद के बाहर की बस्ती में आ गया और बोल्शेविकों ने निश्चय किया कि अब काम-चलाऊ सरकार से सत्ता छीन लेने का समय आ गया है। त्रात्स्की को बग़ावत की सारी व्यवस्था करने का अधिकार सौंप दिया गया और हर बात

---

[1] **बोल्शेविक नेता और लेखक। स्तालिन से मतभेद हो जाने के कारण यह सन् १९२९ ई० में रूस से निर्वासित कर दिया गया और अमरीका चला गया। सन् १९४० ई० में मैक्सिको में इसकी हत्या कर दी गई।**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की योजना सावधानी के साथ बना ली गई कि किन महत्वपूर्ण स्थानों पर किस तरह और कब क़ब्ज़ा किया जाय। बलवे के लिए नवम्बर की ७ तारीख निश्चित की गई। उस दिन सोवियतों की अखिल-रूसी कांग्रेस का अधिवेशन होनेवाला था। यह तारीख लेनिन ने निश्चित की थी।

सात नवम्बर का दिन आया, और सोवियत सिपाहियों ने जाकर सरकारी इमारतों पर, खासकर तार-घर, टेलीफोन-घर और सरकारी बैंक जैसे घात और जुगत के स्थानों पर, कब्ज़ा कर लिया। किसीने कोई मुक़ाबला नहीं किया। एक ब्रिटिश एजेण्ट ने इंग्लैण्ड को जो सरकारी रिपोर्ट भेजी थी, उसमें उसने लिखा था—"काम-चलाऊ सरकार तो मानो छू-मन्तर हो गई"।

लेनिन इस नई सरकार का प्रमुख यानी अध्यक्ष बना और त्रात्स्की विदेश-मन्त्री। दूसरे दिन ८ नवम्बर को, लेनिन स्मॉलनी इन्स्टीटचूट में कांग्रेस के अधिवेशन में गया। शाम का वक़्त था। कांग्रेस ने इस नेता का जबरदस्त हर्षध्वनि के साथ स्वागत किया।

लेनिन और उसकी नई बोल्शेविक सरकार के सामने क्या स्थिति थी? यद्यपि रूसी सेना छिन्न-भिन्न हो गई थी और उसके लड़ने की कोई सम्भावना नहीं रही थी, फिर भी जर्मनी के साथ युद्ध जारी था; सारे देश में गड़बड़ मची हुई थी और सिपाहियों तथा लुटेरों के गिरोह मनमानी करते हुए घूमते फिर रहे थे; आर्थिक ढाँचा टूट चुका था; भोजन-सामग्री की बहुत कमी थी और लोग भूखों मर रहे थे; चारों ओर पुरानी व्यवस्था के ठेकेदार क्रान्ति को पीस डालने की घात लगाये बैठे थे; राज्य का संगठन पूंजीवादी था और अधिकतर पुराने सरकारी कर्मचारियों ने नई सरकार को सहयोग देने से इन्कार कर दिया; साहूकार लोगों ने रुपया देना बन्द कर दिया; यहाँतक कि तार-घर भी तार नहीं भेजता था। यह ऐसी कठिन परिस्थिति थी जो बहादुर-से-बहादुर का दिल दहलाने के लिए काफ़ी थी।

लेनिन और उसके साथियों ने इस गाड़ी को चलाने के लिए मिलकर ज़ोर लगाया। सबसे पहली चिन्ता उन्हें जर्मनी के साथ सुलह की थी और उन्होंने तुरन्त युद्ध बन्द किये जाने का प्रबन्ध किया। दोनों देशों के प्रतिनिधि ब्रैस्त लितोवस्क में मिले। जर्मन लोग खूब अच्छी तरह जानते थे कि बोल्शेविकों में लड़ने की शक्ति नहीं रही है, इसलिए उन्होंने घमण्ड और मूर्खतावश जबरदस्त और अपमानपूर्ण माँगें रखीं। सुलह के लिए बहुत उत्सुक होते हुए भी बोल्शेविक लोग इससे भौंचक्के रह गये और उनमें से बहुतों ने इन शर्तों को ठुकरा देने की सलाह दी। लेकिन लेनिन तो किसी भी क़ीमत पर सुलह के पक्ष में था। कहते हैं कि जर्मनों ने त्रात्स्की से, जो शान्ति-सम्मेलन का एक रूसी प्रतिनिधि था, कहा कि वह एक उत्सव

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में शाम की पोशाक[1] पहनकर आयें। वह दुविधा में पड़ गया; क्या मज़दूरों के प्रतिनिधि को इस प्रकार की उच्चवर्गी पोशाक पहनना शोभा की बात थी? उसने सलाह के लिए लेनिन को तार दिया और लेनिन ने तुरन्त उत्तर भेजा—"अगर सुलह कराने में मदद मिले तो लँहगा पहनकर जाओ!"

इधर तो सोवियत सुलह की शर्तों पर वाद-विवाद कर रही थी, उधर जर्मनों ने पेट्रोग्राद की ओर बढ़ना शुरू कर दिया और उन्होंने अपना सुलह का प्रस्ताव पहले से भी ज्यादा सख्त कर दिया। अन्त में सोवियत ने लेनिन की सलाह मान ली और मार्च, सन् १९१८ में ब्रेस्त लितोवस्क की सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। इस सन्धि के द्वारा रूसी प्रदेश का एक बड़ा टुकड़ा जर्मनी ने हथिया लिया, लेकिन सेवियत को तो किसी भी कीमत पर सुलह मंजूर करनी थी, क्योंकि लेनिन ने कह दिया था कि "सेना ने तो युद्ध क्षेत्र से भागकर सुलह के पक्ष में राय दे दी है।"

ब्रेस्त लितोवस्क की सन्धि को लेनिन एक अस्थायी चीज़ समझता था जो ज्यादा दिन टिकनेवाली नहीं थी। हुआ यह कि नौ महीने बाद, ज्यों-ही मित्र-राष्ट्रों ने पश्चिमी मोर्चे पर जर्मनी के दाँत खट्टे किये, त्यों-ही सोवियत ने इस सन्धि को रद्द कर दिया। लेनिन तो केवल यह चाहता था कि सेना के थके हुए मज़दूरों और किसानों को ज़रा आराम और दम लेने का मौक़ा मिल जाय, ताकि वे अपने-अपने घरों को वापस जाकर खुद अपनी आँखों से देख सकें कि क्रान्ति ने क्या बात पैदा कर दी है।

: १०१ :

सोवियतों का विजय-संघर्ष

सन् १९१८ ई० के जुलाई मास में रूस की स्थिति में चौंका देनेवाली घटनाएँ सामने आईं। बोल्शेविकों के चारों ओर फैला हुआ जाल धीरे-धीरे उन्हें जकड़ता आ रहा था। दक्षिण में यूक्रेन की तरफ़ से जर्मन चढ़े आ रहे थे और इधर रूस में जेकोस्लोवाकिया के अनेक पुराने युद्धबन्दियों को मित्र-राष्ट्र मास्को पर धावा बोलने के लिए उकसा रहे थे। फ़्रान्स में सारे पश्चिमी मोर्चे पर महायुद्ध अभीतक चल रहा था, लेकिन रूस में यह अजीब दृश्य नज़र आ रहा था कि मित्र-

[1] ईवनिंग ड्रेस—शाम की पोशाक में पीछे की ओर लम्बा लटकता हुआ काला कोट, कलफ़दार कमीज़, काली बो, सफ़ेद पतलून और काले जूते शामिल हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राष्ट्र और जर्मन-शक्तियाँ, दोनों, अलग-अलग, बोल्शेविकों को कुचलने के एक-समान उद्देश्य को पूरा करने में जुटे हुए थे।

ज़ार और उसके कुटुम्बी पूर्वी रूस में यूराल पर्वत श्रेणी के पास स्थानीय सोवियत की निगरानी में क़ैदी बनाकर रखे गये थे। इस प्रदेश में ज़ेक-सैनिकों के चढ़ आने से यह स्थानीय सोवियत डर गई, और इस सम्भावना ने, कि कहीं भूतपूर्व ज़ार क़ैद से छूटकर प्रति-क्रान्ति का जबरदस्त केन्द्र न बन जाय, उसे एकदम भयभीत कर दिया। इसलिए उन्होंने क़ायदे-क़ानून को ताक़ में रखकर ज़ार के सारे कुटुम्ब को मौत के घाट उतार दिया। मालूम होता है कि सोवियत की केन्द्रीय कमेटी इसके लिए ज़िम्मेदार नहीं थी, और लेनिन, अन्तर्राष्ट्रीय नीति के कारणों से भूतपूर्व ज़ार की, और मानवता के नाते उसके कुटुम्ब की, हत्या के के विरुद्ध था। लेकिन जब यह काम हो ही गया, तो केन्द्रीय सरकार ने उसे न्यायोचित ठहराया। शायद इस घटना ने मित्र-राष्ट्रीय सरकारों को और भी ज्यादा बौखला दिया और उन्हें पहले से भी अधिक उग्र बना दिया।

अगस्त में स्थिति और भी बिगड़ गई और दो घटनाओं के फलस्वरूप क्रोध, निराशा और आतंक पैदा हो गये। इनमें से एक तो थी लेनिन की हत्या का प्रयत्न, और दूसरी थी उत्तरी रूस में आर्चेंगल पर मित्र-राष्ट्रों की फौज का उतरना। मास्को में बेतहाशा सनसनी फैल गई और सोवियत के अस्तित्व का अन्त सामने नजर आने लगा। खुद मास्को भी एक प्रकार से जर्मनों, जेकों, प्रति-क्रान्तिकारी तत्त्वों आदि शत्रुओं से घिरा हुआ था। मास्को के ईर्द-गिर्द कुछ ही जिले सोवियत के शासन में रह गये थे, और मित्र-राष्ट्रीय सेना के उतरने से अन्त बिल्कुल निश्चित दिखाई दे रहा था। बोल्शेविकों के पास कुछ अधिक सेना नहीं थी; ब्रैस्त लितोवस्क की सन्धि को पाँच ही महीने हुए थे, और पुरानी सेना के अधिकतर सिपाही सेना छोड़-छोड़कर खेती में जा लगे थे। खुद मास्को में ही षड्यन्त्रों की भरमार थी, और उच्च वर्ग के लोग सोवियतों के सम्भावित पतन पर खुले आम खुशियाँ मना रहे थे।

नौ महीने के इस सोवियत-गणराज्य की ऐसी भयंकर मुसीबत भरी दशा थी। बोल्शेविकों को निराशा और भय ने घेर लिया, और जब इन्होंने देखा कि हर हालत में मरना ही है, तो निश्चय कर लिया कि लड़ते-लड़ते ही मरना चाहिए। जैसाकि सवा-सौ वर्ष पहले अल्पायु फ़ान्सीसी गणराज्य ने किया था, वे चारों ओर से घिरे हुए जंगली जानवर की तरह अपने शत्रुओं पर टूट पड़े। उन्होंने सहनशीलता और दया, दोनों को तिलांजलि दे दी। सारे देश में फ़ौजी क़ानून जारी कर दिया गया और सितम्बर के शुरू में केन्द्रीय सोवियत कमेटी ने "लाल आतंक"[1] का

---

[1] रेड टेरर।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ऐलान कर दिया। सोवियत सारी दुनिया के मुक़ाबले में, और खुद अपने प्रतिगामियों के मुक़ाबले में, डटकर खड़ी हो गई। इसी समय "आक्रमक साम्यवाद" का ज़माना भी शुरू हुआ और सारा देश मानों शत्रुओं से घिरी हुई छावनी बना दिया गया। लाल सेना को संगठित करने का पूरा प्रयत्न किया गया और यह काम त्रात्स्की के सिपुर्द किया गया।

यह सितम्बर और अक्तूबर, सन् १९१८ ई०, के लगभग की बात है, जब पश्चिम में जर्मनी की युद्ध-व्यवस्था टूट रही थी और युद्ध-विराम की चर्चा चल रही थी। राष्ट्रपति विल्सन ने अपने 'चौदह सूत्र' रख दिये थे, जिनके बारे में यह माना गया था कि उनमें मित्र-राष्ट्रों के सब ध्येय आ गये थे।

११ नवम्बर, सन् १९१८ ई०, को मित्र-राष्ट्रों और जर्मन-शक्तियों के बीच सुलह हो गई और युद्ध-विराम पर हस्ताक्षर हो गये। लेकिन रूस में सन् १९१९ और १९२० ई० में गृह-युद्ध ज़ोर-शोर से लगातार चलता रहा। सोवियत ने अकेले-दम शत्रुओं के झुंड-के झुंड का मुक़ाबला किया। एक वक्त तो ऐसा था, जब सोवियत सेना पर सत्रह विभिन्न मोर्चों पर एक-साथ हमले हुए। इंग्लैण्ड, अमरीका, फ्रान्स, जापान, इटली, सर्बिया, ज़ेकोस्लोवाकिया, रूमानिया, बाल्टिक तटवर्ती राज्य, पोलैण्ड, और ढेरों प्रति-क्रान्तिकारी रूसी सेनापति, सब-के-सब सोवियत के विरुद्ध लड़ रहे थे और यह लड़ाई ठेठ साइबेरिया से लगाकर बाल्टिक समुद्र और क्रीमिया तक फैली हुई थी। बार-बार ऐसा मालूम होता था कि सोवियत का अन्त होनेवाला है; मास्को भी खतरे में पड़ गया था; पेट्रोग्राद का शत्रु के आगे पतन होने-ही वाला था; परन्तु सोवियत हर संकट को पार कर गई, और हर सफलता के साथ उसका आत्म-विश्वास और बल बढ़ते गये।

मित्र-राष्ट्रों ने रूस की भी नाकेबन्दी कर दी, और यह इतनी कारगर हुई कि सन् १९१९ ई० के पूरे वर्ष में रूस न तो बाहर से कुछ भी ख़रीद सका और न बाहर कुछ बेच सका।

इन जबरदस्त कठिनाइयों तथा अनेक शक्तिशाली दुश्मनों के बावजूद भी सोवियत रूस सही-सलामत रह गया और उसने शानदार विजय प्राप्त की। यह बात इतिहास की सबसे अधिक आश्चर्यकारक कारगुज़ारियों में गिनी जाती है। सोवियत ने यह कैसे किया ? इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि मित्र-राष्ट्रीय शक्तियाँ एक हो जातीं, और बोल्शेविकों का नाश करने पर तुल जातीं, तो वे शुरू के दिनों में ऐसा कर सकती थीं। जर्मनी से निबट लेने के बाद उनके पास मनमाना उपयोग करने के लिए विशाल सेनाएँ थीं। परन्तु इन सेनाओं का हर-कहीं उपयोग करना आसान नहीं था। ख़ासकर सोवियतों के विरुद्ध। ये सब सेनाएँ युद्ध से थक चुकी थीं और अगर इनसे विदेशों में युद्ध करने की फिर माँग की जाती, तो ये इन्कार कर देतीं। इसके अलावा मज़दूरों में नवीन रूस के प्रति काफ़ी सहानुभूति थी,

 CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

और मित्र-राष्ट्रीय सरकारों को डर था कि अगर वे सोवियतों के विरुद्ध युद्ध का खुला ऐलान कर देंगी, तो उन्हें अपने-अपने देशों में मुसीबत का सामना करना पड़ेगा।

इन सब बातों से सोवियतों को निस्सन्देह मदद मिली और उन्हें अपना बल बढ़ाने का समय मिल गया। लेकिन यह समझ लेना उनके साथ अन्याय करना होगा कि उनकी विजय बाहरी परिस्थितियों के कारण ही हुई। जड़ में, यह रूसी जनता के आत्म-विश्वास, श्रद्धा, आत्म-त्याग और अविचल दृढ़-निश्चय की विजय थी।

मीनार की तरह अन्य सबसे ऊँचा और निर्विरोध प्रभुत्त्व जमानेवाला—ऐसा था लेनिन। रूसी जनता के लिए तो वह मानो देवता था, जो आशा और श्रद्धा का प्रतीक था, जो इतना बुद्धिमान था कि हर कठिनाई में मार्ग निकाल सकता था, और जिसे कोई चीज़ विचलित या विकल नहीं कर सकती थी। उसके बाद उन दिनों त्रात्स्की का नम्बर आता था (अब वह रूस में बदनाम है), जो लेखक और वक्ता था, जिसे पहले का कोई सैनिक अनुभव नहीं था, और जो अब गृह-युद्ध और नाकेबन्दी के बीच एक बड़ी सेना संगठित करने के काम में जुट गया था। त्रात्स्की जान पर खेलनेवाला वीर था और लड़ाई में अक्सर अपनी जान खतरे में डाल देता था। जो लोग साहसहीनता या अनुशासनहीनता का परिचय देते थे, उनके लिए उसके हृदय में कोई दया नहीं थी।

सन् १९१९ ई० के अन्त तक गृह-युद्ध में सोवियत निश्चय-ही अपने विरोधियों के ऊपर हावी हो चुकी थी। परन्तु युद्ध एक साल तक और चलता रहा और इस बीच अनेक नाज़ुक घड़ियाँ आईं। सन् १९२० ई० में पोलैण्ड (जो जर्मनी की पराजय के बाद नया बना था) की रूस से खटक गई, और दोनों में युद्ध छिड़ गया। सन् १९२० ई० के अन्त तक ये सब युद्ध लगभग समाप्त हो चुके थे और रूस को आख़िर कुछ शान्ति प्राप्त हुई थी।

इसी बीच अन्दरूनी कठिनाइयाँ बढ़ गई थीं। युद्ध, नाकेबन्दी, महामारी और अकाल ने देश की हालत बहुत बुरी कर डाली थी। उत्पादन बहुत कम हो गया था, क्योंकि जब प्रतिद्वन्दी सेनाएँ निरन्तर देश को रौंद रही हों, तो न तो किसान खेत बो सकते हैं और न मज़दूर कारखाने चला सकते हैं। युद्ध-काल में साम्यवादी तरीक़ा अपनाने से देश किसी तरह मुसीबतों से पार हो गया था। लेकिन हरएक व्यक्ति को अपने पेट पर कसकर पट्टी बाँधनी पड़ी थी, और अब इस सिलसिले को सहन करना कठिन हो रहा था।

लेनिन ने, जिसमें मूलभूत सिद्धान्तों को तत्कालीन परिस्थितियों में ढालने की असाधारण प्रतिभा थी, तुरन्त कार्रवाई की। उसने युद्धकालीन साम्यवाद[1] का अन्त

---

[1] वार कम्यूनिज़्म

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर दिया और "नवीन आर्थिक व्यवस्था"[1] नामक एक नई नीति चलाई। इसके द्वारा किसान को उत्पादन करने की और अपनी उपज को बेचने की अधिक आज़ादी मिल गई और कुछ ख़ानगी व्यापार भी खोल दिया गया। कुछ हद तक यह ठेठ साम्यवादी सिद्धान्तों से परे हटना था, लेकिन लेनिन ने इसे अस्थायी तदबीर कहकर उचित ठहराया। इससे जनता को अवश्य-ही बहुत राहत मिली। लेकिन शीघ्र-ही रूस को एक और आफ़त का सामना करना पड़ा। यह अनावृष्टि के कारण, और उसके फलस्वरूप दक्षिण-पूर्वी रूस के लम्बे-चौड़े प्रदेश में फ़सल की हानि के कारण, पड़नेवाला अकाल था। यह भयंकर अकाल था, इतिहास में इससे बड़ा अकाल पहले कभी नहीं पड़ा था, और इसमें लाखों जनता भूखी मर गई। इस अकाल से सरकार का सारा ढाँचा-ही टूट जाने की सम्भावना थी, क्योंकि एक तो यह वर्षों के युद्ध और नाकेबन्दी और आर्थिक व्यवस्था की गड़बड़ी के बाद-ही आ पड़ा था, और दूसरे तबतक सोवियत सरकार को शान्ति के समय निश्चिन्त होकर काम करने का मौक़ा नहीं मिला था। पर फिर भी, जिस प्रकार सोवियत पहले की आफ़तों को पार कर गई थी, उसी प्रकार इसे भी सही-सलामत पार कर गई।

चीन, तुर्की, ईरान, अफ़ग़ानिस्तान, वग़ैरा पूर्वी देशों के प्रति सोवियत ने बड़ी उदार नीति का पालन किया। उन्होंने पुराने ज़ारशाही विशेषाधिकार छोड़ दिये और बहुत मित्रतापूर्ण व्यवहार करने का प्रयत्न किया। यह चीज़, तमाम पराधीन और शोषित क़ौमों के लिए आज़ादी के उनके सिद्धान्तों के अनुसार थी, लेकिन उनके लिए इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण अभिप्राय था अपनी स्थिति मज़बूत बनाना। सोवियत रूस की इस उदारता से इंग्लैण्ड जैसी साम्राज्यशाही शक्तियाँ अक्सर खोटी स्थिति में पड़ जाती थीं, क्योंकि पूर्वी देश जब तुलनाएँ करते थे, तो उन्हें इंग्लैण्ड तथा अन्य शक्तियाँ हेच मालूम पड़ती थीं।

सन् १९१९ ई० में एक और घटना हुई जिसका ज़िक्र यहाँ करना ज़रूरी है। यह थी साम्यवादी दल द्वारा मास्को में तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ[2] की स्थापना। मैं प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संघ[3] का ज़िक्र कर चुका हूँ, जो अनेक वीरतापूर्ण घोषणाओं के बाद सन् १९१४ ई० का महायुद्ध छिड़ते ही टूट गया। बोल्शेविकों की धारणा थी कि द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ[4] को स्थापित करनेवाले पुराने मज़दूर तथा साम्यवादी दलों ने श्रमजीवी-वर्ग को धोखा दिया। इसलिए इन्होंने स्पष्ट क्रान्तिकारी दृष्टिकोणवाला तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ बनाया, ताकि पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के

---

[1] न्यू इकोनोमिक पॉलिसी।
[2] थर्ड इण्टरनेशनल।
[3] फर्स्ट इण्टरनेशनल।
[4] सेकिण्ड इण्टरनेशनल।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विरुद्ध और उन अवसरवादी साम्राज्यवादियों के विरुद्ध भी युद्ध लड़ा जाय जो "मध्यम-मार्ग" की नीति के अनुगामी थे। इस अन्तर्राष्ट्रीय संघ को अक्सर "कॉमिण्टर्न"[१] भी कहा जाता है, और अनेक देशों में प्रचार-कार्य में इसने बड़ा भारी भाग लिया है।

इस वर्णन को पूरा करने से पहले मैं लेनिन के बारे में कुछ और बातें बतलाना चाहता हूँ। अगस्त, सन् १९१८ ई० में जब उसकी हत्या का प्रयत्न किया गया था, तब उसे गहरे घाव लगे थे। परन्तु इनके बावजूद उसने कुछ विश्राम नहीं लिया था। वह काम के जबरदस्त बोझ को निबटाता रहा, और इसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि मई, सन् १९२२ ई० में उसकी हालत गिर गई। कुछ विश्राम के बाद वह फिर काम में लग गया, पर ज्यादा दिन के लिए नहीं। सन् १९२३ ई० में उसकी हालत पहले से भी अधिक गिर गई और वह फिर नहीं सम्हल सका। २१ जनवरी, सन् १९२४ ई० को मास्को के निकट उसकी मृत्यु हो गई।

कई दिनों तक उसका शव मास्को में रखा रहा—सर्दी का मौसम था और रासायनिक मसाले लगाकर शव को वर्षों तक के लिए टिकाऊ बना दिया गया था। और जन-साधारण के प्रतिनिधि, किसान और मज़दूर, नर और नारियाँ और बच्चे, सारे रूस से तथा साइबेरिया के दूरवर्त्ती मैदानों से, अपने उस परमप्रिय साथी पर श्रद्धा की अन्तिम भेंट चढ़ाने आये, जिसने उन्हें गहरे गर्त्त में से खींचकर बाहर निकाला था और परिपूर्ण जीवन का मार्ग दिखाया था। उन्होंने मास्को के मनोहर 'लाल चौक'[२] में उसके लिए एक सादा और सजावट-रहित मक़बरा बनाया। उसका शव एक काँच के सन्दूक में अभीतक वहाँ रखा हुआ है और हर शाम को लोगों की एक बहुत लम्बी क़तार ख़ामोशी के साथ उसके पास से गुज़रती है। लेनिन को मरे बहुत वर्ष नहीं बीते हैं, लेकिन इतने थोड़े समय में ही वह, न केवल अपने रूस में, बल्कि समग्र संसार में, एक प्रबल परम्परा का संस्थापक बन गया है।

अब मैं पूरे आर्केस्ट्रा के लिए तथा लोगों के सम्मिलित गान के लिए लिखी गई एक रचना की शब्दावली दूँगा। जिन लोगों ने इसे सुना है, उनका कहना है कि इसके संगीत में सजीवता और शक्ति है और यह गीत मानो विद्रोही जनता की भावना का प्रतीक है। इस गीत का जो हिन्दी अनुवाद यहाँ दिया जा रहा है, उसमें भी इस भावना का कुछ अंश आ जाता है। यह गीत "अक्तूबर" कहलाता है और इसका अर्थ है नवम्बर, सन् १९१७ ई० की बोल्शेविक-क्रान्ति। उन दिनों रूस में वह पंचांग प्रचलित था, जो असंशोधित पंचांग कहलाता है और इसमें तथा प्रचलित पश्चिमी पंचांग में तेरह दिन का अन्तर था। इस पंचांग के अनुसार मार्च, सन् १९१७

---

[१] यह द्वितीय महायुद्ध के दौरान में भंग कर दिया गया।
[२] रेड स्क्वायर।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ई० की क्रान्ति फ़रवरी में हुई थी और इस कारण वह "फ़रवरी की क्रान्ति" कहलाती है। इसी प्रकार नवम्बर, सन् १९१७ ई० के प्रारम्भ में होनेवाली बोल्शेविक-क्रान्ति "अक्तूबर की क्रान्ति" कहलाती है। अब रूस ने अपना पचांग बदल दिया है और संशोधित पंचांग ग्रहण कर लिया है। पर ये पुराने नाम अभी तक उपयोग में आते हैं।

हम काम और रोटी की भींख माँगने के लिए गये,
हमारे हृदय पीड़ा से दबे हुए थे,
कारख़ानों की चिमनियाँ आकाश की ओर इशारा कर रही थीं,
मानों मुट्ठी बाँधने की शक्ति से रहित थके हुए हाथ हों।
हमारे दुःख और हमारी पीड़ा के तोपों की आवाज़ से भी अधिक घोर
शब्दों ने ख़ामोशी को भंग कर दिया।
ऐ लेनिन! तू हमारे गाँठों पड़े हाथों की आकांक्षा है।
हमने समझ लिया है लेनिन, हमने समझ लिया है कि हमारे
भाग्य में है संघर्ष!
संघर्ष! संघर्ष!
तूने अन्तिम लड़ाई में हमारा नेतृत्व किया। संघर्ष!
तूने हमें श्रमजीवियों की विजय दीं।
अज्ञान और ज़ुल्म के ऊपर इस विजय को हमसे कोई नहीं
छीन सकेगा।
कोई नहीं! कोई नहीं! कभी नहीं! कभी नहीं!
आओ, इस संघर्ष में हरएक जवान और वीर बन जाओ,
क्योंकि हमारी विजय का नाम अक्तूबर है।
अक्तूबर! अक्तूबर!
अक्तूबर सूर्य का सन्देशवाहक है।
अक्तूबर विद्रोही सदियों का संकल्प है!
अक्तूबर! यह श्रम है, यह ख़ुशी है, यह गीत है।
अक्तूबर! यह खेतों और यन्त्रों के लिए शुभ शकुन है!
यह है नई सन्तति और लेनिन के झण्डे पर लिखा हुआ नाम!

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

: १०२ :

जापान चीन को डराता-धमकाता है

पिछले चालीस वर्षों में जापानियों ने चीन के प्रति जो नीति बरती है, वह असाधारण तौर पर एक-सी चली आती हुई दिखाई देती है। जैसे-ही उन्होंने अपनी सेना का आधुनिक ढंग पर संगठन कर लिया और अपने देश के औद्योगीकरण को तेज़ी से आगे बढ़ा दिया, उन्होंने चीन में अपना प्रभुत्त्व स्थापित करने का निश्चय किया। वे फैलने के लिए और अपने उद्योगों को बढ़ाने के लिए जगह चाहते थे। कोरिया और चीन दोनों निकट भी थे और कमज़ोर भी, और मानों निमन्त्रण दे रहे थे कि कोई आकर उनपर अधिकार जमावे और उनका शोषण करे। जापानियों का पहला प्रयत्न था चीन के साथ सन् १८९४–९५ ई० का युद्ध। वे जीत तो गये, पर कुछ योरपीय शक्तियों के विरोध के कारण उन्हें उतना नहीं मिला जितना वे चाहते थे। इसके बाद रूस के साथ सन् १९०४ ई० का ज़रा कठिन संघर्ष आया। इसमें भी वे जीत गये और उन्होंने कोरिया और मंचूरिया में अपने पाँव मज़बूती से जमा लिये। कुछ-ही दिन बाद उन्होंने कोरिया पर क़ब्ज़ा करके उसे जापानी-साम्राज्य का हिस्सा बना लिया।

परन्तु मचूरिया चीन का-ही हिस्सा बना रहा। इसमें चीन के तीन पूर्वी प्रान्त शामिल हैं और यही बात कही भी जाती है। जापानियों ने सिर्फ़ वहाँ के रूसी रियायती प्रदेशों पर अधिकार कर लिया, जिसमें रूसियों का बनाया हुआ रेल-मार्ग भी, जो तबतक 'चाइनीज़ ईस्टर्न रेलवे' कहलाता था, शामिल था। इस रेल-मार्ग का नाम बदलकर 'साउथ मंचूरियन रेलवे' कर दिया गया। अब जापान ने मंचूरिया पर अपना पंजा खूब मज़बूती से जकड़ना शुरू कर दिया। इसी बीच रेल-मार्ग ने चीन के अति घनी आबादीवाले बाक़ी के हिस्से से आवासियों को खींचना शुरू किया और चीनी किसानों का ताँता बँध गया। मंचूरिया में सोयाबीन नामक बीज खूब पैदा होता था और इसके बहुमूल्य गुणों के कारण इसके लिए सारी दुनिया की माँग बढ़ने लगी। इस बीज से अन्य वस्तुओं के अलावा एक प्रकार का तेल भी निकाला जाता है। सोयाबीन की खेती ने भी आवासियों को मंचूरिया की ओर खींचा। इस प्रकार, इधर तो जापानी लोग मंचूरिया की आर्थिक-व्यवस्था पर ऊपर के सिरे से पूरा अधिकार करने का प्रयत्न कर रहे थे, उधर दक्षिण से ढेर-के-ढेर चीनी चले आ रहे थे और वहाँ बसते जाते थे। मंचूरिया के पुराने निवासी चीनी किसानों तथा दूसरे लोगों की इस बाढ़ में डूब गये और संस्कृति तथा दृष्टिकोण में ख़ुद-ही पूरे चीनी बन गये।

चीन में गणराज्य की स्थापना जापान को नहीं भाई। वह तो चीन की ताक़त

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बढ़ानेवाली हर चीज़ को नापसन्द करता था, और उसकी सारी कूटनीति का लक्ष्य यह था कि चीन संगठित होकर एक मज़बूत राज्य न बन जाय। इसलिए उसने एक तूशन[1] की दूसरे के विरुद्ध सहायता करने में अमली दिलचस्पी ली, ताकि अन्दरूनी गड़बड़ चलती रहे।

जब महायुद्ध शुरू हुआ तो जापान तुरन्त मित्र-राष्ट्रों के साथ शामिल हो गया और उसने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। उसने क्याउ-चाउ पर क़ब्ज़ा कर लिया और फिर चीन के भीतर की ओर शान्तुंग प्रान्त की ओर बढ़ने लगा जिसमें क्याउ-चाउ स्थित है। इसका अर्थ यह था कि जापानी लोग खास चीन पर धावा बोल रहे थे। जर्मनी के विरुद्ध सैनिक-कार्रवाई का यहाँ कोई प्रश्न नहीं था, क्योंकि इस क्षेत्र से जर्मनी का कोई ताल्लुक़ ही नहीं था। चीनी-सरकार ने शिष्टता-पूर्वक उनसे वापस चले जाने को कहा। कैसी उद्दण्डता! —यह कहकर जापानियों ने झट एक सरकारी विरोध-पत्र भेज दिया जिसमें इक्कीस माँगें गिनाई गई थीं।

ये "इक्कीस माँगें" मशहूर हो गईं। इनका अभिप्राय यह था कि तरह-तरह के अधिकार और विशेषाधिकार, ख़ासकर मंचूरिया, मंगोलिया और शान्तुंग प्रान्त में, जापान के हवाले कर दिये जायँ। इन माँगों को स्वीकार कर लेने का परिणाम यह होता कि चीन व्यावहारिक रूप में जापान का एक उपनिवेश बन जाता। उत्तरी चीन की अशक्त सरकार ने इन माँगों पर आपत्ति की, पर वह शक्तिशाली जापानी सेना के सामने क्या कर सकती थी? और फिर, उत्तरी चीन की यह सरकार ख़ुद अपनी-ही जनता में लोकप्रिय नहीं थी। इसपर भी इसने एक काम किया, जिससे बहुत मदद मिली। इसने जापानी माँगों को प्रकाशित कर दिया। तुरन्त-ही चीनमें जबरदस्त बावेला मच गया, यहाँतक कि अन्य शक्तियाँ, जो युद्ध में मशग़ूल थीं, इस कार्रवाई से घबरा गईं। अमरीका ने ख़ासतौर पर ऐतराज़ किया। नतीजा यह हुआ कि जापान को कुछ माँगें तो वापस लेनी पड़ीं, और कुछ को नरम करना पड़ा। बाक़ी माँगों का यह हुआ कि मई, सन् १९१५ ई० में जापान चीनी-सरकार को डरा-धमकाकर उन्हें मनवाने में सफल हो गया। इसके फलस्वरूप चीन में तीव्र जापान-विरोधी भावना फैल गई।

अगस्त, सन् १९१७ ई० में, युद्ध प्रारम्भ होने के तीन वर्ष बाद, चीन मित्र-राष्ट्रों के साथ मिल गया और उसने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी। यह उपहास की-सी बात थी, क्योंकि चीन जर्मनी का कुछ नहीं बिगाड़ सकता था इसमें चीन का सारा उद्देश्य यह था कि वह मित्र-राष्ट्रों के साथ अपने बिगड़े हुए।

---

[1] छोटे-छोटे सशस्त्र गुटों के दुस्साहसी नेता। चीन में उस समय ऐसे कितने-ही मुहिमबाज़ नेता मौजूद थे, जो आपस में लड़ते रहते थे।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation Chandigarh

सम्बन्ध को ठीक करना चाहता था और जापान के और अधिक शिकंजों से अपने-आपको बचाना चाहता था।

महायुद्ध के बाद होनेवाले शान्ति-सम्मेलन ने—बड़ी शक्तियों ने—जिनमें ख़ासतौर से इंग्लैण्ड, फ्रान्स और संयुक्त-राज्य अमरीका को गिनना चाहिए, चीन का शान्तुंग प्रान्त जापान की भेंट करना तय किया। इस प्रकार, इस युद्ध के फलस्वरूप इन शक्तियों ने अपने साथी चीन से उसके देश का एक टुकड़ा सचमुच जापान को दिलवा दिया। चीनी-सरकार ने (जिससे मेरा मतलब उत्तर की पेकिंग-सरकार से है, जो मुख्य सरकार थी) शान्ति की सन्धि पर सही करने से इन्कार कर दिया।

दो वर्ष बाद संयुक्त-राज्य अमरीका के वाशिंगटन नगर में एक सम्मेलन हुआ, जिसमें शान्तुंग का यह प्रश्न उठाया गया। जहाँतक चीन और जापान का सम्बन्ध था, सन् १९२२ ई० के इस वाशिंगटन-सम्मेलन से कई महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले। जापान शान्तुंग वापस देने को राज़ी हो गया, और इस तरह, जिस एक सवाल ने चीनी लोगों को बुरी तरह विचलित कर रखा था, उसका फ़ैसला हो गया।

रूसी सोवियत ने स्थापित होने के कुछ-ही दिन बाद चीनी-सरकार को लिखा था और उन तमाम ख़ास विशेषाधिकारों को छोड़ने का इरादा ज़ाहिर किया था, जिनका, अन्य साम्राज्यशाही शक्तियों के समान, ज़ारशाही रूस भी उपभोग कर रहा था। एक तो साम्राज्यवाद और साम्यवाद का किसी तरह का साथ नहीं हो सकता, पर इसके अलावा भी, सोवियत ने पूर्वी देशों के प्रति, जिन्हें पश्चिमी शक्तियाँ बहुत समय से निचोड़ रही थीं और दबा रही थीं, जान-बूझकर उदार नीति का अवलम्बन किया। सोवियत रूस के लिए यह नेक कर्त्तव्य-पालन तो था ही, ठोस नीति भी थी, क्योंकि इससे पूर्व के कई देश उसके मित्र बन गये। ख़ास विशेषाधिकारों को छोड़ने का रूस का प्रस्ताव बिना किसी तरह की शर्तों के था—वह बदले में कुछ नहीं चाहता था। इसपर भी चीनी-सरकार रूस के साथ ताल्लुक़ बढ़ाने से डरती थी कि कहीं पश्चिम की योरपीय शक्तियाँ नाराज़ न हो जायँ। ख़ैर, अन्त में रूसी और चीनी प्रतिनिधि एक जगह मिले, और सन् १९२४ ई० में, दोनों में कुछ बातों पर राज़ीनामा हो गया।

सोवियत-सरकार ने डा० सनयात सेन की दक्षिणी चीनी-सरकार से भी बात-चीत शुरू की, जिसका सदर मुक़ाम कैण्टन में था, और दोनों में आपसी समझौता हो गया। क़रीब-क़रीब इस सारे ही समय में, उत्तर और दक्षिण के बीच तथा उत्तर में विभिन्न फ़ौजी सरदारों के बीच, एक हल्का-सा गृह-युद्ध चल रहा था। ये उत्तरी तूशन, या इनमें से महा-तूशन कहलानेवाले कुछ लोग, किसी सिद्धान्त या कार्यक्रम के लिए नहीं लड़ रहे थे—उनकी लड़ाई तो व्यक्तिगत अधिकार की थी। वे एक-दूसरे के साथ मिल जाते और फिर दूसरे पक्ष में जा मिलते और नये गठ-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बन्धन बना लेते। ये निरन्तर बदलनेवाले गठ-बन्धन बाहरवालों को बहुत चक्कर में डाल देते थे। ये तूशन या सैनिक हौसलेबाज़ निजी सेनाएँ खड़ी करते थे, निजी टैक्स वसूल करते थे, और निजी युद्धों में लगे रहते थे, और इन सबका बोझ पड़ता बेचारी चिर-पीड़ित चीनी जनता पर। कहते हैं कि कुछ महा-तूशनों की पीठ पर विदेशी शक्तियाँ थीं, खासकर जापान। शांघाई की बड़ी-बड़ी व्यापारिक कम्पनियों से भी इन्हें रुपये-पैसे की मदद मिलती रहती थी।

इस अन्धकार के बीच दक्षिण ही एक आलोकित स्थान था, जहाँ डा० सन यात सेन की सरकार काम कर रही थी। इसके कुछ आदर्श थे और एक नई नीति थी, और यह तूशनों की कुछ हुकूमतों की तरह लुटेरों की सरकार नहीं थी। सन् १९२४ ई० में कुओ-मिन-तांग या जनता के दल की पहली राष्ट्रीय कांग्रेस हुई और डा० सन यात सेन ने इसके सामने एक घोषणा-पत्र रखा। इस घोषणा-पत्र में उसने राष्ट्र का मार्ग-दर्शन करनेवाले सिद्धान्तों का निरूपण किया।

मार्च, सन् १९२५ ई०, में डा० सन यात सेन की मृत्यु हो गई। इसने अपनी जान चीन की सेवा में खपा दी थी और यह चीनी जनता का परम-प्रिय पात्र बन गया था।

: १०३ :

युद्ध-काल में भारत

ब्रिटिश-साम्राज्य का अंग होने के नाते भारत का तो महायुद्ध से सीधा लगाव था, परन्तु भारत में या उसके पास कोई असली रण-क्षेत्र नहीं बना। फिर भी, युद्ध ने भारत की घटनाओं पर, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में, अनेक प्रकार से प्रभाव डाला, जिसके फलस्वरूप यहाँ भारी परिवर्तन हुए। मित्र-राष्ट्रों को सहायता पहुँचाने के लिए यहाँ के साधनों का भरपूर कस निकाल लिया गया।

यह भारत का युद्ध नहीं था। जर्मन-शक्तियों के विरुद्ध भारत को शिकायत का कोई कारण नहीं था और तुर्की के लिए तो यहाँ बहुत अधिक सहानुभूति थी। लेकिन इस मामले में भारत को सोचने का अधिकार नहीं था। वह तो इंग्लैण्ड का आश्रित देश था, जिसे मजबूरन अपने स्वामी की मर्ज़ी के अनुसार चलना पड़ता था। बस, इसलिए, देश में घोर विरोध होते हुए भी, भारतीय सिपाही तुर्कों और मिस्रियों और अन्य लोगों के विरुद्ध लड़े, और इसके फलस्वरूप पश्चिमी एशिया में भारत बुरी तरह बदनाम हो गया।

युद्ध के लिए सिपाही देने तथा अन्य प्रकार से मदद पहुँचाने के अलावा भारत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को नक़द रुपया भी मुहैय्या करना पड़ा। यह भारत की "भेंट" कहलाती थी ! एक अवसर पर इस प्रकार दस करोड़ पौंड दिये गये और बाद में इससे भी बड़ी रक़म दी गई। एक निर्धन देश से जबरन वसूल किये गये इस चन्दे को "भेंट" कहना ब्रिटिश-सरकार के मसख़रेपन के लिए तारीफ़ की चीज़ है।

यह सब जो-कुछ अभीतक मैंने तुम्हें बतलाया है, उसमें, जहाँतक भारत का सम्बन्ध है, युद्ध के कम महत्त्वपूर्ण परिणामों का ही समावेश है। परन्तु युद्धकालीन परिस्थितियों के कारण एक बहुत अधिक मौलिक परिवर्तन पैदा हो रहा था। युद्ध के दौरान में, अन्य देशों के विदेशी व्यापार की तरह, भारत का विदेशी व्यापार भी बिल्कुल चौपट हो गया था। ब्रिटिश माल की भारी मिक़दार, जो भारत आया करती थी, अब बहुत कम हो गई। भूमध्य सागर में और एटलाण्टिक महासागर में जर्मन पनडुब्बियाँ जहाज़ों को डुबो देती थीं, और इन हालतों में व्यापार जारी रखना सम्भव नहीं था। इसलिए भारत को अपने लिए ख़ुद इन्तज़ाम करना पड़ा और अपनी ज़रूरतें आप पूरी करनी पड़ीं। युद्ध के लिए आवश्यक हर प्रकार की वस्तुएँ भी उसे सरकार के लिए मुहैय्या करनी पड़ती थीं। इसके फलस्वरूप भारतीय उद्योग-धन्धे तेज़ी से बढ़ने लगे। इनमें कपड़े और पटसन आदि के पुराने उद्योग तथा नये युद्धकालीन उद्योग, दोनों शामिल थे। ताता के लोहे व फौलाद के कारखाने ने, जिसकी सरकार ने अभीतक उपेक्षा की थी, अब जबरदस्त महत्त्व प्राप्त कर लिया, क्योंकि वह युद्ध का सामान तैयार कर सकता था। अब इसका संचालन कमोबेश सरकारी नियन्त्रण में होने लगा।

इसलिए जबतक युद्ध चलता रहा, तबतक भारत के अंग्रेज़ तथा भारतीय पूंजी-पतियों, दोनों को खुला मैदान मिल गया और विदेशों से कोई प्रतियोगिता नहीं रही। इस अवसर का उन्होंने पूरा उपयोग किया और बेचारी भारतीय जनता का पेट काटकर इससे फ़ायदा उठाया। माल की क़ीमतें बढ़ा दी गईं और कल्पनातीत मुनाफ़े हड़प किये गये। परन्तु जिन मज़दूरों की मेहनत से ये मुनाफ़े और लाभ सम्भव हुए, उनकी दुःखमय स्थितियों में कोई परिवर्तन नहीं दिखाई दिया। उनकी मजूरियाँ कुछ बढ़ीं, लेकिन जीवन की आवश्यक वस्तुओं की क़ीमतें इससे बहुत अधिक बढ़ गईं, इसलिए उनकी हालत सचमुच और भी बुरी हो गई।

परन्तु पूंजीपति ख़ूब मालदार हो गये और उन्होंने मुनाफ़ों से अपार धन इकट्ठा कर लिया, जिसे उन्होंने फिर उद्योगों में लगाना चाहा। यह पहला मौक़ा था जब भारतीय पूंजीपति इतने ज़ोरदार हो गये कि वे सरकार पर दबाव डालने लगे। इस दबाव के अलावा भी घटनाओं के ज़ोर ने ब्रिटिश-सरकार को युद्ध-काल में भारतीय उद्योगों की मदद करने के लिए मजबूर कर दिया। देश के और अधिक औद्योगी-करण की माँग के कारण विदेशों से अधिक मशीनें आयात की गईं, क्योंकि इस प्रकार की मशीनें उस समय भारत में नहीं बन सकती थीं। इसलिए जहाँ पहले

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इंग्लैण्ड से भारत को तैयार माल आता था, उसके बजाय अब अधिक मशीनें आने लगीं।

इन कारणों से ब्रिटिश-नीति अनिवार्य रूप से बदली और भारत के औद्योगीकरण का निश्चय किया गया। इंग्लैण्ड की व्यापक साम्राज्यशाही नीति की यही माँग थी, भले ही उससे लंकाशायर को तथा अन्य ब्रिटिश उद्योगों को धक्का पहुँचे। हाँ, इंग्लैण्ड ने यह ज़रूर जतलाया कि इस परिवर्तन का कारण भारत के प्रति ब्रिटिश-सरकार का अत्यधिक प्रेम और भलाई है। इस नीति का निश्चय कर लेने के बाद इंग्लैण्ड ने यह पक्का करने के उपाय किये कि भारत के नये उद्योगों की बागडोर ब्रिटिश पूंजीपतियों के हाथों में रहे। भारतीय पूंजीपतियों को कृपापूर्वक इस व्यवसाय में बहुत छोटे साझीदार की तरह ले लिया गया।

युद्ध के दौरान में भारतीय पूंजीपति-वर्ग और उच्च मध्यम-वर्ग की बढ़ती हुई ताक़त का प्रभाव राजनैतिक आन्दोलन में भी ज़ाहिर होने लगा। राजनीति धीरे-धीरे पूर्व-युद्धकालीन और प्रारम्भिक युद्धकालीन निस्तब्धता से बाहर निकली और स्वराज्य आदि के लिए तरह-तरह की माँगें की जाने लगीं। अपनी लम्बी सज़ा काटने के बाद लोकमान्य तिलक जेल से छूटकर आये। जैसाकि मैं बतला चुका हूँ, कांग्रेस उन दिनों नरम दल के हाथों में थी और यह एक छोटी-सी प्रभावहीन जमात थी, जिसका जनता से कोई सम्पर्क नहीं था। चूँकि अधिक प्रगतिशील राजनीतिज्ञ कांग्रेस के बाहर थे, इसलिए उन्होंने होमरूल लीगों का संगठन किया। इस प्रकार की दो लीगें स्थापित हुईं—एक लोकमान्य तिलक द्वारा और दूसरी श्रीमती ऐनी बेसेण्ट द्वारा। कुछ वर्षों तक श्रीमती बेसेण्ट ने भारतीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण भाग लिया और उनकी वक्तृत्व-कला तथा अपने पक्ष की बातें कहने के तरीके ने राजनीति में लोगों की दिलचस्पी फिर से जगाने में बहुत मदद की। सरकार ने उनके प्रचार को इतना खतरनाक समझा कि उसने उन्हें, उनके दो साथियों सहित, कुछ महीनों के लिए नजरबन्द तक कर दिया। उन्होंने कांग्रेस के कलकत्ता-अधिवेशन की अध्यक्षता की, और वे पहली महिला थीं जो कांग्रेस की अध्यक्ष बनीं। कुछ वर्ष बाद श्रीमती सरोजनी नायडू कांग्रेस की दूसरी महिला अध्यक्षा हुईं।

सन् १९१६ ई० में कांग्रेस के दोनों पक्षों—नरम तथा गरम दलों—में समझौता हो गया और दिसम्बर, सन् १९१६ ई० के लखनऊ-अधिवेशन में दोनों शामिल हुए। परन्तु यह समझौता बहुत थोड़े दिन टिका, क्योंकि दो ही वर्ष के भीतर फिर फूट पड़ गई, और नरम दल के लोग, जो अब अपने को "उदार" कहने लगे थे, कांग्रेस से अलग हो गये और तबसे अलग ही हैं।

कांग्रेस का, सन् १९१६ ई० का, लखनऊ-अधिवेशन कांग्रेस के पुनर्जीवन का द्योतक है। तबसे कांग्रेस का बल और महत्त्व बढ़ते-ही चले गये और अपने इतिहास

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में वह पहली बार मध्यम-वर्गों की सच्ची राष्ट्रीय संस्था बनने लगी। असली जनता से उसका कोई सरोकार नहीं था, और जबतक गाँधीजी का आगमन नहीं हुआ, तब-तक जनता को भी इसमें कोई दिलचस्पी नहीं थी। इस प्रकार तथाकथित नरमदली तथा गरमदली लोग कमती-ज्यादा एक-ही वर्ग का, यानी मध्यम-वर्ग का, प्रतिनिधान करते थे। नरम दलवाले मुट्ठी-भर सम्पन्न लोगों के, या सरकारी नौकरियों में जाने के लिए तैयार बैठे लोगों के प्रतिनिधि थे, या यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि खुद-ही सम्पन्न और सरकारी नौकरियों के इच्छुक थे। गरम दलवालों के साथ अधिकांश मध्यम-वर्ग की सहानुभूति थी और उनके दल में अनेक बेकार बुद्धिजीवी लोग थे। ये बुद्धिजीवी लोग (जिनसे मेरा अभिप्राय केवल थोड़े-बहुत शिक्षित लोगों से हैं) इनके दल को मज़बूत थे और क्रान्तिकारियों के दल को भी रंगरूट देते थे।

सन् १९१६ ई० की लखनऊ-कांग्रेस एक और एकता—हिन्दू-मुस्लिम एकता—के लिए प्रसिद्ध हो गई। कांग्रेस सदा से राष्ट्रीय आधार को पकड़े हुए थी, पर वास्तव में वह मुख्यतया हिन्दू संस्था थी, क्योंकि उसमें हिन्दुओं का जबरदस्त बहुमत था। युद्ध से कुछ वर्ष पहले मुस्लिम शिक्षित वर्ग ने, कुछ हद तक सरकार के बढ़ावा देने पर, अखिल भारतीय मुस्लिम लीग नामक अपनी अलग जमात संगठित कर ली थी। इसका उद्देश्य मुसलमानों को कांग्रेस से अलग रखना था, परन्तु शीघ्र-ही वह कांग्रेस की ओर बह गई और लखनऊ में दोनों के बीच भारत के भावी संविधान के बारे में समझौता हो गया।

मुसलमानों का झुकाव राजनीति की ओर अधिक हो गया था और कांग्रेस के साथ मिलकर काम करने का कारण बहुत करके यह था कि वे अंग्रेज़ों की तुर्की के विरुद्ध लड़ाई से खीझ उठे थे। तुर्की के साथ सहानुभूति के कारण और इस सहानुभूति का खूब ज़ोरों से इज़हार करने के कारण, दो मुस्लिम नेताओं—मौलाना मोहम्मद अली और मौलाना शौकत अली—को युद्ध के शुरू में ही नजरबन्द कर दिया गया। मौलाना अबुल कलाम आज़ाद अपनी रचनाओं के कारण अरब देशों में बहुत लोकप्रिय थे और इन देशों से सम्बन्ध होने के कारण उन्हें भी नजरबन्द कर दिया गया था। इन सब बातों से मुसलमान लोग चिढ़ गये और भड़क गये और वे दिन-पर-दिन सरकार के अधिक विरोधी बनते गये।

चूँकि भारत में स्वराज्य की माँग ज़ोर पकड़ने लगी, इसलिए ब्रिटिश-सरकार ने तरह-तरह के वादे किये और जाँच कमेटियाँ बैठाईं, जिनसे लोगों का ध्यान बँट गया। सन् १९१८ ई० की गर्मियों में तत्कालीन भारत-सचिव और वायसराय ने एक सम्मिलित रिपोर्ट पेश की, जो इन लोगों के नामों पर माण्टेग्यू-चैम्सफोर्ड रिपोर्ट कहलाती है, और जिसमें भारत के लिए कुछ सुधारों तथा परिवर्तनों के प्रस्ताव शामिल थे। इन आज़मायशी प्रस्तावों पर देश में तुरन्त-ही जबरदस्त बहस छिड़

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गई। कांग्रेस ने ज़ोरों से इनका विरोध किया और उन्हें ना-काफ़ी बतलाया। उदार लोगों ने इनका स्वागत किया और इसी कारण उन्होंने कांग्रेस का साथ छोड़ दिया।

: १०४ :

योरप का नया नक़्शा

विजयी मित्र-राष्ट्रों ने सन् १९१९ ई० में पेरिस में अपना एक शान्ति-सम्मेलन किया। पेरिस में इनके द्वारा दुनिया का भविष्य गढ़ा जानेवाला था, इसलिए महीनों तक यह शहर संसार के आकर्षण का केन्द्र बना रहा। दूर-दूर से और आस-पास से हर तरह के लोग यात्रा करके यहाँ आये। इनमें राज्यनीतिज्ञ और राजनीतिज्ञ थे, जो अपने-आपको सबकुछ समझ रहे थे, और कूटनीतिज्ञ और विशेषज्ञ, और सेनाधिकारी और साहूकार और मुनाफ़ाखोर थे, और सबके साथ सहायकों और टाइपिस्टों और क्लर्कों की भीड़-की-भीड़ थी। और पत्रकारों की तो फ़ौज-की-फ़ौज थी ही। आज़ादी के संघर्ष में लगी हुई आयरी, मिस्री, अरब वग़ैरा कौमों के, तथा अन्य क़ौमों के, जिनके नाम तक पहले नहीं सुने गये थे, प्रतिनिधि वहाँ पहुँचे। और उन क़ौमों के प्रतिनिधि भी पहुँचे, जो आस्ट्रिया और तुर्की के साम्राज्यों के खण्डहरों में से अपने-अपने लिए अलग-अलग राज्य तराश लेने की फ़िराक़ में थे। और मौक़े से फ़ायदा उठानेवाले ले-भग्गू तो ढेर-के-ढेर थे ही। दुनिया का नये सिरे से बँटवारा होने जा रहा था, और गिद्ध इस अवसर को नहीं चूकना चाहते थे।

यह थी उस शान्ति-सम्मेलन की पृष्ठ-भूमि, जिसकी बैठक वर्साई के उसी भवन में हुई, जहाँ अड़तालीस वर्ष पहले जर्मन-साम्राज्य की घोषणा की गई थी। सम्मेलन की बागडोर मित्र-राष्ट्रों की "दस की परिषद्" के हाथों में थी। बाद में वह घट-कर पाँच की रह गई, जो "पाँच बड़े" कहलाते थे, यानी संयुक्त-राज्य अमरीका, इंग्लैण्ड, फ्रान्स, इटली और जापान। जब जापान निकल गया, तो "चार की परिषद्" रह गई; और अन्त में इटली के निकल जाने पर केवल "तीन बड़े" बाक़ी रह गये—अमरीका, इंग्लैण्ड और फ्रान्स। इन तीन देशों के प्रतिनिधि क्रमशः राष्ट्रपति विल्सन, लायड जॉर्ज और क्लिमैन्शो थे और दुनिया को नये साँचे में ढालने का तथा उसके भयंकर घावों को भरने का महान् कार्य इन तीनों के ऊपर आ पड़ा।

राष्ट्रपति वुडरो विल्सन महान् कीर्ति और लोकप्रियता लेकर आया था। उसने अपने भाषणों तथा सरकारी पत्रों में इतने सुन्दर तथा आदर्शपूर्ण वाक्यों का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रयोग किया था कि लोग उसे भविष्य में आनेवाली आज़ादी का पैगम्बर ही समझने लगे थे। इंग्लैण्ड का प्रधान-मन्त्री लायड जॉर्ज भी लच्छेदार वाक्यों का जाल बुननेवाला व्यक्ति था, लेकिन वह अवसरवादी करके मशहूर था। "शेर" कहलानेवाला क्लिमैन्शो तो आदर्शों और ढोंग भरे-वाक्यों को व्यर्थ की चीज़ समझता था। वह तो फ्रान्स के पुराने शत्रु जर्मनी को कुचल डालने पर, उसे हर तरह कुचलने और ज़लील करने पर, तुला बैठा था, ताकि वह फिर कभी सिर न उठा सके।

अन्त में, लायड जॉर्ज की सहायता से, क्लिमैन्शो की जीत हुई। विल्सन जिन चीज़ों पर बहुत ज़ोर देता था, उनमें से एक चीज़ राष्ट्र-संघ[1] मिल गई, और जब उसने अन्य सबको इसपर राज़ी करा लिया, तो वह बाक़ी बहुत-सी बातों में झुक गया। कई महीनों के तर्क-वितर्क और वाद-विवाद के बाद इस शान्ति-सम्मेलन में आखिरकार मित्र-राष्ट्र सन्धि के एक मसौदे पर सहमत हुए, और आपस में सहमत हो जाने के बाद उन्होंने अपना हुक्मनामा सुनाने के लिए जर्मन प्रतिनिधियों को तलब किया। सन्धि का यह ४४० धाराओंवाला भारी-भरकम मसौदा इन जर्मनों पर फेंक दिया गया और उन्हें इसपर हस्ताक्षर करने का आदेश दिया गया। उनके साथ कोई तर्क नहीं किया गया, न उन्हें सुझाव या परिवर्तन करने का मौक़ा दिया गया। यह सन्धि-पत्र तो उनपर लादा जानेवाला था—या तो वे इसपर ज्यों-के-त्यों हस्ताक्षर कर दें, या इन्कारी का नतीजा भुगतने को तैयार हो जायँ। नये जर्मन-गणराज्य के प्रतिनिधियों ने आपत्ति की, पर मोहलत के आखरी दिन इस 'वर्साई की सन्धि' पर हस्ताक्षर कर दिये।

इस सन्धि के अनुसार जर्मनी को युद्ध छेड़नेवाला अपराधी पक्ष ठहराया गया और इस प्रकार सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर कराके जर्मनों से जबरदस्ती यह इक़बाल कराया गया कि वे युद्ध के अपराधी हैं।

जर्मनी को निरस्त्र होने का भी आदेश दिया गया। उसे थोड़े-बहुत पुलिस-कार्यों के लिए केवल छोटी-सी सेना रखने की अनुमति दी गई और अपना जहाज़ी-बेड़ा मित्र-राष्ट्रों के हवाले कर देना पड़ा। जब जर्मन बेड़ा इस प्रकार सौंप दिये जाने के लिए ले जाया जा रहा था, तब उसके अफ़सरों और नाविकों ने अपनी-ही ज़िम्मेदारी पर यह तय कर डाला कि अंग्रेज़ों के हवाले करने की अपेक्षा उसे डुबो देना बेहतर है। बस, जून, सन् १९१९ ई० में स्कैपा-फ्लो की खाड़ी में, अंग्रेज़ों की निगाह के सामने, जो उसे लेने की तैयारियाँ कर रहे थे, सारे जर्मन बेड़े को उसीके नाविकों ने जहाज़ों में छेद करके डुबो दिया।

इसके अलावा, जर्मनी से युद्ध का हर्जाना और युद्ध के कारण मित्र-राष्ट्रों की हानियों और क्षतियों का मुआवज़ा भी तलब किया गया। इसे "क्षति-पूर्ति

---

[1] लीग ऑफ नेशन्स।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की रक़म" कहा गया, और यह शब्द अनेक वर्षों तक योरप के ऊपर भूत की तरह सवार रहा।

अंत में मैं राष्ट्रपति विल्सन के दिमाग़ की उपज, उस राष्ट्र-संघ का ज़िक्र करना चाहता हूँ, जिसे वर्साई की सन्धि ने दुनिया को भेंट किया। यह आज़ाद और स्व-शासित राज्यों का एक संघ बननेवाला था और इसका अभिप्राय था "न्याय और सम्मान के आधार पर पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करके भावी युद्धों को रोकना और संसार के राष्ट्रों के बीच भौतिक और बौद्धिक सहयोग बढ़ाना"। कितना प्रशंसा के योग्य है यह अभिप्राय ! संघ के हर सदस्य-राज्य ने वादा किया कि जब-तक शान्तिपूर्ण समझौते की सारी सम्भावनाएँ खतम न हो जायँ, तबतक वह किसी साथी राज्य से युद्ध नहीं छेड़ेगा, और अगर छेड़ेगा भी, तो इसके बाद नौ महीने की अवधि पूरी होने पर। किसी सदस्य-राज्य द्वारा इस प्रतिज्ञा के भंग किये जाने की हालत में अन्य राज्य इसके लिए प्रतिज्ञा-बद्ध थे कि उस राज्य के साथ अपने लेन-देन के और आर्थिक-सम्बन्ध विच्छेद कर दें। कागज़ पर तो यह सब बड़ा सुहावना लगता है, पर व्यवहार में मामला बिल्कुल बदल गया। फिर भी यह ध्यान देने की बात है कि संघ ने सिद्धान्त रूप में भी युद्ध का अन्त करने का प्रयत्न नहीं किया; उसने तो युद्ध के मार्ग में कठिनाइयाँ पैदा करनी चाहीं, ताकि समय बीतने पर और मेल-जोल के प्रयत्नों से युद्ध-लिप्सा ठंडी पड़ जाय। उसने युद्ध के कारणों को भी दूर करने की कोशिश नहीं की।

बहुत लोग संघ की ओर उत्साह से देख रहे थे और आशा लगा रहे थे कि वह आजकल की दुनिया के झगड़े-फ़िसादों का अन्त कर देगा, या कम-से-कम उनमें बहुत-कुछ कमी कर देगा, और शान्ति तथा समृद्धि का युग ले आयगा। संघ को लोकप्रिय बनाने के लिए, और कहा जाता है कि, लोगों में चीज़ों को अन्तर्राष्ट्रीय नज़र से देखने की आदत डालने के लिए, अनेक देशों में राष्ट्र-संघ-समितियाँ स्थापित हुईं। दूसरी ओर, बहुत-से अन्य लोगों ने संघ को एक ढोंग-भरा ढकोसला बतलाया, जो बड़ी-बड़ी शक्तियों की स्वार्थभरी योजनाओं को आगे बढ़ाने की नीयत से बनाया गया था। अबतक हमें इसका कुछ व्यावहारिक अनुभव भी हो गया है और शायद इसकी उपयोगिता की परीक्षा करना आसान है। संघ ने सन् १९२० ई० के साल के नये दिन से काम करना शुरू किया। इसमें शक नहीं कि आधुनिक जीवन के विभिन्न गली-कूचों में इसने अच्छा काम किया, और इसने राष्ट्रों को, या यों कहो कि उनकी सरकारों को, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करने के लिए जो एक-साथ ला बिठाया, केवल यही तथ्य पुराने तरीकों से आगे बढ़ा हुआ है। परन्तु शान्ति क़ायम रखने का, या युद्ध की सम्भावनाओं को ही कम करने का, अपना असली उद्देश्य प्राप्त करने में यह पूरी तरह असफल रहा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: १०५ :

आज़ादी के लिए आयरलैण्ड की लड़ाई

मैंने आयरलैण्ड के होमरूल-बिल का ज़िक्र किया था, जिसे ब्रिटिश-पार्लमेण्ट ने महायुद्धशुरू होने के ठीक पहले पास किया था। अल्स्टर के प्रोटेस्टेण्ट नेताओं ने तथा इंग्लैण्ड के अनुदार दल ने इसका विरोध किया था और इसके विरुद्ध बाक़ायदा बग़ावत का संगठन किया गया था। इसपर, ज़रूरत पड़े तो अल्स्टर के विरुद्ध लड़ने को, दक्षिण-आयरवासियों ने भी अपने "राष्ट्रीय स्वयंसेवकों" का संगठन किया था। ऐसा मालूम हो रहा था कि आयरलैण्ड में गृह-युद्ध टल नहीं सकता। ठीक इसी समय महायुद्ध शुरू हो गया और लोगों का सारा ध्यान बेल्जियम और उत्तरी फ्रान्स के रण-क्षेत्रों की तरफ़ बँट गया। पार्लमेण्ट में आयरी नेताओं ने युद्ध में सहायता देने की अपनी तैयारी प्रगट की, किन्तु देश इस ओर से उदासीन था और सहायता देने को ज़रा भी उत्सुक नहीं था। इधर अल्स्टर के "बाग़ियों" को ब्रिटिश-सरकार में ऊँचे-ऊँचे ओहदे दे दिये गये, जिससे आयरनिवासी और भी अधिक नाराज़ हो गये।

सन् १९१६ ई० के ईस्टर-सप्ताह[१] में डबलिन में उपद्रव हुआ और आयरी-गणराज्य की घोषणा की गई। कुछ दिन की लड़ाई के बाद ब्रिटिश-सरकार ने इसे कुचल दिया, और बाद में इस अल्पकालिक बग़ावत में भाग लेनेवाले आयरलैण्ड के कुछ एक-से-एक वीर और होनहार नवयुवकों को गोलियों से उड़ा दिया गया।

उपद्रव तो असफल रहा, पर उसकी असफलता में ही उसकी शानदार विजय थी। इसके बाद-ही ब्रिटिश-सरकार ने जो दमन किया, और ख़ासकर नौजवान नेताओं के एक दल को जो गोलियों से उड़ा दिया, इनका आयरवासी जनता पर गहरा प्रभाव पड़ा। ऊपर-ऊपर तो आयरलैण्ड शान्त नज़र आता था, लेकिन नीचे क्रोधाग्नि दहक रही थी, और शीघ्र-ही यह 'शिन-फ़ेन' के रूप में प्रगट हो गई। शिन-फ़ेन की विचार धारा बड़ी तेज़ी से फैलने लगी।

महायुद्ध समाप्त होने के बाद लन्दन की पार्लमेण्ट के लिए सारे ब्रिटिश-द्वीप-समूह में चुनाव हुए। आयरलैण्ड में, शिन-फ़ेन दल ने, अंग्रेजों के साथ कुछ सहयोग का समर्थन करनेवाले पुराने राष्ट्रवादियों को हराकर, पार्लमेण्ट के बहुत अधिक स्थानों पर क़ब्ज़ा कर लिया। परन्तु शिन-फ़ेन दल के लोगों ने चुनाव इसलिए नहीं जीता था कि ब्रिटिश-पार्लमेण्ट के अधिवेशनों में भाग लें। उनकी नीति बिल्कुल

---

[१] **ईसाइयों का त्यौहार जो ईसामसीह के स्वर्गारोहण की याद में मनाया जाता है। यह सप्ताह प्रतिवर्ष २१ मार्च से २८ अप्रैल के बीच में पड़ता है।**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भिन्न थी—वे तो असहयोग और बहिष्कार में विश्वास रखते थे। इसलिए ये निर्वाचित शिन-फ़ेन लोग लन्दन की पार्लामेण्ट में नहीं गये, और उन्होंने सन् १९१९ ई० में डबलिन में अपनी खुद की गणतान्त्रिक विधान सभा बना डाली। उन्होंने आयरी-गणराज्य की घोषणा कर दी और अपनी विधान सभा का नाम "डेल आयरिअन" रखा। डेल आयरिअन ने डि वेलेरा को अपना अध्यक्ष और ग्रिफ़िथ को उपाध्यक्ष चुना। उस समय संयोग से नवजात गणराज्य के ये दोनों सरदार ब्रिटिश जेलों में थे।

फिर एक बहुत-ही निराला संघर्ष शुरू हुआ। यह लड़ाई अपूर्व थी और आयरलैण्ड तथा इंग्लैण्ड के बीच पिछली अनेकों लड़ाइयों से बिल्कुल भिन्न थी। केवल मुट्ठी-भर युवक और युवतियाँ, अपने देशवासियों की सहानुभूति का सहारा पाकर, पराजय की कल्पनातीत सम्भावनाओं के विरुद्ध लड़े—उनके मुक़ाबले में एक महान् और संगठित साम्राज्य खड़ा था। शिन-फ़ेन का संघर्ष एक प्रकार का असहयोग था, जिसमें हिंसा का कुछ पुट था। उन्होंने ब्रिटिश-संस्थाओं के बहिष्कार का प्रचार किया, और जहाँ सम्भव हुआ, वहाँ अपनी संस्थाएँ स्थापित कर दीं, जैसे मामूली अदालतों के स्थान पर पंचायती अदालतें। देहात में पुलिस की चौकियों के विरुद्ध छापामार युद्ध का अवलम्बन किया गया। जेलों में भूख-हड़तालें करके शिन-फ़ेन क़ैदियों ने ब्रिटिश-सरकार को बहुत परेशान किया। सबसे मशहूर भूख हड़ताल, जिसने आयरलैण्ड को थर्रा दिया, कॉर्क नगर के लार्ड मेयर टैरेन्स मैकस्विनी की हुई। जब उसे जेल में डाला गया, तो उसने विश्वास के साथ कहा कि वह जेल से ज़रूर छूटेगा— ज़िन्दा नहीं छूटा, तो मरकर छूटेगा, और उसने अनशन कर दिया। पचहत्तर दिन के अनशन के बाद उसका मृतक शरीर जेल से बाहर निकाला गया!

माइकल कॉलिन्स शिन-फ़ेन-बग़ावत के बहुत प्रमुख संगठनकर्ताओं में गिना जाता है। शिन-फ़ेन की चतुर जुगतों ने आयरलैण्ड में ब्रिटिश-सरकार को बहुत-कुछ अशक्त बना दिया, और देहात के जिलों में तो उसकी हस्ती-ही मिटा दी। धीरे-धीरे दोनों ओर हिंसा का ज़ोर बढ़ने लगा और कई बार अदले-के-बदले लिये गये। आयरलैण्ड में लड़ने के लिए विशेष ब्रिटिश फ़ौजी दल भरती किया गया। आयरलैण्ड लड़ाई का विशाल मैदान बन गया, जिसमें दोनों पक्ष ख़ून-खराबी और बरबादी में एक-दूसरे से होड़ लगाने लगे। एक पक्ष की ओर तो साम्राज्य का संगठित बल था, दूसरे की ओर मुट्ठी-भर लोगों का लौह निश्चय था। सन् १९१९ ई० से अक्तूबर सन् १९२१ ई० तक, दो वर्ष यह आंग्ल-आयरी युद्ध चला।

इसी दरमियान, सन् १९२०ई० में, ब्रिटिश-पार्लामेण्ट ने फुर्ती से नया होमरूल-बिल पास कर दिया। युद्ध से पूर्व पास किया गया पुराना संविधान, जिसके कारण अल्स्टर में विद्रोह की नौबत पहुँच गई थी, चुपचाप मंसूख कर दिया गया। नये बिल के अनुसार आयरलैण्ड के दो टुकड़े कर दिये गये; एक तो अल्स्टर अथवा उत्तरी

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

आयरलैण्ड और दूसरा देश का बाक़ी भाग, और दोनों के लिए अलग-अलग पार्लमेण्टें रखी गईं। आयरलैण्ड वैसे-ही छोटा-सा देश है, इसलिए विभाजन होने पर ये दोनों भाग एक छोटे-से टापू के नन्हें-नन्हें क्षेत्र हो गये। उत्तरी भाग के लिए अल्स्टर में नई पार्लमेण्ट बना दी गई, पर दक्षिण में, यानी आयरलैण्ड के बाक़ी भाग में, होमरूल-क़ानून पर किसीने ध्यान ही नहीं दिया। वे सब तो शिन-फ़ेन-विद्रोह में संलग्न थे।

अक्तूबर, सन् १९२१ ई० में ब्रिटिश प्रधान मन्त्री लायड जॉर्ज ने शिन-फ़ेनों से विराम-सन्धि की अपील की, ताकि समझौते की सम्भावना पर चर्चा की जा सके, और उसकी बात मान ली गई।

अंग्रेज़ तथा आयरी प्रतिनिधि लंदन में मिले, और दो महीने की चर्चा तथा तर्क-वितर्क के बाद दिसम्बर, सन् १९२१ ई० में एक अस्थायी समझौते पर दोनों के हस्ताक्षर हो गये। इसमें आयरी-गणराज्य को तो मान्यता नहीं दी गई, परन्तु दो-एक मामलों को छोड़कर इसमें आयरलैण्ड को उससे कहीं अधिक आज़ादी मिल गई जितनी किसी उपनिवेश को अभीतक प्राप्त थी।

इस सन्धि के ऊपर आयरलैण्ड में जबरदस्त खींच-तान हुई——कुछ लोग इसके समर्थक थे, अन्य लोग घोर विरोधी थे। इस सवाल पर शिन फ़ेन दल के दो टुकड़े हो गये। अन्त में जाकर डेल आयरिअन ने इस सन्धि को स्वीकार कर लिया, और "आयरिश आज़ाद राज्य"[1] की स्थापना हुई, जो आयरलैण्ड में सरकारी तौर पर "साओर-स्टाट आयरिअन" कहलाता है। परन्तु इसके फलस्वरूप शिन-फ़ेन दल के पुराने साथियों के बीच गृह-युद्ध छिड़ गया। डेल आयरिअन का अध्यक्ष डि वेलेरा इंग्लैण्ड के साथ सन्धि के विरुद्ध था, तथा अन्य बहुत लोग भी विरुद्ध थे; उधर माइकेल कॉलिन्स तथा अन्य लोग पक्ष में थे। देश में कई महीनों तक गृह-युद्ध ज़ोरों के साथ चलता रहा, और विपक्षियों को दबाने के लिए सन्धि तथा आज़ाद राज्य के समर्थकों को ब्रिटिश फ़ौजों ने सहायता दी। गणराज्यवादियों ने माइकेल कॉलिन्स को गोली से मार दिया, और इसी प्रकार गणराज्यवादी नेताओं को आज़ाद राज्य के हामियों ने गोलियों से मार दिया। सारी जेलें गणराज्यवादियों से भर गईं।

गृह-युद्ध धीरे-धीरे ठंडा पड़ गया, पर गणराज्यवादी फिरभी आज़ाद राज्य को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुए। यहाँतक कि वे गणराज्यवादी भी, जो डेल (आज़ाद राज्य की पार्लमेण्ट) में चुने गये थे, उसके अधिवेशनों में उपस्थित होने से इन्कार कर गये, क्योंकि वफ़ादारी की जिस शपथ में बादशाह का नाम आता था, उसे ग्रहण करने में उन्हें आपत्ति थी। इसलिए डि वेलेरा तथा उसका दल डेल

---

[1] आयरिश फ्री स्टेट।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से दूर रहे और दूसरे, आज़ाद राज्य दल ने, जिसका नेता आज़ाद राज्य का अध्यक्ष कॉस्ग्रेव था, गणराज्यवादियों को अनेक प्रकार से कुचलने का प्रयत्न किया।

कुछ समय बाद डि वेलेरा ने अपने दाँव-पेंच बदलने का निश्चय किया। वह तथा उसका दल डेल आयरिअन में गये और उन्होंने वफ़ादारी की शपथ भी ले ली, पर साथ-ही यह ज़ाहिर कर दिया कि यह शपथ उन्होंने सिर्फ़ रस्म पूरी करने के लिए ली है, और अपना बहुमत होते-ही वे उसे हटा देंगे। सन् १९३२ ई० के शुरू में होने-वाले अगले चुनावों में डि वेलेरा को आज़ाद राज्य की पार्लमेण्ट में यह बहुमत प्राप्त भी हो गया और उसने तुरन्त ही अपने कार्यक्रम पर अमल करना शुरू कर दिया। डि वेलेरा ने वफ़ादारी की शपथ को मिटा देने का इरादा ज़ाहिर किया और ब्रिटिश-सरकार को यह भी सूचित कर दिया कि आगे से वह ज़मीन की वार्षिक क़िश्तें नहीं देगा। जब आयरलैण्ड की ज़मीनें बड़े-बड़े ज़मींदारों से ले ली गई थीं, तब उन्हें इनका भरपूर मुआवज़ा दिया गया था, और इसका रुपया हर साल उन किसानों से वसूल किया जाता था जिन्हें ये ज़मीनें दी गई थीं। डि वेलेरा ने कह दिया कि आगे से वह एक पाई भी न देगा।

इसपर इंग्लैण्ड में फ़ौरन-ही बावेला मच गया और ब्रिटिश-सरकार से झगड़ा ठन गया। अव्वल तो ब्रिटिश-सरकार ने यह आपत्ति की कि डि वेलेरा द्वारा वफ़ादारी की शपथ का हटाया जाना सन् १९२१ ई० की आयरी सन्धि का भंग है। डि वेलेरा ने कहा कि उपनिवेशों के सम्बन्ध में की गई घोषणा के अनुसार अगर आयरलैण्ड और इंग्लैण्ड समकक्ष राष्ट्र हैं, और अगर हरएक को अपना संविधान बदलने की आज़ादी है, तो यह स्पष्ट है कि आयरलैण्ड को संविधान में से वफ़ादारी की शपथ को बदलने या निकाल देने का अधिकार है।

दूसरे, वार्षिक क़िश्तों के बन्द किये जाने पर तो ब्रिटिश-सरकार ने और भी ज़ोर-शोर से आपत्ति की, और कहा कि यह अहदनामे का और क़र्ज़ की जिम्मेदारी का बहुत बेहूदा प्रतिज्ञा-भंग है। जब वार्षिक क़िश्तें चुकाने का समय आया और वे नहीं दी गईं, तो इंग्लैण्ड ने आयरलैण्ड के विरुद्ध एक नया युद्ध छेड़ दिया। यह आर्थिक-युद्ध था। इंग्लैण्ड में आनेवाले आयरी माल पर भारी संरक्षण-चुंगियाँ लगा दी गईं; ताकि इंग्लैण्ड को अपनी उपज भेजनेवाले आयरी किसान बरबाद हो जाय और आयरी-सरकार समझौता करने पर मजबूर हो जाय। आयरी-सरकार ने इसके जवाब में आयरलैण्ड आनेवाले ब्रिटिश माल पर चुंगियाँ लगा दीं। इस आर्थिक-युद्ध ने दोनों ओर के किसानों और उद्योगों को भारी क्षति पहुँचाई।

सन् १९३३ ई० के प्रारम्भ में आयरलैण्ड में नये चुनाव हुए, और इनमें जब डि वेलेरा पहले से भी ज्यादा सफल रहा और उसका पहले से भी ज्यादा बहुमत हो गया, तो ब्रिटिश-सरकार को बहुत खिजलाहट हुई।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

टिप्पणी (सन् १९३८ ई०)—कुछ वर्ष चलने के बाद दोनों देशों के बीच यह आर्थिक-युद्ध दोनों देशों के एक आपसी राज़ीनामे के द्वारा ख़तम कर दिया गया। यह राज़ीनामा, जिससे सालाना क़िश्तों की समस्या का और रुपये-पैसे के अन्य देने-पावने का निपटारा हो गया, आयरी आज़ाद-राज्य के लिए बहुत फ़ायदेमन्द रहा। डि वेलेरा ने गणराज्य की ओर और भी क़दम बढ़ाये हैं, तथा ब्रिटिश-सरकार और ताज से अनेक सम्बन्ध-विच्छेद कर लिये हैं। आयरलैण्ड का नाम अब 'आयर' रख दिया गया है। आयर के सामने सबसे ज्यादा ज़रूरी प्रश्न देश की एकता है, जिसमें अल्स्टर भी शामिल हो। पर अल्स्टर अभी राज़ी नहीं है।

: १०६ :

नवीन तुर्की का उदय

महायुद्ध में जर्मनी की पराजय से कुछ दिन पहले-ही तुर्की का ढेर हो गया, और उसने मित्र-राष्ट्रों के साथ युद्ध-विराम का मामला अलग तय किया। देश लगभग छिन्न-भिन्न हो चुका था, साम्राज्य मिट गया था, और सरकार की व्यवस्था टूट चुकी थी। ईराक़ तथा अरबी देश तुर्की से बिल्कुल विलग कर दिये गये थे और बहुत-कुछ मित्र-राष्ट्रों के अधीन थे। ख़ुद क़ुस्तुन्तुनिया पर भी मित्र-राष्ट्रों का क़ब्ज़ा था, और विजयी पराक्रम के अभिमानी प्रतीक ब्रिटिश जंगी-जहाज़ बास्फ़ोरस में, इस महान् शहर के सामने-ही लंगर डाले पड़े थे। हर जगह अंग्रेज़ी, फ्रान्सीसी तथा इटालवी सैनिक नज़र आते थे, और ब्रिटिश ख़ुफिया विभाग के कर्मचारी सारी जगह पर गश्त लगाते फिरते थे। तुर्क क़िले ढाये जा रहे थे, और बची-खुची तुर्क सेना के हथियार रखवाये जा रहे थे। नौजवान तुर्क नेता अनवर पाशा तथा तलाअत बेग अन्य देशों को भाग गये थे। सुल्तान की गद्दी पर कठपुतली ख़लीफ़ा वहीदुद्दीन बैठा हुआ था, जो इस तबाही में से अपने-आपको बचाने पर तुला हुआ था—उसका देश भले-ही चूल्हे में जाय। ब्रिटिश-सरकार की पसन्द का एक और कठ-पुतली व्यक्ति वज़ीर-आज़म बनाया गया। तुर्क-पार्लमेण्ट भंग कर दी गई।

सन् १९१८ ई० के अन्त में तथा सन् १९१९ ई० के शुरू में तुर्की के अन्दर इस तरह की अवस्था थी। तुर्क लोग बिल्कुल बेदम हो गये थे और उनके हौसले बिल्कुल पस्त हो चुके थे।

मालूम होता था कि सुल्तान से लगाकर नीचे तक सारे तुर्क लोग चित हो चुके हैं। "योरप का मरीज़" आख़िर दम तोड़ चुका था—कम-से-कम नज़र यही आता था। लेकिन कुछ तुर्क ऐसे भी थे, जो क़िस्मत या परिस्थिति के आगे सिर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

झुकाने को तैयार नहीं थे, भले-ही उनका मुक़ाबला करना चाहे कितना निराशाजनक क्यों न दिखाई देता हो। कुछ समय तक तो वे चुपचाप और गुप्त रूप से अपना काम करते रहे। वे उन्हीं शस्त्रागारों से हथियार और युद्ध-सामग्री इकट्ठा करते रहे, जो सचमुच मित्र-राष्ट्रों के क़ब्ज़े में थे, और इन्हें जहाज़ों में भरकर काला सागर के मार्ग से अनातोलिया (एशिया-कोचक) के भीतरी भाग को रवाना करते रहे। इन गुप्त कार्यकर्ताओं में मुस्तफ़ा कमाल पाशा प्रधान था, जिसका नाम पहले आ चुका है।

अंग्रेज़ लोग मुस्तफ़ा कमाल को फूटी आँख भी नहीं देख सकते थे। वे उसपर सन्देह करते थे और उसे गिरफ्तार करना चाहते थे। सुल्तान भी, जो पूरी तरह अंग्रेज़ों के अंगूठे के नीचे दबा हुआ था, उसे नहीं चाहता था। मगर उसने सोचा कि कमाल को भीतर की ओर बहुत दूर भेज देना निरापद चाल होगी, इसलिए कमाल पाशा को पूर्वी अनातोलिया की सेना का इन्स्पैक्टर-जनरल नियुक्त कर दिया गया। सच पूछो तो वहाँ देख-भाल करने के लिए कोई सेना ही नहीं थी, और असल में कमाल पाशा से यह चाहा गया था कि वह तुर्क-सिपाहियों से हथियार रखवाने का काम करे। कमाल के लिए यह बड़ा-ही उपयुक्त अवसर था––उसने तपाक से इसे स्वीकार कर लिया और वह तुरन्त रवाना हो गया। उसका चला जाना अच्छा ही हुआ, क्योंकि उसके रवाना होने के कुछ-ही घंटे बाद सुल्तान की मति पलट गई। कमाल के भय ने यकायक उसे दबा दिया, और आधी रात गये उसने अंग्रेज़ों के पास खबर भेजी कि वे कमाल को रोक लें। पर चिड़िया तो उड़ चुकी थी!

कमाल पाशा तथा कुछ गिने-चुने अन्य तुर्क अनातोलिया में राष्ट्रीय विरोध का संगठन करने लगे। शुरू-शुरू में वे चुपचाप और चौकस होकर चले, और वहाँ पड़े हुए सैनिक अफ़सरों को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न करने लगे। ज़ाहिरा तौर पर तो वे सुल्तान के कारकुनों की तरह काम करते थे, पर क़ुस्तुन्तुनिया से आनेवाले आदेशों पर वे कोई ध्यान नहीं देते थे। घटना-चक्र उनकी सहायता कर रहा था।

सितम्बर, सन् १९१९ ई० में अनातोलिया के सिवास नामक स्थान में चुने हुए प्रतिनिधियों की एक कांग्रेस हुई। इसने विरोध के नये आन्दोलन पर स्वीकृति की मोहर लगा दी और कमाल की अध्यक्षता में एक कार्य-समिति नियुक्त कर दी गई। मित्र-राष्ट्रों के साथ सुलह की न्यूनतम शर्तों का एक "राष्ट्रीय क़रार" भी स्वीकार किया गया। इन शर्तों का आधार पूर्ण स्वाधीनता रखा गया था। क़ुस्तुन्तुनिया में सुल्तान पर इसका असर पड़ा और वह कुछ डरा भी। उसने पार्लमेण्ट का नया अधिवेशन बुलाने का वादा किया और चुनावों की आज्ञा दी। इन चुनावों में सिवास-कांग्रेस के लोगों को भारी बहुमत प्राप्त हुआ। कमाल पाशा को क़ुस्तुन्तुनिया के लोगों पर विश्वास नहीं था, और उसने नव-निर्वाचित डिपुटियों को वहाँ न

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जाने की सलाह दी। पर वे इसपर राज़ी नहीं हुए और रऊफ़ बेग के नेतृत्व में वे इस्तम्बूल चले गये (क़ुस्तुन्तुनिया को अब मैं इसी नाम से पुकारूँगा)। उनके वहाँ जाने का एक कारण यह था कि मित्र-राष्ट्रों ने घोषित कर दिया था कि अगर नई पार्लमेण्ट इस्तम्बूल में सुल्तान की अध्यक्षता में बैठेगी, तो वे उसे मान्यता दे देंगे। यद्यपि कमाल भी एक डिपुटी था, पर वह ख़ुद नहीं गया।

नई पार्लमेण्ट जनवरी, सन् १९२० ई० में इस्तम्बूल में बैठी और उसने तुरन्त-ही उस "राष्ट्रीय क़रार" को स्वीकार कर लिया जो सिवास-कांग्रेस में रचा गया था। मित्र-राष्ट्रों के इस्तम्बूल स्थित प्रतिनिधियों को यह बात अच्छी नहीं लगी, और पार्लमेण्ट ने और भी जो बहुत-से काम किये, वे भी उन्हें अच्छे नहीं लगे। अंग्रेज़ सेनापति अपनी सेना लेकर इस्तम्बूल में घुस आया, उसने शहर पर क़ब्ज़ा कर लिया, फ़ौजी-क़ानून की घोषणा कर दी, रऊफ बेग सहित चालीस राष्ट्रवादी डिपुटियों को गिरफ्तार कर लिया, और उन्हें देश-निकाला देकर माल्टा भेज दिया!

तुर्की में फिर उत्तेजना फैल गई। अब यह काफ़ी स्पष्ट हो गया था कि सुल्तान अंग्रेज़ों के हाथों की कठपुतली है। अनेक तुर्क डिपुटी लोग भागकर अंगोरा चले गये, और वहाँ पार्लमेण्ट की बैठक हुई और उसने अपना नाम 'तुर्की की महान् राष्ट्रीय विधान सभा' रखा। उसने अपने को देश की सरकार घोषित कर दिया और ऐलान कर दिया कि जिस दिन से अंग्रेज़ों ने इस्तम्बूल पर क़ब्ज़ा किया, उसी दिन से इस्तम्बूल की सरकार का अस्तित्व जाता रहा।

इसके जवाब में सुल्तान ने कमाल पाशा को तथा अन्य लोगों को बाग़ी घोषित कर दिया, और उन्हें बहिष्‌ त कर दिया, और उन्हें मौत की सज़ा का हुक्म दे दिया। इसके अलावा उसने यह भी डोंडी पिटवा दी कि अगर कोई व्यक्ति कमाल पाशा तथा उसके साथियों की हत्या कर देगा, तो वह धार्मिक कर्त्तव्य का पालन करेगा और उसे लोक तथा परलोक दोनों में पुण्य प्राप्त होगा। याद रहे कि सुल्तान ख़लीफ़ा, यानी अमीर-उल-मोमिनीन, भी था, और हत्या के खुले निमन्त्रण का उसका यह फ़तवा बड़ी भयंकर चीज़ था। कमाल पाशा न सिर्फ़ ऐसा बाग़ी था जिसके पीछे सरकारी भेड़िये लगे हुए थे, बल्कि वह दीन से भ्रष्ट भी क़रार दिया गया था, जिसे कोई भी कट्टर या धर्मान्ध व्यक्ति क़त्ल कर सकता था। सुल्तान ने राष्ट्रवादियों को कुचलने में कोई कसर बाक़ी नहीं रखी। उसने उनके विरुद्ध जिहाद बोल दिया और उनसे लड़ने के लिए ग़ैर-सैनिकों की "ख़लीफ़ा की सेना" तैयार करवाई। मुल्लाओं वग़ैरा को उपद्रवों का आयोजन करने के लिए भेजा गया। जगह-जगह उपद्रव हुए और कुछ दिन और तुर्की में गृह-युद्ध की आग धधकती रही। यह नगर-नगर के बीच, भाई-भाई के बीच, बड़ा कटुतापूर्ण संग्राम था, और दोनों ओर से निर्दय क्रूरता का परिचय दिया गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मित्र-राष्ट्रों ने कमबख़्त तुर्की के लिए जो सन्धि-पत्र तैयार किया था, वह अगस्त सन् १९२० ई० में प्रकाशित कर दिया गया। यह सेवर की सन्धि कहलाई। इसने तुर्की की आज़ादी का अन्त कर दिया—स्वाधीन राष्ट्र की हैसियत से तुर्की को मौत की सज़ा सुना दी गई। इसके अनुसार तुर्की के सिर्फ़ टुकड़े-टुकड़े ही नहीं कर दिये गये, बल्कि ख़ुद इस्तम्बूल तक में धरना देने और क़ब्ज़ा बनाये रखनेवाला एक मित्र-राष्ट्रीय कमीशन भी नियुक्त कर दिया गया। सारे देश में विषाद छा गया और प्रार्थनाओं तथा हड़ताल के साथ राष्ट्रीय मातम का दिन मनाया गया। उस दिन अख़बारों के पृष्ठों पर चारों ओर काली किनारियाँ छापी गईं। पर इससे क्या होता था? सुल्तान के प्रतिनिधि सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर कर चुके थे। हाँ, राष्ट्रवादियों ने उसे घृणा के साथ ठुकरा दिया, और सन्धि-पत्र के प्रकाशन का यह परिणाम हुआ कि उनका बल बढ़ने लगा, और अपने देश की मिट्टी बिल्कुल ख़राब होने से बचाने के लिए दिन-पर-दिन अधिक तुर्क उनके दल में शामिल होने लगे।

मित्र-राष्ट्र इस स्थिति में नहीं थे कि ख़ुद अपनी-ही सन्धि तुर्की पर लाद सकें; न वे तुर्क राष्ट्रवादियों द्वारा इसकी खुल्लमखुल्ला अवहेलना ही सहने को तैयार थे। इसलिए उन्होंने यूनान से तुर्की पर आक्रमण कराने की चाल खेली और यूनानी-तुर्की युद्ध बड़े पैमाने पर छिड़ गया। सन् १९२० ई० के ग्रीष्म तथा शरद भर में विजय-लक्ष्मी ने यूनानियों का साथ दिया, और उन्होंने सामना करनेवाले तुर्कों को खदेड़ दिया।

सन् १९२१ ई० के ग्रीष्म में यूनानियों ने तुर्की की राजधानी अंगोरा पर क़ब्ज़ा करने का जबरदस्त प्रयास किया। वे नगर-के-बाद-नगर पर अधिकार करते हुए अंगोरा के पास तक आ पहुँचे, पर अन्त में सक़रिया नदी पर उन्हें रोक दिया गया। इस नदी के पास तीन सप्ताह तक दोनों सेनाएँ आपस में जूझती रहीं, सदियों पुराने सारे जातीय विद्वेष को लेकर निरन्तर लड़ती रहीं, और एक ने दूसरे के साथ ज़रा भी रहम नहीं किया। सहनशक्ति की यह भीषण कसौटी बन गई; तुर्क तो बस किसी तरह डटे ही रहे, पर यूनानियों ने घुटने टेक दिये और वे पीछे हट गये। जैसाकि उसका ढंग रहा था, यूनानी सेना हर चीज़ को जलाती तथा नष्ट करती हुई पीछे लौटी, और उसने दो सौ मील के उपजाऊ देश को वीरान बना दिया।

दोनों ओर की सेनाएँ बेदम हो गईं थीं और वे फिर शक्ति प्राप्त करने के लिए तथा दुबारा संगठित होने के लिए सुस्ताने लगीं थीं। पर कमाल पाशा का सितारा निस्सन्देह बुलन्दी पर था। फ्रान्सीसी-सरकार ने अंगोरा से सन्धि कर ली। अंगोरा तथा सोवियत के बीच भी सन्धि हो गई। फ्रान्स द्वारा मान्यता दिये जाने से मुस्तफ़ा कमाल को बहुत बड़ा नैतिक तथा भौतिक लाभ हुआ। इससे सीरिया की सरहद के तुर्क सैनिक यूनान के विरुद्ध लड़ने के लिए खाली हो गये। ब्रिटिश-सरकार

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अभीतक कठपुतली सुल्तान को और इस्तम्बूल की निकम्मी सरकार को सहारा दे रही थी। इसलिए इस फ्रान्सीसी सन्धि से उसे धक्का पहुँचा।

अगस्त, सन् १९२२ ई० में तुर्क सेना ने, यकायक, पर पूरी सावधानी से तैयारी के बाद, यूनानियों पर हमला बोल दिया और उन्हें आसानी से समुद्र में धकेल दिया। आठ दिनों में यूनानी लोग १६० मील पीछे हट गये, लेकिन हटते-हटते भी उन्होंने जो भी तुर्क पुरुष, स्त्री या बच्चा रास्ते में पड़ा, उसे मारकर ख़ूनी बदला लिया। तुर्कों ने भी कम निर्दयता नहीं दिखाई, और वे यूनानियों को क़ैदी बनाने की झंझट में नहीं पड़े। जो थोड़े-से कैदी उन्होंने पकड़े, उनमें यूनानी सेना का सेनापति तथा उसके अफ़सर थे। यूनानी सेना का अधिक भाग स्मर्ना से समुद्र के रास्ते निकल भागा, पर ख़ुद स्मर्ना शहर का बड़ा भाग जला डाला गया।

इस विजय के बाद कमाल पाशा ने दम नहीं लिया और अपनी सेनाओं को लेकर इस्तम्बूल की ओर कूच कर दिया। नगर के पास चनक नामक स्थान पर अंग्रेज़ सैनिकों ने उसे रोका और सितम्बर सन् १९२२ ई० में कुछ दिनों तुर्की तथा इंग्लैण्ड के बीच युद्ध छिड़ जाने की सम्भावना रही। पर अंग्रेज़ों ने तुर्की की लगभग सभी माँगों को स्वीकार कर लिया और दोनों ने युद्ध-विराम सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये, जिसमें अंग्रेज़ों ने सचमुच यह वादा किया कि वे थ्रेस में तबतक पड़ी हुई यूनानी फ़ौजों को तुर्की से हटवा देंगे। तुर्की के पीछे सोवियत का भूत हमेशा खड़ा दिखाई दे रहा था, इसलिए मित्र-राष्ट्र ऐसा युद्ध नहीं छेड़ना चाहते थे जिसमें रूस तुर्की की मदद पर आ जाय।

मुस्तफ़ा कमाल ने शानदार विजय प्राप्त की, और सन् १९१९ ई० के मुट्ठी-भर बाग़ी अब बड़ी-बड़ी शक्तियों के प्रतिनिधियों से बराबरी की हैसियत में बातें करने लगे।

लोज़ान में एक शान्ति-सम्मेलन हुआ और यह कई महीनों तक खिंचता रहा। इंग्लैण्ड के अहंकारी और रोबदार प्रतिनिधि लार्ड कर्ज़न तथा कुछ-कुछ बहरे और कूढ़-मग्ज़ इस्मत पाशा के बीच अजीब कुश्ती हुई। इस्मत पाशा चुपचाप मुस्कराता रहता था, और जिस बात को वह नहीं सुनना चाहता था, उसे अनसुनी कर देता था, जिससे कर्ज़न को तीव्र झुँझलाहट होती थी। भारत के वायसरायी ढंगों के आदी, और वैसे भी बहुत घमंडी कर्ज़न ने गर्जन-तर्जन के तरीकों का प्रयोग किया, पर बहरे और मुस्कराते इस्मत पर जूँ तक नहीं रेंगी। आखिर तंग आकर कर्ज़न लौट गया और सम्मेलन भंग हो गया। सम्मेलन की बैठक बाद में फिर हुई, पर इस बार कर्ज़न के बजाय दूसरा ब्रिटिश प्रतिनिधि आया। "राष्ट्रीय क़रार" में लिखित तमाम तुर्क माँगें, सिवाय एक माँग के, मान ली गईं और जुलाई, सन् १९२३ ई० में लोज़ान के सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर हो गये। इस बार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी सोवियत रूस के सहारे ने और मित्र-राष्ट्रों के आपसी वैमनस्य ने तुर्की की मदद की।

: १०७ :

मुस्तफ़ा कमाल अतीत से नाता तोड़ता है

मुस्तफ़ा कमाल और उसके साथियों को जो विजय प्राप्त हुई, उसका उन्होंने क्या किया ? कमाल पाशा पुरानी लकीर-का-फ़क़ीर बने रहने का क़ायल नहीं था; वह तुर्की को बाहर-भीतर पूरी तरह बदल देना चाहता था। वह सुल्तानियत और खिलाफ़त दोनों का अन्त करना चाहता था, पर उसके अनेक साथी उससे सहमत नहीं थे, और व्यापक तुर्की लोक भावना भी शायद ऐसे परिवर्तन के विरुद्ध थी। पर कमाल पाशा अपने उद्देश्य के साथ ऐसा कोई समझौता नहीं करना चाहता था, इसलिए वह अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

हमेशा की तरह इस बार भी अंग्रेज़ों ने यह अवसर दे दिया। जिस समय लोज़ान के शान्ति-सम्मेलन की व्यवस्था की जा रही थी, तब ब्रिटिशसरकार ने इस्तम्बूल में सुल्तान के पास उसका निमन्त्रण भेजा, जिसमें सुल्तान से कहा गया था कि शान्ति की शर्तों पर बातचीत करने के लिए प्रतिनिधि भेजे। साथ-ही उससे यह भी प्रार्थना की गई थी कि इस निमन्त्रण की खबर अंगोरा पहुँचा दे। अंगोरा की युद्ध जीतने-वाली राष्ट्रीय सरकार के प्रति इस उपेक्षापूर्ण व्यवहार ने, और कठपुतली सुल्तान को फिर आगे ढकेलने की इस इरादी कोशिश ने, तुर्की में सनसनी पैदा कर दी और तुर्कों को आग-बबूला कर दिया। उन्हें शंका हो गई कि अंग्रेज़ तथा धोखेबाज़ सुल्तान मिलकर कोई और षड्यन्त्र रच रहे हैं। मुस्तफ़ा कमाल ने इस भावना का तुरन्त फ़ायदा उठाया, और नवम्बर, सन् १९२२ ई० में राष्ट्रीय विधान-सभा से सुल्तानियत को मंसूख करा डाला। पर सिर्फ खिलाफ़त के रूप में खिलाफ़त अब भी बाक़ी रह गई, और यह घोषणा कर दी गई कि उसका उत्तराधिकार उस्मानी-खानदान में रहेगा। इसके थोड़े-ही दिन बाद भूतपूर्व सुल्तान वहीदुद्दीन के विरुद्ध घोर देशद्रोह का आरोप लगाया गया। उसने खुली अदालत के सामने जाने की अपेक्षा भाग जाना बेहतर समझा, और वह एक अंग्रेज़ी ऐम्बुलेन्स गाड़ी में बैठकर चोरी-छिपे भाग गया, और इसने उसे एक अंग्रेज़ी जंगी जहाज़ तक पहुँचा दिया। राष्ट्रीय विधान-सभा ने उसके चचेरे भाई अब्दुल मजीद अफ़ दी को नया खलीफ़ा चुन लिया, जो अब सिर्फ़ रस्म के लिए अमीर-उल-मोमिनीन था, राजनैतिक सत्ता उसके हाथ में कुछ नहीं थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अगले साल, सन् १९२३ ई० में गणराज्य की बाक़ायदा घोषणा हो गई, और उसकी राजधानी अंगोरा रखी गई। मुस्तफ़ा कमाल राष्ट्रपति चुना गया, और उसने सारी सत्ता अपने मुट्ठी में कर ली जिससे वह तानाशाह बन गया। अब उसने अनेक पुराने रिवाजों पर हथौड़ा चलाना शुरू किया। अनेक लोग, खासकर धार्मिक वृत्तिवाले भोले लोग, उसके तरीक़ों से और तानाशाही से असन्तुष्ट हो उठे, और वे नये खलीफ़ा के चारों ओर जमा हो गये। कमाल पाशा को यह बात ज़रा भी अच्छी नहीं लगी। उसने खलीफ़ा के साथ ज़रा भद्दा बर्ताव किया, और वह अगला बड़ा कदम उठाने के लिए अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

उसे यह अवसर फिर जल्दी-ही मिल गया, और मिला भी बड़े अजीब ढंग से। आग़ा ख़ाँ तथा भारत के भूतपूर्व न्यायाधीश अमीर अली ने लन्दन से उसके पास एक संयुक्त पत्र भेजा। उन्होंने भारत के करोड़ों मुसलमानों की वकालत का दावा किया और खलीफ़ा के साथ किये गये दुर्व्यवहार का विरोध किया। उन्होंने अनुरोध किया कि ख़लीफ़ा की प्रतिष्ठा क़ायम रखी जाय और उसके साथ अच्छा व्यवहार किया जाय। इस पत्र की नक़ल उन्होंने इस्तम्बूल के कुछ अखबारों को भेज दी, और हुआ यह कि मूल पत्र के अंगोरा पहुँचने से पहले ही उसकी नक़ल इस्तम्बूल में प्रकाशित हो गई। इस पत्र में भड़कानेवाली कोई बात नहीं थी, पर कमाल पाशा ने तुरन्त इसे धर दबाया और जबरदस्त हो-हल्ला मचा दिया। बस यह बात फैला दी गई कि तुर्कों में फूट डालने का यह एक और अंग्रेज़ी षड्यन्त्र था। कहा गया कि आग़ा ख़ाँ अंग्रेज़ों का ख़ास एजेण्ट था—वह इंग्लैण्ड में रहता था, अंग्रेज़ी घुड़दौड़ों से उसका ख़ास सरोकार था, और वह अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों से ख़ूब मिलता-जुलता था। वह कट्टर मुसलमान भी नहीं था, क्योंकि वह एक ख़ास पंथ का धर्म-गुरू था। इसके अलावा यह भी बतलाया गया कि महायुद्ध के दौरान में अंग्रेज़ों ने आग़ा ख़ाँ को पूर्व के सुल्तान-ख़लीफ़ा के मुक़ाबले में बराबरी के दर्जे पर खड़ा कर दिया था, और प्रचार आदि के द्वारा उसकी प्रतिष्ठा बढ़ा दी थी, और उसे भारतीय मुसलमानों का नेता बनाने की कोशिश की थी, ताकि उन्हें मुट्ठी में रखा जा सके। अगर आग़ा ख़ाँ को खलीफ़ा की इतनी चिन्ता थी, तो उसने युद्ध-काल में उस समय खलीफ़ा का समर्थन क्यों नहीं किया, जब अंग्रेजों के विरुद्ध जिहाद का ऐलान कर दिया गया था? उस समय तो उसने खलीफ़ा के विरुद्ध अंग्रेज़ों का पक्ष लिया था।

पत्र-लेखकों को यह गुमान नहीं था इसके ये परिणाम निकलेंगे। पत्र को प्रकाशित करनेवाले बेचारे इस्तम्बूली सम्पादकों पर देशद्रोही तथा इंग्लैण्ड का एजेण्ट होने का इलज़ाम लगा दिया गया और उन्हें कठोर दंड दिये गये। इस प्रकार भावनाओं को खूब भड़काने के बाद मार्च, सन् १९२४ ई० में खिलाफ़त को खतम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करने का बिल राष्ट्रीय विधान सभा में पेश किया गया और उसी दिन पास कर दिया गया। इस प्रकार आधुनिक रंगमंच से एक ऐसी संस्था का ख़ात्मा हो गया जिसने इतिहास में महान् अभिनय किया था। जहाँतक तुर्की का सम्बन्ध था, कम-से-कम वहाँ तो अब कोई "अमीर-उल-मोमिनीन" नहीं था, क्योंकि तुर्की अब धर्म निरपेक्ष राज्य था।

तमाम विरोध का सफ़ाया करके मुस्तफ़ा कमाल अब एक-छत्र तानाशाह बन गया और इस्मत पाशा उसका दाहिना हाथ था। उसके दिमाग़ में जो विचार भरे हुए थे, उनमें से अब बहुतों को उसने व्यवहार में लाना शुरू किया। उसने बहुत छोटी-सी पर नमूनेदार चीज़ से शुरूआत की। उसने 'फ़ैज़'[1] टोपी पर हमला किया, जो तुर्क की, और कुछ हद तक मुसलमान की, प्रतीक बन गई थी। पहले उसने होशियारी के साथ सेना से शुरुआत की। इसके बाद वह ख़ुद हैट पहन-कर बाहर निकला, जिससे लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ; और अन्त में जाकर उसने फ़ैज़ टोपी पहनना फौजदारी जुर्म ही क़रार दिया! इस प्रश्न को लेकर दंगे हो गये। इन्हें दबा दिया गया और दंगाइयों को कठोर दंड दिये गये।

इस पहली बाज़ी को जीतकर मुस्तफ़ा कमाल ने एक क़दम और आगे बढ़ाया। उसने तमाम मठों और धर्म-स्थानों को बन्द कर दिया और तोड़ दिया, और उनकी सारी सम्पत्ति राज्य के लिए ज़ब्त कर ली। जो दरवेश इनमें रहते थे, उनसे कह दिया गया कि अपनी जीविका के लिए मजूरी करें। दरवेशों की खास पोशाक पर भी पाबन्दी लगा दी गई।

इससे भी पहले मुस्लिम मक़तब तोड़ दिये गये थे और उनके स्थान पर राज्य के धर्म-निरपेक्ष स्कूल खोल दिये गये थे। तुर्की में अनेक विदेशी स्कूल और कालेज थे। इनमें दी जानेवाली धार्मिक शिक्षा भी बन्द करा दी गई, और अगर किसीने ऐसा करने से इन्कार किया, तो उसे बन्द करा दिया गया।

क़ानून में आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया गया। इसके फलस्वरूप विवाह, उत्तराधिकार आदि पर लागू होनेवाले व्यक्तिगत क़ानून में बिल्कुल परिवर्त्तन हो गया। इन मामलों से सम्बन्ध रखनेवाला पुराना इस्लामी कानून बदल गया। बहु-विवाह की प्रथा भी बन्द कर दी गई।

नौजवान तुर्कों के समय से ही तुर्क स्त्रियाँ आज़ादी के संघर्ष में खूब महत्त्व-पूर्ण भाग लेती आई थीं। कमाल पाशा की खास हार्दिक इच्छा थी कि वे सब बन्धनों से मुक्त हो जायँ। एक "नारी अधिकार रक्षा समिति" बनाई गई और नौकरियों तथा धन्धों के दरवाज़े स्त्रियों के लिए खोल दिये गये। सबसे पहले बुर्के पर ज़ोर-

---

[1] तुर्रेदार लाल तुर्की टोपी। मोरक्को के फ़ैज़ नगर में बनने के कारण इसका यह नाम पड़ा है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

दार धावा बोला गया और यह अद्भुत तेज़ी के साथ गायब हो गया। स्त्रियों को तो इस बुर्क़े को फाड़ फेंकने का मौक़ा मिलने की देर थी! कमाल पाशा ने उन्हें यह मौक़ा दिया और वे दौड़ी-दौड़ी चली आईं।

बच्चों को भी विविध प्रकार से प्रोत्साहन दिया गया कि वे मक़तवों के पुराने तोता-रटंती नमूने बनने के बजाय अब पूरा विकास करके आत्म-निर्भर तथा सुयोग्य नागरिक बन जायँ। एक बड़ी निराली संस्था "बच्चों का सप्ताह" थी। कहा जाता है कि हर साल एक हफ्ते के लिए हर सरकारी कर्मचारी के स्थान पर नाम-मात्र के लिए एक-एक बच्चे को बैठा दिया जाता था और सारे राज्य का शासन बच्चे करते थे। मैं नहीं कह सकता कि यह व्यवस्था कैसे चलती होगी, पर यह सूझ बड़ी चित्ताकर्षक है, और मुझे यक़ीन है कि कुछ बच्चे चाहे जितने नादान और अनुभव-हीन क्यों न हों, उनका व्यवहार हमारे बड़ी उम्रवाले और गम्भीर और मोहर्रमी सूरतवाले शासकों तथा सरकारी कर्मचारियों के व्यवहार से ज्यादा मूर्खतापूर्ण नहीं हो सकता।

इसके बाद कमाल पाशा ने तुर्की भाषा पर, या यों कहो कि उसमें जिन्हें वह विदेशी तत्त्व मानता था, उनपर, जबरदस्त हमला बोल दिया। तुर्की भाषा अरबी लिपि में लिखी जाती थी, और कमाल पाशा इसे कठिन भी समझता था और विदेशी भी। मध्य एशिया में सोवियतों के सामने भी इसी प्रकार की समस्या आई थी, क्योंकि अनेक तातारी क़ौमों की लिपियाँ अरबी या फारसी लिपियों से निकली हुई थीं। सन् १९२४ ई० में सोवियतों ने इस प्रश्न पर विचार करने के लिए बाकू में एक सम्मेलन बुलाया, और इसमें यह निश्चय किया गया कि मध्य एशिया की विभिन्न तातारी भाषाओं के लिए लातीनी लिपि काम में ली जाय। मुस्तफ़ा कमाल इस प्रणाली की ओर आकर्षित हुआ और उसने इसे सीख लिया। उसने इसका प्रयोग तुर्की भाषा पर किया, और इसके पक्ष में उसने खुद ज़ोरदार कार्रवाई शुरू कर दी। लगभग दो वर्ष के प्रचार और सिखाई के बाद कानून के द्वारा एक तिथि निश्चित कर दी गई, जिसके बाद अरबी लिपि का उपयोग वर्जित कर दिया गया और लातीनी लिपि अनिवार्य कर दी गई।

इस प्रकार तुर्की में लातीनी लिपि की जड़ जम गई, पर इसके बाद शीघ्र-ही दूसरा परिवर्तन हो गया। यह फैसला किया गया कि तुर्की भाषा में से अरबी तथा फ़ारसी शब्दों को निकाल दिया जाय और उनकी जगह विशुद्ध तुर्की शब्द रखे जायँ। इसलिए अरबी-फारसी के उम्दा-उम्दा शब्द छोड़ दिये गये, और विद्वान् प्रोफेसर तथा अन्य लोग किसानों की भाषा सीखने को और पुराने शुद्ध तुर्की नस्ल के शब्दों की तलाश करने को गाँव-गाँव घूमने लगे।

इन तमाम लम्बी-चौड़ी सामाजिक उलट-फेरों ने जनता के जीवन को बिल्कुल बदल दिया है, और पुराने रिवाजों तथा धार्मिक लगावों से विलग एक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नई पीढ़ी तैयार हो रही है। मगर महत्त्वपूर्ण होते हुए भी इन परिवर्त्तनों का देश के आर्थिक जीवन पर वहुत अधिक प्रभाव नहीं पड़ा है।

बाक़ी दुनिया की तरह तुर्की भी युद्ध के बाद की महामन्दी में फंस गया था और उसे अपना जमा-ख़र्च बराबर करने में मुश्किल हुई, पर वह मुस्तफ़ा कमाल के नेतृत्व में धीरे-धीरे तथा दृढ़ता के साथ आगे बढ़ता ही जा रहा है, और मुस्तफ़ा कमाल देश का सर्वोपरि नेता अथवा तानाशाह बना हुआ है। उसे "अता तुर्क" यानी देश-पिता की उपाधि दी गई है, और आजकल वह इसी नाम से मशहूर है।[1]

: १०८ :

भारत गाँधीजी के पीछे चलता है

भारत के बारे में अपने पिछले पत्र में मैंने यहाँ होनेवाले युद्ध-कालीन परिवर्तनों का, भारतीय उद्योग तथा भारतीय पूंजीपति वर्ग के विकास का, और भारतीय उद्योगों के प्रति ब्रिटिश नीति में परिवर्तन का ज़िक्र किया है। इंग्लैण्ड पर भारत का औद्योगिक और व्यावसायिक दवाब बढ़ता जा रहा था, और इसी प्रकार राजनैतिक दवाब भी बढ़ रहा था। समूचे पूर्व में राजनैतिक जागृति हो रही थी, सारी दुनिया में युद्ध के बाद उथल-पुथल और बैचेनी हो रही थी। भारत में हिंसात्मक क्रान्तिकारी प्रवृत्तियाँ अक्सर प्रकाश में आती रहती थीं। जनता के हृदय में बड़ी-बड़ी उमंगे थीं। खुद ब्रिटिश-सरकार भी महसूस करने लगी थी कि कुछ-न-कुछ किया जाना चाहिए। राजनैतिक-क्षेत्र में उसने एक जाँच की कार्रवाई की, और उसके बाद माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में परिवर्तन के कुछ सुझाव पेश किये गये। आर्थिक-क्षेत्र में उसने उदीयमान मध्यम-वर्ग को बहलाने के लिए टुकड़े फेंकने की कार्रवाई की, पर यह ध्यान रखा कि सत्ता और शोषण के गढ़ उसीके हाथों में बने रहें।

युद्ध के बाद कुछ दिनों तक व्यापार की वृद्धि हुई और काफ़ी तेज़ी का जमाना रहा, जिसमें जबरदस्त मुनाफे बटोरे गये, खासकर बंगाल के पटसन व्यापार में। हिस्सेदारों को बाँटे जानेवाले मुनाफे अक्सर सौ फी-सदी से भी ऊपर पहुँच जाते थे। चीज़ों की कीमतें बढ़ गईं, और कुछ हद तक मजूरियाँ भी बढ़ीं, पर कीमतों के मुकाबले में बहुत कम। कीमतों के साथ काश्तकारों द्वारा जमींदारों को दिये जानेवाले लगान भी बढ़ गये। इसके बाद मन्दी आई और असन्तोष तेजी के साथ बढ़ने लगा। उत्तरोत्तर कठिन परिस्थितियों के कारण कारखानों में बहुत

---

[1] १९३८ में कमाल पाशा की मृत्यु हो गई।

 CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हड़तालें होने लगीं। अवध में, जहाँ ताल्लुकेदारी प्रथा के अन्तर्गत काश्तकार वर्ग की हालत खासतौर पर खराब थी, एक जबरदस्त कृषक-आन्दोलन लगभग अपने-आप-ही पैदा हो गया। शिक्षित निम्न मध्यम वर्गों में बेकारी बढ़ने लगी, जिसके फलस्वरूप बहुत मुसीबत फैली।

युद्धोत्तर काल में शुरू के दिनों में पृष्ठभूमि यही थी। देश में लड़ाकू भावना फैल रही थी और विभिन्न रूपों में प्रगट हो रही थी। औद्योगिक श्रमिक वर्ग मजदूर संघ बनाकर अपना संगठन कर रहा था और बाद में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के निर्माण में लग गया था। छोटे-छोटे ज़मींदार और मौरूसी काश्तकार सरकार से असन्तुष्ट थे और राजनैतिक कार्रवाई को समर्थक की दृष्टि से देख रहे थे।

रोष से भरा, कुछ उग्र और आशापूर्ण न होते हुए भी उत्सुक, भारत युद्ध के बाद कुछ मिलने की प्रतीक्षा में था। कुछ-ही महीनों के अन्दर नई ब्रिटिश नीति के जिन परिणामों की उत्सुकता से बाट देखी जा रही थी, वे क्रान्तिकारी आन्दोलन को दबाने के लिए विशेष कानून बनाने के प्रस्ताव के रूप में सामने आये। अधिक आज़ादी के बजाय अधिक दमन होनेवाला था। ये बिल एक कमेटी की रिपोर्ट के आधार पर रखे गये थे और "रॉलट बिल" के नाम से मशहूर हुए। पर सारे देश में ये "काले बिल" कहलाने लगे। हर जगह, हर भारतीय ने, यहाँतक कि उदार-से-उदार विचारवाले भारतीय ने भी, इन बिलों की निन्दा की। सरकार को और पुलिस को इन बिलों के द्वारा ऐसी कार्रवाइयों के बहुत ज्यादा अधिकार मिल गये थे कि जिस किसी व्यक्ति पर उन्हें नाराज़ी या सन्देह हो, उसे वे गिरफ्तार कर सकती थीं, बिना मुक़दमा चलाये जेल में डाल सकती थीं, या उसपर गुप्त अदालत में मुक़दमा चला सकती थीं। उस समय इन बिलों के बारे में यह बात मशहूर हो गई थी—न वकील, न अपील, न दलील। ज्यों-ही इनके विरुद्ध मचनेवाली दुहाई ने ज़ोर पकड़ा, त्यों-ही एक नया निमित्त, राजनैतिक क्षितिज पर एक छोटा-सा बादल, प्रगट हुआ, जो तेज़ी के साथ बढ़कर और फैल-कर सारे भारतीय आकाश पर छा गया।

यह नया निमित्त मोहनदास करमचन्द गाँधी था। गाँधीजी युद्ध-काल में दक्षिण अफरीका से भारत लौट आये थे, और अपने साथियों को लेकर साबरमती के पास आश्रम में बस गये थे। अभीतक वह राजनीति से दूर रहे थे। उन्होंने युद्ध के लिए रंगरूटों की भरती में सरकार को सहायता तक दी थी। दक्षिण-अफरीका में उनकी सत्याग्रह की लड़ाई से भारत में तो लोग अच्छी तरह परिचित थे ही। सन् १९१७ ई० में उन्होंने बिहार के चम्पारन ज़िले के निलहे गोरों के पीड़ित और पद-दलित काश्तकारों की सफलता के साथ हिमायत की थी। बाद में वह गुजरात के खेड़ा ज़िले के किसानों के लिए लड़े थे। सन् १९१९ ई० के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रारम्भ में वह बहुत बीमार पड़ गये। इस बीमारी से वह पूरी तरह उठने भी न पाये थे कि रॉलट बिल-विरोधी हलचल देश-भर में फैल गई। चारों ओर जो दुहाई मच रही थी, उसमें गाँधीजी ने भी अपनी आवाज़ शामिल कर दी।

लेकिन यह आवाज़ अन्य आवाज़ों से कुछ भिन्न थी। यह शान्त और धीमी थी, फिर भी भीड़ के शोर गुल के ऊपर सुनाई दे सकती थी। यह कोमल और विनम्र थी, पर मालूम होता था कि उसमें कहीं फौलाद की धार छिपी हुई है। यह शिष्टतापूर्ण और मर्मस्पर्शी थी, पर फिर भी उसमें कोई कठोर और भयभीत करने-वाली चीज़ थी। इसका हर शब्द अभिप्रायपूर्ण था और उसमें उत्कट हार्दिक तड़प थी। शान्ति और मित्रता की भाषा के पीछे बल था, और क्रियाशीलता की काँपती हुई परछाँई थी, और असत्य के आगे सिर न झुकाने का दृढ़ निश्चय था। इस आवाज़ से अब हम परिचित हो चुके हैं—पिछले वर्षों में हमने इसे अनेक बार सुना है। पर सन् १९१९ ई० के फरवरी और मार्च में यह हमारे लिए नवीन थी, हम अच्छी तरह समझ नहीं पाते थे कि इसका क्या अर्थ है, पर हम पुलकित हो उठते थे। यह चीज हमारी उस कोरी निन्दा करनेवाली गलाफाड़ राजनीति से बहुत भिन्न थी जिसके लम्बे-लम्बे भाषण सदा एक-सरीखे व्यर्थ और प्रभावहीन प्रस्तावों पर ही खतम हो जाते थे, जिनपर कोई ध्यान नहीं देता था। यह क्रियाशीलता की राजनीति थी, कोरी बातों की नहीं।

महात्मा गाँधी ने उन लोगों की सत्याग्रह-सभा बनाई, जो कुछ चुने हुए क़ानूनों को भंग करने के लिए और इस प्रकार जेल जाने के लिए तैयार थे। उस समय यह बिल्कुल नवीन कल्पना थी, जिसपर हममें से बहुत-से तो बे-ताब हो गये, पर बहुत-से सहम गये।

अपने क़ायदे के मुताबिक गाँधीजी ने वाइसराय को बड़ी शिष्टतापूर्ण अपील और चेतावनी भेजी। जब उन्होंने देखा कि सारे भारत द्वारा एक-स्वर से विरोध के बावजूद ब्रिटिश-सरकार रॉलट बिलों को क़ानून का रूप देने को तुली हुई है, तो उन्होंने आदेश दिया कि जिस दिन ये बिल क़ानून बन जायँ, उससे आगे के पहले रविवार को सारे भारत में शोक का दिवस मनाया जाय, हड़ताल की जाय, सब कारोबार बन्द रखे जायँ और सार्वजनिक सभाएँ की जायँ। सत्याग्रह-आन्दोलन इसी दिन से शुरू किया जानेवाला था, इसलिए ६ अप्रैल, सन् १९१९ ई० के दिन सारे देश में, हर नगर और गाँव में, सत्याग्रह-दिवस मनाया गया। अपने ढंग का यह पहला-ही अखिल-भारतीय प्रदर्शन था, जो अद्‌भुत रूप से प्रभावशाली रहा, और जिसमें हर तरह के लोगों ने और जातियों ने भाग लिया। हमारे जिन लोगों ने इस हड़ताल के लिए कोशिशें की थीं, वे इसकी सफलता पर आश्चर्यचकित हो गये। हम शहरों के कुछ गिने-चुने लोगों के ही पास पहुँच पाये थे। पर हवा में एक नया उत्साह भर रहा था, और किसी तरह यह सन्देश हमारे विशाल देश के

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

दूर-से-दूर गाँवों तक में जा पहुँचा। पहली-ही बार देहात के लोगों ने और शहरी मज़दूरों ने सार्वजनिक पैमाने पर राजनैतिक प्रदर्शन में भाग लिया।

अप्रैल की ६ तारीख़ से एक सप्ताह पूर्व दिल्लीवालों ने तारीख़ की ग़लतफ़हमी से इससे पहले के रविवार——३१ मार्च——को ही हड़ताल मना ली। वे दिन दिल्ली के हिन्दुओं और मुसलमानों में अद्‌भुत भाईचारे और सद्‌भावना के थे, और लोगों ने आर्य-समाज के महान् नेता स्वामी श्रद्धानन्द का दिल्ली की मशहूर जामा मस्जिद में विशाल जनसमूहों के सामने भाषण देने का निराला दृश्य देखा। ३१ मार्च को पुलिस और फ़ौज के सिपाहियों ने बाज़ारों की विशाल भीड़ों को तितर-बितर करने का प्रयत्न किया और उनपर गोलियाँ चलाईं, जिनसे कुछ लोग मारे गये। संन्यासी के भेष में बुलन्द और शानदार दिखाई देनेवाले स्वामी श्रद्धानन्द चाँदनी चौक में छाती खोलकर और बेधड़क होकर गुरखों की संगीनों के सामने खड़े हो गये। इनसे तो वह बच गये और इस घटना से भारत-भर में खुशी की लहर दौड़ गई; पर दुःख की बात तो यह है कि इस घटना को पूरे आठ वर्ष भी नहीं बीते थे कि जब वह रोग-शय्या पर पड़े थे, तब एक धर्मान्ध मुसलमान ने धोखे से छुरा भोंककर उन्हें मार डाला।

६ अप्रैल के उस सत्याग्रह-दिवस के बाद घटनाएँ तेज़ी के साथ दौड़ने लगीं। १० अप्रैल को अमृतसर में भी उपद्रव हुआ। डा० किचलू तथा डा० सत्यपाल की गिरफ्तारी पर शोक प्रगट करनेवाली निहत्थी और सिर-नंगी भीड़ पर फ़ौज के सिपाहियों ने गोलियाँ चला दीं जिनसे बहुत लोग मारे गये। इसपर भीड़ ने दफ्तरों में बैठे हुए पाँच-छः निर्दोष अंग्रेज़ों को मारकर और उनके बैंकों की इमारतों में आग लगाकर अपना पागलपन-भरा बदला निकाला। फिर तो पंजाब पर मानो परदा पड़ गया। समाचारों पर कठोर प्रतिबन्ध लगाकर उसे बाकी भारत से विलग कर दिया था—वहाँ से कोई ख़बर नहीं आने पाती थी, और लोगों के लिए इस प्रान्त में जाना या वहाँ से आना बहुत मुश्किल था। वहाँ फ़ौजी क़ानून लगा दिया गया था, और इसकी यन्त्रणा कई महीनों तक लोगों को सहनी पड़ी। धीरे-धीरे हफ्तों और महीनों की यन्त्रणा-भरी उत्कण्ठा के बाद परदा उठा और लोगों को उन भीषण सत्य-घटनाओं का पता लगा।

पंजाब में फ़ौजी शासन के ज़माने की भीषणताओं का ज़िक्र मैं यहाँ नहीं करूँगा। अमृतसर के जलियाँवाला बाग में १३ अप्रैल को जो हत्याकाण्ड हुआ, उसे सारी दुनिया जानती है। मृत्यु के उस पिंजरे में, जिसमें से बच निकलने का कोई रास्ता नहीं था, हज़ारों मर गये और घायल हुए। "अमृतसर" शब्द ही हत्याकाण्ड का पर्यायवाची हो गया है। यह तो बुरा था ही, पर इसके अलावा सारे पंजाब में और भी इससे ज्यादा शर्मनाक कारनामे हुए।

उस साल से १३ अप्रैल का दिन भारत के लिए 'राष्ट्रीय-दिवस' बन गया

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हैं, और ६ अप्रैल से १३, अप्रैल तक के आठ दिन 'राष्ट्रीय-सप्ताह' बन गये हैं। जलियाँवाला बाग़ अब राजनैतिक तीर्थस्थान हो गया है। आजकल यह आकर्षक ढंग से लगाया हुआ बाग है और उसकी पुरानी भीषणता बहुत-कुछ जाती रही है। पर स्मृति अभीतक बाक़ी है।

उस साल, सन् १९१९ ई० के दिसम्बर में, एक अजीब संयोग से कांग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में ही हुआ। इस कांग्रेस में कोई महत्त्वपूर्ण निश्चय किये नहीं गये, पर यह ज़ाहिर हो गया कि कांग्रेस बदल गई थी। उसका रूप अब कुछ-कुछ सार्वजनिक हो गया था, और उसमें एक नवीन स्फूर्ति पैदा हो गई थी, जो कुछ पुराने कांग्रेसजनों को घबरानेवाली थी। सदा की भाँति अटल लोकमान्य तिलक अपने जीवन में अन्तिम बार कांग्रेस में भाग लेने आये थे, क्योंकि अगले कांग्रेस-अधिवेशन से पहले ही उनकी मृत्यु गई थी। इस कांग्रेस में गाँधीजी भी थे, जो जनता में लोकप्रिय हो गये थे, और कांग्रेस तथा भारतीय राजनीति पर जिनके प्रभुत्व का लम्बा ज़माना शुरू हो-ही रहा था। इस कांग्रेस में सीधे जेल से छूटकर बहुत-से नेता भी आये थे, जिन्हें फ़ौजी क़ानून के दिनों में षड्यन्त्र के बदमाशी-भरे मुकदमों में फँसा दिया गया था और लम्बी-लम्बी सजाएँ दी गई थीं, पर अब उन सज़ाओं को माफ़ करके उन्हें छोड़ दिया गया था। और मशहूर अली-बन्धु[1] भी आये थे, जो कई बरसों की नजरबन्दी के बाद उसी समय छोड़े गये थे।

अगले साल कांग्रेस लड़ाई में कूद पड़ी और उसने गाँधीजी के असहयोग का कार्यक्रम अपना लिया। कलकत्ता के विशेष अधिवेशन में यह कार्यक्रम स्वीकार किया गया और बाद में नागपुर के वार्षिक अधिवेशन में इसे तसदीक़ कर दिया गया। इस संघर्ष का तरीका पूर्णतया शान्तिपूर्ण, यानी अहिंसात्मक रखा गया था, और इसका आधार यह था कि भारत के शासन और शोषण में सरकार को कोई मदद न दी जाय। इसका प्रारम्भ कुछ बहिष्कारों से होनेवाला था, जैसे विदेशी सरकार के दिये हुए ख़िताबों, सरकारी उत्सवों आदि का, वकीलों तथा मुकदमे-बाज़ों द्वारा अदालतों का, सरकारी स्कूलों तथा कालेजों का और मण्टेग्यू-चेम्स-फोर्ड सुधारों के अन्तर्गत नई कौन्सिलों का, बहिष्कार। आगे चलकर इस बहिष्कार में असैनिक तथा सैनिक सेवाओं और टैक्सों को भी शामिल किया जानेवाला था। रचनात्मक-क्षेत्र में हाथ-कताई और खद्दर पर, तथा सरकारी अदालतों के बजाय पंचायती अदालतें क़ायम करने पर, ज़ोर दिया गया था। हिन्दू-मुस्लिम एकता और हिन्दुओं में अस्पृश्यता-निवारण इस आन्दोलन के दो और सबसे महत्त्वपूर्ण अंग थे।

कांग्रेस ने अपना संविधान भी बदल दिया, और वह कार्रवाई करने में समर्थ

---

[1] मौलाना मोहम्मद अली और मौलाना शौक़त अली।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जमात बन गई। साथ-ही उसने अपनी सदस्यता का दरवाज़ा जनता के लिए खोल दिया।

भारतीय जनता के लिए सशस्त्र बग़ावत का कोई सवाल ही नहीं उठता था। हम लोग निहत्थे कर दिये गये थे, और हममें से अधिकांश तो शस्त्र चलाना ही नहीं जानते थे। इसके अलावा हिंसात्मक संघर्ष में ब्रिटिश-सरकार की, या किसी भी राज्य की, संगठित शक्ति इतनी ज्यादा थी कि उसके मुक़ाबले में कोई चीज़ खड़ी नहीं की जा सकती थी। सेनाओं का बलवे करना सम्भव था, पर निहत्थे लोगों का बग़ावत करना और सशस्त्र सैनिक दल का मुक़ाबला करना सम्भव नहीं था। दूसरी ओर, व्यक्तिगत आतंकवाद में, यानी अलग-अलग अफ़सरों को बम से या पिस्तौल से मार डालने में, विश्वास करना दिवालियापन था। यह चीज़ लोगों को अनैतिकता की ओर ले जानेवाली थी, और यह खयाल करना बेहूदी बात थी कि वह एक बलशाली संगठित सरकार को हिला सकती थी —व्यक्तियों को भले ही वह चाहे जितना भयभीत कर देती। इस प्रकार का व्यक्तिगत आतंकवाद रूसी क्रान्तिकारियों तक ने त्याग दिया था।

ठीक इसी मौक़े पर गाँधीजी ने अपना असहयोग का कार्यक्रम देश के सामने रखा। असहयोग पूरी तरह शान्तिपूर्ण होनेवाला था, पर फिर भी वह कोरा अ-प्रतिरोध नहीं था। सत्याग्रह अन्यायपूर्ण समझी जानेवाली बातों के प्रतिरोध का निश्चित, पर अहिंसात्मक, रूप था। अमल में वह शान्तिपूर्ण बग़ावत था, युद्ध-कला का सबसे अधिक सभ्य रूप था, पर फिर भी राज्य की स्थिरता के लिए ख़तरनाक था। जनता को सामूहिक रूप से क्रियाशील बनाने का यह प्रभावकारी उपाय था, और भारत की जनता की विशिष्ट प्रकृति के अनुकूल प्रतीत होता था। इसने हमारा डर दूर कर दिया, जिसके मारे हम मरे जा रहे थे; और हम इस तरह तनकर लोगों के सामने खड़े होने लगे जैसाकि पहले कभी नहीं हुआ था, और अपने मन की बात पूरी तरह और साफ़-साफ़ कहने लगे।

इसलिए, अगर असहयोग के इस कार्यक्रम ने, जिसके साथ गाँधीजी का अपूर्व विशिष्ट व्यक्तित्व जुड़ा हुआ था, देश की कल्पना-शक्ति को जगा दिया और उसे आशा से भर दिया, तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं थी। यह फैलने लगा और इसके स्पर्श से पुरानी साहसहीनता नष्ट हो गई। कांग्रेस ने देश के अधिकांश महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को अपनी तरफ खींच लिया और उसकी ताकत और उसकी प्रतिष्ठा बढ़ने लगी।

इसी बीच सुधारों की माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड योजना के अन्तर्गत नई कौन्सिलें और विधान-सभाएँ बनाई जा चुकी थीं। नरम दलियों ने, जो अब उदार दली कहलाने लगे थे, इनका स्वागत किया था और वे उनके मातहत मन्त्रीगण या अन्य सरकारी नौकर बन गये थे। वे तो एक तरह से सरकार में ही मिल गये थे, और उन्हें

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जनता का कोई समर्थन प्राप्त नहीं था। कांग्रेस ने इन विधान सभाओं का बहिष्कार कर दिया था, और देश में इनकी ओर किसीका ध्यान नहीं था। सबकी निगाहें असली संघर्ष की ओर लगी हुई थीं, जो इन विधान सभाओं से बाहर नगरों में और गाँवों में चल रहा था। पहली-ही बार अनेक कांग्रेस कार्यकर्त्ता गाँवों में गये, और वहाँ उन्होंने कांग्रेस-कमेटियाँ स्थापित कीं, और ग्रामवासियों की राजनैतिक जागृति में सहायता दी।

मामला अब तूल पकड़ने लगा था, और दिसम्बर, १९२१ में मुठभेड़ रुक नहीं सकी। इंग्लैण्ड के युवराज की भारत-यात्रा, जिसका कांग्रेस ने बहिष्कार कर दिया था, इस मुठभेड़ का कारण बन गई। भारत-भर में सामूहिक रूप से गिरफ्तारियाँ हुईं और जेलें हज़ारों राजबन्दियों से भर गईं। हममें से अधिकांश को जेल के भीतर का तब पहली बार अनुभव हुआ। कांग्रेस के मनोनीत अध्यक्ष देशबन्धु चित्तरंजन दास भी गिरफ्तार हो गये, और उनके स्थान पर अहमदाबाद-अधिवेशन की अध्यक्षता हकीम अजमल खाँ ने की। पर तबतक खुद गाँधीजी को गिरफ्तार नहीं किया गया था। बस, आन्दोलन तरक्क़ी करने लगा, और जो लोग गिरफ्तारी के लिए आगे आते थे, उनकी संख्या गिरफ्तार किये जानेवालों से सदा अधिक होती थी। चूँकि प्रख्यात नेता और कार्यकर्त्ता जेलों में ठूस दिये गये थे, इसलिए अनुभवहीन और कभी-कभी अवांछनीय व्यक्ति तक भी (कभी-कभी खुफ़िया पुलिस के एजेण्ट भी), उनकी जगह लेने लगे, और अव्यवस्था फैल गई और कुछ हिंसा भी हुई। सन् १९२२ ई० के शुरू के दिनों में संयुक्त-प्रान्त में गोरखपुर के निकट चौरी चौरा में किसानों की भीड़ तथा पुलिस के बीच भिड़न्त हो गई, जिसके फलस्वरूप किसानों ने पुलिस चौकी को, जिसमें कुछ सिपाही भी थे, जला डाला। इस घटना से, तथा ऐसी-ही अन्य घटनाओं से, जिनसे ज़ाहिर होता था कि आन्दोलन अव्यवस्थित और हिंसात्मक होता जा रहा है, गाँधीजी के हृदय को बहुत चोट पहुँची। इसलिए उनके सुझाव पर कांग्रेस कार्य-समिति ने असहयोग का क़ानून-भंगवाला कार्यक्रम स्थगित कर दिया। इसके कुछ-ही दिन बाद गाँधीजी भी गिरफ्तार कर लिये गये, उनपर मुकदमा चला, और उन्हें छः साल क़ैद की सजा दे दी गई। यह मार्च, सन् १९२२ ई० की बात है। असहयोग-आन्दोलन का पहला दौर इस तरह खत्म हुआ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

: १०६ :

भारत—१९२०-३० में

सन् १९२२ में सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन स्थगित किया जाने के साथ असहयोग का पहला दौर खत्म हो गया, पर इसे स्थगित किये जाने से अनेक कांग्रेस-जनों को बड़ा असन्तोष हुआ। इससे बड़ी भारी जागृति पैदा हो गई थी और लगभग ३०,००० व्यक्ति क़ानून तोड़कर जेल गये थे। क्या यह सब व्यर्थ जानेवाला था और क्या आन्दोलन को उसका उद्देश्य प्राप्त होने से पहले-ही अधबीच में केवल इसलिए स्थगित कर देना था कि कुछ बेचारे जोशीले किसानों ने गड़बड़ कर दी थी? आज़ादी अभीतक बहुत दूर थी, और ब्रिटिश-सरकार पहले-ही की तरह अपना काम कर रही थी। दिल्ली में और प्रान्तों में क़ानून बनानेवाली कौन्सिलें थीं, पर इनके हाथ में वास्तविक सत्ता कुछ भी नहीं थी। कांग्रेस ने उनका वहिष्कार कर दिया था। गाँधीजी जेल में थे।

अगला क़दम क्या हो, इसके बारे में कांग्रेस के कार्यकर्त्ताओं में बहुत मतभेद था, और कांग्रेस की नीति में परिवर्त्तन की हिमायत करने के लिए 'स्वराज्य पार्टी' के नाम से एक दल बनाया गया। इसका सुझाव था कि असहयोग के बुनियादी कार्यक्रम पर तो जमा रहा जाय, पर उसकी एक मद में परिवर्तन कर दिया जाय, यानी कौन्सिलों का बहिष्कार उठा लिया जाय। इससे कांग्रेस में दो दल हो गये, पर अन्त में स्वराज्य पार्टी की ही बात चली।

कांग्रेस-जन कौन्सिलों में गये, और वहाँ उन्होंने जोरदार भाषण दिये और सरकार के ख़र्चे को अस्वीकृत कर दिया। पर सरकार ने उनके प्रस्तावों और वोटों की कोई परवाह नहीं की, और जिस बजट को विधान सभा ने अस्वीकृत कर दिया था, उसे वायसराय ने प्रमाणित कर दिया। विधानमण्डलों में कांग्रेस-जनों की इन कार्रवाइयों ने कुछ समय के लिए प्रचार का अच्छा काम किया, पर इनसे आन्दोलन की तर्ज़ में शिथिलता आ गई। इसका परिणाम यह हुआ कि जन-समूह से इन लोगों का सम्पर्क टूट गया, और ये लोग प्रतिगामी गुट्टों से भद्दे समझौते करने लगे।

सन् १९२१ ई० के जन-आन्दोलन ने ब्रिटिश-सरकार को बिल्कुल हक्का-बक्का कर दिया। हालाँकि इसकी सूचना उन्हें बहुत दिन पहले मिल गई थी, पर उन्हें यह नहीं सूझ रहा था कि इससे किस तरह निबटना चाहिए। गिरफ्तारियों और सज़ाओं का हस्ब-मामूल सीधा उपाय बे-असर हो रहा था, क्योंकि कांग्रेस तो यह चाहती ही थी। इसलिए उनके ख़ुफ़िया विभाग ने कांग्रेस को अन्दर से कमज़ोर करने के लिए एक नई तरकीब निकाली। पुलिस के गुर्गे और ख़ुफ़िया

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विभाग के कर्मचारी कांग्रेस-कमेटियों में घुस गये और हिंसा को भड़काकर गड़बड़ें पैदा करने लगे। दूसरा उपाय यह ग्रहण किया गया कि साम्प्रदायिक झगड़े पैदा करने के लिए खुफ़िया विभाग के गुर्गे साधुओं और फ़क़ीरों के भेष में जगह-जगह भेजे गये।

सन् १९२२ ई० में, असहयोग-आन्दोलन के स्थगित किये जाने के बाद, इस तरह के दाँव-पेंचों के लिए समय बहुत अनुकूल था। बिना कोई ज़ाहिरा नतीजा निकले एक कड़ी मेहनत के आन्दोलन के अकस्मात ही समाप्त होने के बाद प्रतिक्रिया हुई। तीनों विभिन्न रास्ते, जो एक-दूसरे के समानान्तर चल रहे थे, अब अलग-अलग दिशाओं की ओर जाने लगे। खिलाफ़त का प्रश्न रास्ते में से हट गया था। हिन्दू और मुसलमान, दोनों जातियों के साम्प्रदायिक नेता, जो असहयोग के दिनों के सामूहिक उत्साह से दब गये थे, फिर उठ खड़े हुए और सार्वजनिक जीवन में भाग लेने लगे। बेकार मध्यम-वर्गी मुसलमान यह समझने लगे कि हिन्दुओं ने तमाम नौकरियों का ठेका ले रखा है और उनके मार्ग में बाधक बन रहे हैं। इसलिए उन्होंने पृथक व्यवहार की और हर चीज में पृथक भाग की माँग की। राजनैतिक दृष्टि से हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न मूल में मध्यम-वर्गी मामला था और नौकरियों के पीछे झगड़ा था। पर इसका असर जन-समूह पर भी पड़ने लगा।

जिस समय भारत में ये शक्तियाँ और ये फूटकारक प्रवृत्तियाँ पैदा हो रही थीं, उसी समय यरवदा-जेल में गाँधीजी बहुत बीमार पड़ गये और उन्हें आपरेशन कराना पड़ा। सन् १९२४ ई० के शुरू में वह जेल से छोड़ दिये गये। साम्प्रदायिक झगड़ों से उन्हें बहुत क्षोभ हुआ, और बाद में एक बड़े दंगे ने उनके हृदय को इतनी चोट पहुँचाई कि उन्होंने इक्कीस दिन का उपवास किया। शान्ति स्थापित करने के लिए अनेक "एकता" सम्मेलन हुए, पर कोई नतीजा नहीं निकला।

इन साम्प्रदायिक वितण्डावादों और फिरकेवाराना राष्ट्रीयताओं का परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस और कौन्सिलों की स्वराज्य पार्टी, दोनों कमज़ोर पड़ गये। स्वराज्य का आदर्श गड्ढे में जा पड़ा, क्योंकि ज्यादातर लोग अपने-अपने फिरकों के हितों में ही सोचने और बोलने लगे। किसी भी फिरके की तरफ़दारी से बचने का प्रयत्न करने में कांग्रेस पर चारों ओर से सम्प्रदायवादियों के हमले होने लगे। इन दिनों कांग्रेस ने चुपचाप संगठन और ग्रामोद्योग (खद्दर) वग़ैरा को अपना मुख्य कार्य बना लिया था और इससे उसे कृषक जन-समूह से सम्पर्क बनाये रखने में मदद मिली।

भारतीय उद्योगों की महायुद्ध के फलस्वरूप तेज़ी से होनेवाली वृद्धि सुलह के कुछ वर्षों बाद तक भी जारी रही। ब्रिटिश-पूंजी भारत में धड़ाधड़ आती रही तथा उद्योगों को चलाने के लिए बहुत सारी नई-नई कम्पनियाँ दर्ज हुईं। ज्यादा बड़ी औद्योगिक कम्पनियाँ ख़ासतौर पर विदेशी पूंजी के सहारे खड़ी की गईं, और इस

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रकार बड़े उद्योगों की बागडोर व्यवहार में अंग्रेज पूंजीपतियों के हाथ में आ गई। यह अन्दाज़ लगाया गया था कि भारत में काम करनेवाली कम्पनियों में से ८७% कम्पनियों में अंग्रेजों की पूंजी लगी हुई थी, और शायद यह अन्दाज़ भी नीचा है। इस प्रकार भारत पर इंग्लैण्ड का आर्थिक पंजा और भी मज़बूत हो गया।

कारखानों की वृद्धि के साथ-साथ कुदरती तौर पर कारखानों में मजदूरी कमानेवाले वर्ग की संख्या में भी वृद्धि हुई। सन् १९२२ में ही सरकारी अन्दाज़ था कि भारत में इस वर्ग के लोगों की संख्या कम-से-कम दो करोड़ थी। जो हालतें १०० वर्ष पहले कारख़ाना-प्रणाली के प्रारम्भ में इंग्लैण्ड में थीं, वे ही अब भारत में पैदा हो गईं, जैसे रोजाना काम का भयंकर लम्बा समय, बहुत-ही कम मजूरी, रहन-सहन की ज़लालत-भरी और अस्वास्थ्यकर हालतें। कारख़ानेदार-वर्ग का तो एक-ही उद्देश्य था—ख़ूब मुनाफ़े बटोरकर तेज़ी से लाभ उठाना। कुछ वर्षों तक तो उन्होंने बड़ी सफलता के साथ यह धन्धा किया। पर मजदूरों की हालत संकटपूर्ण ही बनी रही।

ज्यों-ज्यों मजदूर-संगठन, यानी मजदूरों के संघ जोर पकड़ते गये, त्यों-त्यों मजदूरों के रहन-सहन और काम की बेहतर हालतों के लिए आन्दोलन भी जोर पकड़ता गया। कुछ तो इससे प्रभावित होकर, और कुछ श्रमजीवियों के साथ अच्छा वर्ताव करने की संसार-व्यापी माँग से प्रभावित होकर, सरकार ने कारख़ानों के मजदूरों की हालत में सुधार करने के इरादे से कई क़ानून पास किये। मैं कार-ख़ाना-अधिनियम के पास किये जाने की चर्चा कर चुका हूँ। इसमें यह व्यवस्था थी कि बारह से पन्द्रह वर्ष की आयु के बालकों से दिन-भर में छः घण्टे से ज्यादा काम नहीं लिया जाना चाहिए। स्त्रियों और बच्चों के रात में काम करने पर भी रोक लगा दी गई। बाद में होनेवाले कुछ संशोधनों के साथ यह कारखाना-अधिनियम अभीतक लागू है।

खानों में काम करनेवाले कमबख़्त मजदूरों को, ख़ासकर कोयले की खानों में काम करनेवालों को, कुछ संरक्षण देने के लिए सन् १९२३ ई० में भारतीय खान अधिनियम पास किया गया। कुछ और क़ानून भी पास किये गये, जिनसे मजदूरों को मदद मिली। सन् १९२३ ई० में कामगरों का मुआवजा-अधिनियम बना, जिसके अनुसार दुर्घटनाओं आदि के कारण चुटैल हुए मजदूरों को कुछ मुआवज़ा दिया जाना ज़रूरी था। और सन् १९२६ ई० में मजदूर-संघ अधिनियम (ट्रेड यूनियन्स एक्ट) बनाया गया, जो मजदूर संघों के निर्माण और उन्हें मान्यता दिये जाने से सम्बन्ध रखता है।

इन दिनों भारत में मजदूर-संघ आन्दोलन जरा तेज़ी से बढ़ा, ख़ासकर बम्बई में एक अखिल-भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस बनी, पर कुछ वर्षों के बाद यह दो दलों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में बँट गई। महायुद्ध तथा रूसी-क्रान्ति के समय से ही दुनिया-भर में श्रमजीवी-आन्दोलन दो अलग-अलग दिशाओं में खिंचा जा रहा है। एक ओर तो द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ से सम्बद्ध पुराने कट्टरपन्थी और नरम-दली मजदूर संघ हैं; दूसरी ओर सोवियत रूस तथा तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ का आकर्षण है। हर जगह कारख़ानों में नरम विचारवाले लोग और आमतौर पर खुशहाल मजदूर निरापदता तथा द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ की ओर झुक रहे हैं और अधिक क्रान्तिकारी मजदूर तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ की ओर। यह खींचतान भारत में भी हुई, और सन् १९२९ ई० के अन्त में यहाँ भी दो दल हो गये।

: ११० :

भारत में शान्तिपूर्ण बग़ावत

सन् १९२७ ई० के आखिरी दिनों में ब्रिटिश-सरकार ने ऐलान किया कि शासन-व्यवस्था के ढाँचे में भावी सुधारों तथा परिवर्त्तनों के सम्बन्ध में जाँच करने के लिए एक कमीशन भारत भेजा जायगा। भारत के सारे राजनैतिक दलों ने इस घोषणा पर क्रोध प्रगट किया और इसे बुरा बताया। कांग्रेस ने इसपर इसलिए आपत्ति की, कि वह तो इस विचार को ही सख़्त नापसन्द करती थी कि स्वराज्य की योग्यता के लिए भारत की समय-समय पर परीक्षा ली जाया करे। इस देश पर जबतक सम्भव हो, तबतक क़ब्जा बनाये रखने की अपनी इच्छा पर परदा डालने के लिए अंग्रेज़ लोग इसी वाक्य का प्रयोग करते थे। कांग्रेस ने बहुत वर्षों से अपने देश के लिए आत्म-निर्णय के उसी अधिकार का दावा किया था, जिसका महायुद्ध के दौरान में मित्र-राष्ट्रों ने इतना ढिंढोरा पीटा था। और, उसने भारत पर हुक्म चलाने या उसके भावी भाग्य का अन्तिम निबटारा करने के ब्रिटिश-पार्लमेण्ट के अधिकार को क़बूल करने से इन्कार कर दिया। इन कारणों से कांग्रेस ने इस नये पार्लमेण्टरी कमीशन का विरोध किया। भारत के नरम विचारवाले दलों ने इस कमीशन का अन्य कारणों से विरोध किया, जिनमें मुख्य यह था कि किसी भारतीय को इसका सदस्य नहीं बनाया गया था। यह विशुद्ध अंग्रेज़ी कमीशन था। हालाँकि विरोध के कारण अलग-अलग थे, पर यह सच बात है कि नरम-से-नरम विचार के लोगों समेत भारत की क़रीब-क़रीब हर जमात ने एक-स्वर से इसकी निन्दा की और इसके बहिष्कार का समर्थन किया।

इसी समय के लगभग, दिसम्बर, सन् १९२७ ई० में, मद्रास में कांग्रेस का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वार्षिक अधिवेशन हुआ और उसने निश्चय किया कि भारत के लिए राष्ट्रीय स्वाधीनता उसका लक्ष्य हैं। यह पहला-ही मौक़ा था जब कांग्रेस ने स्वाधीनता की घोषणा की। दो वर्ष बाद, लाहौर में, स्वाधीनता निश्चय रूप से कांग्रेस का ध्येय बन गई। मद्रास-कांग्रेस ने 'सर्वदल-सम्मेलन' भी बनाया, जो थोड़े दिन क्रियाशील रहकर खतम हो गया।

अगले वर्ष, सन् १९२८ ई० में, ब्रिटिश-कमीशन ने भारत में पदार्पण किया। जैसाकि मैं लिख चुका हूँ, सर्व-साधारण ने इसका बहिष्कार किया, और जहाँ-जहाँ यह गया, वहाँ-वहाँ इसके विरुद्ध बड़े-बड़े प्रदर्शन किये गये। इसके सभापति के नाम पर इसे साइमन-कमीशन कहते थे, और "साइमन वापिस जाओ" का नारा भारत-भर में गूँज उठा। अनेक अवसरों पर पुलिस ने प्रदर्शनकारियों पर लाठियाँ चलाईं। लाहौर में पुलिस ने लाला लाजपतराय तक को मारा। कुछ महीनों बाद लालाजी की मृत्यु हो गई, और डाक्टरों की राय थी कि सम्भवतया पुलिस की मार से लालाजी की मृत्यु जल्दी हो गई। इन सब बातों से देश में क़ुदरती तौर पर बड़ी उत्तेजना और क्रोध पैदा हो गया।

इस अरसे में सर्वदल सम्मेलन संविधान का मसौदा बनाने का और साम्प्रदायिक उलझन का हल ढूँढ निकालने का प्रयत्न कर रहा था। इसने एक रिपोर्ट तैयार की जिसमें संविधान के बारे में और साम्प्रदायिक समस्या के बारे में सुझाव थे। यह रिपोर्ट नेहरू-रिपोर्ट कहलाती है, क्योंकि जिस कमेटी ने इसका मसौदा बनाया था, उसके सभापति पण्डित मोतीलाल नेहरू थे।

गुजरात के बारडोली गाँव के किसानों का, सरकार द्वारा मालगुज़ारी की दर में वृद्धि के विरुद्ध, महान् संग्राम इस वर्ष की एक और उल्लेखनीय घटना थी। संयुक्त प्रान्त (अब उत्तर प्रदेश) की भाँति गुजरात में बड़ी-बड़ी ज़मींदारियों की प्रथा नहीं है। वहाँ केवल मालगुज़ार किसान हैं। इन किसानों ने सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में अपूर्व वीरतापूर्ण लड़ाई चलाई और महान् विजय प्राप्त की।

दिसम्बर, सन् १९२८ की कलकत्ता-कांग्रेस ने नेहरू-रिपोर्ट स्वीकार कर ली, जिसमें ब्रिटिश उपनिवेशों के संविधान से मिलते-जुलते संविधान की सिफ़ारिश की गई थी। कांग्रेस ने इसे स्वीकार तो कर लिया, पर यह स्वीकृति अस्थायी रूप में थी, और इसके लिए उसने एक वर्ष की अवधि निश्चित करदी––अगर एक वर्ष के भीतर ब्रिटिश-सरकार से इसके आधार पर कोई राज़ीनामा न हो, तो कांग्रेस फिर स्वाधीनता की माँग पर चली जायगी। इस प्रकार कांग्रेस तथा देश अपरिहार्य रूप से नाज़ुक घड़ी की ओर अग्रसर हो रहे थे।

श्रमजीवी-वर्ग भी बड़ा उतावला हो रहा था, और कुछ औद्योगिक केन्द्रों में जब मजदूरियाँ घटाने के प्रयत्न किये गये, तो वहाँ वह सरगर्म बनने लगा। बम्बई

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में इनका संगठन ख़ासतौर पर बहुत अच्छा था और यहाँ बहुत बड़ी-बड़ी हड़तालें हुईं, जिनमें एक लाख से भी ज्यादा मजदूरों ने भाग लिया। मजदूरों में समाजवादी और कुछ हद तक साम्यवादी विचारधाराएँ फैलने लगीं, और इस क्रान्तिकारी उभाड़ से, तथा श्रमजीवी-वर्ग की बढ़ती हुई ताकत से, भयभीत होकर सरकार ने सन् १९२९ ई० के प्रारम्भ में यकायक बत्तीस मजदूर नेताओं को गिरफ्तार कर लिया और उनके विरुद्ध षड्यन्त्र का एक बड़ा मुकदमा चला दिया। यह मुक़दमा दुनिया-भर में "मेरठ-केस" के नाम से मशहूर हो गया। लगभग चार साल की अदालती सुनवाई के बाद सभी अभियुक्तों को क़ैद की जबरदस्त सजाएँ दे दी गईं। मज़े की बात यह थी कि उनमें से किसीपर भी बग़ावत की अमली कार्रवाई और शान्ति भंग करने तक का अभियोग नहीं लगाया गया था। मालूम होता है कि उनका अपराध यह था कि वे एक ख़ास तरह का मत रखते थे और उसका प्रचार करते थे। अपील करने पर ये सजाएँ बहुत कम कर दी गईं।

एक और क़िस्म की प्रवृत्ति, जो अन्दर-ही-अन्दर सुलग रही थी और कभी-कभी ऊपरी सतह पर भी प्रगट हो जाती थी, यह थी कि कुछ लोग क्रान्ति लाने के लिए हिंसात्मक उपायों में विश्वास करते थे। यह प्रवृत्ति मुख्यतया बंगाल में, कुछ हद तक पंजाब में, और थोड़ी-बहुत संयुक्त प्रान्त में थी। ब्रिटिश-सरकार ने इसे दबाने के अनेक उपाय किये और षड्यन्त्रों के कितने-ही मुक़दमे चलाये गये। सरकार ने "बंगाल आर्डिनेन्स" नामक एक विशेष क़ानून जारी किया, ताकि जिस किसीपर वह सन्देह करने का इरादा करले, उसे गिरफ्तार करने और बिना मुक़दमा चलाये जेल में रखने का अधिकार उसे मिल जाय। इस आर्डिनेन्स के मातहत कितने-ही सौ बंगाली नवयुवक गिरफ्तार करके जेलों में डाल दिये गये। ये "नजरबन्द" कहलाते थे और इनकी क़ैद की कोई मीयाद नहीं होती थी। उल्लेख करने की मज़ेदार बात यह है कि जिस समय यह निराला आर्डिनेन्स जारी किया गया था, उस समय इंग्लैण्ड में मज़दूर-सरकार शासन कर रही थी, और इस आर्डिनेन्स की ज़िम्मेदारी उसीके ऊपर आती थी! [1]

इन क्रान्तिकारियों ने आतंक फैलाने की बहुत-सी कार्रवाइयाँ कीं, जिनमें से अधिकांश बंगाल में हुईं। इनमें से तीन घटनाओं की ओर लोगों का ध्यान ख़ासतौर पर आकर्षित हुआ। पहली तो लाहौर में एक अंग्रेज़ पुलिस अफ़सर पर गोली चलाने की थी, जिसके बारे में खयाल किया जाता था कि उसने साइमन कमीशन के विरुद्ध

---

[1] यह बात मज़ेदार इसलिए थी कि आमतौर पर यह समझा जाता था कि मज़दूर-दल भारत का हितैषी है। ब्रिटिश-पार्लमेण्ट में जिस समय मज़दूर-दल विरोधी दल की हैसियत से होता था, तब वह भारतीय-स्वशासन का समर्थन करता था और सत्ता-रूढ़ होने पर प्रायः अनुदार दल की तरह ही विरोध!

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रदर्शन में लाला लाजपतराय को मारा था। दूसरी भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त द्वारा दिल्ली के असेम्बली भवन में बम फेंके जाने की थी। इस बम से कोई नुक़सान नहीं हुआ, और मालूम होता है कि यह केवल ख़ूब शोर मचवाने और देश का ध्यान आकर्षित करने के इरादे से फेंका गया था। तीसरी घटना सन् १९३० ई० में चटगाँव में उस समय के लगभग हुई, जब सविनय अवज्ञा-आंदोलन शुरू ही हुआ था। यह शस्त्रागार पर साहसपूर्ण और बड़ी तैयारी के साथ मारा गया छापा था, और कुछ सफल भी रहा। इस आन्दोलन को कुचलने के लिए सरकार ने दिमाग़ में सूझनेवाली सारी तरकीबें काम में लीं। जासूस और मुख़बिर रखे गये, बहुत लोगों को गिरफ्तार किया गया और षड्यन्त्र के मुक़दमे चलाये गये, लोगों को नजरबन्द किया गया (कभी-कभी अदालतों द्वारा बरी किये गये लोगों को तुरन्त फिर गिरफ्तार करके आर्डिनेन्स के मातहत नजरबन्द बनाकर रखा जाता था), और पूर्वी बंगाल के कुछ भागों पर फ़ौजी शासन क़ायम कर दिया गया था, और लोग आज्ञा-पत्रों के बिना बाहर घूम-फिर नहीं सकते थे, न वे साइकिलों की सवारी कर सकते थे और न मनचाही पोशाक बदल सकते थे। पुलिस को इत्तला न देने के जुर्म में पूरे-के-पूरे नगरों और गाँवों पर भारी-भारी जुर्माने लगा दिये गये थे।

सन् १९२९ ई० में लाहौर में एक षड्यन्त्र के मुक़दमे के एक क़ैदी जतीन्द्रनाथ दास ने जेल के दुर्व्यवहार के विरोध में भूख-हड़ताल कर दी। यह नवयुवक अन्त तक डटा रहा और इस भूख-हड़ताल के फलस्वरूप इकसठवें दिन उसकी मृत्यु हो गई। जतीन दास के आत्मोत्सर्ग ने भारत पर गहरा प्रभाव डाला। एक और घटना, जिसने देश को स्तब्ध और व्यथित कर दिया, सन् १९३१ ई० के शुरू में भगतसिंह की फाँसी थी।

अब मैं फिर कांग्रेस की राजनीति पर आता हूँ। कलकत्ता-कांग्रेस ने जो एक साल की मोहलत दी थी, उसका समय पूरा हो रहा था। सन् १९२९ ई० के आखिरी दिनों में सरकार ने उन गम्भीर परिणामों को रोकने का प्रयत्न किया, जिनकी सम्भावना नज़र आ रही थी। उसने भारत की भावी उन्नति के बारे में एक अस्पष्ट-सी घोषणा की। उस समय भी कांग्रेस ने कुछ शर्तों के साथ सहयोग के लिए हाथ बढ़ाया। पर जब ये शर्तें पूरी नहीं हुईं, तो दिसम्बर, सन् १९२९ ई० की लाहौर-कांग्रेस ने लाचार होकर स्वाधीनता के पक्ष में और उसे प्राप्त करने के लिए संघर्ष का निश्चय किया।

इस प्रकार सन् १९३० ई० का वर्ष भावी घटनाओं की दुर्सम्भावना के अँधियारे वातावरण में शुरू हुआ। सविनय-अवज्ञा की तैयारियाँ हो रही थीं। विधान सभा तथा कौन्सिलों का फिर बहिष्कार कर दिया गया था और उनके कांग्रेसी सदस्यों ने इस्तीफ़े दे दिये थे। जनवरी की २६ तारीख़ को शहरों तथा गाँवों की अनगिनती सभाओं में सारे देश में स्वाधीनता की विशेष शपथ ली गई। इस दिन की वर्षगाँठ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हर साल 'स्वाधीनता दिवस'[1] के नाम से मनाई जाती है। मार्च में, नमक-क़ानून तोड़ने के लिए समुद्र तट पर गाँधीजी की प्रसिद्ध दाँडी-यात्रा हुई। अपना धावा शुरू करने के लिए उन्होंने नमक-कर को इसलिए चुना था कि यह कर ग़रीब लोगों पर बड़ा बोझ था, और इसलिए खासतौर पर बुरा था।

अप्रैल, सन् १९३० ई० के मध्य तक सविनय-अवज्ञा का संग्राम पूरे ज़ोर पर पहुँच गया था। हर जगह केवल नमक-क़ानून ही नहीं तोड़ा गया, बल्कि, दूसरे क़ानून भी तोड़े गये। देश-भर में शान्तिपूर्ण बग़ावत फैल गई और उसे कुचलने के लिए नये-नये क़ानून और आर्डिनेन्स एक-के-बाद-एक तेज़ी के साथ निकलने लगे। पर ये आर्डिनेन्स ही सविनय-अवज्ञा के लक्ष्य बन गये। सामूहिक गिरफ्तारियाँ हुईं, और लाठियों की पशुतापूर्ण मार, और शान्तिपूर्ण भीड़ों पर गोलियाँ चलना, और कांग्रेस-कमेटियों का ग़ैर-क़ानूनी घोषित किया जाना, और अख़बारों का मुँह बन्द किया जाना, और सेन्सर का बिठाया जाना, और मार-पीट और जेलों में सख़्ती का व्यवहार, ये सब रोज़मर्रा की घटनाएँ हो गईं। एक ओर तो आर्डिनेन्सों द्वारा शासन था, दूसरी ओर इन्हें निश्चित और व्यवस्थित ढंग से तोड़ा जाता था। साथ-साथ विदेशी माल और अंग्रेज़ी कपड़े का बहिष्कार भी चल रहा था। लगभग एक लाख व्यक्ति जेलों में गये, और कुछ समय के लिए भारत के इस शान्तिपूर्ण, मगर दृढ़तापूर्ण संघर्ष पर दुनिया-भर का ध्यान लगा रहा।

जब भारत में सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन ज़ोरों के साथ चल रहा था, तब समुद्र-पार लन्दन में ब्रिटिश-सरकार ने बड़ी धूम-धाम और तौर-तरीके के साथ एक गोल-मेज़-सम्मेलन बुलाया। कांग्रेस को इससे कोई वास्ता नहीं था। जो भारतीय उसमें शामिल होने को गये, वे सब सरकार के नामज़द किये हुए थे। कठपुतलियों की तरह या बेजान छायामूर्तियों की तरह वे लन्दन के उस रंगमंच पर फुदकते फिरते थे, और मन में अच्छी तरह जानते थे कि असली संघर्ष तो भारत में हो रहा है। भारत-वासियों की कमज़ोरियों का प्रदर्शन करने के लिए सरकार ने साम्प्रदायिक समस्या को चर्चा का मुख्य विषय बना दिया था। उसने यह होशियारी की थी कि सम्मेलन के लिए हद दर्जे के सम्प्रदायवादियों और प्रतिगामियों को नामज़द किया था, जिससे समझौता होने की कोई सम्भावना ही नहीं थी।

मार्च, सन् १९३१ ई० में कांग्रेस तथा सरकार के बीच एक विराम-सन्धि या अस्थायी समझौता हुआ, ताकि दोनों मिलकर आगे बातचीत कर सकें। यह 'गाँधी-

---

[1] २६ जनवरी, स्वाधीनता के बाद, और नये संविधान के अन्तर्गत, भारतीय गणराज्य की घोषणा हो जाने के बाद से "गणतन्त्र दिवस" कहलाता है। स्वाधीनता दिवस अब १५ अगस्त को मनाया जाता है, जो हमारा दूसरा राष्ट्रीय पर्व है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अरविन समझौता' कहलाया। सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन स्थगित कर दिया गया, और हज़ारों सत्याग्रही क़ैदी छोड़ दिये गये और आर्डिनेन्स उठा लिये गये।

सन् १९३१ ई० में कांग्रेस की ओर से गाँधीजी गोलमेज़-सम्मेलन में भाग लेने के लिए लन्दन गये। इधर भारत में तीन महत्त्वपूर्ण समस्याएँ उठ खड़ी हुईं, और कांग्रेस तथा सरकार दोनों का ध्यान उनपर अटक गया। पहली समस्या बंगाल की थी, जहाँ आतंकवादी कार्रवाइयों को रोकने की आड़ में सरकार ने राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं के विरुद्ध जबरदस्त कार्रवाई की थी। पहले से भी ज्यादा सख्त एक नया आर्डिनेन्स जारी किया गया, और दिल्ली-समझौते के बावजूद बंगाल ने नहीं जाना कि शान्ति क्या होती है।

दूसरी समस्या सीमा प्रान्त में थी, जहाँ राजनैतिक जागृति लोगों को अभीतक कार्रवाई करने के लिए उत्साहित कर रही थी। ख़ान अब्दुल गफ़्फ़ार खाँ के नेतृत्व में एक विशाल, अनुशासनपूर्ण, पर शान्तिप्रिय संगठन ज़ोर पकड़ रहा था। ये 'खुदाई खितमदगार' कहलाते थे, और इसे 'लाल कुर्ती दल' भी कहते थे, क्योंकि ये लोग लाल रंग की वर्दी पहनते थे (समाजवादियों अथवा साम्यवादियों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था)। सरकार इस आन्दोलन से बहुत चिढ़ती थी। वह इससे डरती भी थी, क्योंकि वह अच्छे पठान लड़ाकू के गुणों को जानती थी।

तीसरी समस्या संयुक्त प्रान्त में पैदा हुई। संसार-व्यापी मन्दी और क़ीमतों के गिरने से ग़रीब किसान पर बड़ी भारी मुसीबत आ गई थी। वह लगान अदा नहीं कर सकता था। उसे कुछ छूटें दी गईं, पर ये काफ़ी नहीं समझी गईं। कांग्रेस ने उसकी ओर से मध्यस्थ बनने का प्रयत्न किया, पर कोई नतीजा नहीं निकला। जब सन् १९३१ ई० के नवम्बर मास में लगान-वसूली का समय आया, तो मामला तूल पकड़ गया। कांग्रेस ने इलाहाबाद ज़िले से शुरुआत की और काश्तकारों तथा ज़मींदारों दोनों को सलाह दी कि जबतक छूटों के प्रश्न का फ़ैसला न हो जाय, तबतक वे लगान और मालगुज़ारी अदा न करें। बस, सरकार ने इसकी पेशबन्दी करने के लिए संयुक्त प्रान्त के लिए एक आर्डिनेन्स जारी कर दिया। यह आर्डिनेन्स बड़ा सख्त और विस्तृत था, जिसमें ज़िला अफ़सरों को हर तरह की हलचल को कुचलने के और व्यक्तियों की गति-विधि तक पर रोक लगाने के पूरे अधिकार दे दिये गये थे।

इस आर्डिनेन्स के तुरन्त बाद-ही सीमा प्रान्त के लिए दो स्तब्ध करनेवाले आर्डिनेन्स निकले, और वहाँ तथा संयुक्त प्रान्त में प्रमुख कांग्रेस-जनों को गिरफ्तार कर लिया गया।

बस, जब वर्ष के अन्तिम सप्ताह में गाँधीजी लन्दन से असफल होकर लौटे, तो उनके सामने यह स्थिति खड़ी थी। तीन प्रान्तों में आर्डिनेन्सों का राज था, और उनके कई साथी जेलों में बन्द हो चुके थे। एक-ही सप्ताह के भीतर कांग्रेस

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ने सविनय-आन्दोलन की दुबारा घोषणा कर दी, और उधर सरकार ने अपनी ओर से हज़ारों कांग्रेस-कमेटियों तथा उससे सम्बन्धित अनेक संस्थाओं को ग़ैर-क़ानूनी क़रार दिया।

यह संघर्ष सन् १९३० ई० के संघर्ष से बहुत ज्यादा कठिन था। पिछले अनुभव से फ़ायदा उठाकर सरकार ने इसके लिए अपने-आपको बड़ी सावधानी से तैयार कर लिया था। क़ानूनी रूप का परदा और क़ानून के नियम उलट दिये गये थे, और सर्वांगीण आर्डिनेन्सों के अन्तर्गत, असैनिक (सिविल) अधिकारियों के मातहत देश-भर में एक तरह के फ़ौजी शासन का बोलबाला था। राज्य के पाशविक बल का नंगा नाच हो रहा था।

जिस समय भारत में सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन चल रहा था और हज़ारों राजनैतिक कार्यकर्ता जेलों में बन्द थे, तब ब्रिटिश-सरकार ने भारत में संविधान-सम्बन्धी सुधारों के बारे में अपने प्रस्ताव पेश किये। इनमें प्रान्तीय स्व-शासन का एक सीमित रूप सुझाया गया था, और ऐसी फेडरेशनसंघ का सुझाव था जिसमें सामन्ती राजा लोगों की ही तूती बोलती। इन प्रस्तावों में सरकार ने वे सब संरक्षण रख दिये थे जिनकी मानव-चतुरता कल्पना या रचना कर सकती है, ताकि अंग्रेज़ लोग न सिर्फ़ अपना स्वार्थ-साधन करते रहें, बल्कि भारत पर उनका तिहरा—सैनिक, असैनिक और व्यावसायिक—क़ब्ज़ा भी मज़बूत हो जाय।

तबसे अबतक भारत में अनेक परिवर्तन हो चुके हैं। उस समय सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन चल तो रहा था, पर उसका रूप बहुत हलका हो गया था और बहुत-से कांग्रेस-जन जेलों में पड़े थे। अपनी हज़ारों कमेटियों तथा सम्बन्धित संस्थाओं सहित कांग्रेस ग़ैर-क़ानूनी घोषित कर दी गई थी। सन् १९३४ ई० में कांग्रेस ने सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन बन्द कर दिया और सरकार ने कांग्रेस पर लगाई गई रोक उठाली। कांग्रेस ने कौन्सिलों के बहिष्कार की अपनी पुरानी नीति बदल दी और केन्द्रीय विधान सभा के चुनाव लड़कर उनमें काफ़ी सफलता प्राप्त की।

सन् १९३५ ई० में, बड़ी लम्बी बहस के बाद, ब्रिटिश-पार्लमिण्ट ने भारत सरकार अधिनियम (एक्ट) बनाया, जिसमें भारत के लिए नया संविधान भी प्रस्तुत किया गया था। इसके अनुसार अनेकों प्रतिबन्धों सहित किसी हद तक प्रान्तीय स्वशासन का अधिकार दिया गया था, और प्रान्तों तथा देशी रियासतों की एक फेडरेशन रखी गई थी। भारत में इस क़ानून का चारों ओर से विरोध हुआ, और कांग्रेस ने इसे ठुकरा दिया। गवर्नरों तथा वायसराय के हाथों में दिये गये प्रतिबन्धों और "विशेष अधिकारों" पर ख़ासतौर से आपत्ति की गई, क्योंकि इनसे प्रान्तीय स्वशासन का असली तत्त्व ही निकल जाता था।

इस क़ानून का प्रान्तीय स्वशासन से ताल्लुक़ रखनेवाला भाग सन् १९३७ ई० के शुरू में लागू कर दिया गया और इसके अनुसार सारे भारत में आम चुनाव

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हुए। हालाँकि कांग्रेस ने इस क़ानून को ठुकरा दिया था, पर उसने इन चुनावों में भाग लेने का फ़ैसला किया और देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक चुनाव का ज़ोरदार और व्यापक अन्दोलन चलाया गया। कुल में से बहुत अधिक प्रान्तों में कांग्रेस को जबरदस्त सफलता मिली और ज्यादातर नई प्रान्तीय विधान-सभाओं में कांग्रेस-जनों के बहुमत-वाले दल बन गये। कांग्रेस ने पद-ग्रहण का फ़ैसला किया, पर यह स्पष्ट कर दिया कि उसने स्वाधीनता का पुराना ध्येय और पुरानी नीति का परित्याग नहींकिया है।

इस फ़ैसले के परिणामस्वरूप इन सात प्रान्तों में कांग्रेसी-मन्त्रिमण्डल बने—बम्बई, मद्रास, संयुक्त प्रान्त, बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा और उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त। आसाम में कुछ दिन बाद कांग्रेस ने संयुक्त-मन्त्रिमण्डल बनाया। जिन दो प्रान्तों में ग़ैर-कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल थे, वे बंगाल और पंजाब थे।

कांग्रेसी-मन्त्रिमण्डलों के निर्माण के फलस्वरूप राजनैतिक बन्दी रिहा कर दिये गये, और उन प्रान्तों में नागरिक स्वतन्त्रता पर लगी हुई पाबन्दियाँ हटा दी गईं। साधारण जनता ने इस परिवर्तन का स्वागत किया और अपनी अवस्था में शीघ्र सुधार होने की उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करने लगी। जनता में राजनैतिक चेतना तेज़ी से बढ़ गई और कृषक-वर्ग तथा मज़दूर-वर्ग के आन्दोलन ज़ोर पकड़ने लगे। बहुत-सी हड़तालें हुईं। मन्त्रिमण्डलों ने किसान-वर्ग का बोझ हल्का करने के लिए कृषि-सम्बन्धी तथा क़र्ज़े-सम्बन्धी क़ानून बनाने का काम तुरन्त हाथ में ले लिया और कारखानों के मज़दूरों की हालत सुधारने का प्रयत्न किया। उन्होंने कुछ-न-कुछ किया ज़रूर, पर वे जिस परिस्थिति में थे और क़ानून की जिन मर्यादाओं के भीतर काम चला रहे थे, उनके अन्तर्गत किन्हीं आमूल सामाजिक परिवर्तनों की चेष्टा सम्भव नहीं थी।

कांग्रेसी-मन्त्रिमण्डलों तथा गवर्नरों के बीच बार-बार रस्साकशियाँ हुईं, और दो अवसरों पर तो मन्त्रियों ने अपने त्यागपत्र भी पेश कर दिये। इन त्यागपत्रों की मंजूरी का नतीजा यह होता कि कांग्रेस तथा ब्रिटिश-सरकार के बीच बड़ी मुठभेड़ हो जाती। सरकार यह नहीं चाहती थी, इसलिए मन्त्रियों का दृष्टिकोण मान लिया गया।

सन् १९३७ ई० में बरमा भारत से पृथक् कर दिया गया। उसे भी एक विधान सभा दे दी गई है, जो भारत की प्रान्तीय विधान सभाओं से मिलती-जुलती है।[1]

---

[1] सन् १९४८ ई० में बरमा स्वाधीन हो गया। अब वह ब्रिटिश-राष्ट्रमण्डल के बाहर एक स्वाधीन गणराज्य है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: १११ :

मिस्र का स्वाधीनता-संघर्ष

सारे अरब देशों (अरब देश, ईराक, सीरिया, फिलस्तीन) में मिस्र सबसे अधिक उन्नत है। यह पूर्व और पश्चिम के बीच महान् राजमार्ग और स्वेज़ नहर के निर्माण के समय से ही भाप से चलनेवाले जहाज़ों का महान् व्यापारिक रास्ता रहा है। उन्नीसवीं सदी के नवीन योरप के साथ इसका सम्पर्क पश्चिमी एशिया के किसी भी देश के मुक़ाबले में बहुत ज्यादा रहा है। यह एक बहुत-ही विशिष्ट राष्ट्रीय इकाई है, जो अन्य अरब देशों से बिल्कुल भिन्न है, पर जिसका उनके साथ बहुत घनिष्ट सांस्कृतिक सम्बन्ध है, क्योंकि इन सबकी भाषा, परम्पराएँ तथा धर्म एक ही हैं। क़ाहिरा के दैनिक अख़बार सारे अरब देशों में पहुँचते हैं और वहाँ उनका बड़ा भारी प्रभाव है। इन तमाम देशों में से मिस्र में ही पहले-पहल राष्ट्रीय आन्दोलन ने रूप ग्रहण किया, इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि मिस्री-राष्ट्रीयता अन्य अरब देशों के लिए नमूना बन गई।

उन्नीसवीं सदी के आखिरी पच्चीस बरसों में तथा इनके बाद के समय में, विदेशी व्यापार की वृद्धि के साथ मिस्र में एक नया मध्यम-वर्ग पैदा हो गया। इस वर्ग का एक व्यक्ति सैद ज़ग़लूल था, जिसका जन्म 'फ़लाह' या किसान परिवार में हुआ था। और जो उन्नति करके इस वर्ग में आ गया था। जब अरबी पाशा सन् १८८१–८२ ई० में ब्रिटिश-सरकार के मुक़ाबले में खड़ा हो गया था, तब ज़ग़लूल नौजवान था और उसने अरबी पाशा के नेतृत्व में काम किया था। तबसे लगाकर सन् १९२७ ई० में अपनी मृत्यु-पर्यन्त ज़ग़लूल ने मिस्र की आज़ादी के लिए कार्य किया, और वह मिस्र के स्वाधीनता-आन्दोलन का नेता बन गया। वह मिस्र का सर्वमान्य नेता था।

ब्रिटिश-सरकार ने मिस्र में, साम्राज्यशाही के मान्य और सुपरीक्षित ढंग से, किसी-न-किसी सामाजिक दल या राजनैतिक फ़िरक़े को अपने साथ जोड़ लेने का प्रयत्न किया, और विभिन्न वर्गों तथा फ़िरक़ों को एक-दूसरे से लड़ाकर देश के लोगों में राष्ट्रीयता की एकमात्र भावना के विकास में बाधा डाली। भारत की तरह यहाँ भी अंग्रेज़ों ने अल्पसंख्यकों का प्रश्न खड़ा करने की कोशिश की, क्योंकि मिस्र में ईसाई कॉप्ट लोग अल्पसंख्या में थे। पर इसमें वे सफल नहीं हुए।

युद्ध-काल में शुरू से अख़ीर तक, और बाद में भी बहुत समय तक, मिस्र फ़ौजी-शासन के अधीन रहा। युद्ध के ज़माने में वहाँ एक तो निःशस्त्रिकरण अधिनियम और दूसरा अनिवार्य सैनिक भरती के क़ानून पास किये गये थे। सारे देश में ब्रिटिश सैनिक भरे थे। युद्ध के प्रारम्भ में ही मिस्र को ब्रिटिश-संरक्षित देश क़रार दिया गया था।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सन् १९१८ ई० में सुलह होते ही मिस्र के राष्ट्रवादी फिर क्रियाशील हो गये, और उन्होंने ब्रिटिश-सरकार को तथा पेरिस के शान्ति-सम्मेलन को पेश करने के लिए मिस्र की स्वाधीनता का दावा तैयार किया। उस समय मिस्र में कोई वास्तविक दल नहीं थे। 'वतनी' नामक एक राजनैतिक दल था, जिसके सदस्यों की संख्या बहुत कम थी। मिस्र की स्वाधीनता की वकालत के लिए सैद ज़गलूल पाशा के नेतृत्व में एक बड़ा शिष्टमण्डल लन्दन तथा पेरिस भेजे जाने का प्रस्ताव किया गया, और इस शिष्टमण्डल को ज़ोरदार समर्थन-प्राप्त राष्ट्रीय रूप देने के लिए देशव्यापी संगठन बनाया गया। मिस्र के महान् वफ़्द दल का जन्म इसी प्रकार हुआ, क्योंकि 'वफ़्द' का अर्थ शिष्टमण्डल होता है। ब्रिटिश-सरकार ने इस शिष्टमण्डल को लन्दन जाने की अनुमति नहीं दी और सन् १९१९ ई० के मार्च में ज़गलूल तथा अन्य नेताओं को गिरफ्तार कर लिया।

इसके परिणामस्वरूप ख़ूनी क्रान्ति भड़क उठी। कुछ अंग्रेज़ मारे गये, और क़ाहिरा शहर तथा अन्य केन्द्र क्रान्तिकारी समिति के हाथों में चले गये। अनेक स्थानों में राष्ट्रवादियों की सार्वजनिक सुरक्षा समितियाँ बन गईं। इस बग़ावत में विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों ने बड़ा भारी भाग लिया। पर इन प्रारम्भिक सफलताओं के बाद, यह बग़ावत बहुत हद तक दबा दी गई, हालाँकि कभी-कभी अंग्रेज़ अमलदार मारे जाते रहे। मगर, यद्यपि क्रियाशील विद्रोह दब गया था, पर आन्दोलन नहीं कुचला जा सका। उसने अपने पैंतरे बदल दिये और निष्क्रिय प्रतिरोध के दूसरे दौर में पदार्पण किया। यह इतना सफल रहा कि ब्रिटिश-सरकार मिस्र की माँग पूरी करने के लिए कुछ क़दम उठाने पर मज़बूर हो गई। लार्ड मिलनर के नेतृत्व में इंग्लैण्ड से एक कमीशन भेजा गया। मिस्र के राष्ट्रवादियों ने इस कमीशन का बहिष्कार करने का फ़ैसला किया और इसमें उन्हें अपूर्व सफलता मिली। मिलनर कमीशन के बहिष्कार में विद्यार्थियों ने फिर महत्त्वपूर्ण भाग लिया। इस राष्ट्रव्यापी प्रतिरोध का कमीशन पर इतना प्रभाव पड़ा कि उसने कुछेक ऐसी सिफ़ारिशें कर डालीं जिनका असर बहुत दूर तक पड़ता था। ब्रिटिश-सरकार ने इन सिफ़ारिशों की परवाह नहीं की, और मिस्र का संघर्ष सन् १९१९ ई० के शुरू से लगाकर सन् १९२२ ई० के शुरू तक, तीन साल चलता रहा। मिस्री लोग 'इस्तिक़लाल-उल-ताम' यानी पूर्ण स्वाधीनता से कम कोई चीज़ लेने को तैयार नहीं थे।

गिरफ्तार होने के कुछ दिन बाद, सन् १९१९ ई० में, ज़ग़लूल पाशा को रिहा कर दिया गया। पर दिसम्बर, सन् १९२१ ई० में उसे फिर गिरफ्तार कर लिया गया और देश-निकाला दे दिया गया। पर अंग्रेजों के दृष्टिकोण के लिहाज़ से इस स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ, और मिस्रवासियों को शान्त करने के लिए उन्हें कुछ कार्रवाई करने को मजबूर होना पड़ा। पर समझौते के सब प्रयत्न विफल हो गये।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दोनों के बीच राज़ीनामे का कोई सामान्य आधार नहीं था। मगर ब्रिटिश-सरकार ने महसूस किया कि कुछ-न-कुछ तो किया जाना लाज़िमी था, इसलिए उसने २८ फ़रवरी, सन् १९२२ ई० को बिना किसी राज़ीनामे के ही घोषणा कर दी। उसने बयान दिया कि भविष्य में वह मिस्र को "स्वाधीन प्रभु-राज्य' मानेगी, मगर—और यह बड़ा भारी मगर था—चार बातें आगे ग़ौर करने के लिए रख छोड़ी गईं। ये थीं :

१. मिस्र में ब्रिटिश-साम्राज्य के यातायात के साधनों की सुरक्षा।
२. प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष विदेशी आक्रमण अथवा हस्तक्षेप से मिस्र की रक्षा।
३. मिस्र में विदेशी हितों का तथा अल्पसंख्यक जातियों का संरक्षण।
४. सूदान के भविष्य का प्रश्न।

मिस्र ने इन शर्तों को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि वैसे तो ये सीधी-सादी और निर्दोष नज़र आती थीं, पर इनका अर्थ यह था, कि मिस्र को, न तो घरेलू मामलों में और न विदेशी मामलों में, कोई वास्तविक स्वाधीनता मिलनेवाली थी। इस कारण २८ फ़रवरी, सन् १९२२ ई० की घोषणा ब्रिटिश-सरकार की इकतरफ़ा कार्रवाई थी, जिसे मिस्र ने नहीं माना।

नव-स्थापित "स्वाधीन" मिस्र को अत्यन्त प्रतिगामी संविधान भेंट किया गया, जिसमें बादशाह के हाथों में बड़े भारी अधिकार दे दिये गये थे। यह बादशाह फ़ुआद था, जो बेचारे मिस्र-निवासियों के सिर पर लाद दिया गया था। बादशाह फ़ुआद तथा ब्रिटिश-कर्मचारियों में बड़े मज़े की पटने लगी। फ़ुआद ने अपने-आपको ही सरकार समझ लिया और अपनी ख़ूब मनमानी की। उसने पार्लमेण्ट को भंग कर दिया, और आड़े में सहायता के लिए सदा प्रस्तुत ब्रिटिश संगीनों के बल पर तानाशाह की तरह शासन करने लगा।

नई पार्लमेण्ट के प्रथम चुनाव सन् १९२३ ई० में हुए, और ज़ग़लूल पाशा तथा उसके दल ने, जो आजकल वफ़्द-दल कहलाता है, देश-भर में भारी बहुमत प्राप्त किया। उन्हें नब्बे फ़ी-सदी वोट मिले और उन्होंने पार्लमेण्ट के २१४ स्थानों में से १७७ जीत लिये। इंग्लैण्ड को मनाने का एक और प्रयत्न किया गया, और इस काम के लिए ज़ग़लूल लन्दन भी गया। पर दोनों के दृष्टिकोणों में मेल नहीं हो सका और समझौते की बातचीत कई सवालों पर टूट गई, जिनमें से एक सवाल सूदान का था। सूदान मिस्र के दक्षिण में एक देश है। मिस्र से यह बहुत भिन्न है, निवासी भी भिन्न हैं, और भाषा भी। नील नदी अपने ऊपरले प्रदेशों में सूदान होकर बहती है। ज्ञात इतिहास के प्रारम्भ से ही, यानी सात-आठ हज़ार बरसों से, नील नदी मिस्र की जीवन-धारा रही है। मिस्र की सारी खेती-बाड़ी और ज़िन्दगी नील नदी में हर साल आनेवाली बाढ़ों पर निर्भर रहती आई है, जिन्होंने अबीसीनिया के पठारों से खाद-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भरी मिट्टी लाकर इस प्रकार एक रेगिस्तान को उर्वर और उपजाऊ धरती बना दिया है।

नील नदी का उद्गम-स्थान सूदान में है, अतः मिस्र के लिए सूदान का मार्मिक महत्त्व है।

सन् १९२४ ई० में जब सूदान के प्रश्न पर सैद ज़ग़लूल और ब्रिटिश-सरकार के बीच बातचीत चल रही थी, तब सूदानियों ने मिस्र के साथ कई ढंग से अपना लगाव ज़ाहिर किया। इसके लिए ब्रिटिश-सरकार ने उन्हें सख्त सज़ा दी, और मिस्र की सरकार से कोई सलाह-मशविरा किये बिना ही जो मन में आया सो किया—हालाँकि सूदान में दोनों का संयुक्त-शासन था, जिसके लिए मिस्र को काफ़ी ख़र्च करना पड़ता था।

अपनी हस्व-मामूल उदारता के साथ ब्रिटिश-सरकार ने अल्पसंख्यक जातियों के हितों की रक्षा करने का भी निर्णय कर लिया था। फ़रवरी, सन् १९२२ ई० की स्वाधीनता की घोषणा में यह भी एक शर्त थी। मुख्य अल्पसंख्यक जाति कॉप्टों की थी। ये लोग प्राचीन मिस्रियों के वंशज माने जाते हैं और इसलिए मिस्र की सबसे पुरानी जाति है। ये लोग ईसाई हैं, और ईसाइयत के प्रारम्भ में, जब योरप ईसाई नहीं हुआ था, ईसाई बन गये थे। अल्पसंख्यकों के प्रति ब्रिटिश-सरकार ने जो बड़ी भारी कृपा दिखाई, उसके लिए उसे धन्यवाद देने के बजाय इन कॉप्टों ने बड़ी कृतघ्नता के साथ उससे कह दिया कि आप हमारी चिन्ता न करें। फ़रवरी, सन् १९२२ ई० की ब्रिटिश-घोषणा के कुछ-ही समय बाद कॉप्ट लोगों ने अपनी बड़ी भारी सभा बुलाई और प्रस्ताव किया कि "राष्ट्रीय एकता तथा राष्ट्रीय लक्ष्य की प्राप्ति के हित में वे अल्पसंख्यकों को दिया गया सारा प्रतिनिधान तथा संरक्षण निछावर करते हैं"। अंग्रेज़ों ने कॉप्टों के इस निर्णय को अत्यन्त मूर्खतापूर्ण कहकर उसकी आलोचना की! आज़ादी के संघर्ष में कॉप्टों ने बड़ा भारी हिस्सा लिया था और वफ़्द दल में ज़ग़लूल पाशा के सबसे अधिक विश्वासपात्र साथियों में कुछ कॉप्ट भी थे।

: ११२ :

अंग्रेज़ों की छत्रछाया में स्वाधीनता का अर्थ

१९ नवम्बर, सन् १९२४ ई० को सर ली स्टैक की, जो मिस्री सेना के सरदार के पद पर था और सूदान का गवर्नर जनरल भी था, कुछ मिस्रियों ने हत्या कर दी। इससे मिस्र में तथा इंग्लैण्ड में अंग्रेज़ों को क़ुदरती तौर पर सदमा पहुँचा। शायद इससे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी ज्यादा सदमा मिस्र के राष्ट्रवादी दल वफ़्द को हुआ, क्योंकि वे जानते थे कि इसके परिणामस्वरूप उनपर हमला होगा। और यह हमला बड़ी तेज़ी से हुआ। तीन-ही दिन के भीतर, २२ नवम्बर को, मिस्र के ब्रिटिश हाई कमिश्नर लार्ड ऐलनबी ने मिस्री-सरकार को अपना आखिर शर्तनामा पेश कर दिया, जिसमें नीचे लिखी माँगें तुरन्त पूरी करने को कहा गया था :

१. क्षमा-याचना की जाय;
२. अपराधियों को सज़ा दी जाय;
३. तमाम राजनैतिक प्रदर्शनों पर रोक लगा दी जाय;
४. पाँच लाख पौण्ड के हर्जाने की पूर्ति की जाय;
५. सूदान से सारे मिस्री सैनिकों को चौबीस घण्टे के भीतर हटा लिया जाय;
६. सूदान में सिंचाई के क्षेत्रों पर मिस्र के हित में जो मर्यादाएँ लगा दी गईं थीं, उन्हें उठा लिया जाय;
७. मिस्र में तमाम विदेशियों की रक्षा का जो अधिकार ब्रिटिश-सरकार ने अपने हाथ में ले लिया था, उसका विरोध आयन्दा से खतम कर दिया जाय। इसका खास मतलब वित्त, न्याय तथा आन्तरिक विभागों पर ब्रिटिश सत्ता बनी रहने से था।

देखा जाय तो यह सब उस हत्या से पैदा होनेवाला बड़ा अद्भुत-सा माजरा था, और एक हत्या में से ब्रिटिश-सरकार के फ़ायदे की इतनी सारी चीजें निकाल लेना बड़ी ज़ोरदार और उपजाऊ कल्पना-शक्ति का काम था। बेचारी मिस्री-सरकार को, जिसने हत्या के बाद तुरन्त-ही अपना सख्त रंज और अफ़सोस ज़ाहिर कर दिया था, ब्रिटिश-सरकार के भारी, पर भावनारहित होकर सोचे-विचारे गये तथा लाभ-प्रद, क्रोध का नतीजा भुगतना पड़ा।

मिस्री-सरकार धरती तक नीचे झुक गई। ज़गलूल पाशा ने शर्तनामे की लग-भग सारी बातें मान लीं—यहाँतक कि चौबीस घण्टे में पाँच लाख पौण्ड का हर्जाना भी चुका दिया। केवल सूदान के बारे में मिस्री-सरकार ने कहा कि वह अपने अधि-कार नहीं छोड़ सकती। पर लार्ड ऐलनबी के लिए यह विनीतता और क्षमा-याचना भी काफ़ी नहीं थी, और चूँकि सूदानवाली शर्त नहीं मानी गई थी, इसलिए उसने ब्रिटिश-सरकार की ओर से सिकन्दरिया के चुंगीघर पर बरदस्ती क़ब्ज़ा कर लिया और इस प्रकार चुंगी की आमदनी को अपने हाथ में ले लिया। इसके अलावा, मिस्री-सरकार द्वारा विरोध-प्रदर्शन के बावजूद उसने इन शर्तों को सूदान पर जबर-दस्ती लागू कर दिया और सूदान को ब्रिटिश-उपनिवेश बना दिया। सूदान में मिस्री सैनिकों ने विद्रोह किये, पर उन्हें हद दर्जे की सख्ती के साथ दबा दिया गया।

ब्रिटिश-सरकार की इस कार्रवाई के विरोधस्वरूप ज़गलूल पाशा तथा उसकी सरकार ने तुरन्त इस्तीफ़े दे दिये, और सन् १९२४ ई० के उसी नवम्बर महीने में

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

बादशाह फ़ुआद ने पार्लमेण्ट को भंग कर दिया। इस प्रकार ब्रिटिश-सरकार ज़गलूल तथा उसके वफ़्द दल को शासक के पदों से हटाने में और कम-से-कम उस समय के लिए पार्लमेण्ट का अन्त करने में सफल हुई। उसने सूदान को भी अपने राज्य में मिला लिया, और इस प्रकार सूदान में नील नदी की धाराओं पर क़ब्ज़ा करके सुविधा-पूर्वक मिस्र का गला घोंटने की स्थिति प्राप्त कर ली।

नवम्बर, सन् १९२४ ई० में पार्लमेण्ट भंग कर दी गई थी। मार्च, सन् १९२५ ई० में नई चुनी हुई पार्लमेण्ट का अधिवेशन हुआ। इसमें वफ़्द दल का भारी बहुमत था, और इसने तुरन्त-ही ज़गलूल पाशा को "चैम्बर ऑफ डिपुटीज़"[1] का अध्यक्ष चुन लिया। यह चीज़ न तो अंग्रेज़ों को पसन्द आई और न बादशाह फ़ुआद को, इसलिए बस उसी दिन यह नई-नकोर, एक दिन की आयुवाली पार्लमेण्ट भंग कर दी गई! इसके बाद पूरे एक वर्ष तक संविधान के रहते-सहते मिस्र में कोई पार्लमेण्ट नहीं रही, और फ़ुआद ने एक तानाशाह की भाँति शासन किया। हाँ, उसकी पीठ पर असली बल ब्रिटिश कमिश्नर का था। इसपर सारे देश ने रोष प्रगट किया, और बादशाह फ़ुआद तथा अंग्रेजों के इस गुट्ट का विरोध करने के लिए ज़गलूल सारे समुदायों को एक करने में सफल हो गया। नवम्बर, सन् १९२५ ई०, में यहाँतक हुआ कि सरकारी निषेध के प्रतिकूल पार्लमेण्ट के सदस्यों की एक सभा हुई। चूँकि पार्लमेण्ट भवन में सैनिक भरे हुए थे, इसलिए सदस्यों की यह सभा दूसरी जगह की गई।

तब फ़ुआद ने अपने महलों से केवल एक आज्ञप्ति निकालकर सारे संविधान को ही बदल डालने का प्रयत्न किया। उसका इरादा इसे और भी प्रतिगामी बनाने का था, ताकि भविष्य में पार्लमेण्टों को आसानी से नियन्त्रण में रखा जा सके और ज़गलूल के दल को बाहर ही रखा जा सके। परन्तु इसके विरुद्ध जबरदस्त हो-हल्ला मच गया, और यह स्पष्ट हो गया कि नई व्यवस्था के अन्तर्गत चुनावों का बहिष्कार कर दिया जायगा। इसपर बादशाह फ़ुआद को झुकना पड़ा और चुनाव पुरानी व्यवस्था के ही अनुसार हुए। नतीजा : ज़गलूल के दल का भारी बहुमत, यानी इस दल की संख्या २०० और विरोधियों की संख्या १४! राष्ट्र पर ज़गलूल के प्रभाव का, तथा मिस्र क्या चाहता था, इसका इससे ज्यादा बड़ा सबूत नहीं हो सकता था। इसके बावजूद भी ब्रिटिश-कमिश्नर (जो भारत का एक भूतपूर्व गवर्नर लॉर्ड लॉयड था) ने कहा कि उसे ज़गलूल के प्रधान मन्त्री बनने पर आपत्ति है, इसलिए उसकी जगह दूसरा व्यक्ति नियुक्त किया गया। यह समझना ज़रा मुश्किल है कि इस मामले में अंग्रेजों को हस्तक्षेप करने का क्या अधिकार था। फिर भी, नई सरकार की बागडोर बहुत-कुछ ज़गलूल के ही दल के हाथों में थी, और सम्हलकर चलने

[1] मिस्री पार्लमेण्ट का एक सदन।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के प्रयत्न के बावजूद उनकी लॉर्ड लॉयड से अक्सर टक्करें होती रहती थीं, क्योंकि लॉर्ड लॉयड एक अत्यन्त शाह-मिज़ाज़ और धौंस जमानेवाला व्यक्ति था, और वह मिस्र को अक्सर अंग्रेज़ी जंगी जहाज़ों की धमकियाँ दिया करता था।

जिस समय समझौते की ये बातचीतें चल रही थी, इसी बीच २३ अगस्त, सन् १९२७ ई० को मिस्र के महान् नेता सैद ज़ग़लूल पाशा की सत्तर वर्ष की आयु में मृत्यु हो गई।

ज़ग़लूल के बाद मुस्तफ़ा नहस पाशा वफ़्द का नेता हुआ। कुछ दिन बाद, मार्च, सन् १९२८ ई० में वह प्रधान मन्त्री बना। उसने नागरिक स्वतन्त्रता तथा लोगों के हथियार रखने के अधिकार से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ साधारण-से अन्दरूनी सुधार किये। ज्यों-ही मिस्री पार्लमेण्ट ने इस प्रश्न पर ग़ौर करना शुरू किया, त्यों-ही इंग्लैण्ड से धमकियाँ आईं कि ऐसा नहीं किया जाना चाहिए। लॉर्ड लॉयड ने, माने हुए पुराने ढंग के अनुसार आख़री चेतावनी दे दी और ब्रिटिश जंगी जहाज़ माल्टा से सिकन्दरिया के बन्दरगाह में आ धमके। नहस पाशा कुछ हद तक झुक गया, और इन मामलों को कुछ महीने बाद अगले अधिवेशन तक के लिए स्थगित करने पर राज़ी हो गया।

परन्तु दूसरा अधिवेशन तो होनेवाला ही न था! बादशाह फ़ुआद और ब्रिटिश-हाई कमिश्नर ने ऐसी तरकीब की कि पार्लमेण्ट को भविष्य में गड़बड़ करने का मौक़ा ही न मिले। इन दोनों की साज़िश एक अज़ीब रंग लाई। अकस्मात् ही, एक पत्र के आधार पर (जो बाद में जाली साबित हुआ) नहस पाशा तथा वफ़्द के एक कॉप्ट नेता पर भ्रष्टाचार का आरोप लगाया गया। दरबारी लोगों तथा अंग्रेज़ों द्वारा इसके बारे में धुँआधार प्रचार किया गया। ब्रिटिश सम्वाद-एजेन्सियों तथा पत्र-सम्वाद-दाताओं ने इन झूठे अभियोगों को केवल मिस्र में ही नहीं, बल्कि विदेशों में भी ख़ूब फैलाया। इस आरोप की आड़ लेकर बादशाह फ़ुआद ने नहस पाशा से प्रधान मन्त्री पद से त्यागपत्र देने को कहा। जब नहस पाशा ने ऐसा करने से इन्कार किया, तो फ़ुआद ने उसे बरख़ास्त कर दिया। अब लॉयड-फ़ुआद साज़िश का अगला क़दम उठाया गया। बादशाह ने एक और आज्ञप्ति जारी करके पार्लमेण्ट को स्थगित कर दिया तथा संविधान को बदल दिया। संविधान में से अख़बारों की आज़ादी तथा अन्य नागरिक स्वतन्त्रताओं-सम्बन्धी धाराओं को हटा दिया गया, और तानाशाही घोषित करदी गई। इसपर इंग्लैण्ड के अख़बारों ने तथा मिस्र में रहनेवाले विदेशियों ने ख़ूब ख़ुशियाँ मनाईं।

परन्तु तानाशाही की घोषणा के बावजूद पार्लमेण्ट के सदस्यों ने अपनी सभा की, और नई सरकार को ग़ैर-क़ानूनी घोषित कर दिया। मगर लॉयड को या फ़ुआद को इन बातों से कोई परेशानी नहीं थी।

सरकार ने नहस पाशा के विरुद्ध जो मुक़दमा चलाया था, वह सरकारी दबाव

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

के बावजूद धूल में मिल गया। उसके विरुद्ध लगाये गये आरोप झूठे साबित हुए और सरकार ने आज्ञा निकाल दी कि इस मुक़दमे का फ़ैसला अखबारों में प्रकाशित न किया जाय। मगर इसपर भी यह समाचार तुरन्त फैल गया, और हर जगह लोगों को अपार हर्ष हुआ।

इस प्रकार सन् १९२८ ई० का साल बड़ी खलबली और मुसीबत में बीता। साल के अन्त में इंग्लैण्ड की राजनैतिक स्थिति में परिवर्तन की मिस्र में भी तुरन्त प्रतिक्रिया हुई। वहाँ मज़दूर दल की सरकार क़ायम हो गई थी, और सबसे पहली कार्रवाई इसने यह की कि लॉर्ड लॉयड को वापस बुला लिया, जो ब्रिटिश-सरकार तक के लिए नाक़ाबिले-बरदाश्त हो गया था। लॉयड के हटाये जाने से कुछ समय के लिए फ़ुआद-अंग्रेज़ गठबन्धन टूट गया। बिना अंग्रेज़ों के सहारे फ़ुआद एक दिन भी काम नहीं चला सकता था, इसलिए उसने दिसम्बर, सन् १९२८ ई० में पार्लमेण्ट के नये चुनावों की अनुमति दे दी। इस बार फिर वफ़्द दल ने लगभग सारी सीटों पर क़ब्ज़ा कर लिया।

इंग्लैण्ड की मज़दूर-सरकार ने मिस्र के साथ समझौते की बातचीत फिर शुरू की, और इस कार्य के लिए सन् १९२९ ई० में नहस पाशा लन्दन गया। इस बार मज़दूर-सरकार अपनी पूर्ववर्ती सरकारों से कुछ आगे बढ़ी, और तीन शर्तों के बारे में नहस पाशा का दृष्टिकोण मान लिया गया। लेकिन चौथी शर्त, सूदान, के बारे में फिर कोई राज़ीनामा नहीं हुआ, इसलिए समझौते की बातचीत भंग हो गई। कुछ महीने बाद, जून, सन् १९३० ई० में बादशाह तथा पार्लमेण्ट के बीच झगड़ा हो गया, और नहस पाशा ने प्रधान मन्त्री के पद से इस्तीफ़ा दे दिया।

इस खाली जगह में फ़ुआद फिर तानाशाही लेकर आ कूदा—यह उसके शासन-काल की तीसरी तानाशाही थी। पार्लमेण्ट भंग कर दी गई, वफ़्द दल के अखबार बन्द कर दिये गये, और व्यापक रूप में यह तानाशाही बड़ी कठोरता के साथ अपना काम करने लगी। पार्लमेण्ट के दोनों सदनों, यानी चैम्बर तथा सीनेट, के सब सदस्यों ने महलों की सरकार की अवज्ञा की, और पार्लमेण्ट-भवन में जबरदस्ती घुसकर अधिवेशन कर डाला। २३ जून, सन् १९३० ई० को उन्होंने संविधान के प्रति वफ़ादारी की गम्भीरतापूर्वक शपथ ली और क़सम खाई कि वे अपने पूरे बल के साथ उसकी रक्षा करेंगे। सारे देश में बड़े-बड़े प्रदर्शन हुए। इन्हें सैनिकों ने बलपूर्वक तितर-बितर कर दिया और बहुत खून-खराबी हुई। नहस पाशा खुद भी घायल हो गया। इस प्रकार ब्रिटिश अफ़सरों के मातहत सैनिकों तथा पुलिस के सिपाहियों ने उस तानाशाही को बरक़रार रखा, जिसके प्रति बादशाह के पिछलग्गुए मुट्ठी-भर रईसों तथा धनवानों के सिवा, सारे राष्ट्र को घोर रोष था।

इसी साल, यानी सन् १९३० ई० में, कुछ दिन बाद बादशाह ने एक नये

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संविधान की घोषणावाली आज्ञप्ति जारी की, जिसमें उसने पार्लमिण्ट के अधिकार तो कम कर दिये और अपने अधिकार बढ़ा लिये।

सन् १९३० ई० से मिस्र तानाशाही हुकूमत के मातहत रहा, जिसकी नकेल महलों से घुमाई जाती थी। सिद्धान्त-रूप से तो वह "स्वाधीन प्रभु राज्य" था, पर अमल में वह एक तरह से इंग्लैण्ड का उपनिवेश था, जहाँ क़ाहिरा तथा सिकन्दरिया में विदेशी छावनियाँ पड़ी हुई थीं, और स्वेज़ नहर तथा सूदान पर इंग्लैण्ड का अधिकार था। ये वर्ष दुनिया-भर में महान् आर्थिक मन्दी के थे, और रुई की क़ीमतें गिरने के कारण मिस्र को बहुत नुक़सान उठाना पड़ा था।

सन् १९३५ ई० में फ़ासीवादी इटली ने अबीसीनिया पर धावा बोल दिया और मिस्र तथा ऊपरली नील-घाटी में ब्रिटिश हितों के लिए इस नये ख़तरे के फलस्वरूप, मिस्र तथा इंग्लैण्ड के आपसी सम्बन्धों में परिवर्तन पैदा हो गया। अब इंग्लैण्ड का मक़दूर नहीं था कि मिस्र को विद्रोही और विरोधी बनाये रखे, और मिस्री नेताओं को इंग्लैण्ड के साथ दोस्ती की सम्भावना नज़र आने लगी। पार्लमिण्ट के चुनावों में वफ़्द दल की शानदार जीत हुई, और नहस पाशा प्रधान मन्त्री बना। अबीसीनिया में इटली की आक्रमक कार्रवाई के फलस्वरूप जो नया वातावरण पैदा हुआ, उसमें मिस्र तथा इंग्लैण्ड ने एक-दूसरे की शर्तें मान लीं, और अगस्त, सन् १९३६ ई० में एक सन्धि-पत्र पर दोनों के हस्ताक्षर हो गये। शान्ति की ख़ातिर मिस्र उन बहुत-सी बातों को छोड़ने पर राज़ी हो गया जिनपर वह पहले अड़ा हुआ था; उसने सूदान में यथास्थिति को तथा स्वेज़ नहर की रक्षा के इंग्लैण्ड के अधिकार को मान लिया। दूसरी ओर, इंग्लैण्ड ने क़ाहिरा तथा सिकन्दरिया से अपने सैनिक हटा लिये; मिली-जुली अदालतों तथा बाह्य-प्रादेशिक अधिकारों को मंसूख़ करने में मदद देने का और राष्ट्र-संघ में मिस्र के प्रवेश का समर्थन करने का वादा किया।

इस समझौते पर खूब खुशियाँ मनाई गईं, लेकिन अभी इनका समय नहीं आया था। शासकों के बदल जाने के बावजूद भी राज-दरबार वफ़्द दल से नफ़रत करता रहा और उसके विरुद्ध साज़िशें रचता रहा। परदे की आड़ से ब्रिटिश-साम्राज्यशाही अब भी अपना काम कर रही थी। इसलिए निरन्तर रगड़-झगड़ होने लगी, और बादशाह ने नहस पाशा को उसके पद से हटा दिया तथा पार्लमिण्ट को भंग कर दिया।

कुछ अरसे तक बादशाही हुकूमत के बाद नये चुनाव हुए, और जब इनमें वफ़्द दल की भारी हार हुई, तो सबको आश्चर्य हुआ। बाद में मालूम हुआ कि ये चुनाव बहुत करके एक दिखावा था और धोखेबाज़ी से चुनाव के नतीजों के झूठे नक़्शे तैयार किये गये थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: ११३ :

अफ़ग़ानिस्तान और एशिया के कुछ अन्य देश

ईरान और अफ़ग़ानिस्तान दोनों भारत के पड़ोसी हैं,[1] क्योंकि ईरान की सरहद कई सौ मील तक (बलूचिस्तान में) भारत से लगती है, और अफ़ग़ानिस्तान तथा भारत, बलूचिस्तान के ठेठ पश्चिमी सिरे से लगाकर हिन्दूकुश की उत्तरी पर्वत-श्रेणी तक, क़रीब एक हज़ार मील तक, अगल-बगल स्थित हैं।

ईरान के बारे में जितना मैं लिख चुका हूँ, उससे ज्यादा कुछ नहीं लिखना चाहता, परन्तु अफ़ग़ानिस्तान की हाल की घटनाओं का संक्षेप में वर्णन करना ज़रूरी है। अफ़ग़ान-इतिहास एक तरह से भारतीय-इतिहास का ही भाग है; वास्तव में बहुत वर्षों तक अफ़ग़ानिस्तान भारत का ही भाग था। अलग होने के बाद से, और खासकर पिछले सौ वर्षों से ऊपर के समय में, यह रूस और इंग्लैण्ड के दो महान् साम्राज्यों के बीच झोंक झेलनेवाला राज्य रहा है। यहाँ अंग्रेज़ों से मैत्री रखनेवाले अमीरों का शासन रहा और अफ़ग़ानिस्तान की विदेश-नीति तो निश्चित रूप से अंग्रेज़ों के नियन्त्रण में रखी गई। परन्तु ये अमीर कितने-ही मैत्रीपूर्ण क्यों न हों, उनपर पूरी तरह भरोसा नहीं किया जा सकता था, इसलिए ब्रिटिश-सरकार की ओर से उन्हें हर साल बड़ी-बड़ी रक़में सरकारी सहायता के रूप में दी जाती थीं। अमीर अब्दुल रहमान, जिसका लम्बा राज्य-काल सन् १९०१ ई० में समाप्त हुआ, इसी तरह का अमीर था। इसके बाद अमीर हबीबुल्ला गद्दी पर बैठा, और यह भी अंग्रेज़ों की ओर बहुत झुका हुआ था।

सन् १९१९ई० के प्रारम्भ में अफ़ग़ान राज-दरबार की साज़िशें और प्रतिस्पर्द्धाएँ भीतर से ऊपर निकलकर फूट पड़ीं, और दो लगातार प्रासाद-क्रान्तियाँ तुर्त-फुर्त हो गईं। अमीर हबीबुल्ला की हत्या कर दी गई, और उसके बाद उसका भाई नसरुल्ला अमीर हुआ। लेकिन नसरुल्ला भी बहुत जल्दी हटा दिया गया, और हबीबुल्ला का एक छोटा लड़का अमानुल्ला अमीर बना। गद्दी पर बैठते-ही उसने सन् १९१९ ई० में भारत पर एक छोटा-सा हमला कर दिया। इस हमले के लिए तात्कालिक उत्तेजना का ठीक क्या करण था, या पहल जिसकी तरफ़ से हुई, यह मुझे नहीं मालूम। शायद अमानुल्ला ब्रिटिश-सरकार की किसी भी प्रकार की अधीनता से सख्त नाराज़ था और अपने देश की पूरी स्वाधीनता स्थापित करना चाहता था। शायद उसने यह भी सोचा कि परिस्थितियाँ अनुकूल थीं। उन दिनों

---

[1] हिन्दुस्तान के विभाजन के बाद ये सीमाएँ पाकिस्तान में चली गईं और ईरान तथा अफ़ग़ानिस्तान भारत के पड़ौसी नहीं रहे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पंजाब में फ़ौजी शासन था, भारत में सर्वत्र असन्तोष था, और खिलाफ़त के सवाल पर मुसलमानों की हलचल ज़ोर पकड़ रही थी। हेतु या प्रलोभन कुछ भी रहे हों, अंग्रेज़ों के साथ अफ़ग़ानों का युद्ध छिड़ गया। पर यह युद्ध असाधारण तौर पर अल्पकालिक रहा, और लड़ाई बहुत कम हुई। सैन्य-बल की दृष्टि से भारत में अंग्रेज़ लोग अमानुल्ला से अलबत्ता बहुत ज्यादा ताक़तवर थे, मगर वे लड़ने की हालत में नहीं थे, और कुछ मामूली वारदातों से ही वे अफ़ग़ानों के साथ राज़ीनामा करने को तैयार हो गये। परिणाम यह हुआ कि अफ़ग़ानिस्तान को स्वाधीन देश मान लिया गया, और अन्य देशों के साथ वैदेशिक सम्बन्धों के मामले में उसका पूरा अधिकार स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार अमानुल्ला ने अपना उद्देश्य सिद्ध कर लिया और योरप तथा एशिया में हर जगह उसकी प्रतिष्ठा बढ़ गई। अंग्रेज़ों का तो उससे नाराज़ होना स्वाभाविक ही था।

अमानुल्ला ने अपने देश में जो नई नीति बरती, उससे लोगों का ध्यान उसकी ओर और भी आकृष्ट होने लगा। यह नीति थी पश्चिमी ढंग पर तेज़ी के साथ सुधार, जिसे अफ़ग़ानिस्तान का "पश्चिमीकरण" कहा जाता है। इस कार्य में उसकी बेगम सुरैय्या ने उसे बहुत सहायता दी। उसने योरप में कुछ शिक्षा पाई थी, और बुर्क़े में स्त्रियों का परदा उसे बहुत अलकसाता था। इस प्रकार एक पिछड़े हुए देश को बहुत कम समय में बदल देने की, यानी अफ़ग़ानों को ढकेलकर और पुराने ढर्रे में से निकालकर नये रास्ते पर डालने की अजीब प्रक्रिया शुरू हुई। मालूम होता है कि अमानुल्ला ने मुस्तफ़ा कमाल पाशा को अपना आदर्श बनाया था, और अनेक बातों में उसकी नक़ल करने की चेष्टा की, यहाँतक कि अफ़ग़ानों को कोट-पतलून और योरपीय टोप भी पहना दिये और उनकी दाढ़ियाँ भी मुँडवा दीं।

अपने राज्य-शासन के शुरू के वर्षों में अमानुल्ला मानों सारी रुकावटों को पार करता चला गया। उसने अनेक अफ़ग़ान लड़कों तथा लड़कियों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए योरप भेजा। उसने अपनी शासन-व्यवस्था में बहुत-से सुधार शुरू किये। उसने अपने पड़ौसी देशों तथा तुर्की के साथ सन्धियाँ करके अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी स्थिति मज़बूत बनाई। सोवियत रूस ने चीन से लगाकर तुर्की तक सारे पूर्वी देशों के साथ जान-बूझकर उदार तथा मित्रतापूर्ण नीति अपनाई थी, और तुर्की तथा ईरान को विदेशी पंजे से मुक्ति दिलाने में रूस की यह मैत्री-भावना और सहायता बड़ा भारी निमित्त-कारण बनी थी। सन् १९१९ ई० में इंग्लैण्ड के साथ अपने अल्प-कालिक युद्ध में अमानुल्ला ने जिस आसानी से अपना उद्देश्य सिद्ध कर लिया था, उसका भी यह महत्त्वपूर्ण निमित्त-कारण रही होगी। बाद के वर्षों में, सोवियत रूस, तुर्की, ईरान तथा अफ़ग़ानिस्तान, इन चार शक्तियों के बीच काफ़ी सन्धियाँ और आपसी कौल-क़रार हुए। इन सबके बीच कोई सम्मिलित सन्धि नहीं हुई, या किन्हीं तीन के बीच भी नहीं हुई। हरएक ने बाक़ी तीन के

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

साथ अलग-अलग और बहुत-कुछ मिलती-जुलती सन्धियाँ की। इस प्रकार मध्य-पूर्व में, इन सब देशों की ताक़त बढ़ानेवाला सन्धियों का जाल-सा बिछ गया।

सन् १९२८ ई० के प्रारम्भ में अमानुल्ला तथा बेगम सुरैय्या अफ़ग़ानिस्तान से योरप की शानदार यात्रा को रवाना हुए। वे रोम, पेरिस, बर्लिन, लन्दन, मास्को, आदि योरप की अनेक राजधानियों में गये और हर जगह उनका जबरदस्त स्वागत हुआ। ये तमाम देश व्यापारिक तथा राजनैतिक प्रयोजनों से अमानुल्ला की सद्-भावना प्राप्त करने को उत्सुक थे। उसे बहुमूल्य उपहार भी दिये गये। पर उसने एक कूटनीतिज्ञ-जैसा व्यवहार किया और किसी बात की हामी नहीं भरी। लौटते समय वह तुर्की और ईरान होता हुआ आया।

उसके लम्बे दौरे ने लोगोंका ध्यान ख़ूब आकृष्ट किया। इस दौरे ने अमानुल्ला की प्रतिष्ठा बढ़ा दी, और दुनिया में अफ़ग़ानिस्तान का महत्त्व भी बहुत बढ़ा दिया। मगर ख़ुद अफ़ग़ानिस्तान में स्थिति अच्छी नहीं थी। अमानुल्ला ने ऐसे बड़े-बड़े परिवर्तनों के बीच में, अपने देश से बाहर जाकर भारी जोखिम उठाई थी, जो जीवन के पुराने ढर्रे को ही उलट-पुलट कर रहे थे। अमानुल्ला की अनुपस्थिति के लम्बे समय में, उसके विरुद्ध क़तार बाँधनेवाले तमाम प्रतिगामी लोग तथा बल धीरे-धीरे सामने आ गये। उसे बदनाम करने के लिए हर तरह की साज़िशें की गईं और अनगिनत अफवाहें फैलाई गईं। इस अमानुल्ला-विरोधी प्रचार के लिए न मालूम कहाँ से रुपये की मानो नदी बही चली आ रही थी। मध्य-पूर्व में तथा योरप में आम-तौर पर यह खयाल किया जाता था और कहा जाता था कि इस प्रचार के पीछे ब्रिटिश ख़ुफ़िया विभाग का हाथ था। इस तरह की बातें कभी सिद्ध नहीं की जा सकतीं, और इस कार्य के साथ अंग्रेज़ों का नाम जोड़ने के लिए कोई निश्चित प्रमाण सामने था भी नहीं, हालाँकि यह कहा जाता है कि अफ़ग़ान बाग़ियों के पास अंग्रेज़ी रायफ़लें थीं। परन्तु यह तो काफ़ी साफ़ है कि अफ़ग़ानिस्तान में अमानुल्ला की ताक़त कम करने में इंग्लैण्ड का स्वार्थ था।

जिस समय इधर अफ़ग़ानिस्तान में अमानुल्ला की जड़ें खोखली की जा रही थीं, उस समय वह योरप की राजधानियों में भव्य स्वागतों के मज़े ले रहा था। वह अपने सुधारों के लिए नये जोश और नये विचारों से भरा हुआ अपने देश को लौटा। वह इन सुधारों को वेग के साथ चालू करने के काम में तुरन्त जुट गया।

अकस्मात सुलगती हुई आग भड़क उठी, और सन् १९२८ ई० के अन्त में बग़ावत की लपटें फैलने लगीं। यह बग़ावत बच्चा सक्क़ा नामक एक मामूली भिश्ती के नेतृत्व में ज़ोर पकड़ गई और सन् १९२९ ई० में पूरी तरह सफल हो गई। अमानुल्ला और उसकी बेगम देश छोड़कर भाग गये और बच्चा सक्क़ा बादशाह बन बैठा। पाँच महीने तक बच्चा सक्क़ा काबुल में राज करता रहा, फिर अमानुल्ला के एक सेनापति तथा मन्त्री नादिर खाँ ने उसे हटा दिया। नादिर खाँ ने अपनी-ही चालें

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

खेलीं, और जब वह पूरी तरह सफल हो गया तो ख़ुद-ही नादिरशाह के नाम से राज-गद्दी पर बैठ गया। देश में बार-बार झगड़े और उपद्रव होते रहे, लेकिन नादिरशाह बादशाह बना रहा[1], क्योंकि इंग्लैण्ड से उसकी मित्रता थी और सहायता भी मिलती थी। ब्रिटिश-सरकार ने उसे बहुत बड़ी रक़म बिना सूद के उधार दी और रायफ़लें तथा गोली-बारूद भी भेजीं।

: ११४ :

पुराने क़र्ज़ चुकाने का नया तरीक़ा

महायुद्ध के बाद हम योरप को, और सच तो यह है कि कुछ हद तक सारी दुनिया को, खलबलाते हुए देग की-सी हालत में पाते हैं। वर्साई की सुलह से या अन्य सन्धियों से अवस्था में कोई सुधार नहीं हुआ। पोलों और चेकों और बाल्टिक क़ौमों के आज़ाद कर दिये जाने पर योरप का जो नया नक़्शा बना, उससे कुछ पुरानी राष्ट्रीय समस्याएँ हल हो गईं। लेकिन साथ-ही आस्ट्रिया के टाइरोल प्रदेश को इटली के अधीन और यूक्रेन के कुछ भाग को पोलैण्ड के अधीन कर दिये जाने के कारण, तथा पूर्वी योरप के अन्य प्रदेशों का असन्तोषजनक बँटवारा किया जाने के कारण, इस नये नक़्शे ने नई-नई राष्ट्रीय समस्याएँ पैदा कर दीं। पोलैण्ड के गलियारे और डैनज़िग की व्यवस्था सबसे ज्यादा निराली और खिजानेवाली थी। रूमानिया ने बैसरेबिया को, जो पहले दक्षिण-पश्चिमी रूस का भाग था, हथिया लिया।

इन प्रादेशिक परिवर्तनों के प्रश्न से भी बड़ा प्रश्न हर्जानों का था—यानी उस रकम का, जिसे पराजित जर्मनी, युद्ध के ख़र्चे तथा युद्ध-जनित हानियों की पूर्ति के रूप में, विजेता मित्र-राष्ट्रों को देने के लिए विवश किया जानेवाला था। वर्साई की सन्धि में इसके लिए कोई निश्चित रक़म तय नहीं की गई थी, परन्तु बाद के सम्मेलनों में इन हर्जानों की जबरदस्त रक़म ६,६०,००,००,००० पौंड निश्चित की गई, जो वार्षिक किश्तों में चुकाई जानेवाली थी। जर्मनी ने विरोध प्रदर्शित किया, पर वह निष्फल हुआ, और तब कोई चारा न देखकर उसने संयुक्त-राज्य अमरीका से उधार लेकर दो-तीन किश्तें अदा कीं। यह उसने वक्त टालने के लिए किया था, क्योंकि उसे सारे प्रश्न पर पुनर्विचार करवाने की आशा थी।

जर्मनी की वित्त-व्यवस्था बहुत जल्दी छिन्न-भिन्न हो गई, और सरकार के

---

[1] नवम्बर १९३३ में नादिरशाह की हत्या कर दी गई। उसके बाद उसका पुत्र ज़हीरशाह गद्दी पर बैठा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पास इतना रुपया नहीं रहा कि वह हर्जानों आदि के विदेशी क़र्ज़े चुका सके या अन्दरूनी खर्चे तक पूरे कर सके। दूसरे देशों की अदायगी के लिए सोना देना पड़ता था। इसलिए जब निश्चित तारीखों पर ये अदायगियाँ न हुईं, तो इक़रार टूट गया। इसलिए उसने अधिकाधिक काग़ज़ी नोट छापने की युक्ति अपनाई। मगर नोट छापने से रुपया पैदा नहीं होता——सिर्फ़ लेन-देन की सहूलियत पैदा होती है। इन नोटों की साख के लिए बैंकों में हमेशा सोने की कुछ राशि जमा रहती है, ताकि नोटों की क़ीमत न गिरने पावे। लेकिन अगर कोई सरकार बेहिसाब काग़ज़ी मुद्रा छापती चली जाय और इसकी परवाह न करे कि बैंकों में कितना सोना जमा है, तो इस मुद्रा की क़ीमत गिर जाना अनिवार्य है। जितने ज्यादा नोट छपते हैं, उतनी-ही उनकी क़ीमत घटती जाती है, और उनके ज़रिये होनेवाला लेन-देन का काम भी उतना-ही कम हो जाता है। यह क्रम मुद्रा-प्रसार कहलाता है। सन् १९२२ व १९२३ ई० में जर्मनी में ठीक यही हुआ। जर्मन-सरकार को अपने खर्चे चलाने के लिए ज्यादा रुपये की ज़रूरत हुई तो उसने ज्यादा नोट छाप डाले। इसका नतीजा यह हुआ कि अन्य सब चीज़ों की क़ीमतें तो बढ़ गईं, पर पौंड[1], डालर[2] या फ़्रैन्क[3] के मुक़ाबले में जर्मनी के मार्क[4] की क़ीमत गिर गई। इसलिए सरकार को मार्क के नोट और छापने पड़े और मार्क की क़ीमत और भी गिरी। यह क्रम कल्पनातीत दर्जे तक पहुँच गया, यहाँतक कि एक डालर या पौंड का मूल्य अरबों काग़ज़ी मार्क हो गया। वास्तव में काग़ज़ी मार्क की कोई क़ीमत ही नहीं रह गई। चिट्ठी पर लगाने के लिए एक टिकट का मूल्य दस लाख काग़ज़ी मार्क हो गया!

पुराना मार्क, जो अब किसी भी प्रयोजन के लिए बेकार हो गया था, मंसूख कर दिया गया, और इसकी जगह "रैण्टन-मार्क" की नई मुद्रा-प्रणाली जारी की गई। इसके साथ मुद्रा-प्रसार का कोई सम्बन्ध नहीं था, और इसका मूल्य वही था जो उतनी क़ीमत के सोने का। इस प्रकार जर्मनी फिर स्थिर मुद्रा-प्रणाली पर लौट आया।

जर्मनी की ये आर्थिक गड़बड़ियाँ महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय परिणामों का कारण हुईं। मित्र-राष्ट्रों को हर्जानों की अदायगी में चूक पड़ गई। इन हर्जानों को मित्र-राष्ट्रीय शक्तियाँ आपस में बाँट लेती थीं और सबसे बड़ा हिस्सा फ्रान्स को मिलता था। रूस अपना हिस्सा नहीं लेता था; अगर उसका कोई दावा था भी, तो उसने त्याग दिया था। जब जर्मनी किश्त अदा करने में चूक गया, तो फ्रान्स और बेल्जियम ने जर्मनी के रूर-क्षेत्र पर फ़ौजी क़ब्ज़ा कर लिया। वर्साई-सन्धि के अन्तर्गत राइनलैण्ड पर मित्र-राष्ट्रों का पहले-ही क़ब्ज़ा हो चुका था। जनवरी, सन् १९२३ ई० में

---

[1] इंग्लैण्ड की मुद्रा।
[2] संयुक्त-राज्य अमरीका की मुद्रा।
[3] फ्रान्स की मुद्रा।
[4] जर्मनी की मुद्रा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फ्रान्स और बेल्जियम ने कुछ और क्षेत्र पर अधिकार कर लिया (इस कार्रवाई में इंग्लैण्ड ने शामिल होने से इन्कार कर दिया था)। रूर का यह क्षेत्र राइनलैण्ड से मिला हुआ है और इसमें कोयले की प्रचुर खानें तथा कारख़ाने हैं। फ्रान्स इस कोयले पर, तथा वहाँ तैयार होनेवाली अन्य वस्तुओं पर क़ब्ज़ा करके अपना रुपया वसूल करना चाहता था। परन्तु यहाँ एक कठिनाई खड़ी हो गई। जर्मन-सरकार ने निष्क्रिय-प्रतिरोध के द्वारा फ्रान्सीसियों के इस क़ब्ज़े का विरोध करने का निश्चय किया, और उसने रूर के खान-मालिकों तथा मज़दूरों से अनुरोध किया कि वे काम बन्द कर दें और फ्रान्स को किसी तरह की मदद न दें। उसने खान-मालिकों तथा उद्योगपतियों को करोड़ों मार्कों की सहायता दी, ताकि काम बन्द करने के कारण उन्हें होनेवाले नुक़सान पूरे हो जायँ। नौ-दस महीने बाद, जो फ्रान्स और जर्मनी दोनों को बहुत महँगे पड़े, जर्मन-सरकार ने निष्क्रिय-प्रतिरोध उठा लिया और इस क्षेत्र की खानों और कारख़ानों को चलाने के काम में फ्रान्सीसियों को सहयोग देना शुरू कर दिया। सन् १९२५ ई० में फ़्रांसीसियों और बेल्जियनों ने रूर छोड़ दिया।

सन् १९२४ ई० से लगाकर अगले कुछ वर्षों तक जर्मनी ने हर्जानों का नियमित रूप से भुगतान किया, लेकिन जब जर्मनी के पास रुपया ही नहीं था और वह दिवालिया हो रहा था, तो यह भुगतान हुआ कैसे? बस, संयुक्त-राज्य अमरीका से क़र्ज़ लेकर हुआ। मित्र-राष्ट्रों (इंग्लैण्ड, फ्रान्स, इटली आदि) को अमरीका का रुपया देना था—वह रुपया जो उन्होंने युद्ध-काल में उधार लिया था; उधर जर्मनी को हर्जानों के रूप में मित्र-राष्ट्रों का रुपया देना था। बस अमरीका ने जर्मनी को रुपया उधार दिया, ताकि जर्मनी मित्र-राष्ट्रों को रुपया अदा कर सके, और मित्र-राष्ट्र यही रुपया अमरीका को दे दें। यह बड़ी ख़ूबसूरत तरकीब थी, और हरएक सन्तुष्ट दिखाई देता था!

क़र्ज़ देने और उधार लेने की इन क्रियाओं का अर्थ यह नहीं था कि सचमुच कोई नक़द रुपया दिया-लिया जाता हो। यह तो सब काग़ज़ी लेन-देन था। अमरीका जर्मनी के नाम एक ख़ास रक़म लिख देता था; जर्मनी इसे मित्र-राष्ट्रों के खाते में उनके नामे डाल देता था; और मित्र-राष्ट्र इसीको फिर अमरीका के खाते में उसके नामे लिख देते थे। असल रुपया तो कहीं जाता-आता नहीं था, सिर्फ़ बही-खातों में कुछ इन्दराज हो जाते थे। अमरीका ऐसा इसलिए करता था कि इन देशों को किसी तरह अपनी गाड़ी चलाने में मदद मिल जाय और वे दिवालिया होने से बच जायँ। लेकिन कुछ वर्षों बाद अमरीका निरन्तर उधार देने की इस नीति से उकता गया, और उसने इसे ख़तम कर दिया। बस, हर्जानों और क़र्ज़ों का सारा ढाँचा तुरन्त-ही भहराकर गिर पड़ा, और अदायगियाँ रुक गईं, और योरप के सारे राष्ट्र तथा अमरीका दलदल में फँस गये।

इस प्रकार हर्जानों की समस्या महायुद्ध के बाद लगभग बारह वर्ष तक योरप पर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

छाई रही। इसके साथ-ही युद्ध के क़र्ज़ों का सवाल था—यानी जर्मनी के अलावा अन्य देशों के क़र्ज़ों का।

हर्जानों की-ही तरह युद्ध-ऋणों का भी किसी तरह चुकाया जाना बहुत मुश्किल था। अन्तर्राष्ट्रीय क़र्ज़े या तो सोना देकर अदा किये जा सकते हैं, या माल देकर, या उपयोगी साधन (जैसे माल लाना-ले-जाना, जहाज़रानी तथा अन्य साधन) देकर। इन विपुल धन राशियों का सोने के रूप में अदा किया जाना असम्भव था—इतना सोना प्राप्त ही नहीं हो सकता था। और माल तथा साधनों के रूप में भारी हर्जानों तथा क़र्ज़ों दोनों की अदायगी क़रीब-क़रीब असम्भव हो गई थी, क्योंकि अमरीका ने तथा योरप के देशों ने भी तट-करों के प्रतिबन्ध लगाकर विदेशी माल आना रोक दिया था। इससे एक असम्भव स्थिति पैदा हो गई, और यही असली कठिनाई थी। मगर फिर भी कोई देश न तो तट-करों के प्रतिबन्ध कम करने को तैयार था, और न अपने क़र्ज़े की रक़म के बदले में माल लेने को तैयार था, क्योंकि इससे देशी उद्योगों को हानि पहुँचने की सम्भावना थी। यह एक विचित्र और खोटा चक्कर था।

: ११५ :

मुसोलिनी तथा इटली में फ़ासीवाद

महायुद्ध के शुरू होने से पूर्व-ही इटली घोर आर्थिक मुसीबत में फँसा हुआ था। सन् १९११-१२ ई० में तुर्की के साथ उसके युद्ध का अन्त उसकी विजय के साथ हुआ था और उत्तरी अफरीका में त्रिपोली पर उसका अधिकार होने से उसके साम्राज्यवादी लोगों को बड़ी खुशी हुई थी। मगर इस छोटे-से युद्ध से उसे अन्दरूनी तौर पर ज्यादा लाभ नहीं हुआ था, और न इससे उसकी आर्थिक अवस्था ही सुधरी थी। बल्कि हालत और भी बिगड़ती गई और, सन् १९१४ ई० में, जबकि महायुद्ध शुरू होने-ही वाला था, इटली क्रान्ति के दरवाज़े पर खड़ा दिखाई दे रहा था। इसके बाद महायुद्ध छिड़ गया। इटली ने अपने जर्मन मित्रों का साथ देने से इन्कार कर दिया, और दोनों पक्षों को दबाकर उनसे रियायतें प्राप्त करने के लिए अपनी भौगोलिक स्थिति से लाभ उठाने का प्रयत्न किया। मित्र-राष्ट्र, यानी इंग्लैण्ड और फ्रान्स, ऊँची रिश्वत दे सकते थे—तुरन्त नक़दी के रूप में भी और प्रदेश देने के वादे के रूप में भी—इसलिए मई, सन् १९१५ ई० में इटली मित्र-राष्ट्रों की ओर से युद्ध में शरीक हो गया।

युद्ध के बाद इटली में स्थिति बहुत बिगड़ी हुई थी, और यह देश अन्य सब

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मित्र-राष्ट्रीय देशों से ज्यादा शक्तिहीन हो गया था। आर्थिक व्यवस्था टूटती हुई प्रतीत हो रही थी, और समाजवाद तथा साम्यवाद के पक्षपातियों की संख्या बढ़ रही थी। रूसी बोल्शेविकों का उदाहरण तो उनके सामने था ही। एक ओर तो कारखानों के मज़दूर थे, जो आर्थिक परिस्थितियों के कष्ट सह रहे थे, दूसरी ओर सेनाओं के तोड़े जाने से निकले सिपाहियों की बड़ी संख्या थी, जो प्रायः बेकार थे। गड़बड़ियाँ फैलने लगीं, और मध्य-वर्गी नेताओं ने मज़दूरों की बढ़ती हुई ताक़त का मुकाबला करने के लिए इन सिपाहियों को संगठित करने की कोशिश की। सन् १९२० ई० के ग्रीष्म-काल में संकट उपस्थित हो गया। धातु का काम करने-वाले मज़दूरों के बड़े संघ ने, जिसके लगभग पाँच लाख सदस्य थे, ऊँची मजूरियों की माँग की। यह माँग ठुकरा दी गई। और तब मज़दूरों ने एक नई तरह की हड़ताल का निश्चय किया, जिसका नाम "काम-रोक हड़ताल" रखा गया। इस हड़ताल का अभिप्राय यह था कि मज़दूर लोग कारखानों में तो जाते थे, पर काम करने के बजाय ठाली बैठे रहते थे, बल्कि काम में रुकावटें डालते थे। कारखानेदारों ने इस रुकावटी हड़ताल के जवाब में ताला-बन्दी का आश्रय लिया, यानी उन्होंने कारख़ानों में ताले डाल दिये। इसपर मज़दूरों ने कारखानों पर ही अधिकार कर लिया और उन्हें समाजवादी ढंग पर चलाने का प्रयत्न किया।

उस समय इटली में समाजवादी दल का बहुत जोर था। मज़दूर संघों के अलावा तीन हज़ार म्यूनिसिपल कमेटियों की बाग-डोर भी उसके हाथों में थी, और पार्लमिण्ट में उसके सदस्यों की संख्या डेढ़-सौ, यानी सदस्यों की कुल संख्या की एक-तिहाई, थी। ऐसा जोरदार और जड़-जमा हुआ दल, जिसके पास जायदाद हो और जिसके हाथ में बहुत-से सरकारी ओहदे हों, कभी क्रान्तिकारी नहीं हुआ करता। मगर ऐसा होने पर भी इस दल ने, अपने नरम लोगों समेत मज़दूरों द्वारा कारख़ानों पर क़ब्ज़ा किये जाने की कार्रवाई को स्वीकृति दे दी। पर स्वीकृति देने के सिवा इसने और कुछ नहीं किया। वह पीछे लौटना नहीं चाहता था, लेकिन उसमें आगे बढ़ने की भी हिम्मत नहीं थी। नतीजा यह हुआ कि वे कुचल दिये गये।

इससे मालिक-वर्गों का हौसला बहुत बढ़ गया। उन्होंने मज़दूरों तथा उनके नेताओं के बल को तोल लिया था और देख लिया था कि वह उतना नहीं था जितना कि वे उसे समझते थे। इसलिए अब उन्होंने श्रमजीवी-आन्दोलन तथा समाजवादी दल को कुचलने की एक बदला लेनेवाली योजना बनाई। उन्होंने अपनी सहायता के लिए स्वयंसेवकों के कुछ गिरोहों की ओर विशेष ध्यान दिया, जिन्हें सन् १९१० ई० में, बेनितो मुसोलिनी ने सेना से निकले हुए सिपाहियों को जमा करके बनाया था। ये "लड़ाकू गिरोह"[१] कहलाते थे, और इनका मुख्य काम यह

---

[१] फ़ासि दि कॉम्बैतिमैन्ती, फ़ासिज्म यानी फ़ासीवाद शब्द इसीसे निकला है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

था कि जब मौक़ा लगे, तब समाजवादियों, वामपक्षियों तथा इनकी संस्थाओं पर आक्रमण करना। मसलन, कभी वे किसी समाजवादी अख़बार के छापेख़ाने को नष्ट कर देते थे, कभी किसी ऐसी म्यूनिसिपल संस्था या सहकारी समिति पर आक्रमण करते थे, जो समाजवादियों या वामपक्षियों के हाथ में होती थी। बड़े-बड़े उद्योगपति तथा आमतौर पर उच्च वर्गीय बुर्जुआ लोग, मज़दूर-वर्ग तथा समाजवाद के विरुद्ध अपनी लड़ाई में, इन "लड़ाकू गिरोहों" को आश्रय तथा धन की सहायता देते थे। सरकार तक भी इनकी ओर आँखें मूँदे रहती थी, क्योंकि वह समाजवादी दल की ताक़त को नष्ट करना चाहती थी।

इन लड़ाकू गिरोहों या "फ़ासियों" को संगठित करनेवाला यह बेनितो मुसोलिनी कौन था? उस समय यह नौजवान था (इसका जन्म सन् १८८३ ई० में हुआ था)[१] और इसका जीवन बहुविध तथा उछल-कूद-भरा रहा था। इसका पिता लोहार था और समाजवादी था। इसलिए बेनितो का लालन-पालन समाजवादी वातावरण में हुआ। जवानी के दिनों में यह सरगर्म आन्दोलनकारी था, और अपने क्रान्तिकारी प्रचार-कार्य के कारण स्वीज़रलैण्ड के कई प्रान्तों से निकाला गया था। यह नरम समाजवादी नेताओं को उनकी नरमी के लिए बुरी तरह फटकारता था। राज्य के विरुद्ध बमों के उपयोग का तथा अन्य उपायों का यह खुला समर्थन करता था। तुर्की के साथ इटली के युद्ध के समय अधिकांश समाजवादी नेताओं ने युद्ध का समर्थन किया था। मगर मुसोलिनी का ढंग दूसरा था——इसने युद्ध का विरोध किया, और कुछ हिंसात्मक कार्रवाइयों के कारण उसे कुछ महीनों की जेल भी भुगतनी पड़ी थी। इसने नरम समाजवादी नेताओं की, युद्ध का समर्थन करने के लिए, कटु आलोचना की, और उन्हें समाजवादी दल से निकलवा कर रहा। यह मिलान से निकलनेवाले समाजवादी दैनिक "अवन्ती" का सम्पादक बन गया और मज़दूरों को प्रति-दिन यह सलाह देता रहा कि हिंसा का मुकाबला हिंसा से करें। नरम मार्क्सवादी नेताओं ने हिंसा को इस प्रकार उत्तेजना दी जाने पर घोर आपत्ति की।

इतने-ही में महायुद्ध शुरू हो गया। कुछ महीनों तक तो मुसोलिनी ने युद्ध का विरोध किया और तटस्थता के पक्ष में प्रचार किया। मगर फिर इसने अपने विचार यकायक बदल दिये, या विचारों को व्यक्त करने का ढंग बदल दिया, और अपना यह मत उद्घोषित कर दिया कि इटली को मित्र-राष्ट्रों के साथ शरीक हो जाना चाहिए। यह समाजवादी अख़बार को छोड़ बैठा, और एक नये अख़बार का सम्पादन करने लगा, जिसने इस नई नीति का प्रचार किया। इसे समाजवादी दल

---

[१] द्वितीय महायुद्ध के बाद, अप्रैल, १९४५ ई० में, मुसोलिनी को छापामार सैनिकों ने गोली से उड़ा दिया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से निकाल दिया गया। बाद में यह एक साधारण सिपाही की तरह सेना में भरती हो गया, इटली के मोर्चे पर लड़ा, और लड़ाई में घायल हुआ।

युद्ध के बाद मुसोलिनी ने अपने-आपको समाजवादी कहना बन्द कर दिया। वह न इधर का रहा, न उधर का, क्योंकि उसका पुराना दल उससे नफ़रत करता था और श्रमजीवी-वर्गों में उसका कोई असर नहीं था। वह शान्तिवाद तथा समाजवाद की निन्दा करने लगा, और बुर्जुआ राज्य की भी। उसने हर तरह के राज्य की निन्दा की, और अपने-आपको "व्यक्तिवादी" घोषित करके अराजकता की प्रशन्सा की। यह सब बातें उसीके लिखे अनुसार हैं। उसने यह काम किया कि मार्च, सन् १९१९ ई० में फ़ासीवाद की शुरुआत की, और अपने लड़ाकू दस्तों में बेकार सिपाहियों की भरती शुरू कर दी। इन गिरोहों का धर्म हिंसा था, और चूँकि सरकार कभी इनके मामले में हस्तक्षेप नहीं करती थी, इसलिए इनके हौसले और इनकी उग्रता बढ़ती गई। शहरों में कभी-कभी श्रमजीवी-वर्गों की इनके साथ बाक़ायदा मुठभेड़ें होती थीं और वे इन्हें खदेड़ देते थे। मगर समाजवादी नेता मज़दूरों के लड़ाकू जोश का विरोध करते थे और उन्हें सलाह देते थे कि फ़ासी-आतंक का मुकाबला करने के लिए शान्ति तथा धैर्य-पूर्ण सन्तोष से काम लें। उन्हें आशा थी कि इस प्रकार फ़ासीवाद अपने-आप पस्त हो जायगा। लेकिन इसके विपरीत फ़ासीवादी गिरोह तो ज़ोर पकड़ते गये, क्योंकि इन्हें धनवान लोगों से धन की सहायता मिलती थी और सरकार ने इनके मामलों में हस्तक्षेप करने से इन्कार कर दिया था। उधर, जन-साधारण अपनी प्रतिरोध की सारी भावना खो चुके थे।

मुसोलिनी के नेतृत्त्व में फ़ासीवादियों ने दो परस्पर-विरोधी भावनाओं का मेल साध लिया। सबसे पहले और सबसे आगे तो वे समाजवाद तथा साम्यवाद के शत्रु थे, और इस कारण उन्हें सम्पत्तिधारी वर्गों का समर्थन प्राप्त हो गया। परन्तु मुसोलिनी तो पुराना समाजवादी आन्दोलनकारी और क्रान्तिकारी था, और उसकी जबान पर उन लोकप्रिय पूंजीपति-विरोधी नारों की भरमार थी, जिन्हें अनेक निर्धन-वर्ग ख़ूब पसन्द करते थे। उसने आन्दोलन का शास्त्र भी इस धन्धे के विशेषज्ञ साम्यवादियों से बहुत-कुछ सीख लिया था। इसलिए फ़ासीवाद एक विचित्र मिश्रण बन गया, और उसकी अलग-अलग तरह से व्याख्या की जा सकती थी। तात्विक रूप से तो यह एक पूंजीवादी आन्दोलन था, पर वह अनेक ऐसे नारे लगाता था, जो पूंजीवाद के लिए ख़तरनाक थे। इस प्रकार इसने अपनी मण्डली में एक रंग-बिरंगी भीड़ जमा कर ली। मध्यम-वर्गों के लोग, और ख़ासकर निम्न मध्यम-वर्ग के बेकार लोग, इसके आधार-स्तम्भ थे। ज्यों-ज्यों इसकी शक्ति बढ़ती गई, त्यों-त्यों बेकार तथा बे-हुनर मज़दूर लोग, जो मज़दूर संघों में संगठित नहीं थे, हवा के साथ बहकर इसमें आने लगे, क्योंकि सफलता से बढ़कर सफल बनानेवाली चीज़ कोई नहीं होती। फ़ासीवादियों ने दूकानदारों को कीमतें कम करने के लिए जबरदस्ती

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मजबूर किया, और इस प्रकार ग़रीबों की सहानुभूति भी प्राप्त कर ली। वहुत-से ले-भग्गू भी फ़ासी झंडों के नीचे जमा हो गये।

बस, जबकि समाजवादी नेता संशय में पड़े हुए थे और आगा-पीछा सोचते थे, और आपस में लड़ते-झगड़ते थे, और उनके दल में फूट पड़ रही थी, फ़ासीवादियों की ताकत बढ़ रही थी। नियमित सेना फ़ासीवादियों की ओर बहुत झुकी हुई थी और मुसोलिनी ने सेनापतियों को अपने पक्ष में मिला लिया था। मुसोलिनी ने विविध तथा परस्पर विरोधी तत्त्वों को अपनी ओर मिला लिया और अपने दल के हर गिरोह के मन में यह खयाल जमा दिया कि फ़ासीवाद का उद्देश्य खासतौर पर उसीका हित-साधन करना है। इस प्रकार मुसोलिनी एक-के-विरुद्ध-दूसरे को चमका देने की कोशिश करता रहता था। एक दिन वह धनवानों के पक्ष में बोलता, तो दूसरे दिन ग़रीबों के पक्ष में। परन्तु मूलतः वह सम्पत्तिधारी वर्गों का हामी था, जो उसे धन की सहायता देते थे और जो मज़दूर-वर्ग तथा समाजवाद की शक्ति को नष्ट करने पर तुले हुए थे, क्योंकि इनकी ओर से उन्हें बहुत दिनों से खतरा था।

आख़िर अक्तूबर, सन् १९२२ ई० में नियमित सेना के सेनापतियों द्वारा संचालित इन फ़ासीवादियों के दस्तों ने रोम पर चढ़ाई कर दी। प्रधान मन्त्री ने, जो अबतक फ़ासीवादियों की कार्रवाइयों को दर-गुज़र करता रहा था, फ़ौजी-कानून की घोषणा कर दी। मगर अब समय निकल चुका था और अब ख़ुद बादशाह तक मुसोलिनी का पक्षपाती था। उसने (बादशाह ने) फ़ौजी शासन की आज्ञप्ति को रद्द कर दिया, अपने प्रधान मन्त्री का त्याग-पत्र मंजूर कर लिया, और नया प्रधान मन्त्री बनने के लिए तथा अपना मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए मुसोलिनी को आमन्त्रित किया। ३० अक्तूबर, सन् १९२२ ई० को फ़ासीवादी सेना रोम पहुँच गई, और उसी दिन मुसोलिनी प्रधानमन्त्री बनने के लिए रेल द्वारा मिलान से आ गया।

यद्यपि फ़ासीवाद के कोई सिद्धान्त या आदर्श नहीं थे, पर उसकी हिंसा तथा आतंक की निश्चित कार्य-शैली थी, और भूत-काल के बारे में उसका एक खास दृष्टिकोण था, जिससे हमको उसे कुछ समझने में सहायता मिलती है। उसका चिह्न रोम का एक पुराना साम्राज्यशाही चिह्न था, जो रोम के सम्राटों तथा मजिस्ट्रेटों के आगे-आगे चला करता था। यह छड़ियों का एक बंडल होता था जिसके बीच में कुल्हाड़ी रहती थी।[1] फ़ासीवादी-संगठन इसी पुराने रोमन नमूने के आधार पर राचा गया था, यहाँतक कि नाम भी पुराने-ही काम में लाये गये थे। फ़ासी सलाम[2] भी

---

[1] ये छड़ियाँ 'इल फ़ासेस' कहलाती थीं, और 'फ़ास्सिज़्मो' शब्द इसीसे बना है।
[2] इसे फ़ासिस्ता कहते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुराना रोमन सलाम है, जिसमें हाथ को उठाकर एक ओर लम्बा कर दिया जाता है। इस प्रकार फ़ासीवादी लोग प्रेरणा के लिए साम्राज्यशाही रोम की ओर पीछे नज़र डालते थे। उनका दृष्टिकोण भी साम्राज्यशाही था। उनका गुरुमन्त्र था "तर्क-वितर्क नहीं, केवल आज्ञापालन।" उनका नेता मुसोलिनी "इल दयूसे" यानी तानाशाह था। अपनी वर्दी के लिए उन्होंने काला कुरता अपनाया, और इसलिए उनका नाम "काले कुरतेवाले" पड़ गया।

सत्ता पर सचमुच अधिकार हो जाने पर भी, तथा पुलिस और राज्यतन्त्र की बाग-डोर हाथों में होने पर भी, फ़ासीवादियों का अपनी ग़ैर-क़ानूनी हिंसा जारी रखना आश्चर्य की बात थी। मगर उन्होंने हिंसा जारी रखी, और उनके सामने मैदान तो खाली पड़ा ही था—क्योंकि राज्य की पुलिस तो हस्तक्षेप करती ही कैसे ? हत्याएँ की गईं, यन्त्रणाएँ दी गईं, मार-पीट की गई, सम्पत्ति नष्ट की गई और इन फ़ासीवादियों ने एक नये तरीके का व्यापक रूप से प्रयोग किया। वह यह था कि जो-कोई उनका विरोध करने का दुस्साहस करता, उसे अरण्डी के तेल की सेरों मात्राएँ पिला दी जाती थीं।

मुसोलिनी इटली का पूर्ण-सत्ताधारी तानाशाह बन बैठा। वह केवल प्रधान मन्त्री ही नहीं था, बल्कि परराष्ट्र-विभाग, गृह-विभाग, उपनिवेश-विभाग, युद्ध-विभाग, नौ-सेना-विभाग, हवाई-सेना-विभाग और श्रम-विभाग का भी मन्त्री था! एक तरह से वह पूरा मन्त्रिमण्डल था। बेचारा बादशाह कोने में जा बैठा और उसका नाम भी सुनाई नहीं देता था। पार्लमेण्ट भी धीरे-धीरे एक तरफ धकेल दी गई और अपने रूप की हल्की छाया-मात्र रह गई। कार्यक्षेत्र पर "फ़ासिस्त ग्राण्ड कौन्सिल" छाई हुई थी और इस कौन्सिल पर मुसोलिनी छाया हुआ था।

फ़ासीवादी हिंसा का ग़ैर-क़ानूनी स्वरूप क़रीब एक साल तो ख़ूब तेज़ रहा और बाद में सन् १९२६ ई० तक कुछ मंद रहा। सन् १९२६ ई० में राजनैतिक विरोधियों का मुक़ाबला करने के लिए "असाधारण क़ानून" पास किये गये, जिनके द्वारा राज्य को जबरदस्त अधिकार मिल गये और ग़ैर-क़ानूनी कार्रवाइयों की आवश्यकता नहीं रह गई। इन "असाधारण क़ानूनों" के अन्तर्गत अनगिनती लोगों को सज़ाएँ दी जाती रहीं, उन्हें जेलों में डाला जाता रहा तथा निर्वासित किया जाता रहा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: ११६ :

चीन में क्रान्ति और प्रति-क्रान्ति

अब हम सुदूर-पूर्व, चीन और जापान, चलते हैं। चीन के बारे में मैंने इस कम-उम्र गणराज्य की अनेक कठिनाइयों का उल्लेख किया था। यह देश छिन्न-भिन्न होता दिखाई दे रहा था और यहाँ बे-उसूले सैनिक-सरदार, तूशन और महा-तूशन ज़ोर पकड़ रहे थे। इन तूशनों के कोई सिद्धान्त नहीं थे; हरएक का उद्देश्य अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति करना था और निरन्तर चलनेवाले छोटे-छोटे गृह-युद्धों में ये लोग अक्सर कभी एक पक्ष की ओर हो जाते थे कभी दूसरे की ओर। साथ-ही ये अपना तथा अपनी सेनाओं का ख़र्च बेचारे दुःखी किसान-वर्ग से वसूल करते थे।

सारे देश पर विदेशी साम्राज्यशाही शक्तियों के आर्थिक स्वार्थ छाये हुए थे, जो शांघाई, हांगकांग, आदि बड़े-बड़े बन्दरगाहों में जमी बैठी थीं, और चीन के सारे विदेशी व्यापार पर अधिकार किये हुए थीं। डा० सन ने अपने देश के औद्योगिक विकास के लिए तथा अपने देश की भीतरी व्यवस्था ठीक करने के लिए विदेशों की सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया। उसे अमरीका तथा इंग्लैण्ड से ख़ासतौर पर सहायता की आशा थी, पर उसकी सहायता के लिए न तो ये दोनों सामने आये, न अन्य कोई साम्राज्यशाही शक्ति। इन सबका स्वार्थ तो चीन के शोषण में था—उसकी भलाई या बल-वृद्धि में नहीं। तब सन् १९२४ ई० में डा० सन ने सोवियत रूस की ओर निगाह डाली।

चीन के विद्यार्थियों तथा बुद्धिजीवी-वर्गों में साम्यवाद गुप्त रूप से और तेज़ी के साथ ज़ोर पकड़ रहा था। सन् १९२० ई० में यहाँ साम्यवादी दल स्थापित किया गया था, और वह गुप्त संगठन के रूप में काम करता था, क्योंकि विभिन्न सरकारों ने उसे खुल्लम-खुल्ला काम करने की अनुमति नहीं दी थी। डा० सन तो साम्यवाद से कोसों दूर था—वह नरम समाजवादी था, जैसाकि उसकी पुस्तक "जनता के तीन सिद्धान्त" से प्रगट होता है। परन्तु चीन तथा अन्य पूर्वी देशों के प्रति सोवियत रूस के उदार तथा खरे व्यवहार का उसपर अच्छा प्रभाव पड़ा, और उसने रूस के साथ मैत्री के सम्बन्ध स्थापित कर लिये। उसने कुछ रूसी सलाहकारों को वेतन देकर अपने यहाँ रखा। इनमें एक बहुत योग्य बोल्शेविक, बोरोदिन, के नाम से लोग सबसे ज्यादा परिचित हैं। बोरोदिन कैण्टन की कुओ-मिन-तांग का बल बढ़ानेवाला स्तम्भ बन गया, और उसने परिश्रम करके राष्ट्रीय दल के ऐसे बलशाली संगठन का निर्माण किया, जिसके पीछे जन-समूह का सहारा था। उसने बिल्कुल रूसी पद्धति पर कार्य करने की कोशिश नहीं की। उसने दल का राष्ट्रीय आधार कायम रखा; पर अब साम्यवादियों को कुओ-मिन-तांग के सदस्यों में भरती

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चीन की राज्यक्रान्ति

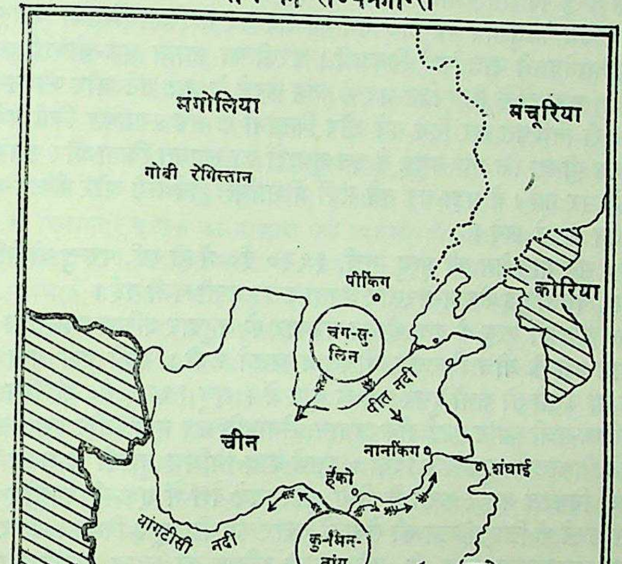

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किया जाने लगा। इस प्रकार राष्ट्रीय कुओ-मिन-तांग तथा साम्यवादी दल के बीच एक तरह का अनौपचारिक गठ-बन्धन हो गया।

बोरोदिन के सुझाव पर डा० सन की सरकार ने किसानों तथा मज़दूरों को राहत पहुँचानेवाली आज्ञप्तिएँ निकालीं। धरती का लगान एक-चौथाई कम कर दिया गया, मज़दूरों के लिए दिन-भर में काम करने के आठ घंटे और जीवन-निर्वाह योग्य मजूरी निश्चित कर दिये गये और किसानों के संघ स्थापित किये गये। यह स्वाभाविक ही था कि जन-समूह ने इन सुधारों का स्वागत किया और उनके हृदय उत्साह से भर गये। वे धड़ा-धड़ नये संघों में शामिल होने लगे और कैण्टन-सरकार का समर्थन करने लगे।

डा० सन यात सेन की मृत्यु मार्च, १९२० ई० में हो गई, परन्तु बोरोदिन की सलाह पर चलती हुई कैण्टन-सरकार अपना बल बढ़ाती चली गई।

डा० सन की मृत्यु के बाद कैण्टन-सरकार के अनुदार दक्षिण-पक्ष तथा प्रगतिशील वाम-पक्ष के बीच निरन्तर खींचतान चलने लगी। कभी एक पक्ष के हाथ में सत्ता आ जाती तो कभी दूसरे पक्ष के हाथ में। सन् १९२६ ई० के बीच के लगभग, दक्षिण-पक्षी च्यांग काई शेक प्रधान सेनापति बन गया, और इसने साम्यवादियों को निकालना शुरू कर दिया। इसके बाद विभिन्न तूशनों से लड़ने के लिए तथा उन्हें निकाल बाहर करने के लिए और सारे देश में एक-ही राष्ट्रीय सरकार स्थापित करने के लिए कैण्टन की सेना ने उत्तर की ओर कूच किया। उत्तर का यह कूच एक असाधारण चीज़ थी, और सारी दुनिया का ध्यान इसकी ओर शीघ्र ही आकर्षित हो गया। असली लड़ाई ज़रा भी नहीं हुई, और दक्षिण की सेना विजय-पर-विजय प्राप्त करती हुई तेज़ी के साथ आगे बढ़ती गई। उत्तर चीन में फूट तो थी, पर दक्षिणवालों की असली ताक़त किसानों तथा मज़दूरों में उनकी लोकप्रियता के कारण थी। प्रचारकों और आन्दोलनकारियों की छोटी-सी टुकड़ी सेना के आगे-आगे चलती थी, जो किसानों तथा मज़दूरों के संघ स्थापित करती जाती थी और उन्हें समझाती थी कि कैण्टन-सरकार के अधीन उन्हें क्या-क्या फायदे मिलनेवाले हैं। इसलिए शहर-शहर और गाँव-गाँव में इन आगे बढ़नेवाली सेनाओं का स्वागत होता था और उन्हें हर तरह की सहायता दी जाती थी। कैण्टन की सेनाओं के विरुद्ध जो सिपाही भेजे जाते थे, वे लड़ते ही नहीं थे, और अक्सर सारे सामान के साथ उन्हींमें जा मिलते थे। सन् १९२६ ई० के वर्ष के समाप्त होते-होते राष्ट्रवादियों ने आधे चीन को पार कर लिया था और याँगत्सी नदी पर हैन्काउ के महान् शहर पर क़ब्ज़ा कर लिया था। वे अपनी राजधानी को कैण्टन से उठाकर हैन्काउ ले आये और इसका नाम बदलकर वूहान रख दिया। उत्तर के लड़ाकू सरदारों को परास्त कर दिया गया और खदेड़ दिया गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सन् १९२७ ई० के प्रारम्भ में जब राष्ट्रवादियों ने हैन्काउ में अंग्रेज़ी रियायती इलाक़े पर क़ब्ज़ा करने की कोशिश की, तो चीनियों तथा अंग्रेज़ों के बीच झगड़ा पैदा हो गया : साधारण अवस्था में चीनियों के ऐसे आक्रमक रवैय्ये के फल-स्वरूप युद्ध छिड़ गया होता, और ब्रिटिश-सरकार ने उन्हें कुचल डाला होता, और उनपर आतंक जमाकर उनसे क्षतिपूर्तियाँ और अतिरिक्त रियायतें वसूल कर ली होतीं। लेकिन अब ज़माना बदल गया था, और नया चीन उनके मुक़ाबले में खड़ा था। बस, ब्रिटिश-नीति में भी तुरन्त ही, और चीन के इतिहास में पहली बार, परिवर्तन पैदा हो गया, और चीन के प्रति उसका रुख़ मुलायम पड़ गया। हैन्काउ के रियायती इलाक़े का मामला एक मामूली-सी चीज़ था और आसानी से तय हो सकता था। मगर हेन्काउ के नज़दीक, और राष्ट्रवादियों की प्रगति के मार्ग में, शांघाई का महान् बन्दरगाह पड़ता था, जो चीन में सबसे बड़ा और सबसे अधिक सम्पन्न विदेशी रियायती इलाक़ा था। ख़ुद शांघाई शहर, या यों कहो कि रियायती इलाक़ा, विदेशियों के क़ब्ज़े में था, और चीनी-सरकार के अधिकार से क़रीब-क़रीब बाहर था। इसलिए जब राष्ट्रवादी सेनाएँ शांघाई के नज़दीक जा पहुँची, तो वहाँ के इन विदेशियों तथा उनकी सरकारों में बहुत चिन्ता पैदा हो गई, और उनके जंगी जहाज़ तथा सैनिक तुरन्त इस बन्दरगाह पर पहुँच गये। ब्रिटिश-सरकार ने तो जनवरी, सन् १९२७ ई० के प्रारम्भ में हमला करनेवाला एक बड़ा सैन्य-बल ख़ासतौर पर शांघाई भेजा, जिसमें कुछ भारतीय सैनिक भी थे। राष्ट्रवादी सरकार ने हैंन्काउ या वूहान में अड्डा जमा लिया था। उसके सामने एक कठिन समस्या उपस्थित हो गई—आगे बढ़ा जाय या नहीं, और शांघाई पर अधिकार किया जाय या नहीं। बोरोदीन ने सावधानी बरतने की और स्थिति को सुदृढ़ बनाने की सलाह दी। उसकी राय थी कि राष्ट्रवादियों को शांघाई पर हाथ नहीं डालना चाहिए और चीन का जो दक्षिणी आधा हिस्सा उनके अधिकार में आ चुका था, उसमें अपनी स्थिति मज़बूत कर लेनी चाहिए और उत्तर में प्रचार-कार्य के द्वारा ज़मीन तैयार करनी चाहिए। उसे आशा थी कि बहुत जल्दी, साल-डेढ़-साल में ही, समूचा चीन राष्ट्रवादियों की प्रगति का स्वागत करने को तत्पर हो जायगा। शांघाई पर अधिकार करने का, पेकिंग पर चढ़ाई करने का और साम्राज्यशाही शक्तियों का मुक़ाबला करने का उपयुक्त समय तभी आवेगा। क्रान्तिकारी बोरोदीन ने यह सावधानी-भरी सलाह इस कारण दी थी कि उसे परिस्थिति पर प्रभाव डालनेवाले विभिन्न निमित्त-कारणों को आँकने का अनुभव था। मगर कुओ-मिन-तांग के दक्षिणपक्षी नेताओं ने, और विशेषकर उसके प्रधान सेनापति च्यांग काई शेक ने, शांघाई पर चढ़ाई करने की हठ की।

बस, उन्होंने शांघाई पर चढ़ाई कर दी और २२ मार्च, सन् १९२७ ई० को शहर का चीनी भाग उनके हाथ में आ गया—विदेशी रियायती इलाक़ों पर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उन्होंने हमला नहीं किया। शांघाई का यह पतन भी अधिक लड़ाई लड़े विना ही हो गया। मुक़ाबला करनेवाले सनिक राष्ट्रवादियों की ओर जा मिले, और राष्ट्रवादियों का समर्थन करने के लिए शहर के मज़दूरों ने जो आम हड़ताल की, उससे शांघाई की तत्कालीन सरकार का पतन पूरा हो गया। दो दिन बाद नानकिंग के महान् नगर पर भी राष्ट्रवादियों ने अधिकार कर लिया। और तब कुओ-मिन-तांग के वाम-पक्ष तथा दक्षिण-पक्ष के बीच वह फूट पैदा हुई, जिससे राष्ट्रवादियों की शानदार सफलता धूल में मिल गई और चीन पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। क्रान्ति का अन्त हो गया, और अब प्रति-क्रान्ति शुरू हो गई।

च्यांग काई शेक ने हैन्काउ-सरकार के अनेक सदस्यों की मर्ज़ी के खिलाफ़ शांघाई पर चढ़ाई की थी। अब दोनों दल एक-दूसरे के विरुद्ध साजिशें करने लगे। हैन्काउ-वालों ने सेना में च्यांग के प्रभाव की जड़ खोदने की और इस प्रकार उससे पिंड छुड़ाने की कोशिशें कीं; उधर च्यांग ने नानकिंग में मुकाबले की दूसरी सरकार स्थापित कर ली। ये सब घटनाएँ शांघाई पर क़ब्ज़ा होने के कुछ-ही दिनों के भीतर हो गईं। हैन्काउ की अपनी-ही सरकार से बग़ावत करके च्यांग ने अब साम्यवादियों, वामपक्षियों और मज़दूरों संघों के कार्यकर्त्ताओं के विरुद्ध जंग छेड़ दी। जिन कार्यकर्त्ताओं की बदौलत उसने शांघाई को आसानी से जीत लिया था और उन्होंने वहाँ उसका बड़े हर्ष से स्वागत किया था, उन्हींको अब उसने बीन-बीनकर कुचल डाला। बहुत लोगों को गोलियों से भून दिया गया, बहुतों के सिर उड़ा दिये गये, हज़ारों को गिरफ्तार करके जेलों में डाल दिया गया। शांघाई में राष्ट्रवादी जिस आज़ादी को लाये थे, उसीको उन्होंने बहुत जल्दी ख़ूनी आतंक में बदल दिया।

इस प्रकार, एक-दो महीने के भीतर चीन की सारी तस्वीर ही बदल गई। जो कुओ-मिन-तांग चीनी राष्ट्र का प्रतिनिधान करनेवाला संगठित और विजयोन्मत्त दल था और सफलता की उमंग में विदेशी शक्तियों के मुक़ाबले में खड़ा था, वही अब टूटकर आपस में युद्ध करनेवाले गिरोहों में बँट गया था। और जो मज़दूर और किसान उसकी जान और उसका बल बने हुए थे, उन्हींको अब सताया गया और ढूँढ़-ढूँढ़कर पकड़ लिया गया। शांघाई के विदेशी स्वार्थों ने फिर सुख की साँस ली और नवाज़िश के साथ एक गिरोह के विरुद्ध दूसरे को सहायता प्रदान की। मजदूरों को चारा डालकर फँसाने और तंग करने के मज़ेदार और लाभदायक खिलवाड़ के लिए यह सहायता विशेष रूप से दी गई।

चीन एक बार फिर आपस में लड़नेवाले लड़ाकू सरदारों तथा सेनापतियों का गोरखधन्धा बन गया। कैण्टन ने नानकिंग-सरकार से सम्बन्ध तोड़ दिया और दक्षिण में अपनी अलग सरकार स्थापित कर ली। सन् १९२८ ई० में पेकिंग नानकिंग-सरकार के हाथों में आ गया। इसका नाम बदल कर पीपिंग कर दिया

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गया जिसका अर्थ है "उत्तरी शान्ति"। पेंकिंग का अर्थ था "उत्तरी राजधानी", पर अब यह राजधानी नहीं रह गया था।

दिसम्बर सन् १९२७ ई० में नानकिंग-सरकार तथा सोवियत-सरकार का आपसी सम्बन्ध-विच्छेद हो गया, और साम्राज्यशाही शक्तियों की छत्रछाया में नानकिंग ने उग्र सोवियत-विरोधी नीति अपनाई। यदि रूस युद्ध न करने के इरादे पर डटा नहीं रहता, तो इसके फलस्वरूप सन् १९२७ई० में युद्ध छिड़ गया होता। सन् १९२९ ई० में चीनी सरकार, इस बार मंचूरिया में फिर आक्रमक नीति पर उतर आई। सोवियत व्यापार-दूतावास पर छापा मारा गया और चीनी पूर्वी रेलवे के रूसी कर्मचारियों को बरख़ास्त कर दिया गया। यह रेलवे अधिकांश में रूस की सम्पत्ति थी, इसलिए सोवियत-सरकार ने तुरन्त चीनी सरकार के विरुद्ध कार्रवाई की। कुछ महीनों तक युद्ध-जैसी स्थिति चलती रही, और तब चीनी-सरकार ने पुराना प्रबन्ध फिर से क़ायम करने की रूसी माँग स्वीकार कर ली।

चीन के कुछ भागों में साम्यवादी हुकूमतें क़ायम हो गई थीं। मालूम होता है कि सबसे पहली साम्यवादी सरकार नवम्बर सन् १९२९ ई० में दक्षिण में क्वान्तुंग प्रान्त के हाइफैंग जिले में स्थापित हुई थी। यह "हाइफैंग सोवियत गणराज्य" था, जो किसानों के विविध संघों का विकसित रूप था। चीन के भीतरी हिस्सों में सोवियत इलाक़ा बढ़ने लगा, यहाँतक कि सन् १९३२ ई० के मध्य तक इसमें चीन के कुल क्षेत्रफल का क़रीब छठा भाग सम्मिलित हो गया, जिसका क्षेत्रफल २,५०,००० वर्गमील था और जिसकी आबादी ५,००,००,००० थी। इस सरकार ने ४,००,००० सैनिकों की लाल सेना तैयार कर ली, और इस सेना में लड़के और लड़कियों के सहायक दस्ते भी थे। नानकिंग-सरकार और कैण्टन-सरकार दोनों ने इन चीनी-सोवियतों को कुचलने के लिए पूरा ज़ोर लगाया, और च्यांग काई शेक ने बार-बार सेना लेकर उनपर चढ़ाइयाँ की, परन्तु ये प्रयत्न अधिक सफल नहीं हुए। कभी-कभी ये सोवियतें पीछे हट जातीं थीं, और भीतरी भागों में दूसरी जगहों पर अपने पाँव जमा लेती थीं।[1]

---

[1] च्यांग काई शेक और चीनी-सोवियतों के बीच संघर्ष, जापानी-आक्रमण के विरुद्ध इनका आपस में मिल जाना, जापान का चीन पर हमला और उसके फलस्वरूप होनेवाला युद्ध—इन सबका हाल पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट में दिया गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: ११७ :

जापान सारी दुनिया का तिरस्कार करता है

जैसाकि हम देख चुके हैं, महायुद्ध के दौरान में जापान ने चीन को डरा-धमकाकर उससे अपनी इक्कीस माँगें मंजूर कराने की कोशिश की। अमरीका तथा योरप में हो-हल्ला मच जाने के कारण उसकी सारी माँगें तो पूरी नहीं हुईं, पर फिर भी उसे बहुत-कुछ मिल गया। युद्ध के बाद ज़ारशाही साम्राज्य के पतन पर जापान ने देखा कि एशिया में अपने राज्य का विस्तार करने का यह अनुपम अवसर है। उसकी सेनाएँ साइबेरिया में दाख़िल हो गईं और उसके एजेण्ट मध्य-एशिया में ठेठ समरकन्द और बुखारा तक जा पहुँचे। परन्तु रूस के सम्हल जाने के कारण,और कुछ हद तक अमरीका के विरोध तथा अविश्वास के कारण यह मुहिम-बाज़ी असफल हो गई। सन् १९२२ ई०के वाशिंगटन-सम्मेलन से जापान की महत्त्वाकांक्षाओं पर पानी फिर गया और अमरीकी कूटनीति की विजय हो गई। इस सम्मेलन में जापान-सहित नौ शक्तियों ने चीन की अखंडता को अक्षुण्ण रखने की प्रतिज्ञाएँ की, और इसका अर्थ यह था कि जापान चीन में पैर फैलाने की सारी आशाएँ छोड़ दे। इसी सम्मेलन में आंग्ल-जापानी मित्रता का अन्त हो गया और सुदूर-पूर्व में जापान बिल्कुल अकेला रह गया। ब्रिटिश-सरकार ने सिंगापुर में एक जबरदस्त नौ-सैनिक अड्डा बनाना शुरू कर दिया, और यह प्रत्यक्ष रूप से जापान के लिए ख़तरे की चीज़ था। सन् १९२४ ई० में संयुक्त-राज्य अमरीका ने जापानी-विरोधी आवास बिल पास किया, क्योंकि वह अपने राज्य में जापानी मज़दूरों को नहीं आने देना चाहता था। वर्ण-भेद की इस नीति पर जापान में, और कुछ हद तक सारे पूर्व में, बहुत रोष प्रगट किया गया, मगर जापान अमरीका का कुछ बिगाड़ नहीं सकता था। इसलिए जब उसने यह महसूस किया कि वह अकेला पड़ गया है और चारों ओर से शत्रुओं से घिर गया है, तो उसने रूस की तरफ़ रुख़ मोड़ा, और जनवरी, सन् १९२५ ई० में रूस के साथ सन्धि कर ली।

अपनी कठिनाइयों के कारण जापान ने रूस से सुलह तो कर ली थी, पर इसका यह अर्थ नहीं था कि वह साम्यवाद का समर्थक हो गया था। जापान में साम्यवाद जनता के बढ़ते हुए कष्टों के कारण जोर पकड़ रहा था, क्योंकि औद्योगिक स्वार्थों द्वारा जनता का शोषण दिन-पर-दिन बढ़ रहा था। जब अन्दरूनी स्थिति ज्यादा गम्भीर होने लगी, तो साम्यवादियों तथा सारे वामपक्षियों पर कठोर दमन-चक्र चलाया गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साम्यवाद के विरुद्ध बड़े पैमाने पर सन् १९२८ ई० के शुरू में धावा बोला गया, और एक रात में एक हज़ार से ज़्यादा गिरफ्तारियाँ हुई, मगर अख़बारों को इस घटना का समाचार महीने-भर तक प्रकाशित नहीं करने दिया गया। अक्तूबर, सन् १९३२ ई० में पुलिस ने बहुत बड़ा छापा मारा और २,२५० व्यक्तियों को गिरफ्तार किया। इनमें से ज्यादातर लोग मज़दूर नहीं थे, बल्कि विद्यार्थी और अध्यापक थे। इनमें सैकड़ों ग्रेजुएट थे और स्त्रियाँ थीं।

जापान ने एशियाई भूमि पर पाँव जमाने के लिए, पहले कोरिया में और फिर मंचूरिया में, लगातार कोशिशें की थीं। सन् १९१४ ई० में चीन के साथ युद्ध और दस साल बाद का रूसी-युद्ध, दोनों इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए लड़े गये थे। जापान को सफलता प्राप्त हुई, और वह एक-एक पग आगे बढ़ने लगा। उसने कोरिया को हड़प लिया और उसे जापानी-साम्राज्य का अंग-मात्र बना लिया। मंचूरिया में, जो चीन के तीन पूर्वी प्रान्तों का ही साधारण नाम है, पोर्ट आर्थर के आस-पास जो रूस के पट्टे पर लिये हुए और रियायती इलाके थे, वे जापान को दे दिये गये। रूस ने मंचूरिया के एक सिरे से दूसरे सिरे तक जो चीनी-पूर्वी रेलवे बनाई थी, उसका भी कुछ भाग जापान के अधिकार में आ गया और इसका नाम दक्षिण-मंचूरिया रेलवे रख दिया गया। मगर इन सब परिवर्तनों के बावजूद, समग्र रूप में मंचूरिया अभीतक चीनी-सरकार के ही आधीन बना रहा और इस रेल-मार्ग के कारण अब ढेर-के ढेर-चीनी यहाँ आकर बसने लगे।

कुछ वर्षों तक तो जापान ने कोई कार्रवाई नहीं की। मगर परदे के पीछे से वह कुछ चीनी सैनिक-सरदारों या तूशनों को धन आदि की सहायता देता रहा, ताकि वे गृह-युद्ध चलाते रहें और इस प्रकार चीन को कमज़ोर बना दें। उसने चांग त्सो लिन को ख़ासतौर पर सहायता दी, जिसका दबदबा मंचूरिया पर और दक्षिणी राष्ट्रवादियों की विजय के पहले पेंकिंग तक पर छाया हुआ था। सन् १९३१ ई० में जापानी-सरकार ने मंचूरिया में खुल्लम-खुल्ला आक्रमक रवैय्या अपनाया।

जनवरी, सन् १९३२ ई० में जापानी सेना शांघाई के निकट चीन की भूमि पर एकदम उतर पड़ी और वहाँ उसने जो हत्याकाण्ड मचाया, वह आधुनिक ज़माने के सबसे अधिक बीभत्स हत्याकाण्डों में गिना जाता है। उसने विदेशी रियायती इलाकों को तो जान-बूझकर छोड़ दिया, ताकि पश्चिमी शक्तियाँ नाराज़ न हो जायँ, और घनी आबादीवाले चीनी महल्लों पर आक्रमण कर दिया। शांघाई के निकट एक विशाल क्षेत्र पर (शायद इसका नाम चापेइ था) बम और गोले बरसाये गये और उसे पूरी तरह विनष्ट कर दिया गया। हज़ारों आदमी मारे गये और असंख्य आदमी बेघर-बार हो गये। मगर अचरज की बात है कि नानकिंग या उसके नेता च्यांग काई शेक ने, इतने पर भी, आगे बढ़ते हुए जापानी सैनिकों से शांघाई की रक्षा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करने के लिए कोई क़दम नहीं उठाया। नानकिंग ने केवल इतना किया कि राष्ट्र-संघ के सामने अपना विरोध पेश कर दिया।

और तब दक्षिण से आई हुई एक अजीब सेना शांघाई में प्रगट हुई। इसका नाम उन्नीसवीं कूच-मार्ग सेना[1] था। इसमें कैण्टनवासी लोग थे, पर न तो यह नानकिंग-सरकार की फ़रमाबरदार थी और न कैण्टन-सरकार की। यह फटी-टूटी-सी सेना थी, जिसके पास न तो लड़ाई का सामान था, न बड़ी तोपें थीं, न अच्छी वर्दियाँ थीं, और न चीन की कड़ाके की सर्दी से बचानेवाले काफ़ी कपड़े थे। इसमें चौदह तथा सोलह वर्ष की उम्र के बहुत-से लड़के भर्ती हो गये थे——कुछकी उम्र तो सिर्फ बारह वर्ष की थी। इस टूटी-फूटी सेना ने च्यांग काई शेक की आज्ञा की अवहेलना करके जापानियों से लड़ने और लोहा लेने का निश्चय किया। सन् १९३२ ई० के जनवरी मास में दो सप्ताह तक ये लोग नानकिंग-सरकार की सहायता के बिना-ही लड़ते रहे, और ये ऐसी अद्‌भुत वीरता से लड़े कि इन्होंने अपने से कहीं अधिक बलशाली और सुसज्जित जापानियों को चकित कर दिया और रोक दिया। इससे केवल जापानियों को ही नहीं, बल्कि हर किसीको आश्चर्य हुआ, यहाँतक कि विदेशी शक्तियाँ तथा खुद चीन की जनता भी आश्चर्य में पड़ गई। बिना किसी सहायता के दो सप्ताह लड़ने के बाद, जब चारों ओर से इस सेना पर प्रशंसा की बौछार होने लगी, तब शांघाई की रक्षा के लिए च्यांग काई शेक ने अपने कुछ सैनिक भेजे।

इस उन्नीसवीं कूच-मार्ग सेना ने इतिहास रच डाला और यह संसार-भर में विख्यात हो गई। इसके मुक़ाबले ने जापानियों की योजनाओं पर पानी फेर दिया। और चूँकि पश्चिमी शक्तियों को भी शांघाई में अपने स्वार्थों की चिन्ता थी, इसलिए जापानी सैनिकों को धीरे-धीरे शांघाई-क्षेत्र से हटा लिया गया और जहाजों में लादकर भेज दिया गया। राष्ट्र-संघ ने मंचूरिया के मामले की जाँच करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन लार्ड लिटन की अध्यक्षता में नियुक्त किया। तमाम शक्तियों ने इसे तुरन्त मंजूर कर लिया, क्योंकि इसका अर्थ यह था कि किसी भी प्रकार का निर्णय महीनों तक के लिए स्थगित हो गया।

जापानी लोग शांघाई से तो हट गये, पर अब उन्होंने मंचूरिया पर ज्यादा ध्यान दिया। उन्होंने वहाँ एक कठपुतली सरकार क़ायम कर दी, और ऐलान कर दिया कि मंचूरिया ने अपने आत्म-निर्णय के अधिकार का प्रयोग किया है। इस नये कठपुतली राज्य का नाम मंचूकुओ रखा गया, और चीन के पुराने मंचू-राजाओं के वंश का एक फटे-हाल नौजवान इस नई रियासत का राजा बना दिया गया। इसमें कोई शक नहीं कि यह सब दिखावे के लिए ही था, और असली

---

[1] नाइनटीन्थ रूट आर्मी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शासक तो जापान था। हर कोई जानता था कि अगर जापानी सेना हटा ली जाय, तो मंचूकुओ राज्य एक दिन में लुढ़क पड़ेगा।

महीनों की जाँच के वाद लिटन-कमीशन ने राष्ट्र-संघ में अपनी रिपोर्ट पेश की। यह विवेकपूर्ण संयत और न्यायिक भाषा में लिखा हुआ दस्तावेज़ था, परन्तु जापान के बिल्कुल-ही ख़िलाफ़ जाता था। इससे ब्रिटिश-सरकार बहुत घबराई, क्योंकि वह तो जापान को बचाने पर तुली बैठी थी। इसलिए इस मामले का विचार कई महीनों के लिए फिर स्थगित कर दिया गया।

इधर तो राष्ट्र-संघ में मंचूरिया के प्रश्न को टालने की भरसक कोशिश की जा रही थी, उधर जापान ने एक नई कार्रवाई कर डाली। सन् १९३३ ई० की पहली जनवरी के दिन जापानी सेना अकस्मात ठेठ चीन में जा धमकी और उसने शान-हाई-क्वान नगर पर आक्रमण कर दिया। यह नगर चीन की बड़ी दीवार के भीतरी किनारे पर स्थित है। बड़ी-बड़ी तोपों और विध्वंसक जहाज़ों से गोले और हवाई जहाज़ों से बम वरसाये गये। यह सरासर नये-से-नये ढंग का हमला था। शान-हाइ-क्वान जलकर ढेर हो गया, और अधिकतर नगरवासी मारे गये या मरणासन्न हो गये।

आक्रमण की इस ताज़ा कार्रवाई से, और नये साल के दिन के हत्याकाण्ड से राष्ट्र-संघ की नींद खुल गई, और बहुत करके छोटी-छोटी शक्तियों के आग्रह के कारण राष्ट्र-संघ ने एक प्रस्ताव द्वारा लिटन-रिपोर्ट को मंजूर कर लिया और जापान की भर्त्सना की। जापान ने इसकी ज़रा भी परवाह नहीं की और राष्ट्र-संघ से किनारा किया। राष्ट्र-संघ से इस्तीफा देकर जापान आराम से पीपिंग की ओर बढ़ता चला गया। उसे ज़रा भी प्रतिरोध का सामना नहीं करना पड़ा, और जब जापानी सेना, मई सन् १९३३ ई० में, करीब-करीब पीपिंग के दरवाज़े पर जा पहुँची, तो चीन और जापान के बीच विराम-सन्धि की घोषणा कर दी गई।

: ११८ :

सोवियत समाजवादी गणराज्यों का संघ

अब हम सोवियतों के देश, रूस, की तरफ लौटते हैं और उसकी कहानी के सूत्र को जहाँ छोड़ा था वहीं से फिर पकड़े लेते हैं। हम जनवरी, सन् १९२४ ई० तक आ पहुँचे थे, जबकि क्रान्ति के नेता और प्रवर्त्तक लेनिन की मृत्यु हुई थी।

क्रान्ति के बाद, सन् १९१७ से १९२० ई० तक के पहले चार वर्ष ढेरों शत्रुओं से क्रान्ति की रक्षा करने के लिए लड़ाइयाँ लड़ने में बीते। यह ज़माना युद्ध और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्रान्ति और गृह-युद्ध और भुखमरी और मौत का रोमांचकारी और नाटकीय ज़माना था। यह "विग्रही साम्यवाद"[1] का ज़माना था। इसके बाद सन् १९२१ ई० में लेनिन ने जब नई आर्थिक नीति[2] चलाई, तो ज़रा आराम लेने की फ़ुरसत मिली। यह नीति साम्यवाद के प्रतिकूल थी; देश के बुर्ज़ुआ तत्त्वों से समझौता था। मगर इसका यह अर्थ नहीं था कि बोल्शेविक नेताओं ने अपना ध्येय बदल दिया था। इसका अभिप्राय केवल यह था कि वे लोग सुस्ताने और नया बल प्राप्त करने के लिए एक कदम पीछे हट गये थे, ताकि बाद में वे कई कदम फिर आगे बढ़ाने के योग्य हो जायँ। बस, सोवियतों ने शान्ति के साथ उस राष्ट्र के निर्माण की जबरदस्त समस्या का मुकाबला किया, जो बहुत-कुछ नष्ट और बरबाद हो चुका था। निर्माण और रचनात्मक कार्यों के लिए उन्हें रेल के इंजनों और गाड़ियों, बोझा ढोनेवाली मोटर-गाड़ियों, यान्त्रिक-हलों, कारख़ानों का सरंजाम, वग़ैरा-वग़ैरा मशीनों और सामानों की ज़रूरत पड़ी। ये चीजें उन्हें बाहर के देशों से खरीदनी पड़ती थीं, पर खरीदने के लिए उनके पास पैसा नहीं था। इसलिए उन्होंने बाहर के इन देशों में उधार-खाते खोलने का प्रयत्न किया, ताकि वे अपने खरीदे हुए माल की कीमत आसान किश्तों में चुका सकें। मगर उधार तो तभी मिल सकती थी जबकि देशों में आपसी बोल-चाल होती। जब वे सरकारी तौर पर एक-दूसरे को मानते ही नहीं थे तो उधार कैसी? इसलिए रूस इस बात के लिए बड़ा उत्सुक था कि बड़ी शक्तियों से उसे मान्यता प्राप्त हो जाय और उनके साथ उसके कूटनीतिक और व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो जायँ। परन्तु ये साम्राज्यशाही शक्तियाँ बोल्शेविकों तथा उनके सारे कार्यों के प्रति वैर-भाव रखती थीं।

आख़िर जेबें भरने का आकर्षण साम्यवाद की घृणा से ज्यादा ज़ोरदार साबित हुआ, और क़रीब-क़रीब सब देशों ने सोवियत-सरकार की मान्यता स्वीकार कर ली। बहुतों ने उसके साथ व्यापारिक सन्धियाँ भी कर लीं। अकेला अमरीका ही ऐसी शक्ति था जिसने सोवियत संघ को मान्यता देने से बराबर इन्कार किया। मगर रूस और संयुक्त-राज्य अमरीका के बीच व्यापार होने लगा है।[3]

इस प्रकार सोवियत रूस ने अधिकतर पूंजीवाद तथा साम्राज्यशाही शक्तियों से सम्बन्ध स्थापित कर लिये, और कुछ हद तक उसने इन शक्तियों की आपसी लाग-डाँट से भी लाभ उठाया। ऐसा-ही उसने तब किया था, जब सन् १९२२ ई० में जर्मनी ने उससे सहायता माँगी थी और रापालो के सन्धि-पत्र पर दोनों ने हस्ताक्षर किये थे। मगर यह समझौता बिल्कुल डाँवाडोल था, क्योंकि पूंजीवादी तथा साम्य-

---

[1] मिलिटेण्ट कम्यूनिज़्म [2] नेप या न्यू इकोनोमिक पालिसी

[3] सन् १९३३ ई० में अमरीका ने सोवियत संघ को मान्यता दे दी और इस प्रकार दोनों देशों में आपसी कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित हो गये।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वादी, दो व्यवस्थाओं के बीच मौलिक विषमता थी। बोल्शेविक लोग हमेशा दलित और शोषित लोगों को, औपनिवेशिक देशों की पराधीन कौमों तथा कारखानों के मजदूरों दोनों को, अपने शोषकों के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए उकसाते रहते थे। यह काम वे सरकारी तौर पर नहीं, वल्कि कॉमिण्टर्न यानी अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी संघ के जरिये करते थे। उधर साम्राज्यशाही शक्तियाँ, और खासकर इंग्लैण्ड, सोवियत संघ की हस्ती को ही मिटाने के लिए लगातार साज़िशें कर रही थीं। इसलिए झगड़ा पैदा होना लाज़िमी था। इससे बार-बार विग्रह हुआ, जिसके फल-स्वरूप कूटनीतिक सम्बन्ध टूट गये और युद्ध की हवा फैलने लगी।

आज इंग्लैण्ड तथा अन्य पूंजीवादी देशों को सोवियत सेनाओं का इतना डर नहीं है, जितना सोवियत विचारों और साम्यवादी प्रचार का। ये चीजें सेनाओं की तरह प्रत्यक्ष तो नहीं हैं, परन्तु इनसे कहीं अधिक प्रबल और खतरनाक हैं। इसका प्रतिकार करने के लिए रूस के विरुद्ध निरन्तर मिथ्या-पूर्ण प्रचार का आश्रय लिया जाता रहा है और सोवियत की दुष्टता के बहुत-ही हैरत-भरे किस्से फैलाये जाते हैं।

सन् १९२१ ई० में लेनिन ने जो नई आर्थिक नीति चलाई थी, उसका अभिप्राय मध्यम-कृषक-वर्ग को समाजीकरण के पक्ष में ले आना था। धनवान किसानों को जो "कुलक" कहलाते हैं, प्रोत्साहन नहीं दिया गया, क्योंकि वे छोटे पैमाने पर पूंजीपति थे और समाजीकरण की प्रक्रिया का प्रतिरोध करते थे। लेनिन ने देहाती इलाकों में बिजली पहुँचाने की भी एक विशाल योजना शुरू की, और बिजली पैदा करने की जबरदस्त कलें लगाई गईं। इसका प्रयोजन यह था कि किसानों को हर प्रकार की सहायता दी जाय, और देश के औद्योगीकरण का मार्ग प्रशस्त किया जाय। इनसब बातों के अलावा इसका प्रयोजन यह था कि किसान-वर्ग में औद्योगिक मनोवृत्ति पैदा हो जाय और वे शहरी मज़दूरों या सर्वहारा वर्ग के अधिक निकट आ जायँ। किसान लोग, जिनके गाँवों में बिजली का प्रकाश जगमगाने लगा और जिनकी खेती का बहुत सारा काम बिजली की शक्ति से होने लगा, अपने पुराने ढर्रों को और अन्ध-विश्वासों को छोड़ने लगे और नये ढंग से सोचने लगे। शहर तथा गाँव के हितों में, यानी नगरवासी तथा किसान के हितों में, सदा संघर्ष रहता है। शहर का मज़दूर देहात से सस्ता अन्न और कच्चा माल लेना चाहता है, और कार-खानों में जो सामान वह बनाता है, उसकी अच्छी कीमत चाहता है। उधर किसान शहर से सस्ते औजार और कारख़ानों का बना अन्य सामान लेना चाहता है, और अपने पैदा किये हुए अन्य तथा कच्चे माल की अच्छी कीमत चाहता है। रूस में चार वर्षों के विग्रही साम्यवाद के फलस्वरूप यह संघर्ष तीव्र होता जा रहा था। नई आर्थिक नीति अधिकतर इसी कारण से, तथा तनाव को ढीला करने के इरादे से, जारी की गई और किसानों को निजी व्यापार करने की सुविधाएँ दे दी गई।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बिजलीकरण की अपनी योजना के बारे में लेनिन को इतना उत्साह था कि उसने एक गुर बनाया जो विख्यात हो गया। उसने कहा कि "सोवियत में बिजली जोड़ दी जाय तो घनफल साम्यवाद के बराबर हो जाता है।" लेनिन की मृत्यु के बाद भी बिजलीकरण बड़ी तेज गति से होता रहा। किसान-वर्ग पर असर डालने का और खेती-बाड़ी के तरीकों में सुधार करने का एक और उपाय था जुताई तथा अन्य कार्यों के लिए यान्त्रिक-हलों का उपयोग जारी किया जाना। ये यान्त्रिक-हल अमरीका की फोर्ड कम्पनी बनाकर भेजती थी। सोवियत ने रूस में मोटरें बनाने का कारख़ाना खड़ा करने के लिए फोर्ड कम्पनी को बहुत बड़ा ठेका भी दिया। यह कारख़ाना हर साल एक लाख मोटर-गाड़ियाँ तक तैयार कर सकता था। इसका मुख्य काम यान्त्रिक-हल बनाना था।

सोवियत की एक और कार्रवाई, जिसके कारण विदेशी स्वार्थों से उसका संघर्ष हुआ, मिट्टी के तेल और पेट्रोल का उत्पादन और बाहर के देशों में बेचा जाना था। काकेशस-प्रदेश के अज़रबेजान और जार्जिया के इलाके में मिट्टी के तेल का विपुल भण्डार है। शायद यह उसी बड़े तेल-क्षेत्र का हिस्सा है जो ईरान, मोसूल और ईराक़ तक फैला हुआ है। कैस्पियन सागर के तट पर बाकू दक्षिणी रूस का महान् तेल-नगर है। सोवियत ने बड़ी-बड़ी तेल कम्पनियों से सस्ते भाव पर अपना मिट्टी का तेल और पेट्रोल विदेशों में बेचना शुरू कर दिया। अमरीका की स्टैण्डर्ड आयल कम्पनी, ऐंग्लो-परशियन आयल कम्पनी, रॉयल डच शैल कम्पनी आदि तेल-कम्पनियाँ बड़ी-बड़ी जबरदस्त हैं, और संसार-भर में मिट्टी के तेल का व्यापार इन्हींके हाथों में है। सोवियत ने जब अपना तेल इनसे सस्ते भाव पर बेचा, तो इन्हें बहुत नुक़सान हुआ और ये आग-बबूला हो गईं। इन्होंने रूसी तेल के विरुद्ध आन्दोलन शुरू कर दिया और इसे "चुराया हुआ तेल" बतलाया, क्योंकि रूस ने काकेशस में तेल के कुएँ उनके पूंजीपति मालिकों से छीने थे। मगर कुछ दिन बाद इन कम्पनियों ने इस "चुराये हुए तेल" के साथ समझौता कर लिया।

मैंने बार-बार "सोवियत" या "सोवियतों" का उल्लेख किया है। कभी-कभी मैंने यह भी लिखा है कि "रूस" ने यह किया, वह किया। इन शब्दों का प्रयोग मैंने ज़रा बेपरवाही के साथ एक-ही अर्थ में किया है, और अब मैं तुम्हें बतलाना चाहता हूँ कि यह क्या चीज़ है। अलबत्ता यह तो तुम्हें मालूम ही है कि सोवियत-गणराज्य की घोषणा, नवम्बर, सन् १९१७ ई० में, पेट्रोग्राद में, बोल्शेविक-क्रान्ति के बाद की गई थी। ज़ारशाही-साम्राज्य कोई सघन राष्ट्रीय राज्य नहीं था। योरप और एशिया के कितने-ही छोटे-छोटे पराधीन कौमी इलाकों पर ख़ास रूस का प्रभुत्त्व था। इन छोटे-छोटे पराधीन कौमी इलाकों की संख्या क़रीब दो सौ थी, और इनमें अत्यन्त विभिन्नता थी। ज़ार के राज्य में इनके साथ अधीन कौमों की तरह व्यवहार किया जाता था, और इनकी भाषाओं और संस्कृतियों को भी दबाया जाता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था। मध्य-एशिया की पिछड़ी हुई कौमों की बेहतरी के लिए कुछ भी नहीं किया गया था। हालाँकि ऐसा कोई खास इलाका नहीं था जिसे यहूदी लोग अपना कह सकें, फिर भी इन्हें तमाम अल्पसंख्यक जातियों से अधिक सताया जाता था, और यहूदियों के "पोग्रोम" या हत्याकाण्ड बुरी तरह विख्यात हो गये थे। इसका परिणाम यह हुआ कि इन सताई हुई कौमों के अनेक लोग रूस के क्रान्तिकारी आन्दोलन में शामिल हो गये, हालाँकि उनकी मुख्य दिलचस्पी राजनैतिक क्रान्ति में थी, सामाजिक क्रान्ति में नहीं। सन् १९१७ ई० में, फ़रवरी की क्रान्ति के बाद जो अस्थायी सरकार बनी थी, उसने इन कौमों को अनेक आश्वासन दिये थे, पर असल में कुछ भी नहीं किया। उधर लेनिन ने, बोल्शेविक दल के प्रारम्भ के दिनों में, क्रान्ति से बहुत समय पहले ही, इस बात पर ज़ोर दिया था कि हर छोटी राष्ट्रीयता (कौम) को आत्म-निर्णय का पूरा अधिकार दिया जाय, यहाँतक कि अगर वे चाहें तो बिल्कुल अलग और स्वाधीन भी हो जायँ। पुराने बोल्शेविक-कार्यक्रम का यह एक अंग था। क्रान्ति के तुरन्त बाद-ही बोल्शेविकों ने, जिनकी अब सरकार बन गई थी, आत्म-निर्णय के इस सिद्धान्त में अपने विश्वास की दृढ़ता फिर घोषित की।

गृह-युद्ध के दौरान में ज़ारशाही-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था, और सोवियत-गणराज्य के अधिकार में मास्को तथा लेनिनग्राद के आस-पास के छोटे-से क्षेत्र थे। पश्चिमी शक्तियों द्वारा प्रोत्साहित किये जाने पर बाल्टिक सागर के तटवर्ती फिनलैण्ड, लैटविया, ऐस्तोनिया, लिथ्यूनिया आदि छोटे कौमी प्रदेश स्वाधीन राज्य बन गये। पोलैण्ड भी इसी प्रकार स्वाधीन राज्य बन गया। जब गृह-युद्ध में रूसी सोवियत पूरी तरह सफल हो गई और विदेशी सेनाएँ हट गईं, तो साइबेरिया तथा मध्य-एशिया में सोवियत हुकूमतें कायम हो गईं। इन हुकूमतों के ध्येय एक-समान थे, इसलिए इनमें घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हो जाना स्वाभाविक था। सन् १९२३ ई० में इन सबने मिलकर सोवियत संघ का निर्माण कर लिया। इसका पूरा सरकारी नाम सोवियत समाजवादी गणराज्यों का संघ रखा गया।

मंगोलिया का भी सोवियत संघ से थोड़ा-बहुत सम्बन्ध है।

इस प्रकार सोवियत संघ कई गणराज्यों का संघ है। संघ में शामिल होनेवाले गणराज्यों में से कुछ गणराज्य खुद भी संघ हैं। मसलन, रूसी सोवियत समाजवादी फेडरेटिव गणराज्य संघ बारह स्वशासित गणराज्यों का संघ है, और काकेशस-पार का सो० स० संघ इन तीन गणराज्यों का संघ है : अज़रबैजान सो० स० ग०, जार्जिया सो० स० ग० और आर्मीनिया सो० स० ग०। इन अनेक अन्योन्य-सम्बन्धित तथा अन्योन्याश्रित गणराज्यों के अलावा, इन गणराज्यों के अन्तर्गत अनेक "राष्ट्रीय" और "स्वशासित" प्रदेश हैं। हर जगह स्वशासन का इतना अधिकार जारी रखने का उद्देश्य यह है कि हरएक राष्ट्रीयता को अपनी भाषा तथा संस्कृति कायम रखने का और ज्यादा-से-ज्यादा आजादी भोगने का मौका दिया जाय। जहाँ तक हो सका,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मध्य एशिया में सोवियत गणराज्य

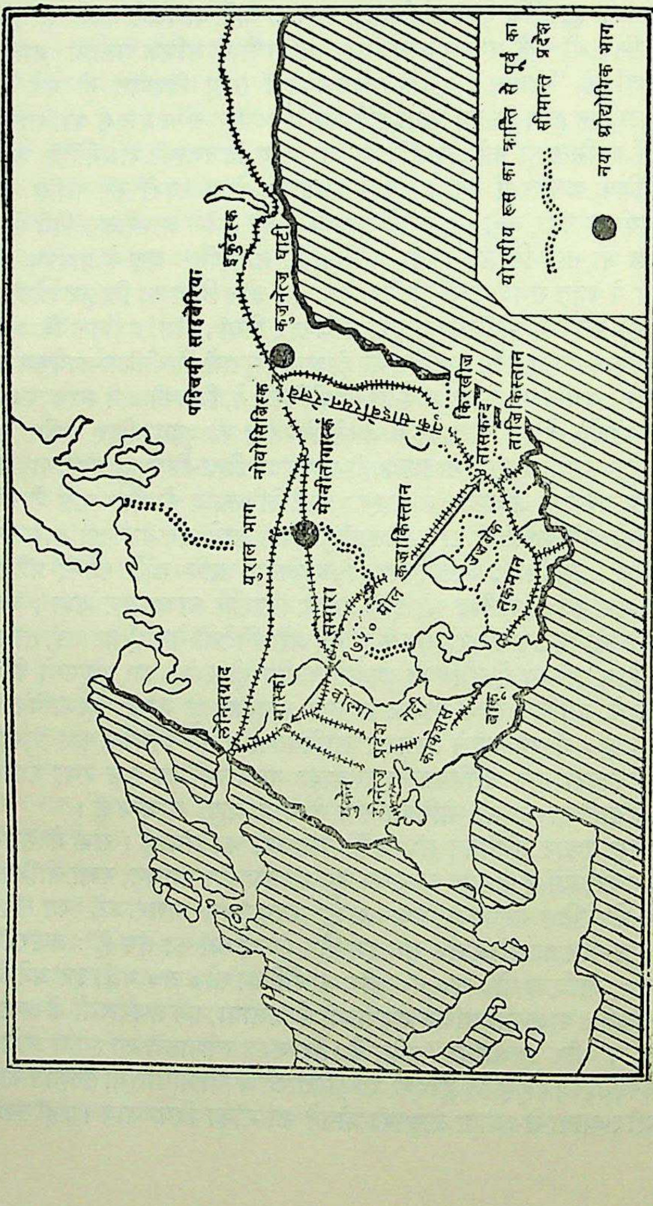

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस बात का प्रयत्न किया गया है कि कोई भी राष्ट्रीय या जातीय समुदाय किसी दूसरे पर अपना प्रभुत्त्व न जमा सके। अल्पसंख्यकों की समस्या का यह रूसी हल दिलचस्पी की चीज है। मालूम होता है कि सोवियतों की कठिनाइयाँ बहुत ज्यादा थीं, क्योंकि उन्हें १८२ विभिन्न राष्ट्रीयताओं के मामले को सुलझाना था। इस समस्या को उन्होंने बड़ी सफलतापूर्वक हल कर लिया है। सोवियत संघ तो इस आख़िरी हद तक चला गया कि उसने हरएक पृथक कौम को मान्यता दे दी और उसे अपना कार्य और अपनी शिक्षा अपनी निजी भाषा में चलाने के लिए प्रोत्साहन दिया। यह सिर्फ विभिन्न अल्पसंख्यक समुदायों की अलगाव प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करने के लिए नहीं किया गया, बल्कि यह महसूस करके किया गया, कि जन-साधारण की सच्ची शिक्षा और सांस्कृतिक प्रगति देशी भाषाओं के उपयोग से ही सार्थक हो सकती है। इसके जो परिणाम निकले हैं वे अद्भुत हैं।

संघ में विषमता प्रविष्ट करने की इस प्रवृत्ति के बावजूद, उसके विभिन्न अंग एक-दूसरे के इतने अधिक निकट आते जा रहे हैं जितने ज़ारों की केन्द्रीभूत सरकार के अधीन रहकर कभी नहीं आये थे। कारण यह है कि सबके उद्देश्य एक-समान हैं और सब-के-सब समान-हित के महान् प्रयत्न में लगे हुए हैं। सिद्धान्त रूप में हर गणराज्य को अधिकार है कि जब चाहे तब संघ से पृथक हो जाय। मगर ऐसी नौबत आने की कोई सम्भावना नहीं है, क्योंकि पूंजीवादी जगत के द्रोह का मुकाबला करने के लिए समाजवादी सोवियतों के संघ में बहुत लाभ हैं।

इस संघ का अग्रणी गणराज्य लाज़िमी तौर पर रूसी गणराज्य है। यह लेनिनग्राद से लगाकर साइबेरिया के ठेठ पार तक फैला हुआ है। श्वेत रूसी सो० स० गणराज्य पोलैण्ड के बाजू में है। यूक्रेन दक्षिण में काले सागर के किनारे-किनारे चला गया है—यह रूस का अन्न-भण्डार है। काकेशस-पार का गणराज्य, जैसाकि इसके नाम से जाहिर है, काकेशस पर्वतमाला के पार कैस्पियन सागर और काले सागर के बीच में है। काकेशस-पार गणराज्यों में ही आर्मीनिया का गणराज्य है, जो बहुत समय तक तुर्कों तथा आर्मीनियाइयों के बीभत्स हत्याकाण्डों का अखाड़ा रहा था। अब सोवियत गणराज्य बन जाने पर यह ठण्डा पड़कर शान्तिपूर्ण प्रवृत्तियों में लग गया प्रतीत होता है। कैस्पियन सागर के उस-पार तुर्कमेनिस्तान, उज़बेकिस्तान और ताजिकिस्तान के तीन मध्य-एशियाई गणराज्य हैं। उज़बेकिस्तान में बुख़ारा और समरकन्द के प्रसिद्ध शहर हैं। ताज़िकिस्तान अफ़ग़ानिस्तान की उत्तरी सरहद पर है और भारत का सबसे नजदीकी सोवियत प्रदेश है।

मध्य-एशिया के साथ हमारा युगों का सम्पर्क होने के कारण मध्य-एशिया के ये गणराज्य हमारे लिए ख़ास दिलचस्पी की चीज़ हैं। पिछले कुछ वर्षों में इनमें जो अद्भुत प्रगति हुई है, उसके कारण हमारा मन इनकी ओर और भी ज़्यादा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आकर्षित होता है। जारों के राज्य में ये देश बहुत पिछड़े-हुए और अन्ध-विश्वासी थे। शिक्षा का यहाँ नाम भी नहीं था और ज्यादातर स्त्रियाँ परदे में रहती थीं। आज ये देश अनेक बातों में भारत से आगे बढ़ गये हैं।

: ११९ :

रूस की पंचवर्षीय योजना: सफलताएँ : असफलताएँ

लेनिन जबतक जीवित रहा, तबतक रूस का सर्वमान्य नेता वही बना रहा। उसके अन्तिम निर्णय के आगे सब सिर झुकाते थे। जब कभी आपसी झगड़े होते थे, उसका फैसला सबको मानना पड़ता था और साम्यवादी दल के आपस में लड़नेवाले धड़े फिर मिलकर एक हो जाते थे। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद अनिवार्य रूप से गड़बड़ी पैदा हो गई। बाहर की दुनिया के लिए, लेनिन के बाद बोल्शेविकों में त्रात्स्की का व्यक्तित्त्व ही सबसे अग्रगण्य था। मगर फिर भी बोल्शेविक दल में त्रात्स्की एक नवागन्तुक था, और लेनिन को छोड़कर सारे पुराने बोल्शेविक न तो उसे चाहते थे, न उसपर भरोसा करते थे। इन पुराने बोल्शेविकों में से स्तालिन साम्यवादी दल का प्रधानमन्त्री बन गया था, और इस हैसियत से रूस के सबसे प्रभावशाली और बलशाली संगठन की बागडोर इसके हाथों में थी। त्रात्स्की और स्तालिन के बीच घोर वैमनस्य था। ये एक-दूसरे के प्रति द्वेष-भाव रखते थे और दोनों में किसी तरह की भी समानता नहीं थी। त्रात्स्की तेजस्वी लेखक और वक्ता था, और अपने-आपको महान संगठनकर्त्ता और क्रियाशील व्यक्ति भी सिद्ध कर चुका था। वह तीक्ष्ण-बुद्धि और प्रगल्भ था, उसे क्रान्ति की नई-नई कल्पनाएँ सूझा करती थीं; और अपने शत्रुओं पर वह ऐसे वचनों का प्रहार करता था जो उन्हें चाबुक और बिच्छू के डंक की तरह तिलमिला देते थे। उसकी तुलना में स्तालिन एक साधारण आदमी जँचता था—खामोश, बे-रोब और प्रतिभाहीन। मगर यह भी महान् संगठनकर्त्ता था, महान् और शूरवीर योद्धा था, और लोहे के समान दृढ़ इच्छा-शक्तिवाला व्यक्ति था। वास्तव में यह "लौह पुरुष" ही कहलाने लगा। लोग त्रात्स्की के तो गुणों की प्रशंसा करते थे, परन्तु उनके हृदयों में विश्वास भरनेवाला स्तालिन ही था। इसका जन्म जार्जिया के एक किसान-परिवार में हुआ था, इसलिए यह खुद भी जन-साधारण में से ही ऊपर उठा था। साम्यवादी दल में इन दोनों बुलन्द हस्तियों के लिए गुंजायश नहीं थी।

स्तालिन और त्रात्स्की का संघर्ष व्यक्तिगत तो था ही, परन्तु असल में इससे कुछ और अधिक था। क्रान्ति को उभार पर लाने के बारे में दोनों भिन्न-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भिन्न नीतियों और उपायों का प्रतिपादन करते थे। इस संघर्ष का परिणाम यह निकला कि स्तालिन पूरी तरह विजयी हुआ, और इसका प्रधान कारण यह था कि दल की कल उसीके हाथों में थी। त्रात्स्की और उसके समर्थक क्रान्ति के शत्रु करार दिये गये और दल से निकाल दिये गये। त्रात्स्की को पहले तो साइबेरिया भेजा गया, बाद में उसे सोवियत संघ से ही निर्वासित कर दिया गया।

त्रात्स्की से निबट लेने के बाद, स्तालिन अपनी नई कृषि-सम्बन्धी नीति का पालन करने में अद्भुत साहस के साथ दत्त-चित्त हो गया। उसे कठिन परिस्थिति का सामना करना पड़ा। बुद्धजीवियों में मुसीबत और बेकारी फैल रही थी और मजदूरों की हड़तालें तक हो रही थीं। उसने धनवान किसानों यानी 'कुलकों' पर भारी कर लगा दिये, और इस रुपये का उपयोग देहाती सामूहिक खेती के निर्माण में लगा दिया। इस सामूहिक खेती का अर्थ था सहकारिता के आधार पर ऐसी खेती, जिसमें बहुत-से किसान मिलकर काम करते थे और मुनाफा आपस में बाँट लेते थे। कुलकों और अधिक धनवान किसानों ने इस नीति पर रोष प्रगट किया और वे सोवियत-सरकार से बहुत नाराज हो गये। उन्हें डर था कि उनके ढोर और खेती के औजार उनके निर्धन पड़ोसियों के ढोरों और औजारों के साथ शामिल कर दिये जायँगे, और इस आशंका से उन्होंने सचमुच अपने जानवरों को नष्ट तक कर दिया। जानवरों का ऐसा जबरदस्त सत्यानाश हुआ कि अगले साल अन्न, गोश्त और दूध-मक्खन आदि की सख्त किल्लत पड़ गई।

स्तालिन के लिए यह ऐसी चोट थी जिसकी उसे आशा नहीं थी, मगर वह जी कड़ा करके अपने कार्यक्रम पर अटल रहा। इतना-ही नहीं, उसने तो इसे और भी बढ़ाया और उसे सारे संघ के लिए खेती-बाड़ी और उद्योग दोनों की जबरदस्त योजना का रूप दे दिया। इस योजना का काम नमूने के विशाल सरकारी खेतों तथा सामूहिक खेतों के द्वारा किसानों को उद्योगों के निकट लाना था और बड़े-बड़े कारखाने तथा जल-बिजली पैदा करने के साधन खड़े करना और खानों की खुदाई कराना वगैरा था। साथ-ही-साथ शिक्षा, विज्ञान, सहकारी क्रय-विक्रय, लाखों मजदूरों के लिए मकान बनाना और आमतौर पर उनके रहन-सहन के दर्जे को ऊँचा करना, आदि ढेरों अन्य कार्य भी हाथ में लिये जानेवाले थे। यही विख्यात "पंचवर्षीय योजना" थी, जिसे रूसी लोग अपनी भाषा में "पायातिलेत्का" कहते थे। यह बड़ा भीमकाय कार्यक्रम था, और इतना उच्चाकांक्षापूर्ण था कि किसी मालदार और प्रगतिशील देश के लिए भी एक पीढ़ी में इसे पूरा करना कठिन था। पिछड़े हुए और निर्धन रूस का तो इसमें हाथ डालना ही हद दर्जे की बेवकूफी लगती थी।

पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य यह था कि सोवियत संघ में उद्योगवादी व्यवस्था की ठोस नींव पड़ जाय। यह इरादा नहीं था कि कपड़ा इत्यादि हरएक की जरूरत का माल बनाने के लिये कुछ कारखाने खड़े कर दिये जायँ। बाहर के देशों से मशीनें

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मँगाकर खड़ी करने से यह काम बड़ी आसानी से हो जाता। उपभोग्य चीजें उत्पादन करनेवाले ऐसे उद्योग "हल्के उद्योग" कहलाते हैं। ये हल्के उद्योग अनिवार्यतः "भारी उद्योगों" पर निर्भर करते हैं, जो हल्के उद्योगों के लिए मशीनें और संरजाम और इंजन वगैरा भी मुहैया करते हैं। सोवियत सरकार ने पंचवर्षीय योजना में दूरदर्शिता के साथ इन बुनियादी या भारी उद्योगों पर सारी शक्ति लगाने का निश्चय किया। उसने सोचा कि इस प्रकार औद्योगिक व्यवस्था की जड़ मजबूती के साथ जम जायगी और बाद में हल्के उद्योग चालू करना आसान हो जायगा। भारी उद्योगों से यह भी होगा कि मशीनों और युद्ध-सामग्री के लिए रूस को बाहर के देशों पर इतना निर्भर नहीं रहना पड़ेगा।

पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत यह महान् प्रयास सन् १९२९ ई० में प्रारम्भ हुआ। क्रान्ति की भावना एक बार फिर फैल गई, एक आदर्श की पुकार ने जन-समूह के हृदयों को आलोड़ित कर दिया और उन्हें अपनी सारी शक्ति इस नये संघर्ष में लगाने के लिए प्रेरित किया। यह संग्राम किसी बाहरी शत्रु या अन्दरूनी दुश्मन के विरुद्ध नहीं था। यह संग्राम था रूस की पिछड़ी-हुई अवस्था के विरुद्ध, पूंजीवाद के अवशेषों के विरुद्ध और रहन-सहन के नीचे दर्जों के विरुद्ध। लोगों ने काफी उत्साह से इन आगे की कुर्बानियों को बरदाश्त किया, और वे तपस्वियों का-सा कठोर जीवन व्यतीत करने लगे। उन्होंने वर्तमान को उस भविष्य पर निछावर कर दिया, जो उन्हें अपनी ओर इंगित करता प्रतीत होता था, और जिसका निर्माण करने का उन्हें गौरव और सौभाग्य मिला था।

पंचवर्षीय योजना के पक्ष में निरन्तर प्रचार के द्वारा जनता का उत्साह मन्द नहीं पड़ने दिया गया और लोगों को नित्य नया प्रयत्न करने के लिए हाँका गया। जल-बिजली पैदा करनेवाले यन्त्रों, बांधों, पुलों, कारखानों, और सामुदायिक खेतों के निर्माण में सर्व-साधारण ने बड़ा रस लिया। इंजीनियरी का काम सबसे अधिक लोकप्रिय धन्धा बन गया, और अखबारों में इंजीनियरों के महान् कारनामों के यंत्र-शास्त्रीय व्यौरे भरे रहते थे। रेगिस्तान और घास के मैदान आबाद हो गये, और औद्योगिक व्यवसाय के हर स्थान के चारों ओर नये-नये नगर पैदा हो गये। नई-नई सड़कें, नई-नई नहरें, नई-नई रेलें—जिनमें अधिकांश बिजली की रेलें थीं, बनाई गई, और हवाई यातायात का विकास हुआ। रासायनिक-उद्योग, सामरिक-उद्योग और औजार-उद्योग स्थापित किये गये, और सोवियत संघ यांत्रिक-हल, मोटर गाड़ियाँ, रेल के शक्तिशाली इंजन, मोटर इंजन, टरबाईनें और वायुयान तैयार करने लगा। लम्बे-चौड़े क्षेत्रों में बिजली का जाल फैल गया, और रेडियो सबके साधारण उपयोग की चीज हो गया। बेकारी बिल्कुल गायब हो गई, क्योंकि निर्माण का तथा अन्य प्रकार का इतना काम चल रहा था कि जितने भी मजदूर मिल सकते थे वे सब काम में लगा दिये गये। यहाँतक कि अनेक इंजीनियर बाहर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के देशों से वहाँ आये और उन्हें खुशी-खुशी रख लिया गया। याद रखने की बात यह है कि यह वह जमाना था, जबकि सारे पश्चिमी योरप और अमरीका में मन्दी फैल रही थी और वहाँ बेकारों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई थी।

पंचवर्षीय योजना का कार्य सरलता के साथ नहीं चला। अक्सर दिक्कतें पैदा हो जाती थीं, संयोजन में कमी हो जाती थी, काम उल्टे हो जाते थे, और मेहनत बेकार चली जाती थी। परन्तु इन सब बातों के बावजूद कार्य का वेग बढ़ता गया और हमेशा अधिकाधिक कार्य की पुकार मचती रही। और तब यह नारा उठाया गया —"पंचवर्षीय योजना चार वर्षों में पूरी होना चाहिए", मानो इस अद्भुत कार्यक्रम के लिए पाँच वर्ष का समय भी बहुत ज्यादा था। यह योजना औपचारिक रूप से ३१ दिसम्बर, १९३२ ई० को, यानी चार वर्ष बाद-ही, समाप्त हो गई। और फिर १ जनवरी १९३३ ई० से तुरन्त-ही नई पंचवर्षीय योजना चालू कर दी गई।

इस पंचवर्षीय योजना के बारे में लोग अक्सर तर्क-वितर्क किया करते हैं— कुछ तो कहते हैं कि इसे जबरदस्त सफलता मिली और कुछ कहते हैं कि यह बिल्कुल असफल रही। उसमें कहीं-कहीं कसर रही, यह बतला देना काफी आसान है, क्योंकि इससे जो आशाएँ बाँधी गई थीं, वे बहुत बातों में पूरी नहीं हुईं।

पंचवर्षीय योजना की सफलता या असफलता के बारे में तर्क-वितर्क बहुत कुछ निस्सार है। इसका सही जबाव तो सोवियत संघ की वर्तमान अवस्था से मिल जाता है। और दूसरा जबाब यह तथ्य है कि इस योजना की छाप दुनिया-भर के लोगों के दिलों में बैठ गई है। अब सब जगह "आयोजना" की ओर पंचवर्षीय, दशवर्षीय और तीनवर्षीय-योजनाओं की चर्चा हो रही है। सोवियत ने इस शब्द में जादू भर दिया है।

परन्तु जैसाकि मैं बतला चुका हूँ, इस पंचवर्षीय योजना के कारण बहुत मुसीबतें और कठिनाइयाँ और उखाड़-पछाड़ पैदा हो गईं। और जनता को इसकी भयंकर कीमत चुकानी पड़ा। अधिकतर लोगों ने तो यह कीमत राजी से चुकाई, और अच्छे दिनों के आने की आशा में कुछ वर्षों के लिए कुर्बानियाँ और मुसीबतें झेलना स्वीकार कर लिया; कुछ लोगों ने अनिच्छा से कीमत चुकाई, और केवल सोवियत-सरकार की जबरदस्ती की वजह से चुकाई। 'कुलकों' या अधिक धनवान किसानों की गिनती उन लोगों में थी, जिन्होंने सबसे अधिक नुक़सान उठाया। अपने अधिक धन और विशेष प्रभाव के कारण नई योजना में इन लोगों का मन नहीं बैठा। ये ऐसे पूंजीपति तत्त्व थे, जो सामूहिक खेती की समाजवादी ढंग पर उन्नति को रोकते थे। अक्सर वे इस सामूहिकरण का विरोध करते थे, कभी-कभी ये इन सामूहिक खेतियों में उन्हें भीतर से कमजोर करने के इरादे से, या उनसे बेजा व्यक्तिगत मुनाफे वसूल करने के इरादे से घुस जाते थे। इसलिए सोवियत-सरकार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ने इन्हें बुरी तरह दबोच दिया। सरकार ने उन अनेक मध्यम-वर्गी लोगों पर भी बड़ी सख्ती की, जिनपर उसे यह सन्देह था कि वे उसके शत्रुओं की ओर से भेदियों का, या तोड़-फोड़ का काम कर रहे हैं। इसी सन्देह के कारण बहुत-से इंजीनियरों को सजाएँ दी गई और जेलों में डाल दिया गया। मगर चूँकि हाथ में ली हुई सैकड़ों बड़ी-बड़ी योजनाओं के लिए इंजीनियरों की विशेष जरूरत थी, इसलिए इससे खुद योजना को ही धक्का पहुँचा।

करीब-करीब हर जगह विषमानुपात था। ढुलाई की व्यवस्था ठीक नहीं थी, इसलिए कारखानों का उत्पादन और खेतों की उपज ढुलाई के साधनों की कमी के कारण महीनों पड़े रहते थे, जिसकी वजह से दूसरी जगहों के काम में गड़बड़ी पड़ जाती थी। मगर सबसे बड़ी कठिनाई तो सुयोग्य विशेषज्ञों और इंजीनियरों की कमी की थी।

पंचवर्षीय योजना के वर्षों के दरमियान सारी दुनिया में, या यों कहो कि पूंजीवादी व्यवस्थावाली दुनिया में, इतनी जबरदस्त मन्दी फैल रही थी जितनी पहले कभी नहीं हुई। व्यापार डूब रहा था, कारखाने बन्द हो रहे थे, बेकारी खूब बढ़ रही थी। अन्न और कच्चे माल की कीमतों में गिरावट के कारण सारी दुनिया के खेतिहरों में त्राहि-त्राहि मची हुई थी। सोवियत संघ में तो जबरदस्त हलचल और रोजगारी थी, पर अन्य देशों में काम ठप्प हो रहा था और बेरोजगारी फैली हुई थी। इसलिए यह अन्तर बड़ा विचित्र दिखाई देता था। ऐसा मालूम होता था कि जागतिक मन्दी का सोवियत संघ पर कोई असर नहीं पड़ा था, क्योंकि उसकी आर्थिक व्यवस्था का आधार ही भिन्न प्रकार था। परन्तु सोवियत संघ भी मन्दी के परिणामों से बच नहीं पाया—ये अप्रत्यक्ष रूप में चुपचाप घुस आये और इनके कारण रूस की दिक्कतें बहुत ज्यादा बढ़ गई। मैं बतला चुका हूँ कि सोवियत रूस बाहर के देशों से मशीनें खरीदता था और इनके दाम चुकाने के लिए वह अपने यहाँ पैदा होनेवाले खाद्य-पदार्थ विदेशों में बेचता था। जब संसार की मंडियों में खाद्य-पदार्थों इत्यादि के भाव गिरे, तो सोवियत को निर्यात से कम आमदनी होने लगी। मगर उसे अपनी खरीदी हुई मशीनों के दाम चुकाने के लिए काफी सोना प्राप्त करना जरूरी था, इसलिए वह दिन-पर-दिन अधिक खाद्य-पदार्थ का निर्यात करने लगा। इस प्रकार व्यापार की जागतिक मन्दी और भावों के गिर जाने से रूस को बहुत नुक़सान हुआ और उसके बहुत-से अनुमान उलट-पुलट हो गये। औरइ सके परिणामस्वरूप देश में अनेक आवश्यक वस्तुओं की और भी ज्यादा कमी हो गई और तकलीफें बढ़ गई।

एक ओर तो सारे सोवियत संघ में खाद्य-पदार्थों की निरन्तर कमी होती जा रही थी, दूसरी ओर जनसंख्या में जबरदस्त वृद्धि हो रही थी। तीव्र गति से होनेवाली यह वृद्धि, जो कृषि-सम्बन्धी उत्पादन की तुलनात्मक मन्द प्रगति के अनुपात से बहुत अधिक थी, सोवियत की प्रधान समस्या थी। पन्द्रह से कुछ-ही ऊपर वर्षों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में यहाँ की जनसंख्या में ३,५०,००००० की वृद्धि हुई है—यानी २६ प्रतिशत वृद्धि हुई है, और यह अपूर्व बात है।

सन् १९३१ ई० में संघ के कुछ भागों में सूखा पड़ जाने के कारण खाद्य-पदार्थों-सम्बन्धी कठिनाइयाँ और भी अधिक बढ़ गईं। सन् १९३१ और १९३२ ई० में पूर्व में युद्ध के खतरे भी पैदा हो गये थे, इसलिए सोवियत ने इस डर से, कि अन्य पूंजीवादी शक्तियों से मिलकर जापान कहीं हमला न कर बैठे और इससे युद्ध न छिड़ जाय, जरूरत के वक्त के लिए सेना के लिए नाज तथा अन्य खाद्यान्न-पदार्थों का संग्रह करना शुरू कर दिया। एक पुरानी रूसी कहावत है—"डर से आँखें बड़ी हो जाती हैं।" यह बात कितनी सही है ! चाहे आप इसे छोटे बच्चों पर लागू कीजिये, या जातियों और राष्ट्रों पर। चूँकि साम्यवाद तथा पूंजीवाद के बीच सच्ची सुलह कभी नहीं हो सकती और साम्राज्यशाही राष्ट्र साम्यवाद को दबाने पर बहुत आमादा हैं, और इस प्रयोजन से चालबाजियाँ और साजिशें करते रहते हैं, इसलिए बोल्शेविकों के दिलों में हरदम घबराहट बनी रहती है, और जरा-सी भी उत्तेजना मिलते ही व आँखें फाड़कर देखने लगते हैं। बहुत बार तो उनकी इस परेशानी का कारण भी होता है। खुद अपने-ही घर में उन्हें तोड़-फोड़ के, या कारखानों और अन्य बड़े धन्धों को नष्ट करने के व्यापक प्रयत्नों का मुकाबला करना पड़ता है।

उन्नीस सौ बत्तीस का साल सोवियत संघ के लिए बहुत नाजुक वर्ष था। बहुत-से सामुदायिक खेतों में तोड़-फोड़ की तथा सामुदायिक सम्पत्ति की चोरी की जो घटनाएँ हुई, उनके विरुद्ध सोवियत-सरकार ने बड़ी सख्त कार्रवाइयाँ की। साधारण तौर पर रूस में मृत्यु-दण्ड का विधान नहीं है, परन्तु प्रति-क्रान्ति के अपराधों के लिए इसे जारी कर दिया गया। सोवियत-सरकार ने आज्ञप्ति निकाल दी कि सामुदायिक सम्पति की चोरी प्रति-क्रान्ति के बराबर का अपराध है, इसलिए इसकी सजा मौत है।

सोवियत-सरकार ने लोगों की परेशानी दूर करने के लिए अन्य तरीकों से भी कार्रवाइयाँ की। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण यह थी कि सामुदायिक तथा व्यक्तिगत खेतिहरों को अपनी फालतू उपज सीधी शहरों की मंडियों में बेचने की अनुमति दे दी गई। यह चीज हमें कुछ हद तक उस नई आर्थिक योजना की याद दिलाती है, जो सन् १९२१ ई० में आक्रमक साम्यवाद के ज़माने के बाद शुरू हुई थी, परन्तु उस समय के तथा आज के सोवियत संघ में बहुत फर्क है। आज वह समाजवाद के राज-मार्ग पर बहुत आगे बढ़ चुका है, उसका औद्योगिकरण हो गया है और उसकी खेती बहुत-कुछ सामुदायिक बना दी गई है।

सहकारी संगठन की प्रवृत्ति एक और ऐसी प्रवृत्ति है जिसमें आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। उपभोक्ताओं की सहकारी समिति के सदस्यों की संख्या सन् १९२८

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ई० में २,६५,००,००० थी; सन् १९३२ ई० में यह संख्या ७,५०,००,००० हो गई। इस समिति के पास थोक तथा फुटकर बिक्री-भण्डारों की शृंखला संघ के एक सिरे से दूसरे सिरे तक, और कोने-कोने में, फैली हुई है।

सन् १९३३ ई० की पहली जनवरी को दूसरी पंचवर्षीय योजना का प्रारम्भ हुआ। इसका उद्देश्य हल्के उद्योग स्थापित करना है, जिससे जनता के रहन-सहन का दर्जा बहुत जल्दी ऊँचा हो जायगा। यह भी आशा है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना के कठोर परिश्रम और संकट के बाद इससे लोगों को अधिक आराम और रहन-सहन की बेहतर हालत के रूप में कुछ पुरस्कार दिया जा सकेगा। अब अधिकतर आवश्यक मशीनें खरीदने के लिए बाहर के देशों में जाने की जरूरत नहीं रही, क्योंकि सोवियत के ये भारी उद्योग ये मशीनें तैयार करने लगे हैं। विदेशों में खरीदे हुए माल के दाम चुकाने के निमित्ति भारी परिमाण में खाद्यान्न-पदार्थ बाहर भेजने की इल्लत से भी अब सोवियत को राहत मिल गई है।

बस, इस प्रकार इन कठिन परिश्रमपूर्ण वर्षों में सोवियत संघ में हर जगह और हर बात में उन्नति हुई है। यह उन्नति कष्टप्रद और विषमतापूर्ण तो है, परन्तु शहरों और उद्योगों का, विशाल सामूहिक खेतों और जबरदस्त सहकारी समितियों का, व्यापार और आबादी का, और संस्कृति और विज्ञान और विद्या का भी, विस्तार तो हुआ ही है। और सबसे बड़ी बात यह है कि इन वर्षों के भीतर सोवियत संघ में बाल्टिक सागर से लगाकर प्रशान्त महासागर और पामीर और मध्य-एशिया के हिन्दूकुश पर्वतों तक निवास करनेवाली अनेक भिन्न-भिन्न कौमों में एकता और संगठन की वृद्धि हुई है।

मुझे लोभ होता है कि सोवियत रूस में शिक्षा और विज्ञान और संस्कृति की व्यापक प्रगति के बारे में मैं लिखूँ, परन्तु मुझे अपने ऊपर लगाम लगानी पड़ेगी। मैं कुछेक इधर-उधर के ऐसे तथ्यों का जिक्र करूँगा जो शायद तुम्हें रुचिकर हों। अनेक अनुभवी आलोचकों की धारणा है कि रूस की शिक्षा-प्रणाली आज संसार-भर में सर्वश्रेष्ठ और सबसे अधिक समयानुकूल है। निरक्षरता का तो एक तरह से अन्त ही हो गया है, और मध्य-एशिया के उज़बेकिस्तान तथा तुर्कमेनिस्तान जैसे पिछड़े हुए इलाकों ने अत्यन्त आश्चर्यजनक प्रगति की है। मध्य-एशिया के इस प्रदेश में, १९१३ ई० में १२६ स्कूल थे, जिनमें ६,२०० विद्यार्थी थे। वहाँ सन् १९३२ ई० में ६, ९७५ स्कूल हो गये, जिनमें सात लाख विद्यार्थी थे और इनमें एक-तिहाई से अधिक लड़कियाँ थीं। इस अपूर्व प्रगति का महत्त्व समझने के लिए तुम्हें यह बात याद रखनी चाहिए कि अभी कुछ-ही दिन पहले तक संसार के इस भाग में लड़कियाँ परदे में रखी जाती थीं।

---

[1] रूस की दूसरी पंचवर्षीय योजना १९३७ में पूर्ण हो गई। अब वहाँ छठी पंचवर्षीय योजना चल रही है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साक्षरता की वृद्धि और शिक्षा की प्रगति के फलस्वरूप पढ़नेवालों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई है और रूस में जितनी पुस्तकें और जितने अखबार छपते हैं उतने शायद किसी अन्य देश में नहीं छपते। ये पुस्तकें अधिकतर ग भीर और गहन विषयों की होती हैं, अन्य देशों की भाँति ह के उपन्यास नहीं। रूसी मज़दूर को इंजीनियरी और बिजली के बारे में इतना कौतूहल है कि वह कहानी पुस्तकों की अपेक्षा इन विषयों की पुस्तकें पढ़ना ज्यादा पसन्द करता है। परन्तु बच्चों के लिए काल्पनिक कहानियों तक की भी बड़ी मज़ेदार पुस्तकें हैं, हालाँकि मेरे ख़याल से कट्टर बोल्शेविक लोग काल्पनिक कहानियों को अच्छी नहीं समझते। विज्ञान के क्षेत्र में, यानी शुद्ध विज्ञान और उसके अनेकों व्यावहारिक उपयोगों में, रूस प्रथम श्रेणी पर पहुँच चुका है। विज्ञान की विभिन्न शाखाओं की अनेकों विशाल संस्थाएँ और प्रयोगशालाएँ तैयार हो गई हैं। लेनिनग्राद में बनस्पति उद्योग की एक विशाल प्रय गशाला है जिसके पास कम-से-कम २८००० विभिन्न किस्मों के गेहूँ हैं। यह शाला वायुयानों के द्वारा चावल बोने के तरीकों पर प्रयोग कर रही है।

ज़ारों और उमरावों के पुराने महलों में अब जनता के लिए अजायबघर और विश्राम-गृह और स्वास्थ्य-सदन बना दिये गये हैं। लेनिनग्राद के नज़दीक एक छोटा-सा क़सबा है, जो "ज़ारको-सेलो" (ज़ार का गाँव) कहलाता था, क्योंकि उसमें दो शाही महल थे और गर्मी के मौसम में ज़ार वहाँ रहा करता था। अब इसका नाम बदलकर "दैत्स्को-सेलो" (बच्चों का गाँव) रख दिया गया है, और मेरा खयाल है कि पुराने महल अब छोटे बच्चों और लड़के-लड़कियों के काम आते हैं। आज सोवियत भूमि में बच्चों और लड़के-लड़कियों का सबसे अधिक ध्यान रखा जाता है। उन्हें अच्छी-से-अच्छी वस्तुएँ दी जाती हैं, भले-ही दूसरे लोगों को इनकी कमी सहनी पड़े। आज की पीढ़ी उन्हींके लिए सारा परिश्रम कर रही है, क्योंकि समाजवादी और वैज्ञानिक व्यवस्थावाले राज्य के उत्तराधिकारी वे ही बननेवाले हैं बशर्ते कि ऐसा राज्य उनके जीवन काल में स्थापित हो जाय। मास्को में "माता तथा शिशु-हितकारिणी केन्द्रीय शाला" एक महान् संस्था है।

रूस में स्त्रियों को जितनी आज़ादी है, उतनी शायद किसी अन्य देश में नहीं है। साथ-ही राज्य की ओर से उन्हें विशेष संरक्षण मिले हुए हैं। सारे धन्धे उनके लिए खुले हुए हैं और स्त्री इंजीनियरों की संख्या तो काफी बड़ी है।

हर दिन और हर घड़ी होनेवाले इन परिवर्तनों के कारण सोवियत संघ कौतूहल उत्पन्न करनेवाली भूमि बन गया है। लेकिन उसका कोई हिस्सा इतना कौतूहलपूर्ण और चित्ताकर्षक नहीं है, जितने कि साइबेरिया के मैदान और मध्य-एशिया की प्राचीन घाटियाँ। ये दोनों मानवीय परिवर्तन और प्रगति की धारा से विलग थे, पर अब बड़े वेग से छलाँग मारकर आगे बढ़ रहे हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: १२० :

विज्ञान की प्रगति : सदुपयोग और दुरुपयोग

उद्योगों में और दैनिक जीवन में विज्ञान के व्यावहारिक उपयोगों के कारण जो जबरदस्त परिवर्तन उन्नीसवीं सदी में हुए, उनका हाल मैं लिख चुका हूँ। संसार का, और खासकर पश्चिमी योरप तथा उत्तरी अमरीका का तो रूप-ही बिल्कुल बदल गया—इतना बदला जितने पिछले हज़ारों वर्षों में भी नहीं बदला। उन्नीसवीं सदी में योरप की आबादी में जबरदस्त वृद्धि तो एक महान् आश्चर्यंकारक तथ्य है। सन् १८०० ई० में समूचे योरप की कुल आबादी अठारह करोड़ थी। यह युग-युगान्तर में धीरे-धीरे इस संख्या तक पहुँची थो। लेकिन फिर यह तीर की तरह दौड़ी, और सन् १९१४ ई० में ४६ करोड़ हो गई। इसी समय के भीतर-ही करोड़ों योरपवासी अन्य महाद्वीपों में, खासकर अमरीका में, जाकर बस गये, और इनकी संख्या हम चार करोड़ के लगभग आँक सकते हैं। इस प्रकार सौ वर्षों से कुछ-ही अधिक समय में योरप की आबादी अठारह करोड़ से बढ़कर पचास करोड़ हो गई। यह वृद्धि योरप के उद्योग-प्रधान देशों में विशेष रूप से प्रगट हुई। अठारहवीं सदी के प्रारम्भ में इंग्लैण्ड की आबादी केवल पचास लाख थी, और यह देश योरप के सबसे दरिद्र देशों में गिना जाता था। परन्तु यह दुनिया का सबसे धनवान देश बन गया और इसकी आबादी चार करोड़ हो गई।

वैज्ञानिक जानकारी ने यह सम्भव कर दिया था कि प्रकृति की प्रक्रियाएँ मनुष्य के अधिक वश में हो जायँ, या यों कहो कि वह उनके रहस्य को समझ जाय, और यह वृद्धि और धन-दौलत इसीका परिणाम थी। इस जानकारी में बड़ी भारी वृद्धि जरूर हुई, परन्तु यह न समझ लेना कि इसके कारण विवेक-बुद्धि भी ज़रूरी तौर पर बढ़ गई है। मनुष्य ने प्रकृति के बलों को वश में करना और अपने उपयोग में लाना तो शुरू कर दिया, पर उसे इस बात की स्पष्ट कल्पना नहीं थी कि उसके जीवन का लक्ष्य क्या है या क्या होना चाहिए। शक्तिशाली मोटर-गाड़ी एक उपयोगी और वांछनीय चीज है, परन्तु यह तो मालूम होना चाहिए कि उसमें बैठकर कहाँ जाना है। अगर उसका संचालन ठीक तरह न किया जाय, तो सम्भव है कि वह खड्ड में जा गिरे। ब्रिटिश ऐसोसिएशन ऑफ साइन्स के अध्यक्ष ने कुछ दिन हुए कहा था—"मनुष्य ने अपने-आपको तो वश में करना सीखा ही नहीं, और प्रकृति को अपने वश में कर लिया!" दुनिया के अधिकतर लोग रेलों, वायुयानों, बिजली, बेतार-यन्त्र और विज्ञान के हज़ारों अन्य आविष्कारों का उपयोग करते हैं, पर यह कभी नहीं सोचते कि ये आये कहाँ से हैं। हम इन्हें स्वयं-सिद्ध मानकर चलते हैं, मानो इनका उपभोग करना हमारा अधिकार है। और हमें इस बात

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का बड़ा अभिमान है कि हम एक प्रगतिशील युग में रहते हैं और ख़ुद भी बहुत ज्यादा प्रगति कर चुके हैं। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि हमारा यह युग पिछले युगों से बहुत भिन्न है, और मेरे ख़याल से यह कहना भी बिल्कुल सही है कि यह युग पिछले युगों से बहुत अधिक आगे बढ़ा हुआ है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यक्तिगत या सामुदायिक रूप में मनुष्य ने कुछ ज्यादा प्रगति कर ली है। यह कहना हद दर्जे की बेवक़ूफ़ी होगी कि चूँकि इंजन का ड्राइवर इंजन चला सकता है और अफ़लातून या सुक़रात नहीं चला सकते थे, इसलिए इंजन का ड्राइवर अफ़लातून या सुक़रात से आगे बढ़ा हुआ है या श्रेष्ठतर है। हाँ, यह कहना बिल्कुल सही होगा कि अफ़लातून के रथ की अपेक्षा आज का इंजन आवागमन का अधिक उन्नत साधन है।

इसलिए हमारा यही समझने में भला है कि दुनिया में ज्ञान की जो इतनी वृद्धि हुई है, उसका यह लाज़िमी अर्थ नहीं है कि हम ज्यादा अच्छे बन गये हैं या ज्यादा बुद्धिमान हो गये हैं। ज्ञान का पूरा लाभ हम तभी उठा सकते हैं जब यह सीख लें कि उसका उचित उपयोग क्या है। अपनी शक्तिशाली गाड़ी को बेतहाशा दौड़ाने से पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि हमें किधर जाना है। अर्थात् हमें इसकी तो कुछ कल्पना होनी चाहिए कि हमारे जीवन का लक्ष्य और ध्येय क्या होना चाहिए। आज अनगिनती लोगों के दिलों में ऐसी कोई धारणा नहीं है, और वे इसके बारे में कभी चिन्ता ही नहीं करते। रहते तो वे विज्ञान के युग में हैं, परन्तु उनके तथा उनके कार्यों का संचालन करनेवाले विचार युगों पहले के हैं। इसलिए कठिनाइयों और संघर्षों का पैदा होना स्वाभाविक है। होशियार बन्दर शायद मोटर-गाड़ी चलाना सीख जाय, पर उसके हाथ में गाड़ी दे देना निरापद नहीं है।

वैज्ञानिकों ने सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पिण्डों के बारे में अनुसन्धान किये हैं। उदाहरण के लिए सुई की नोक को ले लो। यह शायद छोटी-से-छोटी चीज़ है, जिसे हमारी आँख बिना किसी यन्त्र की सहायता के देख सकती है। इसमें अणु होते हैं, जो एक-दूसरे के चारों ओर वेग से चक्कर काटते रहते हैं; हर अणु में परमाणु होते हैं, और ये भी बिना एक-दूसरे से टकराये चक्कर लगाते रहते हैं; और हर अणु में अनेक विद्युत के-कण या विद्युत-आवेश या प्रोटोन और इलेक्ट्रोन या जो-कुछ भी कहो, होते हैं, और ये भी निरन्तर अपरिमित वेग से गति करते रहते हैं। इनसे भी सूक्ष्म पोज़ीट्रोन और न्यूट्रोन और डेट्रोन होते हैं; और यह अदान्ज़ लगाया गया है कि एक पोज़ीट्रोन की औसत आयु एक सेकण्ड का अरबवाँ भाग होती है! याद रखने की बात यह है कि अणु इतना सूक्ष्म होता है कि सबसे अधिक वर्धन-सामर्थ्यवाली ख़ुर्दबीन के द्वारा भी नहीं देखा जा सकता।[1] रही परमाणुओं और

[1] अब इलेक्ट्रोनिक ख़ुर्दबीन के द्वारा अणुओं का देखा जाना सम्भव हो गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रोटोन (धनाणु) और इलेक्ट्रोन (विद्युताणु) की बात, सो इनकी तो कल्पना तक भी नहीं की जा सकती। परन्तु विज्ञान की शैली इतनी प्रगति कर चुकी है कि इन प्रोटोन तथा इलेक्ट्रोन के बारे में बहुत काफ़ी जानकारी हासिल की जा चुकी है, और कुछ दिन हुए परमाणु का विघटन भी कर दिया गया है।

उन्नीसवीं सदी के अग्रणी विज्ञान भौतिकी और रसायन थे। इनकी सहायता से प्रकृति की या बाह्य जगत की लगाम मनुष्य के हाथ में आ गई। इसके बाद विज्ञानवेत्ता मनुष्य ने अपने भीतर दृष्टि डालनी शुरू की और अपना-ही अध्ययन शुरू किया। तब जीव-विज्ञान का महत्त्व बढ़ा। जीव-विज्ञान में मनुष्य और पशुओं और वनस्पतियों के जीवन का अध्ययन किया जाता है। इस विज्ञान ने इतने-ही दिनों में अद्भुत प्रगति कर ली है। इस विज्ञान के विशेषज्ञों का कहना है कि इन्जैक्शन लगाकर अथवा अन्य उपायों से मनुष्य के गुण या स्वभाव में परिवर्तन उत्पन्न करना बहुत शीघ्र सम्भव हो जायगा। इस प्रकार शायद यह सम्भव हो जाय कि किसी कायर मनुष्य के स्वभाव को बदलकर उसे साहसी मनुष्य बना दिया जाय, या यह भी बहुत-कुछ सम्भव है कि कोई सरकार अपने आलोचकों और विरोधियों से निबटने के लिए इस प्रकार उनकी प्रतिरोध की शक्ति को ही कम कर दे!

जीव-विज्ञान के बाद मनुष्य ने आगे मनोविज्ञान की सीढ़ी पर क़दम रखा है। इस विज्ञान में मानव-जाति के मानस का, और विचारों का, नीयतों, भयों और आकांक्षाओं का विवेचन किया जाता है। इस प्रकार विज्ञान नये-नये क्षेत्रों पर धावे बोल रहा है, और हमें अपने बारे में बहुत-सी बातें बतला रहा है, और इस प्रकार हमें अपने-आपको वश में करने में सहायता दे रहा है।

जनन-विज्ञान भी जीव-विज्ञान से आगे की सीढ़ी है। यह विज्ञान मनुष्य जाति की नस्ल के सुधार से सम्बन्ध रखता है।

यह देखना दिलचस्प है कि कुछ जीवों के अध्ययन से विज्ञान के विकास में कितनी सहायता मिली है। बेचारे मेंढ़क को चीर-फाड़कर यह पता लगाया गया है कि स्नायु और मांसपेशियाँ किस प्रकार अपना काम करती हैं। अधिक पके केलों पर बैठनेवाली नन्हीं-सी और नगण्य-सी मक्खी, जिसे केला-मक्खी कहते हैं, के द्वारा आनुवंशिकता के सम्बन्ध में जितनी जानकारी प्राप्त हुई है, उतनी अन्य किसी साधन से नहीं हुई। इस मक्खी के ध्यानपूर्वक निरीक्षण से पता लगा है कि एक वंश के गुण और स्वभाव संस्कारों के रूप में किस प्रकार अगले वंश में आ जाते हैं। कुछ हद तक इससे यह जानने में सहायता मिलती है कि मनुष्य जाति में आनुवंशिकता का सिद्धान्त किस प्रकार घटित होता है।

हमको बहुत-सी बातें सिखानेवाला एक और बेकार-सा जीव साधारण टिड्डा है। अमरीकी निरीक्षकों ने टिड्डों का दीर्घ-कालतक और ध्यानपूर्वक अध्ययन करके

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बतलाया है कि जानवरों में और मनुष्यों में लिंग-भेद कैसे उत्पन्न होता है। अब हम इस विषय में बहुत-कुछ जानते हैं कि नन्हा-सा भ्रूण, ठेठ गर्भाधान के समय से ही किस प्रकार नर या मादा बनता है, और धीरे-धीरे विकसित होकर छोटा-सा नर या मादा पशु अथवा लड़का या लड़की बन जाता है।

चौथा उदाहरण मामूली घरेलू कुत्ते का है। हमारे ही ज़माने के एक सुप्रसिद्ध रूसी वैज्ञानिक पावलोव ने ध्यानपूर्वक कुत्तों का निरीक्षण शुरू किया, और खास-तौर पर यह नोट किया कि भोजन को देखते-ही उनके मुँह में पानी कब आता है। उसने कुत्ते के मुँह में इस प्रकार पैदा होनेवाली लार का परिमाण तक नाप लिया। भोजन को देखते-ही कुत्ते के मुँह में पानी आना स्वत: होनेवाली क्रिया होती हैं, जिसे "अनैच्छिक प्रतिक्रिया"[1] कहा जाता है। छोटा बच्चा ठीक इसी प्रकार से, बिना पूर्व अनुभव के छींकता है, या जम्भाई लेता है या अंगड़ाई लेता है।

इसके बाद पावलोव ने "ऐच्छिक प्रतिक्रिया"[2] उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। अर्थात् उसने कुत्ते को एक ख़ास संकेत पर भोजन की प्रतीक्षा करना सिखाया। नतीजा यह हुआ कि कुत्ते के मानस में यह संकेत भोजन के साथ सम्बद्ध हो गया और भोजन सामने न आने पर भी उसीके समान प्रतिक्रिया उत्पन्न करने लगा।

कुत्तों तथा उनके मुख में पैदा होनेवाली लार पर किये गये इन प्रयोगों को मानव-मनोविज्ञान का आधार बनाया गया है। यह सिद्ध कर दिया गया है कि शिशुकाल में मनुष्य में किस प्रकार बहुत-सी अनैच्छिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं, और ज्यों-ज्यों वह वय प्राप्त करता जाता है, त्यों-त्यों उसमें ऐच्छिक प्रतिक्रियाओं का उत्तरोत्तर विकास होता जाता हैं। सच तो यह है कि हम इस ऐच्छिक प्रतिक्रिया के आधार पर हीं सबकुछ सीखते हैं। इसीके अनुसार हमारी आदतें बनतीं हैं और हम भाषाएँ आदि सीखते हैं। हमारी क्रियाएँ हमारी प्रतिक्रियाओं से संचालित होती हैं, और ये प्रतिक्रियाएँ रुचिकर भी होती हैं और अरुचिकर भी। सामान्य भय का ही उदाहरण ले लो। जब कोई आदमी अपने निकट साँप को देखकर या साँप से मिलते-जुलते रस्सी के टुकड़े को देखकर, बिना सोच-विचार किये बड़ी तेज़ी से उछल पड़ता है, तो इसके लिए उसे पावलोव के प्रयोगों की जानकारी की आवश्यकता नहीं होती।

पावलोव के प्रयोगों ने मनोविज्ञान के सारे शास्त्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया है। कुछ प्रयोग तो बहुत-ही रोचक हैं, परन्तु यहाँ मैं इस प्रश्न की अधिक व्याख्या नहीं कर सकता। फिर भी में यह ज़रूर बता देना चाहता हूँ कि मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान के और भी कई महत्त्वपूर्ण तरीक़े हैं।

---

[1] अनकण्डीशन्ड रिफ़लेक्स।
[2] कण्डीशन्ड रिफ़लेक्स।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जबसे विज्ञान ने मानव-जीवन में बड़ी-बड़ी मशीनों का प्रवेश कराया है, तभी से उनमें सुधार करने की प्रक्रिया निरन्तर चली आ रही है। मशीनों को अधिक कारगर और मनुष्य की मेहनत पर कम निर्भर बनाने के लिए हर साल तो क्या, हर महीने अनगिनत छोटे-छोटे फेर-बदल होते रहते हैं। यान्त्रिक-कला में ये सुधार या यन्त्र-शास्त्र में ये प्रगतियाँ, बीसवीं सदी के पिछले तीस वर्षों में तो खास तेज़ी के साथ हुई हैं। गत वर्षों में परिवर्तन की यह गति, जो अब भी चालू है, इतनी जबरदस्त रही है कि इसने उद्योगों तथा उत्पादन के साधनों में वैसा-ही क्रान्तिकारी परिवर्त्तन कर दिया है जैसाकि अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में औद्योगिक-क्रान्ति के कारण हुआ था। उत्पादन के कार्यों में बिजली का निरन्तर बढ़ता हुआ उपयोग इस क्रान्तिकारी परिवर्तन का बड़ा कारण है। इस प्रकार बीसवीं सदी में, खासकर संयुक्त-राज्य अमरीका में, महान् वैद्युत-क्रान्ति हुई है, और इसके फलस्वरूप जीवन की परिस्थितियाँ ही बिल्कुल बदल गई हैं। जिस प्रकार अठारहवीं सदी की औद्योगिक-क्रान्ति के फलस्वरूप यन्त्र-युग का उदय हुआ, उसी प्रकार वैद्युत-क्रान्ति के फलस्वरूप अब शक्ति-युग का प्रादुर्भाव हो रहा है। उद्योगों, रेलों तथा अन्य अनगिनती प्रयोजनों के लिए उपयोग में आनेवाली विश्रुत-शक्ति अब हर चीज़ पर हावी हो रही है। यही कारण था कि लेनिन ने बड़े दूर की बात सोचकर सारे रूस में जल-बिजली के विशाल बिजली-घर बनाने का निश्चय किया था।

अन्य सुधारों के साथ-साथ उद्योगों में विद्युत-शक्ति के इस उपयोग के फलस्वरूप बिना अधिक खर्च के ही महान् परिवर्तन हो जाता है। मसलन, बिजली से चलनेवाली मशीनों में ज़रा-सी फेर-बदल से उत्पादन दुगना हो जाता है। इसका बहुत बड़ा कारण मानव-उपादान का उत्तरोत्तर कम किया जाना है, क्योंकि मनुष्य धीरे-धीरे काम करता है और कभी-कभी भूल भी कर बैठता है। इसलिए ज्यों-ज्यों मशीनों में उन्नति होती जाती है, त्यों-त्यों उनपर काम करनेवाले मज़दूरों की संख्या कम होती जाती है। आजकल एक अकेला मनुष्य कुछ हत्थों को घुमाकर या बटनों को दबाकर बड़ी-बड़ी मशीनों का संचालन करता है। इसका परिणाम यह होता है कि कारखानों में तैयार होनेवाले माल का उत्पादन बहुत अधिक बढ़ जाता है, और साथ-ही कारखानों के बहुत-से मज़दूर निकाल दिये जाते हैं, क्योंकि अब उनकी जरूरत नहीं रहती। इसीके साथ साथ यन्त्र-शास्त्र में इतनी तेज़ी से प्रगति हो रही है कि कोई नई मशीन कारख़ाने में लगने भी नहीं पाती कि नये सुधारों के कारण वह कुछ हद तक पुराने ढंग की हो जाती है।

विज्ञान अपने पीछे अनेक अच्छी चीज़ें लेकर आया है, परन्तु इसी विज्ञान ने युद्ध की बीभत्सता को भयंकर रूप से बढ़ा दिया है। राज्यों और सरकारों ने विशुद्ध अथवा व्यावहारिक विज्ञान की अनेक शाखाओं की उपेक्षा की है। परन्तु उन्होंने विज्ञान के सामरिक पहलू की उपेक्षा नहीं की है, और अपने-आपको हथि-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यारों से लैस करने के लिए और अपना बल बढ़ाने के लिए विज्ञान की नवीनतम व्यावहारिक-कला का पूरा उपयोग किया है। सारी स्थिति का अन्तिम विश्लेषण यह है कि अधिकांश राज्यों का सहारा पशु-बल है, और वैज्ञानिक-शिल्प (टेकनीक) इन हुकूमतों को इतना बलवान बना रहा है कि वे परिणामों से बिल्कुल न डरकर जनता पर मनमाने अत्याचार कर सकती हैं। वह पुराना ज़माना बहुत दिन हुए बीत चुका, जब जनता अत्याचारी हुकूमतों के विरुद्ध उपद्रव किया करती थी, और आम रास्तों में नाकेबन्दियाँ करके लड़ा करती थी, जैसाकि फ़्रान्स की महान् क्रान्ति में हुआ था : अब किसी निहत्थी या हथियारबन्द भीड़ के लिए राज्य के सुसंगठित और सुसज्जित सैन्य-बल से लड़ना असम्भव हो गया है। यह दूसरी बात है कि राज्य की सेना ख़ुद-ही विद्रोह करदे, जैसाकि रूसी-क्रान्ति के समय में हुआ था, परन्तु जबतक ऐसी घटना न हो, तबतक राज्य को बल से परास्त नहीं किया जा सकता। इस कारण आज़ादी के लिए प्रयत्नशील क़ौमों को यह ज़रूरत आ पड़ी है कि वे सामूहिक कार्रवाई के अन्य शान्तिपूर्ण उपायों का आश्रय लें।

युद्ध की बीभत्स वास्तविकताओं की कल्पना करना कोई रुचिकर विषय नहीं है। और इसी कारण इस वास्तविकता को लच्छेदार शब्दों और उत्साह-वर्द्धक बाजों और चमक-दमकवाली वर्दियों के परदे में छिपाया जाता है। परन्तु यह जानना अवश्यक है कि आज युद्ध का क्या अर्थ है। गत महायुद्ध ने बहुतों को युद्ध की बीभत्सता का भान करा दिया। इसपर भी यह कहा जाता है कि जो अगला महायुद्ध होनेवाला है, उसकी तुलना में गत महायुद्ध कुछ भी नहीं था।[1] क्योंकि गत कुछ वर्षों में जहाँ औद्योगिक शिल्प ने दस गुनी उन्नति कर ली है, वहाँ युद्ध के विज्ञान में सौ गुनी उन्नति हुई है। युद्ध अब केवल पैदल सेना के हल्लों और घुड़सावर सेना के धावों का मामला नहीं रह गया है। पुराने पैदल सिपाही और घुड़सवार आज युद्ध के लिए क़रीब-क़रीब उतने-ही बेकार हो गये हैं जितने कि तीर-कमान। आज का युद्ध यांत्रिक टैंकों और वायुयानों और बमों का, और ख़ास-कर पिछली दो चीज़ों का, मसला है। वायुयानों की गति और कार्य-क्षमता दिन-पर-दिन तरक़्क़ी कर रही हैं।

अगर युद्ध छिड़ जाय, तो यह अन्देशा है कि युद्ध-प्रवृत्त राष्ट्रों पर शत्रु के वायु-यान तुरन्त आक्रमण कर देंगे। ये वायुयान युद्ध की घोषणा होते-ही तुरन्त आ धमकेंगे, या शत्रु की बेख़बरी से फ़ायदा उठाने के लिए युद्ध से पहले ही आ जायँगे, और बड़े-बड़े शहरों तथा कारखानों पर घोर विस्फोटक बमों की वर्षा कर देंगे। शत्रु के कुछ वायुयान शायद नष्ट भी कर दिये जायँ, परन्तु बाक़ी बचे हुए वायुयान शहर पर बम गिराने के लिए काफ़ी होंगे। इन वायुयानों से बरसनेवाले बमों में

---

[1] लेखक का आशय क्रमशः प्रथम तथा द्वितीय महायुद्धों से है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से विषैली गैसें निकलकर चारों ओर फैल जायँगी और उस क्षेत्र-भर में छा जायँगी, और जहाँतक ये पहुँचेंगी, वहाँतक के सारे जीव दम घुटकर मर जायँगें। इस प्रकार नागरिक जनता का अत्यन्त क्रूरतापूर्ण और कष्टदायक तरीक़ों से बड़े भारी पैमाने पर संहार किया जायगा, जिससे लोगों को असह्य यातना और मानसिक वेदना भुगतनी पड़ेगी। और सम्भव है कि इस प्रकार की कार्रवाइयाँ परस्पर युद्ध-प्रवृत्त प्रतिद्वन्दी शक्तियों के बड़े-बड़े शहरों में एक-साथ की जायँ। अगर योरप में युद्ध हुआ, तो लन्दन, पेरिस और बर्लिन कुछ-ही दिनों या हफ्तों के अन्दर शायद सुलगते हुए खंडहरों के ढेर हो जायँगे।

: १२१ :

स्पेन में क्रान्ति

स्पेन तथा पुर्तगाल योरप के दक्षिण-पश्चिमी किनारे पर हैं, और, जैसाकि हम देख चुके हैं, योरप के तथा संसार के इतिहास में इन देशों ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया हैं। साम्राज्य स्थापित करने के साहसिक प्रयत्नों में इन्होंने अपनी सारी शक्ति खर्च कर दी, और जिस समय, उन्नीसवीं सदी में, योरप औद्योगिक तथा अन्य क्षेत्रों में उन्नति कर रहा था, ये पिछड़े हुए तथा पादरियों के प्रभाव में बने रहे। राष्ट्रवादी स्पेन ने नैपोलियन के ऊपर शानदार विजय प्राप्त की थी, परन्तु फ्रान्स की क्रान्ति से प्रगट होनेवाले विचारों से इसने लाभ नहीं उठाया। फ्रान्स ने तो सामन्तशाही से अपना पिण्ड छुड़ा लिया और अपनी भूमि का बन्दोबस्त पूरी तरह बदल दिया, परन्तु स्पेन अर्द्ध-सामन्तशाही बना रहा। यहाँ अमीरों के पास बड़ी-बड़ी जागीरें थीं और विशेष रियायतें थीं। रोमन कैथलिक चर्च का केवल धार्मिक मामलों पर ही प्रभाव नहीं था, बल्कि भूमि, व्यापार और शिक्षा के मामलों पर भी था। चर्च यहाँ का सबसे बड़ा ज़मींदार था और विस्तृत पैमाने पर व्यापार चलाता था। शिक्षा पर तो उसका पूरा नियन्त्रण था।

स्पेन में सैनिक अफ़सरों की एक अलग-ही जाति थी जिसे विशेष रियायतें मिली हुई थीं। सेना में अफ़सरों की संख्या अन्य सिपाहियों की संख्या के अनुपात से बहुत ज्यादा थी; अर्थात् सात सिपाहियो के पीछे एक अफ़सर था। बुद्धिजीवी लोगों में प्रगतिशील, उदार विचारोंवाले तत्त्व थे; और श्रमजीवी आन्दोलन, जो अभिषद्-वादियों,[1] समाजवादियों तथा अराजकतावादियों में बँटा हुआ था, ज़ोर पकड़ रहा

---

[1] सिण्डिकेलिस्ट

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था। परन्तु असली सत्ता चर्च और सेना और अमीरों के हाथों में थी। कैटेलोनिया में तथा उत्तर के बास्क प्रदेश में स्वाधिकार चाहनेवाले ज़ोरदार आन्दोलन चल रहे थे।

स्पेन तथा पुर्तगाल दोनों में क़रीब-क़रीब निरंकुश राजतन्त्री हुकूमतें थीं जिनमें कमज़ोर पार्लामेण्टरी सभाएँ थीं। स्पेन की सभा का नाम "कोर्टे" था। सन् १८६० ई० के बाद कुछ थोड़े-से वर्षों तक स्पेन में गणराज्य रहा, परन्तु यह सफल नहीं हुआ, और बादशाह अपनी सारी पुरानी निरंकुशता को लेकर फिर आ धमका। सन् १८९८ई० में, संयुक्त-राज्य अमरीका के साथ स्पेन का जो युद्ध हुआ, उसके फलस्वरूप स्पेन अपना अन्तिम उपनिवेश भी खो बैठा। उसका सारा औपनिवेशिक प्रदेश पड़ोस में मोरक्को के कुछ भाग में ही बच गया था।

पुर्तगाल के पास अफ़रीका में अब भी बड़े-बड़े उपनिवेश हैं, और इनके अलावा गोवा, वग़ैरा भारत के ज़रा-ज़रा से टुकड़े भी हैं। सन् १९१० ई० में बादशाह को गद्दी से उतार दिया गया और पुर्तगाल में गणराज्य स्थापित हो गया। तबसे यहाँ राजतन्त्रवादियों तथा वाम-पक्षियों दोनों के अनेक विद्रोह होते रहे हैं। राजावादी तो बादशाह को वापस लाने का प्रयत्न करते रहे; और वाम-पक्षी लोग तानाशाहों तथा प्रतिगामी हुकूमतों से पिण्ड छुड़ाने के प्रयत्नों में लगे रहे। मगर फिर भी गणतन्त्री हुकूमत किसी-न-किसी रूप में चली आ रही है, और इसपर अक्सर सैनिक जमात का प्रभुत्त्व रहा है। महायुद्ध में पुर्तगाल ने मित्र-राष्ट्रों का साथ दिया, और इसमें से वह क़र्ज़ का इतना भारी बोझ लेकर निकला कि उसके दिवालिया होने की नौबत आ गई। वर्तमान सरकार अत्यन्त प्रतिगामी तथा नात्सी-हितैषी है। गोवा में सब तरह की सार्वजनिक प्रवृत्तियों का दमन किया जाता है और नागरिक स्वतन्त्रता जैसी तो कोई चीज़ ही नहीं है।

महायुद्ध में स्पेन तटस्थ रहा, और इससे उसे बहुत लाभ हुआ। उसने युद्ध-रत देशों को माल भेजा जिससे औद्योगीकरण का विस्तार हुआ। युद्धोत्तर वर्षों में यहाँ मन्दी, बेकारी और सामाजिक गड़बड़ रहीं। इसी समय के लगभग, सन् १९२१ ई० में, मोरक्को में फिर युद्ध हुआ, जिसमें अब्दुल क़रीम ने स्पेनी सेना को पूरी तरह परास्त कर दिया। परन्तु बाद में फ्रान्सीसी सेनाओं ने वहाँ आकर अब्दुल क़रीम को पूरी तरह दबा दिया,और स्पेनी-मोरक्को वापस स्पेन को दिलवा दिया। मोरक्को-युद्ध के दौरान में ही प्राइमो दि रिवेरा का प्रादुर्भाव हुआ और यह सन् १९२३ ई० में संविधान को स्थगित करके तानाशाह बन बैठा। यह छः साल तक बना रहा,परन्तु धीरे-धीरे इसने सेना का विश्वास खो दिया, और सन् १९२९ ई० के आर्थिक संकट के बाद इसे अपना पद छोड़ना पड़ा। उधर इस सारे समय में बादशाह अल्फ़ोन्सो वहीं जमा रहा, और प्रगितामी गिरोहों को मदद देता रहा तथा अपनी स्थिति मज़बूत करने के प्रयत्न में लगा रहा।

स्पेन के निवासी घोर व्यक्तिवादी हैं, और इनके प्रगतिशील गिरोह आपस में

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अक्सर लड़ते रहते थे। बाकुनिन के समय से स्पेन के नये श्रमिक-वर्ग पर अराजकतावादी विचारधारा का प्रभाव पड़ गया था, और अंग्रेज़ी अथवा जर्मन ढंग के मज़दूर संघ यहाँ लोकप्रिय नहीं हुए थे। अराजक-अभिषद् वादियों[1] ने एक बलशाली गिरोह बना लिया था और कैटेलोनिया में इनका ज्यादा ज़ोर था। उदार-लोकतन्त्रवादी, समाजवादी तथा छोटा-सा परन्तु उदीयमान साम्यवादी दल, यहाँ के अन्य प्रगतिशील गिरोह थे। ये सारे गिरोह गणराज्य के हामी थे। प्राइमो दि रिवेरा की तानाशाही के अनुभव ने इन सारे गणराज्यवादी गिरोहों को इकट्ठा कर दिया और ये आपस में सहयोग करने लगे।

सन् १९३१ ई० के म्यूनिसिपल चुनावों में इन्हें सफलता प्राप्त हुई। इन चुनावों में गणराज्यवादियों की विजय ने सारे विरोधियों पर झाड़ू फेर दी। यह चीज़ बादशाह को (जो बोर्बां तथा हैप्सबर्ग दोनों राजवंशों का था) भयभीत करने के लिए काफ़ी थी, और वह जल्दी से देश छोड़कर चला गया। गणराज्य की घोषणा कर दी गई, और १४ अप्रैल, सन् १९३१ ई० को अस्थायी सरकार स्थापित हो गई। यह क्रान्ति शान्तिपूर्ण क्रान्ति थी।

सन् १९३३ ई० के साल में स्पेन के प्रतिगामी तत्त्वों ने मिलकर अपनी स्थिति सुदृढ़ बना ली, और उस साल जो चुनाव हुए, उनमें इन दक्षिण-पक्षवालों के सम्मिलित दल ने बहुमत प्राप्त कर लिया। इससे राज्यसत्ता एक प्रतिगामी सरकार के हाथों में आ गई और इस सरकार ने काश्तकारी-सुधार रोक दिये, चर्च का बल बढ़ा दिया, और पिछली सरकार ने जो-कुछ किया था, उसके अधिकांश पर पानी फेर दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि प्रतिगामिता का प्रतिरोध करने के लिए सारे वाम-पक्षी गिरोहों में एकता स्थापित हो गई। अक्तूबर, सन् १९३४ ई०, में सारे स्पेन में दंगे हुए, परन्तु सरकार इन्हें ठण्डा करने में तथा वामपक्षियों को दबाने में सफल हो गई। लेकिन वामपक्षी दल अपनी जड़ जमाते रहे, और उन्होंने उदार-नीतिवादियों, समाजवादियों, अराजकतावादियों तथा साम्यवादियों का एक सम्मिलित "लोकप्रिय मोर्चा"[2] संगठित कर लिया। फ़रवरी, सन् १९३६ ई० के चुनावों में यह लोकप्रिय मोर्चा विजयी हुआ और एक नई सरकार स्थापित हो गई। अब ऐसा प्रतीत होने लगा कि यह सरकार भूमि की समस्या को हल करने के लिए तथा चर्च के अधिकारों को कम करने के लिए ज़ोरदार क़दम उठावेगी, और निहित स्वार्थों के प्रति इतनी नरम नहीं रहेगी जितनी कि पिछली उदार-दली हुकूमत रही थी। इसलिए विरोधी भावना ज़ोर पकड़ने लगी, और प्रतिगामी दलों ने हमला करने की ठान ली। इन्होंने मुसोलिनी से तथा जर्मनी के नात्सियों से सहायता प्राप्त करली।

---

[1] अनार्किस्ट सिण्डिकलिस्ट्स
[2] पापुलर फ्रण्ट

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जुलाई, सन् १९३६ ई०, में जनरल फ्रैन्को ने स्पेनी-मोरक्को में मूरों की सेना की सहायता से बग़ावत शुरू कर दी। इस सेना को यह आश्वासन दिया गया था कि स्पेनी-मोरक्को स्वाधीन कर दिया जायगा। सेना के अफ़सरों ने, तथा अधिकतर सैनिकों ने फ्रैन्को का साथ दिया, और सरकार अरक्षित नज़र आने लगी। इसपर सरकार ने जनता को आदेश दिया कि अगर लोगों को और कोई चीज़ उपलब्ध न हो तो घूँसों से ही लड़ें। जनता ने, खासकर मैड्रिड और बार्सिलोना की जनता ने, इस आदेश का तत्परता से साथ पालन किया। सरकार तथा गणराज्य को तो आँच नहीं आई, परन्तु फ्रैन्को ने स्पेन के बड़े-बड़े भागों पर अधिकार कर लिया।

उस समय से यह गृह-युद्ध बराबर चला आ रहा है, क्योंकि फ्रैन्को को इटली तथा जर्मनी से बहुत काफ़ी मदद मिल रही है। उन्होंने इसे बड़ी-बड़ी सेनाएँ, हवाई-जहाज़ और इनके चालक, तथा गोला-बारूद का सामान भेजा है। गणराज्य के पास भी सहायता के लिए विदेशी स्वयंसेवक हैं, परन्तु साथ-ही उसने स्पेन की एक नई शानदार सेना भी खड़ी कर ली है। ब्रिटिश तथा फ्रान्सीसी सरकारों ने कह दिया है कि वे अ-हस्तक्षेप की नीति का पालन करती हैं, परन्तु परिणाम में यह नीति फ्रैन्को की सहायक हो रही है।

स्पेन का यह युद्ध बीभत्सता से भरा हुआ है। फ्रैन्को के उपयोग के लिए दिये गये जर्मन तथा इटालवी हवाई जहाज़ों द्वारा अरक्षित नगरों तथा नागरिक लोगों पर जो हवाई बमबारी की गई है, उससे बेशुमार आदमी मारे गये हैं। मैड्रिड की रक्षा की कहानी तो विख्यात हो गई है। इन दिनों फ्रैन्को ने तीन-चौथाई स्पेन पर क़ब्जा कर रखा है, परन्तु गणराज्य ने, जो सैनिक दृष्टि से बलवान है, उसे आगे बढ़ने से अच्छी तरह रोक दिया है।[1]

: १२२ :

जर्मनी में नात्सियों की सफलता

स्पेन की क्रान्ति से कुछ लोगों को अचम्भा हुआ, परन्तु वास्तव में इसमें अचम्भे की कोई बात नहीं थी। यह तो घटनाओं के स्वाभाविक क्रम के अनुसार हुई थी, और ध्यानपूर्वक देखनेवाले जानते थे कि यह अपरिहार्य थी। बादशाह-सामन्तशाही-चर्च के पुराने ढाँचे में घुन लग चुका था, और वह बिल्कुल कमज़ोर हो गया था। यह

---

[1] सन् १९३६ ई० में स्पेनिश गणराज्य का पतन हो गया। आजकल वहाँ जनरल फ्रैन्को की तानाशाही है।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आधुनिक परिस्थितियों से बिल्कुल मेल नहीं खाता था, लिहाज़ा पके फल की तरह ज़रा-से टल्ले से नीचे गिर पड़ा। भारत में भी बीते हुए युग के ऐसे अनेक सामन्ती अवशेष अभीतक हैं, यदि विदेशी शक्ति इन्हें सहारा न लगाती रहे तो शायद ये बहुत जल्दी मिट जायँ।[1]

परन्तु जर्मनी में जो परिवर्तन हाल ही में हुए हैं वे बिल्कुल भिन्न प्रकार के हैं,और इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने योरप को हिला दिया है और बहुत लोगों को स्तब्ध कर दिया है। जर्मनों जैसी सुसंस्कृत तथा अत्यन्त उन्नत क़ौम का पाशविक तथा बर्बरतापूर्ण कार्रवाइयों में संलग्न होना, एक हैरत में डालनेवाला तजुरबा है।

हिटलर तथा उसके नात्सी दल की जर्मनी में पूरी जीत हो गई है। इन्हें फ़ासीवादी कहा जाता है और इनकी विजय को प्रति-क्रान्ति की विजय माना जाता है, अर्थात् इसने सन् १९१८ ई० की जर्मन-क्रान्ति पर तथा उसके परिणामों पर पानी फेर दिया है। ये सब बातें बिल्कुल सही हैं। हिटलरवाद में तुम्हें फ़ासीवाद के सारे मौलिक तत्त्व दिखाई देंगे, और साथ-ही इसमें एक भीषण प्रतिक्रिया, तथा तमाम उदार तत्त्वों पर और ख़ासकर मज़दूरों पर, वहशियाना आक्रमण भी मिलेगा। परन्तु फिर भी यह प्रतिक्रिया-मात्र नहीं है, बल्कि इससे कोई बहुत बड़ी चीज़ है, जिसका दृष्टिकोण कुछ अधिक विस्तृत है तथा जो जन-समूह की भावना पर इटालवी फ़ासीवाद की अपेक्षा अधिक निर्भर है। जन-समूह की यह भावना मज़दूर-वर्ग की भावना नहीं है, बल्कि उस बुभुक्षित, अपहृत मध्यम-वर्ग की है, जो विप्लवी बन गया है।

सन् १९१८ ई० की जर्मन-क्रान्ति धोखे की टट्टी थी—यह तो क्रान्ति थी ही नहीं। कैसर ने पलायन किया और गणराज्य घोषित कर दिया गया; परन्तु पुरानी राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था ज्यों-की-त्यों रही। कुछ वर्षों तक हुकूमत की बागडोर समाजवादी लोकतन्त्रियो के हाथों में रही। ये लोग पुराने प्रतिगामी तथा निहित स्वार्थों से बहुत डरते थे, और सदा उन्हें मनाने की कोशिश में रहते थे। अपने दल में इनके पीछे जबरदस्त बलशाली संगठन था, जिसके लाखों सदस्य थे, तथा मज़दूर संघ भी इनके पीछे थे। इसके अलावा दूसरे बहुत-से लोगों की सहानुभूति भी उनके साथ थी। परन्तु प्रतिगामी तत्त्वों के मुक़ाबले में इनकी नीति सदा बचाव करने की रही—आक्रमक रुख तो इनका केवल अपने-ही उग्र वाम-पक्ष तथा साम्यवादी दल के प्रति था। इन्होंने अपने काम में इतना घोटाला किया कि अनेक समर्थकों ने इनका साथ छोड़ दिया। इन्हें छोड़कर जानेवाले मज़दूर लोग तो साम्यवादी दल में जा मिले, जो लाखों की सदस्यता के कारण बड़ा शक्तिशाली बन गया; और मध्यम-वर्गी समर्थक इन्हें छोड़कर प्रतिगामी दलों में शामिल हो

[1] आशय देशी रजवाड़ों से है, अब ये समाप्त हो गये हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गये। समाजवादी लोकतन्त्रवादियों तथा साम्यवादियों के बीच निरन्तर लड़ाई चलती रही, जिसने दोनों को निर्बल कर दिया।

युद्धोत्तर वर्षों में जर्मनी में जब महा मुद्रास्फीति का पदार्पण हुआ, तो यहाँ के उद्योगपतियों तथा बड़े-बड़े ज़मींदारों ने इसका समर्थन किया। जिन ज़मींदारों पर भारी-भारी क़र्ज़े थे और जिनकी जागीरें रेहन पड़ी हुई थीं, उन्होंने इस फूली हुई मुद्रा-प्रणाली में, जो लगभग मूल्य-हीन थी, अपने क़र्ज़े चुका दिये, और अपनी जागीरें फिर प्राप्त करलीं। बड़े-बड़े कारख़ानेदारों ने अपनी मशीनें बढ़ालीं और विशाल संयुक्त-कारोबार स्थापित कर लिये। जर्मन माल इतना सस्ता हो गया कि हर मण्डी में हाथों-हाथ बिकने लगा और बेकारी मिट गई। श्रमजीवी-वर्ग प्रबल मज़दूर-संघों में संगठित था, और मार्क का मूल्य गिरने पर भी उसने अपनी मजूरियाँ कम नहीं होने दीं। मुद्रा-स्फीति की मार मध्यम-वर्ग पर पड़ी और इसकी अवस्था बिल्कुल दरिद्र हो गई। सन् १९२३–२४ ई० का यही अपहृत वर्ग सबसे पहले हिटलर का अनुगामी बना। बैंकों के दिवाले के कारण तथा बेकारी बढ़ने के कारण ज्यों-ज्यों मन्दी ने ज़ोर पकड़ा, त्यों-त्यों अन्य बहुत लोग हिटलर के साथ होते गये। वह असन्तुष्टों का आश्रय बन गया। एक और बड़ा वर्ग, जिसमें से हिटलर को बहुत-से अनुयायी मिले, पुरानी सेना के अफ़सरों का था। यह सेना युद्ध के बाद वर्साई की सन्धि की शर्तों के अनुसार भंग कर दी गई थी। इसलिए इसके हज़ारों अफ़सर बेरोज़गार हो गये थे और ठाली बैठे थे। ये उन विभिन्न ख़ानगी सेनाओं में भरती हो गये, जो उस समय पैदा हो रही थीं। एक तो नात्सी सेनाएँ थीं जो "तूफ़ानी फौजें"[१] कहलाती थीं, और दूसरी राष्ट्रवादियों की "फ़ौलादी टोप"[२] नामक सेनाएँ थीं जो क़ैसर की वापसी का समर्थन करनेवाले रूढ़िवादियों की थीं।

यह एडोल्फ़ हिटलर[३] कौन था? विस्मय की बात है कि सत्तारूढ़ होने के एक-दो वर्ष पहले तक यह जर्मन नागरिक भी नहीं था। यह आस्ट्रिया-निवासी जर्मन था, जो युद्ध में एक मामूली सैनिक बनकर लड़ा था। इसने जर्मन-गणराज्य के विरुद्ध एक असफल उपद्रव में भाग लिया था, और यद्यपि इसे क़ैद की सज़ा दी गई थी, परन्तु अधिकारियों ने नरमी का व्यवहार करके इसे छोड़ दिया था। तब इसने अपना "राष्ट्रीय समाजवादी दल" संगठित किया जिसका उद्देश्य समाजवादी लोकतन्त्र का विरोध करना था। नात्सी शब्द, राष्ट्रीय समाजवादी दल के जर्मन नाम के दो अक्षरों को मिलाकर बनाया गया है। यद्यपि यह दल समाजवादी कहलाता था, परन्तु समाजवादसे इसका कोई ताल्लुक़ नहीं था। समाजवाद को लोग आम-

---

[१] स्टार्म ट्रूप्स

[२] स्टील हेलमेट्स

[३] द्वितीय महायुद्ध में जर्मनी की हार के बाद हिटलर ने आत्महत्या कर ली।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

तौर पर जो चीज़ समझते हैं, हिटलर उसका जानी दुश्मन था। नात्सी दल ने स्वस्तिक को अपना चिह्न बनाया। यह संस्कृत का शब्द है, परन्तु स्वस्तिक का चिह्न संसार-भर में प्राचीन काल से ख़ूब प्रचलित है। तुम्हें मालूम है कि यह चिह्न भारत में भी बहुत प्रचलित है, और शुभ-सूचक माना जाता है। नात्सियों ने "तूफ़ानी फौज" नामक लड़ाकू दल संगठित किया जिनकी वर्दी भूरा कुरता थी। इसलिए नात्सियों को अक्सर "भूरे कुरते" भी कहा जाता है, जिस तरह कि इटली के फ़ासी-वादी "काले कुरते" कहलाते हैं।

सन् १९३३ ई० की ३० जनवरी को बूढ़े राष्ट्रपति हिण्डनबर्ग ने (उस समय इसकी उम्र छियासी वर्ष की थी) हिटलर को चान्सलर नियुक्त किया। जर्मनी में यह सबसे ऊँचा कार्यकारी पद है, जो प्रधान मन्त्री की बराबरी का है। नात्सियों तथा राष्ट्रवादियों के बीच गठ-बन्धन हो गया था, परन्तु यह बहुत जल्दी प्रत्यक्ष हो गया कि सम्पूर्ण अधिकार नात्सियों के हाथों में था, और अन्य किसीकी कोई गिनती नहीं थी। आम चुनावों में नात्सियों तथा इनके साथी राष्ट्रवादियों का रीख़स्टाग[1] में नाम-मात्र का बहुमत हो गया। परन्तु यदि यह बहुमत न भी होता, तो भी कोई ज्यादा फ़र्क नहीं पड़ता, क्योंकि नात्सियों ने पार्लमेण्ट में अपने विरोधियों को गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया। इसप्रकार सारे-के-सारे साम्यवादी सदस्य तथा बहुत-से समाज-वादी लोकतन्त्री सदस्य रास्ते में से हटा दिये गये। ठीक इसी समय रीख़स्टाग भवन में आग लग गई, और वह जलकर राख हो गया। नात्सियों ने कहा कि यह साम्य-वादियों का काम था और राज्य की जड़ काटने का षड्यन्त्र था। साम्यवादियों ने इसका ज़ोरों से खण्डन किया। इतना-ही, नहीं उन्होंने तो नात्सी नेताओं पर आरोप लगाया कि उन्होंने साम्यवादियों पर हमला करने का बहाना ढूँढने के लिए ख़ुद-ही आग लगाई थी।

इसके बाद सारे जर्मनी में नात्सियों का "भूरा आतंक" शुरू हो गया। सबसे पहले तो पार्लमेण्ट भंग की गई (हालाँकि इसमें नात्सियों का बहुमत था), और सारी सत्ता हिटलर तथा उसके मन्त्रिमण्डल के हवाले कर दी गई। ये क़ानून बना सकते थे, तथा जो मन में आवे सो कर सकते थे। गणराज्य का वीमर-संविधान रद्दी की टोकरी में डाल दिया गया, और लोकतन्त्र के सारे स्वरूपों का खुला तिरस्कार किया गया। जर्मनी एक प्रकार का फेडरल राज्य था; इसका भी अन्त कर दिया गया और सारी सत्ता बर्लिन में केन्द्रित कर दी गई। हर जगह तानाशाह नियुक्त कर

---

[1] जर्मन पार्लमेण्ट

[2] फेडरल राज्य कई राज्यों का संघ-सा होता है जिसमें सम्बद्ध राज्यों को कई अधिकार प्राप्त होते हैं। भारत तथा संयुक्त-राज्य अमरीका फेडरल राज्य ही हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दिये गये, और हरएक तानाशाह केवल अपने ऊपरवाले तानाशाह के प्रति जवाबदार था। और हिटलर तो तानाशाहों का सरताज था ही।

इधर तो ये परिवर्तन हो रहे थे, उधर नात्सी तूफ़ानी फौजी सारे जर्मनी में खुले छोड़ दिये गये थे। इन फौजियों ने मार-काट और आतंक का रोमांचकारी, वहशियाना और पाशविक ताण्डव शुरू कर दिया। यह अपने ढंग की अभूतपूर्व चीज़ थी। आतंक की कार्रवाइयाँ पहले भी हुई थीं—मसलन 'लाल आतंक', 'श्वेत आतंक' आदि——परन्तु ये तभी हुई थीं जबकि किसी देश या सत्ताधारी गिरोह को गृह-युद्ध में अपने जीवन-मरण के लिए लड़ना पड़ा था। आतंक की कार्रवाई भयंकर खतरे तथा निरन्तर भय की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप की जाती थीं। परन्तु नात्सियों के सामने ऐसा कोई खतरा नहीं था, न उन्हें भय का कोई कारण था। हुकूमत की बागडोर उनके हाथों में थी, और उनका सशस्त्र विरोध या प्रतिरोध करनेवाला कोई नहीं था। इसलिए यह 'भूरा आतंक' आवेश तथा भय का परिणाम नहीं था, बल्कि उन सब लोगों का सुनिश्चित, नृशंस और अकल्पनीय पाशविक दमन था, जो नात्सियों की श्रेणी में शामिल नहीं होते थे।

वैसे तो 'भूरे आतंक' से सबसे ज्यादा नुक़सान श्रमजीवी वर्ग को सहना पड़ा था। परन्तु संसार का लोकमत यहूदियों के साथ किये गये व्यवहार पर अधिक उत्तेजित हो उठा था। योरप को वर्ग-युद्धों से कुछ पाला पड़ता रहता है, इसलिए यहाँ के लोगों की सहानुभूति अपने-अपने वर्ग के प्रति होती है। परन्तु यहूदियों पर जो वार किया गया था, वह जातिगत आक्रमण था। यह कुछ इस तरह की चीज़ थी जैसीकि मध्य-युगों में हुआ करती थी, या हाल के ज़माने में, ग़ैर-सरकारी तौर पर, ज़ारशाही रूस जैसे पिछड़े-हुए देशों में हुआ करती थी। एक समूची जाति पर सरकारी तौर पर किये गये अत्याचारों से योरप तथा अमरीका के दिलों पर आघात हुआ। यह आघात इस कारण और भी बढ़ गया कि जर्मन-यहूदियों की सूची में अनेक संसार-प्रसिद्ध व्यक्ति, प्रतिभाशील वैज्ञानिक, डाक्टर, वकील, संगीतज्ञ और लेखक थे, और इन सबके ऊपर ऐल्बर्ट आइन्स्टाइन का महान् नाम था। ये लोग जर्मनी को अपना वतन समझते थे और सब जगह के लोग इन्हें जर्मन मानते थे। इनको पाकर कोई भी देश अपने को धन्य समझता, परन्तु नात्सियों के सिर पर जातीयता का ऐसा पागलपन सवार हुआ, कि उन्होंने इन्हें बीन-बीनकर मार भगाया। इसपर संसार-भर में जबरदस्त हो-हल्ला मच गया। तब नात्सियों ने यहूदी दूकानदारों तथा पेशेवर लोगों का बहिष्कार शुरू किया। परन्तु विचित्रता यह थी कि वे इन यहूदियों में से एक को भी जर्मनी छोड़कर नहीं जाने देते थे। इस नीति का केवल यही परिणाम हो सकता था कि इन्हें भूखों मार दिया जाय। दुनिया के हो-हल्ले से नात्सियों ने यहूदियों के विरुद्ध अपने प्रगट तरीक़े तो नरम कर दिये, परन्तु नीति वही रही।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बाहर के देशों में हिटलरशाही की एक प्रतिक्रिया तो यह हुई; इसके अलावा अन्य प्रतिक्रियाएँ हुईं, जो इससे भी ज्यादा गहरा असर डालनेवाली थीं। नात्सी लोग शुरू से ही वर्साई की सन्धि को खुले-आम बुरी बताते आये थे, और इसमें संशोधन की माँग करते आये थे। पूर्वी सरहद के बदले जाने पर वे ख़ास ज़ोर देते थे, क्योंकि यहाँ डैनज़िग को जानेवाली पोलैण्ड की गली की बेहूदा व्यवस्था रखी गई है, जिसके कारण जर्मनी का एक छोटा-सा टुकड़ा बाक़ी देश से कट गया है। उन्होंने हथियार रखने के मामले में पूर्ण समानता की भी ज़ोर-शोर से माँग की। (शान्ति-सन्धि के अनुसार जर्मनी को बहुत-कुछ निःशस्त्र कर दिया गया था)। हिटलर के संगीन और गर्जन-तर्जन भरे भाषणों से और शस्त्रीकरण की धमकियों से योरप बिल्कुल घबरा गया। फ्रान्स तो ख़ास-तौर पर घबरा गया, क्योंकि बलशाली जर्मनी की ओर से सबसे ज्यादा भय इसीको था। बस, कुछ दिनों तक तो ऐसा मालूम होने लगा कि योरप में युद्ध छिड़ने-ही वाला है। एकाएक इस नात्सी भय के कारण योरप में शक्तियों की नई गुटबन्दी होने लगी। फ्रान्स रूस के प्रति बड़ी मित्रता प्रदर्शित करने लगा। वर्साई की सन्धि में संशोधन के डर से पोलैण्ड, ज़ेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लावाकिया, रूमानिया आदि सारे देश, जिन्हें इस सन्धि ने जन्म दिया था तथा लाभ पहुँचाया था, एक-दूसरे के नज़दीक खिंच आये, और साथ-ही रूस की ओर भी ज्यादा खिंच गये। आस्ट्रिया में एक विस्मयकारी परिस्थिति उत्पन्न हो गई। यहाँ डोलफ़स[1] नामक फ़ासी चान्सलर का अधिकार हो चुका था, परन्तु इसके फ़ासीवाद का नमूना हिटलर के फ़ासीवाद से भिन्न था। आस्ट्रिया में नात्सियों का ज़ोर है, लेकिन डोलफ़स ने इनका विरोध किया है। इटली ने हिटलर की सफलता पर हर्ष प्रगट किया, परन्तु उसने हिटलर की सारी महत्त्वाकांक्षाओं को बढ़ावा नहीं दिया। इंग्लैण्ड के लोग, जो बहुत वर्षों से जर्मन-हितैषी थे, अब जर्मन-विरोधी बन गये, और यहाँतक कि जर्मनों को फिर "हूण" कहने लगे। हिटलर का जर्मनी योरप में सबसे बिल्कुल अलग-थलग था। यह प्रत्यक्ष था कि अगर युद्ध होता, तो फ्रान्स की बलशाली सेना निःशस्त्र जर्मनी को कुचल डालती। इसलिए हिटलर ने अपने पैंतरे बदल दिये, और शान्ति की भाषा में बोलने लगा। उधर मुसोलिनी ने फ्रान्स, इंग्लैण्ड, जर्मनी तथा इटली के बीच एक चार-शक्ति-क़रार का प्रस्ताव करके हिटलर की इज्जत बचा ली।

सत्ता हस्तगत करने के बाद हिटलर का सबसे पहला काम था जर्मनी में अपने विरोधियों को कुचलना और नात्सी दल को संगठित करना। जर्मनी का "नात्सी-करण" हो जाने पर उसने नात्सी दल के सदस्यों में फैली हुई उन वाम-पक्षी प्रवृत्तियों के नष्ट करने का निश्चय किया, जो पूंजीवाद-विरोधी द्वितीय क्रान्ति की

---

[1] आस्ट्रिया का तानाशाह प्रधान-मन्त्री। सन् १९३४ ई० में इसकी हत्या कर दी गई।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रतीक्षा कर रही थीं। सन् १९३४ ई० की ३० जून को "भूरे-कुरतों" का दल तोड़ दिया गया और उसके नेताओं को गोली से उड़ा दिया गया। बहुत-से अन्य लोगों को भी मौत के घाट उतार दिया गया। इनमें सेनापति वॉन श्लेखर भी था, जो एक बार चान्सलर रह चुका था।

अगस्त, सन् १९३४ ई०, में राष्ट्रपति हिण्डनबर्ग की मृत्यु हो गई, और हिटलर उसका स्थान ग्रहण करके चान्सलर-राष्ट्रपति बन बैठा। अब वह जर्मनी में सम्पूर्ण सत्ताधारी था——जर्मन जनता का "फ्यूरर" या सर्वोपरि नेता था। उस समय जर्मनी की जनता बहुत कष्ट भोग रही थी, अतः इस कष्ट को मिटाने के लिए बड़े विशाल पैमाने पर ख़ानगी ख़ैरातों का, क़रीब-क़रीब जबरदस्ती, आयोजन किया गया। अनिवार्य श्रमिक-छावनियाँ भी क़ायम की गईं, जिनमें बेकारों से काम लिया जाता था। जिन ढेरों यहूदियों को जबरदस्ती हटा दिया गया था, उनकी जगहें जर्मनों को दे दी गईं। जर्मनी की आर्थिक हालत तो नहीं सुधरी, उल्टे पहले से भी बदतर हो गई, परन्तु बेकारी का स्वरूप मिट गया। इधर गुप्त रूप से शस्त्रीकरण चलता रहा, और जर्मनी का खौफ़ बढ़ता गया।

सन् १९३५ ई० में सार-घाटी के लोगों का जनमत-संग्रह हुआ और यह बहुत बड़े बहुमत से जर्मनी के साथ मिलने के पक्ष में रहा। इसलिए यह प्रदेश जर्मनी में मिला दिया गया। इसी साल के मई महीने में हिटलर ने वर्साई की सन्धि की निःशस्त्रीकरण-सम्बन्धी धाराओं को खुले-आम अनुचित क़रार दिया और अनिवार्य सैनिक-सेवा की आज्ञा निकाल दी। शस्त्रीकरण का बड़ा लम्बा-चौड़ा कार्यक्रम हाथ में लिया गया। राष्ट्र-संघ की किसी भी शक्ति नें चूँ नहीं की—इन सबको, और ख़ासकर फ्रान्स को, भय ने जकड़ रखा था। फ्रान्स ने सोवियत रूस के साथ मित्रता की साँठ-गाँठ कर ली। परन्तु ब्रिटिश-सरकार ने नात्सी जर्मनी का साथ देने में भला समझा, और जून, सन् १९३५ ई० में उसके साथ एक जल-सेना क़रार पर हस्ताक्षर कर दिये।

इसके अजीब परिणाम निकले। फ्रान्स ने यह महसूस करके, कि इंग्लैण्ड उसके साथ दग़ा कर रहा है, इटली को सन्देशे भेजे। और मुसोलिनी ने यह सोचकर, कि ठीक मौक़ा आ गया है, अबीसीनिया पर धावा बोल दिया।

मार्च, सन् १९३८ ई० में हिटलर ने अपनी सेना के साथ आस्ट्रिया में प्रवेश किया और "आंशलूस" की, यानी आस्ट्रिया को जर्मनी में मिलाने की, घोषणा कर दी। राष्ट्र-संघी शक्तियाँ इस बार भी चुप बैठी रहीं। नात्सियों ने आस्ट्रिया में भी उग्र तथा पाशविक यहूदी-विरोधी आक्रमण की कार्रवाई शुरू कर दी।

अब ज़ेकोस्लोवाकिया नात्सी-आक्रमण का लक्ष्य बन गया, और सुडेटनलैण्ड[1]

---

[1] सुडेटनलैण्ड ज़ेकोस्लोवाकिया का प्रान्त था जिसमें जर्मन भाषा-भाषी लोगों का बहुमत था। हिटलर इसे जर्मनी में मिलाना चाहता था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के जर्मनों की समस्या ने योरप को कई महीनों तक परेशान किया। ब्रिटिश-नीति ने नात्सियों को बहुत सहायता दी और फ्रान्स की हिम्मत नहीं थी कि इस नीति के विरुद्ध आचरण करे। नतीजा यह हुआ कि जर्मनी द्वारा तुरन्त युद्ध की धमकी दी जाने पर फ्रान्स ने अपने साथी ज़ेकोस्लोवाकिया को धता बताई और इस विश्वास-घात में इंग्लैण्ड भी शरीक था। जर्मनी, इंग्लैण्ड, फ्रान्स तथा इटली के बीच होनेवाले म्यूनिख के क़रार द्वारा २९ सितम्बर, सन् १९३८ ई०, को ज़ेकोस्लोवाकिया के भाग्य का फ़ैसला हो गया। सुडेटनलैण्ड के प्रदेश पर तथा और भी प्रदेश पर जर्मनी ने क़ब्ज़ा कर लिया, और इस मौक़े से लाभ उठाकर पोलैण्ड तथा हंगरी ने भी ज़ेको-स्लोवाकिया के कुछ हिस्सों पर क़ब्ज़ा जमा लिया।

: १२३ :

निःशस्त्रीकरण

सन् १९३२ ई० के प्रारम्भ में विश्व-निःशस्त्रीकरण-सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। यह सम्मेलन महीने-दर-महीने, साल-दर-साल चलता रहा। इसमें अनेक प्रस्तावों पर विचार किया और उन्हें रद कर दिया गया; बेशुमार रिपोर्टें पढ़ी गईं, और लगातार वाद-विवाद चलते रहे। निःशस्त्रीकरण-सम्मेलन के बजाय यह एक प्रकार से शस्त्रीकरण-सम्मेलन बन गया। आपस में किसी तरह की सहमती नहीं हो सकी, क्योंकि एक तो इस प्रश्न पर कोई भी देश व्यापक अन्तर्रा-ष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार करने को तैयार नहीं था; दूसरे, प्रत्येक देश निःशस्त्री-करण का यह अर्थ लगाता था कि अन्य देश तो निःशस्त्र हो जायँ या अपने युद्ध-साधनों को कम करदें, परन्तु वह अपना शस्त्र-बल बरक़रार रखे।

सम्मेलन में जितने भी सुझाव रखे गये, उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण तीन सुझाव सोवियत रूस, संयुक्त-राज्य अमरीका और फ्रान्स ने पेश किये। रूस ने सुझाव रखा कि युद्ध-साधनों में ५० प्रतिशत चतुर्मुखी कटौती की जानी चाहिए। अमरीका ने सब तरह के युद्ध-साधनों को एक तिहाई घटाने का सुझाव दिया। परन्तु इंग्लैण्ड ने इन दोनों सुझावों का विरोध किया। उसने यह दलील दी कि वह अपनी सेनाओं को, और खासकर जहाज़ी सेना को, नहीं घटा सकता, क्योंकि इनका उपयोग केवल "पुलिस"-कार्यों के लिए किया जाता था।

निःशस्त्रीकरण की कठिनाइयों को बढ़ानेवाली बेशुमार साज़िशें परदे के पीछे हो रही हैं, जिनमें युद्ध-सामग्री तैयार करनेवाली कम्पनियों के भाड़ैती एजेण्टों का खास हाथ है। आधुनिक पूंजीवादी जगत में जितने उद्योग चल रहे हैं, उनमें शस्त्रास्त्र

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तथा विनाश के उपकरण बनाने का कारोबार सबसे ज्यादा मालामाल हो रहा है। ये शस्त्रास्त्र विभिन्न देशों की सरकारों के लिए तैयार किये जाते हैं, क्योंकि युद्ध तो केवल सरकारें ही लड़ा करती हैं, मगर विचित्र बात यह है कि ये शस्त्रास्त्र खानगी कम्पनियाँ तैयार करती हैं। इन कम्पनियों के प्रधान हिस्सेदार खूब धनवान बनते जा रहे हैं, और सरकारों के साथ इनका अक्सर घनिष्ठ सम्पर्क रहता है। शस्त्रास्त्र बनानेवाली कम्पनियों के हिस्सों पर खूब मुनाफ़ा मिलता है और लोग अक्सर इनकी टोह में रहते हैं। इन कम्पनियों के हिस्सेदारों में बहुत-से व्यक्ति हैं जो सार्वजनिक जीवन में विख्यात हैं।

जब युद्ध और युद्ध की तैयारियाँ होती हैं, तभी शस्त्रास्त्र की ये कम्पनियाँ मुनाफ़ा उठाती हैं। ये मौत का थोक व्यापार करती हैं, और जो इन्हें क़ीमत देते हैं, उन सबको अपने विनाश-यन्त्र निष्पक्ष होकर बेचती हैं। यह प्रत्यक्ष है कि अगर सच्चा निःशस्त्रीकरण हो जाय, तो इन कम्पनियों के दिवाले निकल जायँ—इनका व्यापार ख़तम हो जाय। इसलिए इनके दृष्टिकोण से जो भयंकर विपत्ति है, उसे रोकने का ये भरसक प्रयत्न करती हैं। सच तो यह है कि ये इससे भी आगे जाती हैं। खानगी कम्पनियों द्वारा हथियार बनाने के मामले में जाँच करने के लिए राष्ट्र-संघ ने जो विशेष कमीशन नियुक्त किया था, वह इस नतीजे पर पहुँचा था कि ये कम्पनियाँ युद्ध की दहशत पैदा करने में, और अपने-अपने देशों को युद्ध-कारक नीतियाँ अपनाने के लिए उकसाने में, सक्रिय भाग लेती रही हैं। यह भी पता लगा कि ये कम्पनियाँ विभिन्न देशों के सेना-सम्बन्धी तथा नौ-सेना सम्बन्धी खर्चों के बारे में झूठी खबरें फैलाती थीं, ताकि अन्य देशों को शस्त्रास्त्र पर अपने खर्चे बढ़ाने के लिए प्रेरित कर सकें। ये एक देश को दूसरे देश से भिड़ाने के प्रयत्न करती थीं, और दोनों के बीच शस्त्रास्त्र की होड़ उत्पन्न करने के लिए ज़ोर लगाती थीं। जनमत को प्रभावित करने के लिए सरकारी कर्मचारियों को रिश्वतें देती थीं और अख़बारों को खरीद लेती थीं। और फिर ये अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियाँ और ठेकेदारियाँ स्थापित करके हथियारों वग़ैरा के दाम बढ़ा देती थीं। राष्ट्र-संघ के कमीशन ने सुझाया कि शस्त्रास्त्र का खानगी तौर पर बनाया जाना बन्द कर देना चाहिए। यही बात निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में भी सुझाई गई थी, परन्तु यहाँ भी ब्रिटिश-सरकार की ओर से इसका डटकर विरोध किया गया।

निःशस्त्रीकरण-सम्मेलन के सामने असली कठिनाई यह रही है कि सारे देश दो वर्गों में बँटे हुए हैं—सन्तुष्ट शक्तियाँ और असन्तुष्ट शक्तियाँ; प्रभुत्त्वशाली शक्तियाँ और पद-दलित शक्तियाँ; वर्तमान व्यवस्था को क़ायम रखना चाहनेवाली शक्तियाँ और परिवर्तन चाहनेवाली शक्तियाँ। इन दोनों के बीच कोई स्थिर सन्तुलन नहीं रह सकता, जिस प्रकार कि प्रभुताशील-वर्ग तथा पद-दलित-वर्ग के बीच कोई वास्तविक स्थायी सम्बन्ध नहीं रह सकता। समग्र रूप में, राष्ट्र-संघ प्रभुताशील शक्तियों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का प्रतिनिधि है, इसलिए वह 'यथा स्थिति' को क़ायम रखना चाहता है। सुरक्षा सम्बन्धी क़रारों तथा "आक्रान्ता" की व्याख्या करने के प्रयत्नों का सारा अभिप्राय सामयिक परिस्थितियों को क़ायम रखना है। चाहे कुछ भी हो जाय, जिन शक्तियों के हाथों में राष्ट्र-संघ की बागडोर है, उनमें से किसी शक्ति पर "आक्रान्ता" होने का इलज़ाम लगाना राष्ट्र-संघ के लिए शायद कभी सम्भव नहीं होगा। वह हमेशा ऐसी तरक़ीबें लड़ायेगा कि दूसरे पक्ष को ही "आक्रान्ता" घोषित किया जाय।

: १२४ :

संसार पर आख़िरी दृष्टि

जबतक क़लम और काग़ज और स्याही ख़तम न हो जायँ, तबतक लिखने का अन्त नहीं आ सकता। और संसार की घटनाओं के बारे में लिखने का भी कोई अन्त नहीं है, क्योंकि हमारा यह संसार लुढ़कता चला जा रहा है, और इसमें रहनेवाले नर और नारी और बालक निरन्तर हँसते और रोते हैं, प्रेम और घृणा करते हैं, और आपस में लड़ते हैं। यह ऐसी कथा है जो आगे बढ़ती-ही चली चाती है, और जिसका कोई अन्त नहीं है। और आज के जिस समय में हम रह रहे हैं, उसमें जीवन का प्रवाह इतना तेज़ प्रतीत हो रहा है जितना पहले कभी नहीं था——इसका वेग पहले से अधिक तेज़ है, और एक परिवर्तन के बाद दूसरे परिवर्तन बड़ी शीघ्रता से आ रहे हैं। यह तो मेरे लिखते-लिखते ही बदल रहा है, और आज मैंने जो-कुछ लिखा है, वह शायद कल-ही पुराना, और दूर का, और असंगत हो जाय। जीवन की धारा कभी स्थिर नहीं रहती——यह तो बहती चली जाती है। आज की भाँति कभी-कभी यह हमारी तुच्छ इच्छाओं तथा आकांक्षाओं की उपेक्षा करती हुई, हमारे तुच्छ व्यक्तित्वों का क्रूर उपहास करती हुई, और अपनी उत्ताल तरंगों पर हमें तिनके की तरह उछालती हुई, निर्दयतापूर्वक और राक्षसी शक्ति के साथ वेग से आगे दौड़ती है। बड़े वेग से दौड़नेवाली यह धारा पता नहीं किधर जा रही है—उस विशाल चट्टान की ओर जा रही है, जो टकराकर इसके हजारों टुकड़े कर देगी, या किसी अपार और अज्ञेय, गम्भीर और शान्त, सदा परिवर्तनशील, किन्तु अविचल समुद्र की ओर जा रही है?

जितना लिखने का मेरा इरादा था, या जितना मुझे लिखना चाहिए था, उससे मैं बहुत अधिक लिख चुका हूँ। मेरी लेखनी दौड़ती चली गई है। हमने अपनी लम्बी सैर समाप्त कर दी है और अपनी आख़िरी लम्बी मंज़िल पूरी कर ली है। हम आज-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तक आ पहुँचे हैं और कल की ड्योढ़ी पर इस आश्चर्य में डूबे खड़े हैं कि जब यह कल भी समय आने पर आज बन जायगा, तो इसका क्या रूप होगा ? अब हमें ज़रा-सी देर ठहरकर संसार पर चारों ओर नज़र डालनी चाहिए। सन् उन्नीस सौ तैंतीस के अगस्त मास की सातवीं तारीख को इसकी क्या हालत है ?

भारत में गाँधीजी को फिर गिरफ़्तार करके सज़ा दे दी गई है और वह वापस यरवडा जेल पहुँच गये हैं। सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन फिर शुरू हो गया है, हालाँकि इसका रूप सीमित है, और हमारे साथी फिर जेल जा रहे हैं। मेरे एक वीर और प्यारे साथी और मेरे मित्र जतीन्द्रमोहन सेन गुप्त, जिनसे पहले-पहल मेरी मुलाक़ात पच्चीस वर्ष हुए, कैम्ब्रिज में, जब मैं वहाँ भर्ती हुआ ही था, हुई थी, अभी-अभी हमें छोड़कर चल दिये हैं। उनकी मृत्यु ब्रिटिश-सरकार की क़ैद में हुई है। जीवन मृत्यु में विलीन हो जाता है, परन्तु भारतवासियों के जीवन को सार्थक बनानेवाला महान् कार्य जारी है। भारत के अत्यन्त उमंग-भरे तथा बहुत करके अत्यन्त प्रतिभाशाली हज़ारों सुपुत्र और सुपुत्रियाँ, जेलों में या नजरबन्दी के शिविरों में पड़े हुए, अपनी जवानी और शक्ति भारत को ग़ुलाम बनानेवाली वर्तमान व्यवस्था से जूझने में खर्च कर रहे हैं। यह जीवन और यह शक्ति किसी निर्माण में, रचनात्मक कार्यों में, लगाई जा सकती थी---संसार में कितना काम करने को पड़ा है ? परन्तु निर्माण से पहले विनाश होना ज़रूरी है, ताकि नये भवन के लिए ज़मीन तैयार हो जाय। किसी झोंपड़ी की कच्ची दीवारों पर भव्य इमारत नहीं खड़ी की जा सकती। आज भारत में जो स्थिति है, वह इस वास्तविकता से अच्छी तरह समझ में आ सकती है कि बंगाल के कुछ भागों में लोगों को अपनी पोशाक तक भी सरकारी आज्ञा के अनुसार रखनी पड़ती है, और अगर कोई दूसरी तरह की पोशाक पहन ले, तो जेलखाने भिजवा दिया जाता है। चटगाँव में बारह वर्ष से ऊपर की आयु के छोटे-छोटे लड़कों तक को (और शायद लड़कियों को भी) कहीं भी जाने के लिए अपने साथ शिनाख्त के कार्ड लेकर चलना पड़ता है। मैं नहीं जानता कि ऐसी विचित्र आज्ञा का पालन दुनिया में किसी और भी जगह भी कभी कराया गया हो। शायद नात्सियों के जर्मनी में या शत्रु की सेनाओं द्वारा अधिकृत युद्ध-प्रदेशों में भी ऐसा नहीं हुआ होगा। आज ब्रिटिश-शासन के अधीन हमारे राष्ट्र की यह हालत है कि कहीं जाने के लिए भी परवाने की ज़रूरत होती है। और हमारे उत्तर-पश्चिमी सीमान्त के उस-पार हमारे पड़ौसियों पर ब्रिटिश हवाई-जहाज़ बम बरसाते रहते हैं।

अन्य देशों में हमारे देश-भाइयों की ज़रा भी इज्जत नहीं की जाती---कहीं भी उनका स्वागत नहीं किया जाता। और इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है, क्योंकि जब उनकी अपने-ही देश में इज्जत नहीं है, तो दूसरी जगह कैसे हो सकती है ? उन्हें दक्षिण अफ़रीका से निकाला जा रहा है, जहाँ उनका जन्म और लालन-पालन हुआ है, और जिसके कुछ भागों को, खासकर नेटाल में, उन्होंने अपने गाढ़े परिश्रम से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बनाया है। वर्ण-विद्वेष, जातीय घृणा, आर्थिक संघर्ष आदि कारणों ने मिलकर दक्षिण अफ़रीका के इन भारतीयों को ऐसा परित्यक्त बना दिया है जिनका न कोई घर है और न कोई आश्रय। दक्षिण अफ़रीका की संघ-सरकार कहती है कि उन्हें तो बस दक्षिण अफ़रीका को सदा के लिए छोड़ देने को तैयार हो जाना चाहिए। फिर उन्हें जहाज़ों में भरकर ब्रिटिश गायना या किसी दूसरी जगह भेज दिया जायगा, या भारत वापस भेज दिया जायगा—चाहे वहाँ जाकर वे भूखों ही क्यों न मरें।

पश्चिमी एशिया के देशों के बारे में तो मैं काफ़ी लिख चुका हूँ। इन देशों में तथा मिस्र में आज़ादी का संघर्ष विविध रूपों तथा अवस्थाओं में चल रहा है। यही बात दक्षिण-पूर्वी एशिया में, बृहत्तर भारत में, और हिन्देशिया में—यानी स्याम, हिन्द-चीन, जावा, सुमात्रा, फिलीपाइन द्वीप-समूह, आदि में— हो रही है। स्वाधीन स्याम के सिवा बाक़ी सब जगह इस संघर्ष के दो पहलू हैं—एक तो विदेशियों के प्रभुत्त्व के विरुद्ध राष्ट्रीय चेतना, और दूसरे पद-दलित वर्गों की सामाजिक समता के लिए, या कम-से-कम आर्थिक बेहतरी के लिए, उत्कण्ठा।

एशिया के सुदूर पूर्व में भीमकाय चीन अपने आक्रान्ताओं के आगे निस्सहाय पड़ा है, और अन्दरूनी भेद-भावों के कारण बहुत-से टुकड़ों में विभक्त हो रहा है। इसका एक चेहरा तो साम्यवाद की ओर देख रहा है, और दूसरा साम्यवाद का बलपूर्वक विरोध कर रहा है। और इस बीच में जापान लगभग अबाध गति से आगे बढ़ता चला जा रहा है, और चीन की भूमि के बड़े-बड़े प्रदेशों पर क़ब्ज़ा जमा रहा है। परन्तु अपने इतिहास के लम्बे समय में चीन अनेक जबरदस्त हमलों और ख़तरों से जीता बच गया है, और इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि वह इस जापानी हमले से भी जीता बच जायगा।

साम्राज्यशाही जापान, जो अर्द्ध-सामन्ती, सैनिकता-प्रधान, मगर फिर भी औद्योगिक क्षेत्र में अत्यन्त उन्नतिशील, और अतीत तथा वर्तमान का अजीब घाल-मेल रहा है, अपने जागतिक-साम्राज्य के महत्त्वाकांक्षा-भरे स्वप्नों को सजो रहा है। परन्तु इन स्वप्नों के पीछे एक तो यह असलियत है कि आर्थिक ढाँचा टूटकर गिर जाने का ख़तरा सामने खड़ा है, दूसरे जापान की उस बढ़ती हुई आबादी की भयंकर कष्टमय दशा है, जिसके लिए अमरीका के तथा आस्ट्रेलिया की लम्बी-चौड़ी निर्जन भूमि के द्वार बन्द कर दिये गये हैं। और इन स्वप्नों के पूरा होने में एक जबरदस्त बाधा है आधुनिक समय के सबसे शक्तिशाली राष्ट्र अमरीका का वैर-विरोध। एशिया में जापान के पैर पसारने के मार्ग में दूसरी जबरदस्त रुकावट सोवियत रूस है। मंचूरिया में तथा प्रशान्त महासागर के गहरे वक्षस्थल पर एक महायुद्ध की छाया अनेक दूरदर्शी लोगों को अभी से आती हुई दिखाई दे रही है।

समूचा उत्तरी एशिया सोवियत संघ का अंग है, और एक नये संसार तथा नई सामाजिक व्यवस्था के आयोजन और निर्माण में संलग्न है। यह अद्भुत बात है कि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ये पिछड़े हुए देश, जो सभ्यता की दौड़ में पीछे रह गये थे और जहाँ एक तरह की सामन्तशाही अभीतक प्रचलित थी, आगे छलाँग मारकर ऐसे दर्जे पर पहुँच गये हैं जो पश्चिम के उन्नत राष्ट्रों से भी अगाड़ी है। योरप तथा एशिया का सोवियत संघ आज खड़ा होकर पश्चिमी जगत के लड़खड़ाते हुए पूंजीवाद को चुनौती दे रहा है। जहाँ एक ओर व्यापार की मन्दी तथा गिरावट, और बेकारी, और बार-बार आने-वाले संकट पूंजीवाद को चेष्टाहीन बना रहे हैं और पुरानी व्यवस्था आखिरी साँस ले रही है, वहाँ दूसरी ओर सोवियत संघ आशा और क्रिया-शक्ति और उत्साह से परिपूर्ण भूमि है, और वह सामाजिक व्यवस्था की रचना तथा स्थापना में सरगर्मी से जुटा हुआ है। और यह प्रचुर नवयौवन और जीवन और वह सफलता, जो सोवियत संघ प्राप्त कर चुका है, दुनिया-भर के विचारवान लोगों को प्रभावित और आक-र्षित कर रहे हैं।

दूसरा विशाल क्षेत्र संयुक्त-राज्य अमरीका, पूंजीवाद की असफलता का नमूना प्रस्तुत कर रहा है। चारों ओर महान् कठिनाइयों, संकटों, श्रमिक हड़तालों, और अभूतपूर्व बेकारी से घिरा हुआ होने पर भी यह देश अपनी गाड़ी खींचने की और पूंजीवादी व्यवस्था को क़ायम रखने की जी-तोड़ कोशिश कर रहा है। देखना है कि इस महान् प्रयोग का क्या परिणाम निकलता है। परिणाम चाहे जो हो, अमरीका को जितनी सुविधाएँ उपलब्ध हैं—क्या तो उसके लम्बे-चौड़े प्रदेश में, जो मानव-जीवन के लिए आवश्यक सारी वस्तुओं से भरपूर है; क्या उसके कला-कौशल सम्बन्धी साधनों में, जो संसार के किसी भी देश से अधिक प्रचुर हैं, और क्या उसके क्रिया-कुशल और उच्च-शिक्षण-प्राप्त निवासियों में—उन्हें कोई नहीं छीन सकता। सोवियत संघ की ही भाँति संयुक्त-राज्य अमरीका भी भविष्य के जागतिक मामलों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग लेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

: १२५ :

युद्ध की छाया

इंग्लैण्ड, जो इतने दिन संसार की अग्रगामी शक्ति था, अब अपनी पुरानी प्रभुता खो चुका है, और जो-कुछ बचा है, उसे क़ायम रखने की भरपूर कोशिश कर रहा है। उसकी समुद्री-ताक़त, जिसके कारण वह सुरक्षित था और दूसरों के ऊपर रौब जमाता था, और जिसके सहारे वह अपना साम्राज्य बना सका था, अब पहले जैसी नहीं रह गई। कुछ-ही दिन पूर्व, एक समय था जबकि इंग्लैण्ड का जहाज़ी-बेड़ा किन्हीं दो महान् शक्तियों के सम्मिलित जहाज़ी-बेड़ों से भी बड़ा था। आज

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वह केवल संयुक्त-राज्य अमरीका के साथ बराबरी का दावा कर सकता है, और अमरीका के पास इतने साधन हैं कि ज़रूरत पड़ने पर वह बड़ी शीघ्रता से इंग्लैण्ड से अधिक जहाज़ तैयार कर सकता है। मगर आज समुद्री-ताक़त से भी अधिक महत्त्वपूर्ण चीज़ हवाई-ताकत है, और इस मामले में इंग्लैण्ड और भी कमज़ोर है। कई शक्तियों के पास इंग्लैण्ड से अधिक लड़ाकू-वायुयान हैं। व्यापार के क्षेत्र में भी उसकी सर्वोपरि स्थिति जाती रही है और इसके फिर प्राप्त होने की आशा नहीं है। उसका महान् निर्यात-व्यापार भी उत्तरोत्तर क्षीण होता जा रहा है। ऊँचे-ऊँचे तट-करों तथा विशेष व्यापारिक सुविधाओं के द्वारा वह साम्राज्य की मण्डयाँ अपने माल के लिए सुरक्षित रखने के प्रयत्न कर रहा है। केवल इसीका यह अर्थ है कि उसने साम्राज्य के बाहर जागतिक व्यापार की महत्त्वाकांक्षी कल्पना त्याग दी है। अगर इस सीमित क्षेत्र में उसे सफलता भी मिल जाय, तो इससे उसकी पुरानी सर्वोपरि स्थिति दुबारा प्राप्त नहीं हो सकती। वह तो सदा के लिए हाथ से निकल गई है। परन्तु साम्राज्य के भीतर यह सीमित सफलता भी कितनी है या कितने दिन टिकेगी, यह नहीं कहा जा सकता।

अमरीका के साथ भीषण कुश्ती के बाद भी, इंग्लैण्ड अभीतक जागतिक व्यापार का साहूकारी केन्द्र है, और लन्दन शहर इसके लिए केन्द्रीय विनिमय-स्थान है। परन्तु ज्यों-ज्यों जागतिक व्यापार घटता और लुप्त होता जा रहा है, त्यों-त्यों इस लूटी हुई चीज़ की सारी चमक-दमक और सारा महत्त्व भी छिनता जा रहे हैं। आर्थिक राष्ट्रीयता, संरक्षण-करों, आदि की अपनी नीतियों के कारण इंग्लैण्ड तथा अन्य देश जागतिक व्यापार की इस घटोतरी में ख़ुद-ही निमित्त बन रहे हैं। यदि जागतिक व्यापार बहुत बड़े परिमाण में बना भी रहे, और वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था क़ायम भी रहे, तो भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि संसार का अर्थ-सम्बन्धी नेतृत्व एक-न-एक दिन लन्दन के हाथ से निकलकर न्यूयॉर्क के हाथ में चला जायगा। परन्तु बहुत सम्भव है कि इस चीज़ के होने से पहले ही पूंजी-वादी-प्रणाली में भारी परिवर्तन हो चुकेंगे।

इंग्लैण्ड की यह ख्याति है कि वह अपने-आप को बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल बना लेता है। परन्तु यह ख्याति तभीतक ठीक समझी जा सकती है जबतक कि उसके सामाजिक आधार को आघात न पहुँचे और उसके सम्पत्ति-स्वामी वर्गों की विशेष स्थिति बनी रहे। अभी तो यह देखना है कि परिस्थिति के अनुकूल बनने की यह क्षमता इंग्लैण्ड को मौलिक समाजिक परिवर्तनों में से पार निकालकर ले जाती है या नहीं। यह सम्भावना बहुत-ही कम है कि इस प्रकार का परिवर्तन चुपचाप और शान्ति के साथ सम्पन्न हो जायगा। सत्ता और विशेष-अधिकारों का उपभोग करनेवाले, इन चीज़ों को अपनी मर्ज़ी से नहीं छोड़ा करते।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसी दरम्यिान इंग्लैण्ड बड़ी दुनिया से अपने साम्राज्य में सिकुड़ता आ रहा है, और इस साम्राज्य को बचाने के लिए वह इसके ढाँचे में जबरदस्त परिवर्तन करने को तैयार हो गया है। यद्यपि इसके उपनिवेश ब्रिटिश वित्त-प्रणाली से अनेक रूपों में बँधे हुए हैं, परन्तु फिर भी वे कुछ हद तक स्वाधीन हैं। अपने विकास-शील उपनिवेशों को खुश रखने के लिए इंग्लैण्ड ने बहुत-कुछ त्याग किया है, परन्तु फिर भी दोनों के बीच संघर्ष खड़े होते रहे हैं। आस्ट्रेलिया तो हाथ-पाँव समेत बैंक ऑफ इंग्लैण्ड से बँधा हुआ है, और जापानी हमले के डर ने उसका इंग्लैण्ड के साथ निकट-सम्बन्ध जोड़ दिया है। कनाडा के बढ़ते-हुए उद्योग इंग्लैण्ड के कुछ उद्योगों का मुक़ाबला करने लगे हैं, और उनके आगे घुटने टेकने को तैयार नहीं हैं। इसके अलावा, अपने महान् पड़ौसी संयुक्त-राज्य अमरीका के साथ कनाडा के अनगिनती सहचार हैं। दक्षिण अफ़रीका में साम्राज्य के प्रति कुछ अच्छे भाव नहीं हैं, हालाँकि पुरानी कटुता अब नहीं रही है। आयरलैंड अपने बल-बूते पर खड़ा है, और आंग्ल-आयरी व्यापारिक युद्ध अभीतक चल रहा है। आयरलैण्ड के माल पर इंग्लैण्ड ने चुंगियाँ लगाईं तो इस अभिप्राय से थीं, कि वह डरकर और ज़बरदस्ती मजबूर होकर घुटने टेक देगा, परन्तु इसका परिणाम उल्टा हुआ। इनके कारण आयरलैण्ड के उद्योगों और खेती-बाड़ी को बड़ी भारी उत्तेजना मिली है, और आयरलैण्ड बहुत हद तक स्वावलम्बी तथा आत्म-निर्भर बनने में सफल हो रहा है। नये-नये कारखाने खुल गये हैं, और जिस जमीन पर पहले घास उगती थी, वहाँ अब अनाज पैदा हो रहा है। जो खाद्य-पदार्थ पहले इंग्लैण्ड को निर्यात किये जाते थे, उनका अब यहीं के लोग उपभोग करते हैं, और उनके रहन-सहन का दर्जा ऊँचा हो रहा है। डि वेलेरा ने अपनी नीति को सही सिद्ध कर दिया है, और आयरलैंड आज इंग्लैण्ड की साम्राज्यशाही नीति के लिए काँटा बन रहा है, क्योंकि वह उग्र और उद्दण्ड हो रहा है, और ओटावा सरीखी साँठ-गाँठों से उसका मेल बिल्कुल नहीं बैठ रहा।

इस प्रकार इंग्लैण्ड अपने साम्राज्य की एक आर्थिक इकाई बनाकर, जो-कुछ उसके पास है, उसे बचाने का भरसक प्रयत्न कर रहा है। इस इकाई में वह डेनमार्क या नारवे और स्वीडन जैसे अन्य ऐसे छोटे-छोटे देशों को भी जोड़ता जा रहा है, जो उससे समझौता कर लेते हैं। घटनाओं का ठेठ तर्क-सिद्ध क्रम ही उसे यह नीति अपनाने को विवश कर रहा है; दूसरा कोई रास्ता ही नहीं है। युद्ध के अवसरों पर अपनी रक्षा करने के लिए भी उसे अधिक आत्म-निर्भर बनने की ज़रूरत है। इसलिए वह अपनी कृषि का भी विकास कर रहा है। आर्थिक राष्ट्रीयता की यह साम्राज्यशाही नीति कहाँतक सफल होगी, यह कोई नहीं कह सकता। इस सफलता के मार्ग में बाधक होनेवाली अनेक कठिनाइयाँ मैंने बतलाई हैं। अगर असफलता हुई, तो साम्राज्य का सारा ढाँचा टूटकर गिर पड़ेगा, और तब अंग्रेज़

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

लोगों को अपने रहन-सहन का दर्जा घटाने की समस्या का सामना करना पड़ेगा। हाँ, यदि वे अपनी आर्थिक-व्यवस्था को बदलकर समाजवादी ढंग की बनालें, तो बात दूसरी है। परन्तु इस नीति की सफलता भी खतरे से खाली नहीं है, क्योंकि सम्भव है इसके फलस्वरूप अनेक योरपीय देश इस कारण बरबाद हो जायँ कि उनके व्यापार की निकासी काफ़ी तौर पर न हो सके। इधर इंग्लैण्ड के क़र्ज़दारों का दिवाला निकलने से खुद उसीकी स्थिति को धक्का पहुँचे बिना नहीं रहेगा।

जापान और अमरीका के विरुद्ध भी आर्थिक संघर्ष पैदा होने लाज़िमी हैं। संयुक्त-राज्य अमरीका के साथ तो अनेक क्षेत्रों में प्रतिस्पर्द्धा चल ही रही है। और संसार की आज की स्थिति में संयुक्त-राज्य तो अपने विशाल साधनों के सहारे आगे बढ़ेगा ही, और इंग्लैण्ड क्षीण होता जायगा। इस प्रक्रिया का केवल यही परिणाम हो सकता है कि इस संघर्ष में इंग्लैण्ड चुपचाप पराजय स्वीकार कर ले या यह है कि जो-कुछ उसके पास है, उसे बचाने का अन्तिम प्रयत्न करने के लिए वह युद्ध की जोखिम उठावे, पेश्तर इसके कि यह भी हाथ से निकल जाय, और उसमें अपने प्रतिद्वन्दियों का मुक़ाबला करने की सामर्थ्य भी न रहे।

इंग्लैण्ड का एक और भी प्रतिद्वन्दी सोवियत संघ है। ये दोनों आकाश-पाताल के अन्तरवाली नीतियों के आग्रही हैं। दोनों एक-दूसरे को आँखें दिखा रहे हैं, और एक-दूसरे के विरुद्ध सारे योरप और एशिया में साज़िशें कर रहे हैं। कुछ देर तक ये दोनों शक्तियाँ आपस में शान्ति भले ही बनाये रखें, परन्तु इनके आपसी मतभेद दूर करना बिल्कुल असम्भव है, क्योंकि ये भिन्न-भिन्न आदर्शों के आग्रही हैं।

इंग्लैण्ड आज एक सन्तुष्ट शक्ति है, क्योंकि जो-कुछ उसे चाहिए वह सब उसके पास मौजूद है। उसे यह डर है कि कहीं यह छिन न जाय; और यह डर वाजिब है। वह राष्ट्र-संघ का अपने मतलब के लिए उपयोग करके वर्तमान स्थिति को और इसके द्वारा अपनी वर्तमान हैसियत को क़ायम रखने का भरसक प्रयत्न करता है। लेकिन घटनाओं के जोर को रोकना उसके या अन्य किसी शक्ति के बस की बात नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि आज वह बहुत ताक़तवर है, परन्तु साथ-ही इसमें भी सन्देह नहीं कि साम्राज्यशाही शक्ति की दृष्टि से वह कमज़ोर और क्षीण हो रहा है। हम उसके महान् साम्राज्य को अस्त होते हुए देख रहे हैं।

इंग्लैण्ड के उस-पार योरप महाद्वीप में फ्रान्स है। यह भी एक साम्राज्यशाही शक्ति है, जिसका अफ़रीका तथा एशिया में एक महान् साम्राज्य है। सैन्य-बल की दृष्टि से यह योरप का सबसे बलशाली राष्ट्र है।[1] इसके पास जबरदस्त सेना

---

[1] यह स्थिति अब नहीं रही है। फ्रान्स अब दूसरे दर्जे की शक्ति रह गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है, और यह पोलैण्ड, ज़ेकोस्लोवाकिया, बेल्जियम, रूमानिया, यूगोस्लाविया, आदि अन्य राष्ट्रों के गुट्ट का नेता है।[1] मगर फिर भी यह जर्मनी की आक्रमक भावना से डरता है, खासकर जबसे हिटलर का राज्य हुआ हैं। वास्तव में हिटलर ने पूजीवादी फ्रान्स तथा सोवियत रूस की एक-दूसरे के प्रति भावनाओं में विचित्र परिवर्तन पैदा कर दिया है। दोनों का एक-ही शत्रु होने के कारण ये आपस में अच्छे मित्र बन गये हैं।

समूचा संसार आज एक अद्भुत गड़बड़-घोटाला, और संघर्षों तथा ईर्ष्या-द्वेषों की भयंकर गुत्थी वना हुआ है। और नई प्रवृत्तियाँ इन संघर्षों के दायरे को बढ़ा ही रही हैं। प्रत्येक महाद्वीप में, प्रत्येक देश में, निर्बल और पीड़ित लोग जीवन को सुख देनेवाली उस वस्तुओं में हिस्सा बाँटना चाहते हैं, जिनके उत्पादन में खुद उनकाही हाथ है। वे अपने उस क़र्ज़े का भुगतान माँगते हैं जिसकी मीयाद बहुत दिन हुए पूरी हो चुकी है। कहीं-कहीं तो वे यह माँग ज़ोर-शोर से, कर्कशता से, और उद्दण्डता से कर रहे हैं; कहीं ज़रा खामोशी से। इतने दिनों से उन्हें जिस बुरे व्यवहार और शोषण का शिकार बनाया गया है, उसपर क्रोधित और कटु होकर यदि वे कोई ऐसी कार्रवाई करें, जो हमें अच्छी न लगे, तो क्या हम उन्हें दोष दे सकते हैं? उनकी उपेक्षा की गई और उन्हें नीची निगाह से देखा गया। किसीने उन्हें शिष्टाचार सिखाने की भी परवाह नहीं की।

निर्बलों तथा पीड़ितों की इस उथल-पुथल से सब जगह के सम्पत्तिस्वामी वर्ग भयभीत हो रहे हैं, और इसे दबाने के लिए दल बनाकर इकट्ठे हो रहे हैं। इस प्रकार फ़ासीवाद बढ़ रहा है और साम्राज्यशाही सारे विरोधियों को कुचल रही है। लोकतन्त्र और जनता की भलाई तथा अमानतदारी के लच्छेदार शब्द पीछे हटते जा रहे हैं, और सम्पत्तिवान वर्गों तथा निहित स्वार्थों का नंगा शासन अधिक प्रत्यक्ष होता जा रहा है। और अनेक स्थानों पर तो इसकी पूरी जीत भी होती दिखाई दे रही है। एक कठोरतर युग—क्रूर तथा आक्रमक हिंसा का युग—प्रकट हो रहा है, क्योंकि सब जगह यह लड़ाई पुरानी और नई व्यवस्थाओं के बीच जीवन-मरण की लड़ाई है। क्या योरप में, क्या अमरीका में, और क्या भारत में, सब जगह ऊँचे दाँव लगे हुए हैं, और पुरानी राज्य-व्यवस्था का भाग्य डाँवाडोल हो रहा है, हालाँकि अभी यह भले ही मज़बूती के साथ जमा हुआ हो। जबकि समूची साम्राज्यवादी-पूंजीवादी प्रणाली की जड़ें तक हिल गई हैं, और यह इस योग्य भी नहीं रही है कि अपने क़र्ज़े चुका सके, या जो माँगें इसपर आ रही हैं, उन्हें पूरी कर सके, तो आंशिक

---

[1] द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ये पूर्वी योरपीय देश तथाकथित "रूसी गुट्ट" में आ गये और अब यह स्थिति नहीं रही है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सुधारों से आज की समस्याएँ न तो निबट सकती हैं और न हल हो सकती हैं।

आज संसार पर इन राजनैतिक, आर्थिक, जातीय, आदि अनगिनती संघर्षों का बादल छाया हुआ है, और युद्ध की परछाईं इनके साथ-साथ चल रही है। कहते हैं कि इन संघर्षों में सबसे महान् और सबसे बुनियादी संघर्ष वह है जिसमें एक ओर तो साम्राज्यवाद और फ़ासीवाद हैं और दूसरी ओर साम्यवाद है। ये आज संसार-भर में एक-दूसरे के मुक़ाबले में खड़े हैं, और इनके बीच समझौते की कोई गुंजाइश नहीं है।

सामन्तवाद, पूंजीवाद, समाजवाद, अभिषद्वाद, अराजकतावाद, साम्यवाद, आदि कितने "वाद" हैं! और इन सबके पीछे अवसरवाद लगा हुआ है! परन्तु जो लोग आदर्शवाद चाहते हैं, उनके लिए यह भी है! यह आदर्शवाद कोरी मानसिक उड़ानों का या बे-लगाम कल्पना का नहीं है, वरन एक महान् मानव-उद्देश्य के लिए प्रयत्नशील होने का है——यह वह महान् आदर्श है जिसे हम मूर्त्त रूप देना चाहते हैं।

इस समय समूचा संसार प्रसव-पीड़ा में है, और युद्ध तथा क्रान्ति की गहरी परछाँईं सब जगह पड़ रही है। अगर हम अपनी इस अपरिहार्य नियति से बच नहीं सकते तो हमें इसका मुकाबला किस तरह करना चाहिए? क्या हम शुतुर-मुर्ग़[1] की तरह इसके डर से अपना सिर छिपाकर बैठ जायं? या घटनाओं को ढालने में वीरता के साथ हिस्सा लें, और ज़रूरत पड़े तो खतरे और जोखिमें भी उठाकर एक महान् और उच्च साहसिक-कार्य का आनन्द अनुभव करें, और इस भावना का अनुभव करें कि हमारे "पद-चिह्न इतिहास के पद-चिह्नों में विलीन हो रहे हैं"?

हम सब, या कम-से-कम विचारवान लोग, उत्कण्ठा के साथ उस भविष्य की ओर निहार रहे हैं जो प्रकट होता जा रहा है और वर्तमान बन रहा है। कुछ तो इसके फल की प्रतीक्षा आशा के साथ कर रहे हैं, कुछ भय के साथ। क्या भावी संसार आज से अधिक सुन्दर और सुखमय होगा, जिसमें जीवन को आनन्द प्रदान करने-वाली वस्तुओं पर केवल गिने-चुने लोगों का ही अधिकार नहीं होगा बल्कि सब लोग इनका स्वतन्त्रता से उपभोग करेंगे? या यह संसार आज से भी अधिक कठोर होगा, जिसमें भीषण और संहारकारी युद्धों के कारण आधुनिक सभ्यता के अनेक सुख-साधन नष्ट हो चुके होंगे? यही दो अन्तिम सीमाएँ हैं। इन दोनों बातों में से एक-ही घटित हो सकती है। यह सम्भव नहीं प्रतीत होता कि कोई बीच का रास्ता क़ायम हो जाय।

---

[1] कहते हैं कि शुतुरमुर्ग़ जब किसी भय से भागते-भागते थक जाता है सो रेत में अपना सिर छिपा लेता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: १२६ :

अन्तिम पत्र

इतिहास की चित्रशाला के अनगिनत चित्र हमारे मस्तिष्क पर अंकित हैं। मिस्र, बावुल, निनेवा, पुरानी भारतीय सभ्यताएँ—आर्यों का भारत में आगमन तथा योरप और एशिया में फैलना—चीनी-संस्कृति का अद्भुत लेखा—नोसास और यूनान—शाही रोम और बाइज़ैण्टियम—दो महाद्वीपों के आर-पार अरबों का विजयोल्लासपूर्ण धावा—भारतीय-संस्कृति का पुनर्जागरण और ह्रास—अमरीका की अपरिचित 'मय' तथा 'अज़टेक' सभ्यताएँ—मंगोलों की विस्तृत दिग्विजय—योरप के मध्य-कालीन युग और इनके गोथिक शैली के अपूर्व गिरजाघर—भारत में इस्लाम का आगमन और मुग़ल-साम्राज्य—पश्चिमी योरप में विद्या और कला का पुनर्जागरण—अमरीका की तथा पूर्वी समुद्री-रास्तों की खोज—पूर्व में पश्चिम की आक्रमक कार्रवाइयों का प्रारम्भ—बड़े-बड़े यन्त्रों का प्रादुर्भाव और पूंजीवाद का विकास—उद्योगवाद और योरपीय प्रभुत्त्व तथा साम्राज्यवाद का प्रसार—और आधुनिक जगत में विज्ञान के अद्भुत चमत्कार।

बड़े-बड़े साम्राज्यों का उत्थान और पतन हुआ है, और ये हज़ारों वर्षों तक विस्मृति के गर्भ में पड़े रहे हैं। पर इनके रेत के नीचे दबे हुए भग्नावशेषों को अब यत्नशील खोजियों ने फिर खोद निकाला है। मगर अनेक विचार, अनेक आकर्षण, इन साम्राज्यों के बाद भी बच गये हैं, और इनसे अधिक मज़बूत तथा अधिक स्थायी सिद्ध हुए हैं।

बीता हुआ समय हमारे लिए अनेक उपहार छोड़ गया है; सच तो यह है कि संस्कृति, सभ्यता, विज्ञान, या सत्य के कुछ अंगों के ज्ञान के रूप में आज जो-कुछ हमारे पास है, वह सब सुदूर अतीत या निकट अतीत की ही देन है। इसलिए, यदि हम अतीत के इस ऋण को स्वीकार करते हैं तो यह उचित ही है। परन्तु हमारा कर्त्तव्य या ऋण केवल अतीत के-ही साथ समाप्त नहीं हो जाता। भविष्य के प्रति भी हमारा कुछ कर्त्तव्य है, और यह ऋण शायद उस ऋण से भी बड़ा है जो हमें अतीत को चुकाना है, क्योंकि अतीत तो बीत चुका है और खतम हो गया है—हम उसे बदल नहीं सकते। परन्तु भविष्य तो अभी आनेवाला है, और शायद हम उसे कुछ बना सकें। यदि अतीत ने सत्य का कुछ अंश हमें दिया है, तो भविष्य के गर्भ में भी सत्य के अनेक अंग छिपे हुए हैं, और वह हमें उन्हें ढूँढ निकालने को बुला रहा है। परन्तु अक्सर अतीत का भविष्य से द्वेष होता है, और वह हमें बहुत मज़बूत शिकंजे में जकड़े रहता है, और भविष्य का सामना करने के लिए तथा इसकी ओर प्रगति करने के लिए हमें अतीत से संघर्ष करना पड़ता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कहा जाता है कि इतिहास हमें अनेक पाठ पढ़ाता है; दूसरी कहावत यह भी है कि इतिहास अपने-आपको कभी नहीं दोहराता। ये दोनों-ही बातें सही हैं, क्योंकि इतिहास की अन्धे होकर नक़ल करने से या यह प्रतीक्षा करने से, कि वह अपने-आप को दोहरायगा या अचल पड़ा रहेगा, हम उससे कोई शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकते। परन्तु हम इतिहास के पीछे झाँककर और उसका संचालन करनेवाले बलों को समझकर, उससे कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। मगर फिर भी हमें सीधा उत्तर शायद-ही कभी प्राप्त होता है। कार्ल मार्क्स ने कहा है--"इतिहास के पास तो पुराने सवालों का उत्तर देने का केवल एक-ही तरीक़ा है कि वह नये सवाल उठाता रहता है।"

पुराना ज़माना श्रद्धा का—अन्धी और अ-संशय श्रद्धा का--ज़माना था। पिछली शताब्दियों के अद्‌भुत मन्दिर और मस्जिदें और गिरजे कभी निर्मित नहीं हो सकते थे—यदि कारीगरों और मिस्त्रियों और सारी जनता में असीम श्रद्धा न होती। जिन पत्थरों को उन्होंने भक्ति-भाव से एक-पर-एक चुना या सुन्दर आकृतियों में काटा, वे ही इस श्रद्धा का परिचय दे रहे हैं। पुराने मन्दिरों के शिखर, पतली-पतली सुर्रियोंवाली मस्जिदें, गोथिक शैली के गिरजे—जो सारे-के-सारे भक्ति की आश्चर्य-कारक उत्कटता के साथ ऊपर को इंगित कर रहे हैं, मानो ऊपर-स्थित आकाश को पत्थर या संगमरमर के रूप में प्रार्थना अर्पित कर रहे हों—आज भी हमें रोमांचित कर देते हैं, भले-ही हमारे हृदयों में उस पुरानी श्रद्धा का अभाव हो जिसके ये मूर्त्त-रूप हैं। उस श्रद्धा के दिन अब नहीं रहे हैं, और उनके साथ-ही पत्थर में चमत्कार उत्पन्न करनेवाला वह स्पर्श भी जाता रहा है। आजकल भी हजारों मन्दिर और मस्जिदें और गिरजें बनते रहते हैं, परन्तु इनमें उस आत्मा का अभाव है जिसने मध्य-युगों में इन्हें अनुप्राणित किया था। इनमें, तथा हमारे युग को ख़ूब व्यक्त करनेवाले व्यापारिक कार्यालयों में, कोई अन्तर नहीं है।

हमारा युग दूसरी-ही तरह का है। यह भ्रान्ति-निवारण, सन्देह, अनिश्चितता और शंका का युग है। अब हम बहुत-से प्राचीन विश्वासों और दस्तूरों को स्वीकार नहीं कर सकते, क्या एशिया, क्या योरप और क्या अमरीका, सब जगह लोगों की श्रद्धा इनपर से हट गई है। इस कारण हम नये मार्ग खोजते हैं, और सत्य के ऐसे नये स्वरूप खोजते हैं, जिनकी हमारे चौगिर्द से अधिक संगति हो। हम आपस में प्रश्नोत्तर और वाद-विवाद और झगड़े करते हैं, तथा अनगिनती "वादों" और दार्शनिक विचारधाराओं को जन्म देते हैं।

विश्व के सौन्दर्य को सराहना तथा विचार और कल्पना के जगत में विचरण करना आसान है। परन्तु इस तरह दूसरों के दुःखों से कतराने का प्रयत्न करना और इस बात की चिन्ता न करना कि दूसरों पर क्या बीतती है; न तो साहस का लक्षण है और न सहानुभूति की भावना का। विचार तभी सार्थक माना जा सकता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है जब उसका फल कर्म के रूप में प्रकट हो। मनुष्य जाति के हितैषी रोमाँ रोलाँ[1] ने कहा है—"कर्म ही विचार का अन्तिम लक्ष्य है। जो विचार कर्म की ओर प्रवृत्त न हो, वह सब-का-सब निरर्थक और विश्वासघाती है। इसलिए, यदि हम विचार के दास हैं, तो हमें कर्म के भी दास होना चाहिए।"

लोग-बाग कर्म से अक्सर इसलिए कतराते हैं कि वे परिणामों से डरते हैं, क्योंकि कर्म का अर्थ है जोखिम और ख़तरा। परन्तु डर दूर से ही भयंकर दिखाई देता है—निकट से देखा जाय, तो इतना बुरा नहीं होता। और बहुत बार तो भय ऐसा सुहावना साथी बन जाता है जो जिन्दगी की लज्जत और ख़ुशी को बढ़ाता है। जीवन का साधारण क्रम कभी-कभी नीरस हो जाता है, क्योंकि हम यह सोच लेते हैं कि दुनिया की बातें अपने-आप होती रहती हैं, और उनमें मज़ा नहीं लेते। लेकिन यदि हमें जीवन की इन्हीं साधारण चीज़ों के बिना कुछ दिन रहना पड़े, तो हम उनकी कितनी क़द्र करने लगते हैं! बहुत-से लोग ऊँचे-ऊँचे पर्वतों पर चढ़ते हैं, और चढ़ाई के मज़े के लिए, तथा कठिनाई पार करने व ख़तरा उठाने से प्राप्त होनेवाली प्रफुल्लता के लिए, अपने प्राण तथा शरीर को जोखिम में डालते हैं। और उनके चारों ओर जो ख़तरा मँडराता रहता है, उसके कारण उनकी ग्रहण-शक्तियाँ पैनी हो जाती हैं और अधर लटके हुए जीवन का मज़ा ख़ूब गहरा हो जाता है।

हम सबके सामने पसन्द करने के लिए दो रास्ते हैं। या तो हम उन घाटियों में पड़े रहें जो दम घोटनेवाले धुन्धों और कोहरों से ढकी रहती हैं, पर जो हमें कुछ शारीरिक हिफ़ाज़त देती हैं। या हम जोखिम उठाकर तथा अपने साथियों को ख़तरे में डालकर ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों पर चढ़ें, ताकि ऊपर की शुद्ध वायु में साँस ले सकें, दूर-दूर के दृश्यों का आनन्द उठा सकें, और उदय होते हुए सूर्य का स्वागत कर सकें।

मैंने कवियों तथा अन्य व्यक्तियों की कई उक्तियाँ तथा उनकी रचनाओं में से कई उद्धरण दिये हैं। समाप्त करने से पहले एक और देना चाहता हूँ। यह गीतांजलि की रवीन्द्रनाथ ठाकुर विरचित कविता या प्रार्थना है:

"स्वतन्त्रता-स्वर्ग में पिता हे, जगे-जगे देश यह हमारा!
अशंक मन हो, उठा हुआ शिर, स्वतन्त्र हो पूर्ण ज्ञान जिसमें
जहाँ घरों की न भित्तियाँ ये करें जगत् खण्ड-खण्ड न्यारा;
सदैव ही सत्य के तले से जहाँ पिता, शब्द-शब्द निकले
छुए बढ़ा हाथ पूर्णता को जहाँ परिश्रम अथक हमारा;
छिपे भटककर सुबुद्धि-धारा न रूढ़ियों के दुरन्त मरु में
विशाल-विस्तृत विचार-कृति में लगे जहाँ चित्त, पा सहारा;
स्वतन्त्रता-स्वर्ग में पिता हे, जगे-जगे देश यह हमारा!"[2]

---

[1] फ्रान्सीसी लेखक-विचारक (मृत्यु १९४४) [2] यह पद्यानुवाद श्री सुधीन्द्र ने किया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: १२७ :

उपसंहार

इस उपसंहार में मुझे इन पाँच वर्षों की कहानी का वर्णन करना है, क्योंकि ये पत्र अब एक नये रूप में प्रकाशित होने जा रहे हैं, और प्रकाशक चाहते हैं कि इनमें आजतक की बातें शामिल कर दी जायँ। यह कठिन कार्य है, क्योंकि इस काल में इतनी अधिक घटनाएँ घटी हैं कि अगर मैं इनके बारे में लिखने बैठूँ और मेरे पास समय हो, तो मैं सीमा से बाहर निकल जाऊँ तथा एक-और पुस्तक रच डालूँ। मुख्य घटनाओं का उल्लेख-मात्र भी बहुत लम्बा और भार-रूप हो जायगा। इसलिए मैं इन घटनाओं की कोरी रूप-रेखा ही बतलाना चाहता हूँ। अब हम इन वर्षों का संक्षेप में विहंगावलोकन करेंगे।

हम एक क्रान्ति के युग में रह रहे हैं। यह क्रान्ति सन् १९१४ ई० में, जब महायुद्ध छिड़ा था, तब शुरू हुई थी, और संसार में सब जगह संघर्ष की घोर पीड़ा उत्पन्न करती हुई निरन्तर चली आ रही है। डेढ़ सौ वर्ष पूर्व की फ्रान्सीसी-क्रान्ति ने धीरे-धीरे राजनैतिक समता का युग आरम्भ कर दिया था, तरन्तु अब समय बदल गया है, और केवल यह समता ही आज काफ़ी नहीं है। अब लोकतन्त्र की सीमाएँ इतनी बढ़ानी होंगी कि इसमें आर्थिक-समता का भी समावेश हो सके। यही वह क्रान्ति है जिसमें होकर हम सब गुज़र रहे हैं। यह क्रान्ति आर्थिक-समता स्थापित करने के लिए है, ताकि लोकतन्त्र पूरी तरह सार्थक हो, और हम लोग विज्ञान तथा यन्त्र-विद्या की उन्नति के साथ-साथ चल सकें। यह समता साम्राज्य-वाद या पूंजीवाद के साथ मेल नहीं खाती, क्योंकि इनका आधार विषमता और राष्ट्र या वर्ग का शोषण है। अतः इस शोषण से लाभ उठानेवाले इसका प्रतिरोध करते हैं, और जब संघर्ष जोर पकड़ता है, तब राजनैतिक समता तथा पार्लमिण्टरी लोकतन्त्र की धारणा तक को धता बता दी जाती है। यही फ़ासीवाद है, जो अनेक प्रकार से हमें मध्य-युगों में वापस ले जाता है। यह 'नस्ल' के प्रभुत्त्व को सर्वोपरि मानता है, और स्वेच्छाचारी बादशाह के दैवी अधिकार की जगह इसमें एक सर्वसत्ताधारी नेता का दैवी अधिकार रहता है। गत पाँच वर्षों में फ़ासीवाद की वृद्धि ने और हर प्रकार के लोकतन्त्री सिद्धान्तों तथा आज़ादी व सभ्यता की धारणाओं पर इसके आक्रमण ने, आज लोकतन्त्र की रक्षा का प्रश्न मार्मिक बना दिया है। वर्तमान जागतिक संघर्ष एक ओर साम्यवाद व समाजवाद तथा दूसरी ओर फ़ासीवाद के बीच नहीं है। यह संघर्ष तो लोकतन्त्र और फ़ासीवाद के बीच है, और लोकतन्त्र के सारे वास्तविक बल कन्धे भिड़ाकर फ़ासी-विरोधी बनते जाते हैं।

राष्ट्र-संघ, अपनी सारी कमज़ोरियों के होते हुए भी, अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का मूर्त-रूप था, और उसके इक़रारनामे में आक्रमक कार्रवाइयों के लिए दण्ड का विधान था। जब जापान ने मंचूरिया पर धावा किया था, तब राष्ट्र-संघ कोई कार्रवाई करने में असमर्थ रहा (सिवा इसके कि उसने एक जाँच-कमीशन नियुक्त कर दिया और बाद में इस आक्रामक कार्रवाई की निन्दा करदी)। ब्रिटिश-सरकार ने तो इस हौसलेबाजी के लिए जापान को सचमुच प्रोत्साहित किया था। और ब्रिटिश-सरकार ने तभी से उचित दिशा में कुछ छोटी-छोटी 'भूलों' के सिवा राष्ट्र-संघ की उपेक्षा करने तथा उसे कमज़ोर बनाने की नीति का अनुगमन किया है। आक्रमण की इक़बालिया नीतिवाले नात्सीवाद का उदय राष्ट्र-संघ के लिए सीधी चुनौती था, परन्तु इंग्लैण्ड ने, और कुछ हद तक फ्रान्स ने, इस चुनौती के आगे घुटने टेक दिये, और राष्ट्र-संघ को धूल में मिल जाने दिया। फ़ासीवादी शक्तियों ने राष्ट्र-संघ को धता बताई—जर्मनी ने अक्तूबर, सन् १९३३ ई०, में और जापान तथा इटली ने कुछ दिन बाद। सितम्बर, सन् १९३४ ई० में सोवियत संघ राष्ट्र-संघ में शामिल हो गया, और इससे राष्ट्र-संघ में कुछ नई जान पैदा हो गई। नात्सी जर्मनी के डरों के कारण फ्रान्स ने तो सोवियत से गठ-बन्धन जोड़ लिया, मगर इंग्लैण्ड ने, राष्ट्र-संघ के इक़रारनामे के आधार पर भी सोवियत संघ से सहयोग करने के बजाय, जर्मनी का साथ देना ज्यादा पसन्द किया। आक्रमण की प्रत्येक सफल कार्रवाई से फ़ासीवादी शक्तियों के हौसले बढ़ गये, और उन्हें भरोसा हो गया कि वे राष्ट्र-संघ को मज़े से अंगूठा दिखा सकते थे, क्योंकि उन्होंने समझ लिया था कि ब्रिटिश-सरकार कभी उनके प्रतिकूल जानेवाली नहीं थी।

हम देख चुके हैं मंचूरिया में जापान ने सफलता के साथ राष्ट्र-संघ की कैसी अवहेलना की और वहाँ मंचूकुओ के नाम से एक कठपुतली राज्य कैसे स्थापित कर दिया। हालाँकि वहाँ सेनाओं ने बाक़ायदा हमला किया था, पर युद्ध की कोई घोषणा नहीं की गई थी। वहाँ अन्दरूनी विद्रोह भड़काये गये थे, और इनका बहाना लगाकर हस्तक्षेप किया गया था। इस नई कला को बाद में इटली और नात्सी जर्मनी ने उजागर किया, और इसके साथ अभूतपूर्व पैमाने पर विदेशों में झूठा प्रचार और जोड़ दिया गया। अब युद्ध की घोषणाएँ नहीं की जातीं—यह तो पुराने ज़माने की बात हो गई है। जैसाकि हिटलर ने सन् १९३७ ई० में नूरेम्बर्ग के अपने भाषण में कहा था—"अगर मैं कभी अपने प्रतिपक्षी पर आक्रमण करना चाहूँ, तो महीनों तक समझौते की बातचीत और तैयारी नहीं करूँगा, बल्कि वैसा-ही करूँगा जैसाकि हमेशा करता आया हूँ: यानी मैं अंधकार में से प्रकट होकर बिजली की-सी तेज़ी के साथ अपने प्रतिपक्षी पर टूट पड़ूँगा।"

जनवरी, सन् १९३५ ई० में जनमत-संग्रह के बाद जर्मनी ने सार नदी के प्रदेश पर क़ब्ज़ा कर लिया। इसी साल के मई महीने में हिटलर ने वर्साई की सन्धि की निःशस्त्रीकरण-सम्बन्धी धाराओं को मानने से सदा के लिए इन्कार कर दिया,

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh

और जर्मनों के लिए अनिवार्य सैनिक सेवा की आज्ञा निकाल दी। सन्धि के इस खुले और इकतरफा भंग ने फ्रान्स को भयभीत कर दिया। परन्तु इंग्लैण्ड ने मौन रहकर इस चीज़ को स्वीकार कर लिया। इतना ही नहीं, वह तो एक महीने बाद जर्मनी के साथ नौ-सेना सम्बन्धी एक गुप्त क़रार तय करके एक क़दम और भी आगे बढ़ गया। यह क़रार ख़ुद भी वर्साई की सन्धि का भंग था, इसलिए इसके द्वारा ख़ुद इंग्लैण्ड ने ही सन्धि-पत्र की उपेक्षा की। इसमें चकित करनेवाली बात तो यह थी कि इंग्लैण्ड ने यह कार्रवाई अपने पुराने साथी देश फ्रान्स से बिना पूछे ही कर डाली थी, और वह भी ठीक उस समय, जबकि जर्मनी का जबरदस्त पैमाने पर शस्त्रीकरण सारे योरप के लिए ख़तरा बन रहा था। इस चीज़ से, जिसे फ्रान्स इंग्लैण्ड का विश्वासघात समझता था, उसे इतनी दहशत हुई कि वह मुसोलिनी के पास उससे समझौता करने के लिए दौड़ा, ताकि उसकी इटलीवाली सरहद का ख़तरा तो कम हो जाय।

अबीसीनिया

इससे मुसोलिनी को वह मौक़ा मिल गया जिसकी ताक में वह बहुत दिनों से था। कितने-ही वर्षों से वह अबीसीनिया पर हमले की योजना बना रहा था, पर इसलिए हिचकिचा रहा था कि उसे इंग्लैण्ड तथा फ्रान्स के रुख़ का भरोसा नहीं था। फ्रान्स तथा इटली के बीच बड़ा-भारी खिंचाव चला आ रहा था, और अक्तूबर, सन् १९३४ ई०, में यूगोस्लाविया के शाह अलैक्ज़ैण्डर को तथा फ्रान्स के विदेश-मंत्री लुई बार्थो को, मार्सल्स में शायद किसी इटालवी गुर्गे ने मार डाला। परन्तु अब मुसोलिनी को भरोसा हो गया कि अगर वह अबीसीनिया पर हमला करेगा, तो न तो फ्रान्स कोई कारगर विरोध की कार्रवाई करेगा और न इंग्लैण्ड। अक्तूबर, सन् १९३५ ई० में यह हमला ठीक उस समय शुरू हुआ, जिस समय राष्ट्र-संघ का अधिवेशन हो रहा था। अबीसीनिया राष्ट्र-संघ का एक सदस्य-राज्य था, अतः इस हमले ने सारी दुनिया का दिल दहला दिया। राष्ट्र-संघ ने इटली को आक्रान्ता घोषित कर दिया, और बहुत टालम-टोल के बाद उसपर कुछ आर्थिक प्रतिबन्ध लगा दिये—यानी सदस्य-राज्यों को उसके साथ बहुत-सी वस्तुओं का व्यापार करने का निषेध कर दिया। परन्तु खनिज-तेल, लोहा, इस्पात, कोयला, वगैरा, वास्तव में महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ, जिनपर युद्ध का दारोमदार था, इस सूची में शामिल नहीं की गईं। एंग्लो-ईरानियन ऑयल कम्पनी ने इटली को खनिज-तेल भेजने के लिए कसकर और समय के अलावा काम लिया। प्रतिबन्धों से इटली को कुछ असुविधा तो हुई, पर उसके मार्ग में कोई बड़ी कठिनाई नहीं उपस्थित हुई। संयुक्त-राज्य अमरिका ने खनिज तेल पर रोक लगाने का सुझाव रखा था, परन्तु इंग्लैण्ड राज़ी नहीं हुआ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इंग्लैण्ड के विदेश-मन्त्री सर सैम्युएल होर तथा फ्रान्स के मन्त्री मोस्यू लावा ने अबीसीनिया का एक बड़ा हिस्सा इटली के हवाले कर देने के बारे में बातचीत तय कर ली, परन्तु इसपर जनता ने इतना हो-हल्ला मचाया कि सर सैम्युएल होर को इस्तीफ़ा देना पड़ा। इधर अबीसीनियावाले बड़ी वीरता से लड़ रहे थे, परन्तु निचाई पर उड़नेवाले वायुयानों द्वारा सामूहिक बमबारी के आगे वे कुछ नहीं कर सकते थे! ग़ैर-सैनिकों, स्त्रियों तथा बालकों, घायलों की सेवा करनेवालों तथा अस्पतालों पर आतिशी बम और गैस-बम बरसाये गये, और अत्यन्त नृशंस हत्याएँ की गईं। मई, सन् १९३६ ई० में इटालवी सेना वहाँ की राजधानी आदीस-आबाबा में दाख़िल हो गई, और फिर इसने देश के बड़े प्रदेश पर अधिकार कर लिया। इंग्लैण्ड और फ्रान्स ने इसपर इटली का क़ब्ज़ा स्वीकार कर लिया।[1]

अबीसीनिया की दुःखप्रद घटना ने, और राष्ट्र-संघ की शक्तियों द्वारा इसके साथ विश्वासघात ने दुनिया को ज़ाहिर कर दिया कि राष्ट्र-संघ बिल्कुल अशक्त था। अब हिटलर बेख़ौफ़ होकर इसकी अवज्ञा कर सकता था, और मार्च, सन् १९३६ ई० में उसने अपनी सेनाएँ राइनलैण्ड के सैन्यबल-रहित इलाक़े में दाख़िल कर दीं। वर्साई की सन्धि पर यह दूसरी चोट थी।

चीन

जापान मंचूरिया में लगातार आक्रमक कार्रवाइयाँ करता रहा, और जैसाकि मैं बतला चुका हूँ, उसे इंग्लैण्ड की सरकारी सद्भावना प्राप्त थी। जापान की आक्रमक कार्रवाइयों का मुक़ाबला करने के लिए अमरीका ने इंग्लैण्ड के साथ सहयोग करने का जो प्रस्ताव किया था, उसे इंग्लैण्ड ने ठुकरा दिया। इंग्लैण्ड ने जापान को इस तरह से बढ़ावा क्यों दिया और एक बलशाली प्रतिद्वन्दी की जड़ क्यों मज़बूत की? बात यह है कि बीसवीं सदी के प्रारम्भिक समय से ही जापान एक तरह से इंग्लैण्ड की छत्रछाया में साम्राज्यशाही शक्ति के रूप में ढलता चला आया है। शुरू-शुरू में तो यह निशाना ज़ारशाही रूस के विरुद्ध था। महायुद्ध के बाद संयुक्त-राज्य अमरीका तथा सोवियत संघ, ये दो इंग्लैण्ड के महान् प्रतिद्वन्दी हो गये, इसलिए जापान को सहारा देने की पुरानी नीति अबतक जारी रही, जबकि ख़ुद जापान-हीं इंग्लैण्ड के महत्त्वपूर्ण स्वार्थों को हानि पहुँचाने लगा है। अमरीका ने सन् १९३३ ई० में सोवियत संघ को जो मान्यता दी, उसका एक कारण जापान के साथ उसकी प्रतिस्पर्द्धा थी।

सन् १९३३ ई० के बाद के समय में चीन में कई सरकारें रहीं। एक तो च्यांग

---

[1] **द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप अबीसीनिया इटली के पंजे से छूटकर फिर स्वतन्त्र हो गया।**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

काई शेक की राष्ट्रीय सरकार थी, जिसे बड़ी-बड़ी शक्तियों ने मान रखा था; दूसरी दक्षिण में कैण्टन की सरकार थी, और यह भी कुओ-मिन-तांग की अनुयायी होने का दावा करती थी; तीसरे देश के अन्दरूनी भाग में एक बड़ा सोवियत इलाक़ा था; इनके अलावा देश के भीतर कितने-ही अर्द्ध-स्वाधीन लड़ाकू सरदार थे। पेपिंग के उत्तर में जापान चीन को बराबर कुतर रहा था। जापान के आक्रमण का मुक़ाबला करने के बजाय च्यांग काई शेक ने सोवियत इलाक़ों को कुचलने के लिए हर साल जबरदस्त हमलावर सेनाएँ भेजने में अपनी सारी शक्ति खर्च कर दी। इन सेनाओं के अधिकतर हमले असफल रहे, और अगर ये उन इलाक़ों पर कभी क़ब्ज़ा भी कर लेती थीं, तो चीनी सोवियत सेनाएँ इनसे बचकर निकल जाती थीं, और भीतर की ओर जाकर जम जाती थीं। चू तेह के नेतृत्त्व में आठवीं सेना की, चीन के एक सिरे से दूसरे तक, आठ हज़ार मील की अद्‌भुत यात्रा सैन्य इतिहास की सर्वश्रेष्ठ कथा बन गई है।

बस, यह संघर्ष-साल-दर-साल चलता रहा, हालाँकि सोवियत चीन ने जापानी आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए च्यांग काई शेक के साथ सहयोग करने की तत्परता भी दिखाई। सन् १९३७ ई० में जापान ने बड़े पैमाने पर हमला कर दिया, और इससे आपस में युद्ध करनेवाले दल एक होकर जापान के विरुद्ध सम्मिलित मोर्चा खड़ा करने को मजबूर हो गये। चीन ने भी सोवियत संघ के साथ अधिक निकट सम्बन्ध स्थापित कर लिया और नवम्बर, सन् १९३७ ई० में दोनों देशों के बीच एक अनाक्रमण क़रार पर हस्ताक्षर हो गये।

मगर जापान के सैन्य-बल की महान् कल फिर भी चीन में आगे बढ़ती गई, और जापानी सेनाओं को तंग करने के लिए चीनी लोगों ने बड़े असरकारक तरीक़े से छापामार युद्ध के दाँव-पेचों का सहारा लिया। जापान ने शांघाई और नानकिंग पर अधिकार कर लिया, परन्तु जब उसकी सेनाएँ कैण्टन और हैन्काउ के समीप पहुँची, तो चीनियों ने खुद ही अपने इन महान् नगरों को आग लगाकर नष्ट कर दिया। जापानी सेना ने इन शहरों के जले हुए खंडहरों पर अधिकार कर लिया, जिस तरह कि नैपोलियन ने मास्को पर अधिकार किया था, परन्तु जापान अभीतक चीनियों के प्रतिरोध को ज़रा भी नहीं कुचल पाया है। हर नई विपत्ति के बाद यह प्रतिरोध और भी कड़ा होता जाता है।[1]

---

[1] द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान तथा अन्य धुरी-शक्तियों की पराजय के बाद चीन से जापानी सेनाएँ वापस चली गईं और गृह-युद्ध फिर आरम्भ हो गया। १९४९ ई० में च्यांग काई शेक साम्यवादियों से पराजित होकर अपने समर्थकों सहित फारमूसा भाग गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आस्ट्रिया तथा ज़ेकोस्लोवाकिया

अब हमें योरप लौट चलना चाहिए और आस्ट्रिया की कहानी के दुःखभरे अन्त को देखना चाहिए। यह छोटा-सा गणराज्य दिवालिया हो रहा था और फूट का घर बन रहा था। एक ओर से तो इसे नात्सी जर्मनी दबा रहा था और दूसरी ओर से फ़ासीवादी इटली। यद्यपि वियेना की नगरपालिका प्रगतिशील समाजवादी संस्था थी, परन्तु देश में वहीं के खास नमूने के पादरीशाही-फ़ासीवाद का बोल-बाला था। यहाँ का चान्सलर (प्रधान-मन्त्री) डोलफ़स था, जिसने मुसोलिनी का पल्ला इस भरोसे पकड़ रखा था कि वह नात्सी-आक्रमण से उसकी रक्षा करेगा। इटली ने वर्साई की सन्धि की अवहेलना करके डोलफ़स को हथियार भिजवाये, और मुसोलिनी ने उसे समाजवादियों का दमन करने की सलाह दी। डोलफ़स ने वियेना के समाजवादी मज़दूरों को निरस्त्र करने का निश्चय किया, और इसके कारण फ़रवरी, सन् १९३४ ई० की प्रति-क्रान्ति हो गई। वियेना में चार दिन तक लड़ाई होती रही, और मजदूरों के मशहूर भवनों पर गोले बरसाये गये जिससे वे टूट-फूट गये। डोलफ़स जीत तो गया, परन्तु इसकी क़ीमत उसे यह चुकानी पड़ी कि वह एकमात्र बलशाली दल, जो बाहर के आक्रमण का मुक़ाबला कर सकता था, छिन्न-भिन्न हो गया।

इस बीच नात्सियों की साज़िशें होती रहीं, और जून, सन् १९३४ ई० में नात्सियों ने वियेना में डोलफ़स की हत्या कर डाली। इस राजनैतिक चोट का प्रयोजन यह था कि इसके बाद ही आस्ट्रिया पर जर्मनी की ओर से नात्सियों का हमला हो जाय। हिटलर आस्ट्रिया की सरहद के इस-पार अपनी सेनाएँ भेजने ही वाला था, परन्तु जब मुसोलिनी ने जर्मनों के विरुद्ध आस्ट्रिया की रक्षा करने के लिए अपने सैनिक भेजने की धमकी दी, तो वह रुक गया। मुसोलिनी नहीं चाहता था कि जर्मनी आस्ट्रिया को हज़म कर ले, और जर्मनी की सरहद ठेठ इटली तक आ जाय। सन् १९३५ ई० में हिटलर ने सरकारी तौर पर ऐलान कर दिया कि वह आस्ट्रिया पर क़ब्ज़ा नहीं करेगा या उसे जर्मनी में नहीं मिलावेगा।

परन्तु इटली ने अबीसीनिया पर जो धावा बोला था, उसने उसे निर्बल कर दिया। और चूँकि इंग्लैण्ड तथा फ्रान्स से रगड़ा-झगड़ा बढ़ता जा रहा था, इसलिए उसे हिटलर के साथ समझौता करना पड़ा। अब हिटलर को आस्ट्रिया में मनमानी करने की छूट मिल गई और नात्सी प्रवृत्तियाँ ज़ोर पकड़ने लगीं। सन् १९३८ ई० के प्रारम्भ में इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री चैम्बरलेनने स्पष्ट कह दिया था कि आस्ट्रिया को बचाने के लिए इंग्लैण्ड कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा। इसके बाद घटना-क्रम बड़ी तेज़ी से चला और जब आस्ट्रिया के चान्सलर शुशनिग ने जनमत-संग्रह का निश्चय किया, तो हिटलर ने इसपर आपत्ति की, और मार्च, सन् १९३८ ई० में

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

आस्ट्रिया पर हमला बोल दिया। इसका कोई प्रतिरोध नहीं हुआ, और आस्ट्रिया का जर्मनी के साथ एकीकरण घोषित कर दिया गया। यहाँ के अन्तिम चान्सलर शुशनिग को जर्मनों ने बन्दी बना लिया।[1]

आस्ट्रिया में नात्सियों की पूरी विजय से योरप के हाथ-पैर ठण्डे हो गये, परन्तु इसका सबसे ज्यादा असर ज़ेकोस्लोवाकिया पर पड़ा, क्योंकि अब वह तीन ओर नात्सी जर्मनी से घिर गया था। बहुत-से लोगों ने सोच लिया कि इस देश पर भी हमला होनेवाला है, और इसकी भूमिका के रूप में नात्सियों की साज़िशें और सरहदी इलाक़ों में गड़बड़ भड़काने के प्रयत्न ठेठ फ़ासीवाद ढंग पर शुरू हो गये।

ज़ेकोस्लोवाकिया के सुडेटनलैण्ड, यानी पुराने बोहेमिया, में जर्मन-भाषा-भाषी लोगों की आबादी थी, और आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य में इन्हींकी प्रधानता थी। ये लोग ज़ेक-राज्य की स्थापना से ख़ुश नहीं थे, और इनकी कुछ वाजिब शिकायतें भी थीं। ये कुछ हद तक स्वशासन का अधिकार चाहते थे; जर्मनी में मिलने की इनकी कोई इच्छा नहीं थी और इनमें कुछ जर्मन ऐसे भी थे, जो नात्सी-राज के कट्टर विरोधी थे। बोहेमिया पहले कभी भी जर्मनी का भाग नहीं रहा था। आस्ट्रिया के विलीन होने के बाद यह ख़याल किया जाता था कि हिटलर ज़ेकोस्लोवाकिया पर हमला करेगा। इस आशंका से भयभीत होकर बहुत-से लोग स्थानीय नात्सी दल में जा मिले ताकि पानी से पहले ही पाल बाँध लें।

ज़ेक-सरकार ने जर्मन-भाषा-भाषी अल्पसंख्यकों के प्रश्न को हल करने की जी-तोड़ कोशिश की और उनकी क़रीब-क़रीब सारी माँगें पूरी कर दीं। मगर एक माँग पूरी होने नहीं पाती थी कि दूसरी नई और उससे भी व्यापक माँग खड़ी हो जाती थी, यहाँतक कि राज्य को अपनी जान के-ही लाले पड़ गये। ज़ाहिर था कि हिटलर का यह उद्देश्य था कि इस लोकतन्त्री राज्य का, जो उसकी राह का काँटा था, अन्त कर दे। ब्रिटिश-सरकार ने लॉर्ड रुन्सीमैन को "बिचौलिया" का काम करने के लिए प्राग भेजा, परन्तु व्यवहार में इस बीच-बचाव का फल यह था कि नात्सियों की माँगें पूरी करने के लिए ज़ेक-सरकार पर बराबर दबाव डाला गया। अन्त में ज़ेक लोगों ने लॉर्ड रुन्सीमैन के ही प्रस्ताव मान लिये। ये प्रस्ताव बहुत व्यापक थे, परन्तु नात्सी लोग अब इनसे भी ज्यादा चाहते थे, और अपनी माँगें जबरदस्ती पूरी कराने के लिए उन्होंने जर्मन सेना को कूच की आज्ञा दे दी। इसपर चैम्बरलेन ने ख़ुद हस्तक्षेप किया। वह बर्ख़टेसगाडन जाकर हिटलर से मिला, और वहाँ उसने हिटलर की युद्ध-धमकी मान ली, जिसमें ज़ेकोस्लोवाकिया के कुछ बड़े प्रदेश जर्मनी के हवाले कर दिये जाने की माँग थी। अपने मित्रों के इस विश्वासघात से ज़ेक लोग स्तम्भित रह गये और दहल गये। और अन्त में

---

[1] द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद आस्ट्रिया जर्मनी से विलग कर दिया गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रोम-बर्लिन धुरी

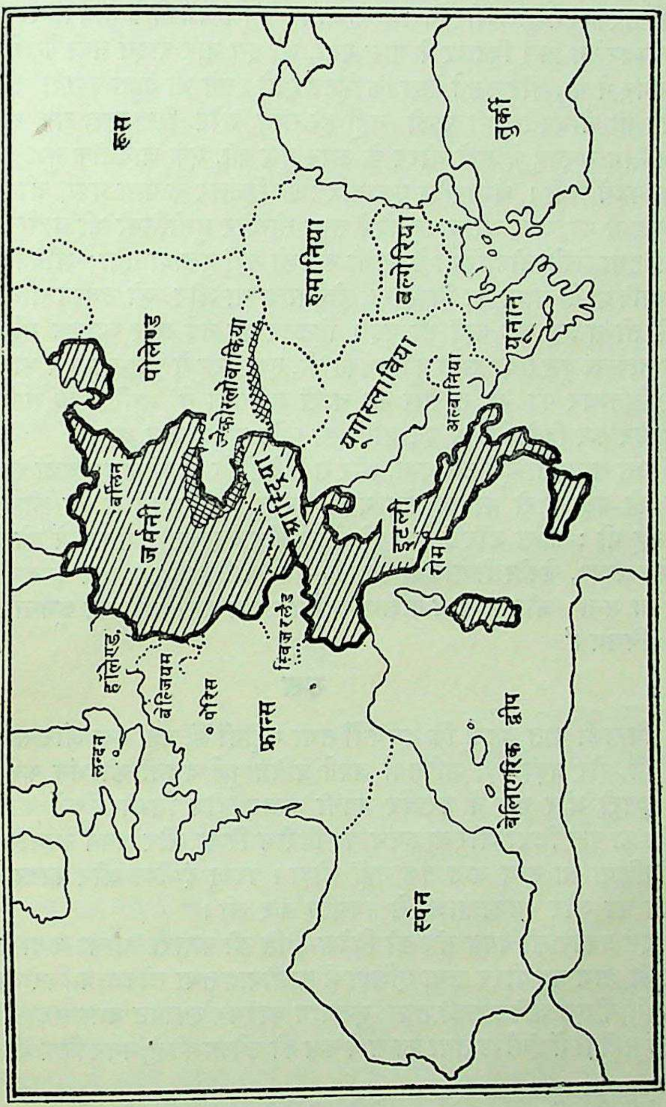

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उनकी सरकार ने दुःख और निराशा के साथ इस युद्ध-धमकी के आगे सिर झुका दिया। तब चैम्बरलेन फिर हिटलर के पास गया, जो इस बार राइन नदी के तीर गौडेस-बर्ग नगर में था, और उसने देखा कि हिटलर तो इससे भी बहुत ज्यादा चाहता था। इसपर तो चैम्बरलेन भी राज़ी नहीं हो सका, और सितम्बर, सन् १९३८ ई० के अन्तिम सप्ताह में सारे योरप के ऊपर युद्ध की, एक जागतिक युद्ध की, काली छाया पड़ने लगी। चैम्बरलेन एक बार फिर हिटलर के पास गया, जो उस समय म्यूनिख में था, और मोस्यू दलादिये तथा सीन्योर मुसोलिनी भी वहाँ जा पहुँचे। फ्रान्स तथा ज़ेकोस्लोवाकिया के साथी रूस को नहीं बुलाया गया; और जिस ज़ेको-स्लोवाकिया के भाग्य का निपटारा होनेवाला था और जो उनका साथी भी था, उससे तो सलाह तक नहीं ली गई। हिटलर की नई और व्यापक माँगें, जिनके पीछे तत्काल युद्ध तथा हमले की धमकी थी, एक तरह से पूरी-की-पूरी मान ली गईं, और सितम्बर की २९ तारीख़ को चारों शक्तियों ने 'म्यूनिख के समझौते' पर हस्ताक्षर कर दिये, जिसमें इन माँगों की पूर्त्ति का उल्लेख था।

उस समय तो युद्ध टल गया, और सारे देशों के लोगों में इस बला से छुटकारा पाने की बड़ी-भारी भावना फैल गई। परन्तु इसके बदले में जो क़ीमत चुकाई गई वह थी : फ्रान्स और इंग्लैण्ड की ग़ैरत और बेइज्ज़ती; योरप में लोकतन्त्र पर भीषण प्रहार, ज़ेकोस्लोवाकिया का अंग-भंग; शान्ति के उपकरण के रूप में राष्ट्र-संघ का अन्त; और मध्य व दक्षिण-पूर्वी योरप में नात्सीवाद की धूमधाम के साथ पूर्ण विजय।[1]

रूस

निराली बात यह है कि इन वर्षों तथा महीनों में, जहाँ एक ओर साज़िशें चल रही थीं और बड़ी-बड़ी शक्तियाँ अपने प्रतिज्ञापूर्ण वचनों को भंग कर रही थीं, वहाँ दूसरी ओर रूस ने बराबर अपनी अन्तर्राष्ट्रीय ज़िम्मेदारियों को निभाया, शान्ति का पक्ष लिया और आक्रमण का विरोध किया, और अपने साथी-देश ज़ेको-स्लोवाकिया का साथ अन्त तक नहीं छोड़ा। परन्तु इंग्लैण्ड और फ्रान्स ने उसकी उपेक्षा की और आक्रान्ताओं से मित्रता कर ली।

इस प्रकार सोवियत संघ की विदेश-नीति को करारा धक्का लगा है। मगर फिर भी आज वह योरप तथा एशिया में फ़ासीवाद तथा लोकतन्त्र-विरोधी बलों के मुक़ाबले में एक शक्तिशाली तथा एकमात्र कारगर रुकावट बना खड़ा है। यद्यपि पिछले महीनों में इंग्लैण्ड तथा फ्रान्स ने रूस की उपेक्षा की है, मगर फिर भी आज वह

---

[1] द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ज़ेकोस्लोवाकिया पुनः एक पूर्णतः स्वाधीन देश के रूप में खड़ा हो गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक जबरदस्त शक्ति है। पहली पंचवर्षीय योजना साधारण तौर पर सफल रही, हालाँकि कुछ खास बातों में उसे सफलता नहीं मिली। इनमें उल्लेखनीय बात यह है कि उसकी तैयार की हुई वस्तुएँ अव्वल दर्जे की नहीं थीं। उसके मिस्तरी नौ-सिखिये थे, और ढुलाई की व्यवस्था भी बहुत-करके निकम्मी सिद्ध हुई। भारी उद्योगों पर सारा ध्यान लगाने के कारण साधारण उपभोग्य वस्तुओं की कमी हो गई, जिससे जनता के रहन-सहन का स्तर गिर गया। परन्तु इस योजना ने रूस का तेज़ी के साथ उद्योगीकरण करके और उसकी खेती का सामूहीकरण करके भावी प्रगति की नींव डाल दी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना (सन् १९३३-३७ ई०) में भारी उद्योगों के बजाय हल्के उद्योगों पर ज़ोर दिया गया। प्रथम योजना की कमियाँ पूरी करना और उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन इसका लक्ष्य था। इससे महान् प्रगति हुई, और जीवन के रहन-सहन का स्तर ऊँचा हो गया तथा बराबर ऊँचा होता जा रहा है। सारे सोवियत संघ में संस्कृति तथा शिक्षा की दृष्टि से और बहुत-सी अन्य बातों में अपूर्व प्रगति हुई हैं। इस प्रगति को जारी रखने तथा अपनी समाजवादी आर्थिक व्यवस्था को ठोस बनाने के इरादे से रूस ने अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में शान्ति की नीति का बराबर पालन किया है। राष्ट्र-संघ में वह काफ़ी निःशस्त्रीकरण, सामूहिक सुरक्षा और आक्रमण के विरुद्ध मिलकर कार्रवाई करने के लिए बराबर लड़ता रहा है। उसने पूंजीवादी महान् शक्तियों के साथ अपना मेल बैठाने का प्रयत्न किया है।

तुर्की

लड़ाई-झगड़ों की इस दुनिया में आज अकेला तुर्की ही एक शान्तिपूर्ण देश है जिसका कोई भी बाहरी शत्रु नहीं है। यूनान तथा बलकानी देशों से उसका बहुत पुराना वैर निबट गया है। सोवियत संघ तथा इंग्लैण्ड के साथ भी अच्छे सम्बन्ध हैं। अलैक्ज़ैण्ड्रैटा के बारे में फ़ान्स से कुछ झगड़ा था। तुम्हें याद होगा कि सीरिया के 'आदेशित' प्रदेश को फ्रान्सीसी सरकार ने जिन पाँच राज्यों में विभक्त किया था, उन्हींमें से यह एक राज्य था। अलैक्ज़ैण्ड्रैटा में तुर्क आबादी की प्रधानता है, इसलिए फ्रांस ने तुर्क-सरकार की दलील मान ली और इसे स्वशासित राज्य बना दिया।

इस प्रकार कमाल अतातुर्क की बुद्धिमत्तापूर्ण रहनुमाई में तुर्की अपनी जातीय तथा अन्य समस्याओं से पिण्ड छुड़ाकर अन्दरूनी विकास के कार्य में संलग्न हो गया। अतातुर्क ने अपने देशवासियों की उत्तम सेवा की थी, और जब नवम्बर, सन् १९३८ ई०, में उसकी मृत्यु हुई, तो उसने इस सन्तोष के साथ प्राण त्याग किये कि उसे अपने कार्य में अपूर्व सफलता प्राप्त करने का सौभाग्य मिला। इसके बाद

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इसका पुराना साथी सेनापति इस्मत इन्येनू तुर्की के राष्ट्रपति के पद पर आसीन हुआ।[1]

संसार में लड़ाई-झगड़े

आज लड़ाई-झगड़े के दो विशाल क्षेत्र योरप तथा प्रशान्त महासागर हैं। इन दोनों ही क्षेत्रों में उग्र फ़ासीवाद लोकतन्त्र तथा आज़ादी को कुचलने की ओर संसार पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित करने की चेष्टा कर रहा है। संसार में एक तरह का फ़ासीवादी अन्तर्राष्ट्रीय संघ बन गया है जो केवल खुले युद्ध ही नहीं कर रहा—हालाँकि इन युद्धों की घोषणा नहीं की गई है—बल्कि हस्तक्षेप के मौक़े तलाश करने के लिए विभिन्न देशों में सदा साज़िशें करता रहता है और झगड़े भड़काता रहता है। युद्ध और हिंसा का खुले तौर पर यश-गान हो रहा है, और झूठा प्रचार अभूतपूर्व पैमाने पर किया जा रहा है। यह फ़ासीवाद साम्यवाद-विरोधी नारों की आड़ में अपने साम्राज्यशाही इरादों को पूरा कर रहा है, हालाँकि अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद कहीं भी आक्रमक नहीं हो रहा—बल्कि बहुत वर्षों से विश्व-शान्ति तथा लोकतन्त्र का समर्थन कर रहा है। संयुक्त-राज्य अमरीका में नात्सियों के षड्यन्त्र हुए हैं और उनपर मुक़दमे चलाये गये हैं। दिसम्बर, सन् १९३७ ई०, में फ्रान्स में भी गणराज्य के विरुद्ध एक षड्यन्त्र का भण्डाफोड़ हुआ। इसका संगठन "नक़ाबपोश" कहलानेवाले कागूलार्दों ने जर्मनी तथा इटली से प्राप्त होनेवाले सामान और हथियारों की मदद से किया था। इन लोगों ने बम-काण्ड किये और हत्याएँ कीं। इंग्लैण्ड में प्रभावशाली गिरोह सरकार की विदेश-नीति को फ़ासीवादी दिशा में प्रेरित कर रहे हैं।

यह अन्तर्राष्ट्रीय फ़ासीवाद केवल परले सिरे का साम्राज्यवाद ही नहीं है, बल्कि इसने मध्य-युगों की भाँति धार्मिक और जातीय वैर-विरोध पैदा कर दिये हैं। नवम्बर, सन् १९३८ ई० के शुरू में पोलैण्डवासी एक नौजवान यहूदी ने अपनी जाति पर किये गये क्रूर-अत्याचारों से क्रोधोन्मत्त होकर पेरिस में एक जर्मन कूटनीतिज्ञ को मार डाला। यह एक व्यक्ति का काम था, परन्तु इसे कारण बनाकर जर्मनी में समूची यहूदी जाति के विरुद्ध तुरन्त-ही आतंक का सरकारी और संगठित दौर शुरू कर दिया गया। देश-भर के सारे यहूदी-मन्दिर जला डाले गये; यहूदियों की दूकानों को बहुत बड़े पैमाने पर लूट-खसोट कर नष्ट कर दिया गया; आम रास्तों पर और घरों के भीतर यहूदी नर-नारियों पर अनगिनती

---

[1] **द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद तुर्की पश्चिमी देशों के अधिक निकट आ गया और उसके रूस से सम्बन्ध बिगड़ गये। अब वह रूस-विरोधी सैनिक गुटों का सदस्य राष्ट्र है। इस्मत इन्येनू अब तुर्की का राष्ट्रपति नहीं है।**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
पाशविक हमले किये गये। नात्सी नेताओं ने इन सब बातों को न्यायोचित ठहराया, और इनके अलावा जर्मनी के यहूदियों पर आठ करोड़ पौण्ड का जुर्माना भी लाद दिया गया।

आत्म-हत्याएँ हो रही हैं; लोग जान बचा-बचाकर भाग रहे हैं; युगों के अविस्मरणीय सन्ताप के भार से दबे हुए दुःखी, निस्सहाय और बे-घर-बार लोग बड़ी भारी संख्या में देश छोड़कर जा रहे हैं—भला इनकी यह अनन्त क़तार कहाँ के लिए कूच कर रही है! आज दुनिया भर में शरणार्थियों की भरमार है—यहूदी, सुडेटनलैण्ड के जर्मन समाजवादी-लोकतन्त्रवादी, फ्रैन्को के अधिकृत प्रदेशों से भागे हुए स्पेनी किसान, चीनी, अबीसीनियावासी आदि अनेक लोग शरणार्थी हो गये हैं। ये सब नात्सीवाद तथा फ़ासीवाद के कड़वे फल हैं। दहशत के मारे संसार का दम सूख रहा है, और इन शरणार्थियों की सहायता के लिए कितनी-ही संस्थाएँ स्थापित हो रही हैं।

दो महान् देश—सोवियत संघ तथा संयुक्त-राज्य अमरीका—निगाह के सामने आ रहे हैं। ये दोनों आधुनिक संसार के सबसे बलशाली राष्ट्र हैं—अपने-अपने ख़ूब लम्बे-चौड़े प्रदेशों के भीतर क़रीब-क़रीब आत्म-निर्भर हैं और क़रीब-क़रीब अजेय हैं।

अलग-अलग कारणों से दोनों-ही फ़ासीवाद तथा नात्सीवाद के विरुद्ध हैं। योरप में सोवियत रूस फ़ासीवाद के मार्ग में एकमात्र रुकावट है; अगर यह नष्ट हो जाय, तो फ़्रान्स तथा इंग्लैण्ड सहित सारे योरप में लोकतन्त्र का बिल्कुल अन्त हो जाय। अमरीका योरप से बहुत दूर है, और इसके मामलों में न तो आसानी से हस्तक्षेप कर सकता है, और न करना चाहता है। परन्तु यदि योरप में या प्रशान्त महासागर में यह हस्तक्षेप हुआ, तो अमरीका की जबरदस्त ताक़त कारगर तौर पर अपना असर दिखावेगी।

आज़ादी के पक्ष में भारत तथा पूर्व के उदीयमान लोकतन्त्रवादी देश भी हैं, और कुछ ब्रिटिश-उपनिवेश तो ब्रिटिश-सरकार से भी बहुत अधिक उन्नत विचारों के हैं। आज लोकतन्त्र तथा आज़ादी जीवन-मरण के गम्भीर खतरे में पड़े हुए हैं, और यह खतरा इस कारण और भी बढ़ गया है कि इनके तथाकथित हितैषी इनकी पीठ में छुरा भोंक रहे हैं। परन्तु स्पेन तथा चीन ने लोकतन्त्र की सच्ची भावना के अद्भुत तथा स्फूर्त्तिदायक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इन दोनों देशों में युद्ध की वीभत्सताओं के अन्दर से एक नया राष्ट्र जन्म ले रहा है, और राष्ट्रीय जीवन तथा प्रवृत्तियों के अनेक क्षेत्रों में पुनर्जीवन तथा पुनर्जागरण हो रहा है।

सन् १९३५ ई० में अबीसीनिया पर हमला हुआ; सन् १९३६ ई० में स्पेन पर आक्रमण किया गया; सन् १९३७ ई० में चीन पर दुबारा हमला किया गया; सन् १९३८ ई० में आस्ट्रिया पर हमला किया गया और योरप के नक़्शे पर से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसका नाम मिटा दिया गया, और चेकोस्लोवाकिया को छिन्न-भिन्न करके एक माण्डलिक राज्य बना दिया गया। हर साल आफ़तों की पूरी फ़सल तैयार होती रही है। आज हम सन् १९३९ ई० की चौखट पर खड़े हैं, इस साल में क्या होनेवाला है? हमारे लिए तथा संसार के लिए यह साल क्या लानेवाला है?

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh